



श्री वीतरगाय नमः



श्री विनयविजय जी उपाध्याय विरचित

लोकप्रकाश

भाग - १

(द्रव्यलोक)

सर्ग - १ से ११ तक

*

हिन्दी भाषानुवादक

प० पू० आचार्य देव श्रीमद् विजय पद्म चन्द्र सूरीश्वर जी म० सा०

*

प्रकाशक

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम भवन, हस्तिनापुर (मेरठ) उ०प्र०

दूरभाष - 01233-280132



श्री शान्तिनाथाय नमः

श्री आत्मवल्लभ-ललित-पूर्णानंद-प्रकाश चन्द्र सूरीवराय नमः

सुगृहीत नामधेय श्री विनय विजय गणिवर्य विरचित

लोक प्रकाश

भाग - १

सर्ग - १ से ११

-: हिन्दी भाषानुवाद कर्ता :-

परम पूज्य, भारत दिवाकर, युगवीर जैनाचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ
सूरीश्वर जी महाराज के पट्टधर, मरूधर देशोद्धारक आचार्य
भगवंत श्रीमद् विजय ललित सूरीश्वर जी महाराज
के पट्टधर, महान तपस्वी, आचार्य देव श्रीमद्
विजय पूर्णानंद सूरीश्वर जी महाराज सा०
के पट्टधर, अनेक तीर्थोद्धारक
महान तपस्वी उत्तर प्रदेशोद्धारक
आचार्य भगवंत
श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज सा० के
शिष्य रत्न
आचार्य देव श्रीमद् विजय पद्म चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज सा०

✽

- प्रकाशक-

श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

बालाश्रम भवन, हस्तिनापुर

जिला मेरठ (उ० प्र०) पिन - 250404

फोन : 01233-280132

- ग्रन्थ का नाम :
लोक प्रकाश भाग -१
- प्राप्ति स्थान :
श्री आत्मानंद जैन बालाश्रम भवन
हस्तिनापुर - 250404 (मेरठ) उ०प्र०
- मूलग्रन्थकार :
उपाध्याय श्री विनय जी गणिवर्य
- सेठ कस्तूर चन्द, अमी चन्द
३६, खान बिल्डिंग, नवाब टैंक ब्रिज
मझगांव, मुम्बई - १०
- आवृत्ति :
प्रथम
- सरस्वती पुस्तक भण्डार
रतन पोल हाथी खाना
अहमदाबाद (गुजरात)
- हिन्दी भाषानुवाद कर्ता :
आचार्य पद्म चन्द्र सूरी
- सोमचन्द्र डी० शाह
तलाटी रोड, पालीताणा
- प्रकाशक :
श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ
- श्री अहिच्छत्रा पाईवनाथ जैन
श्वेताम्बर मन्दिर
रामनगर किला (बरेली) उ० प्र०
- प्रकाशन तिथि :
६ फरवरी २००३
बसंत पंचमी संवत् २०६०
- मूल्य :
रु० १५०/=
- मुद्रक :
प्रिन्टोनिक्स
वैस्टर्न कचहरी रोड
मेरठ - 250 001
फोन : 2642302, 2667315

सादर-समर्पण
पूज्य दादा गुरुदेव के
चरण-कमलों में



५० पू० आचार्य श्रीभद्र विजयानंद सूरेश्वर जी

जिनका जीवन सत्य समान प्रखर था, मन चन्द्र समान सौम्य था, आचार
स्वर्ण समान निर्मल था, विचार सागर समान गंभीर था, वाणी
आध्यात्म युक्त थी, संयम साधना में ब्रह्म समान कठोर
जन-जन के प्राण, युग प्रवर्तक, युगाधार, युग गौग्व,
विश्व खंडनीय, जैनाचार्य श्रीभद्र विजयानंद सूरेश्वर
जी म० सा० (प्रसिद्ध नाम श्री आत्माराम जी)

के चरण-कमलों में अतीव

श्रद्धा-भक्ति पूर्वक

सादर समर्पित

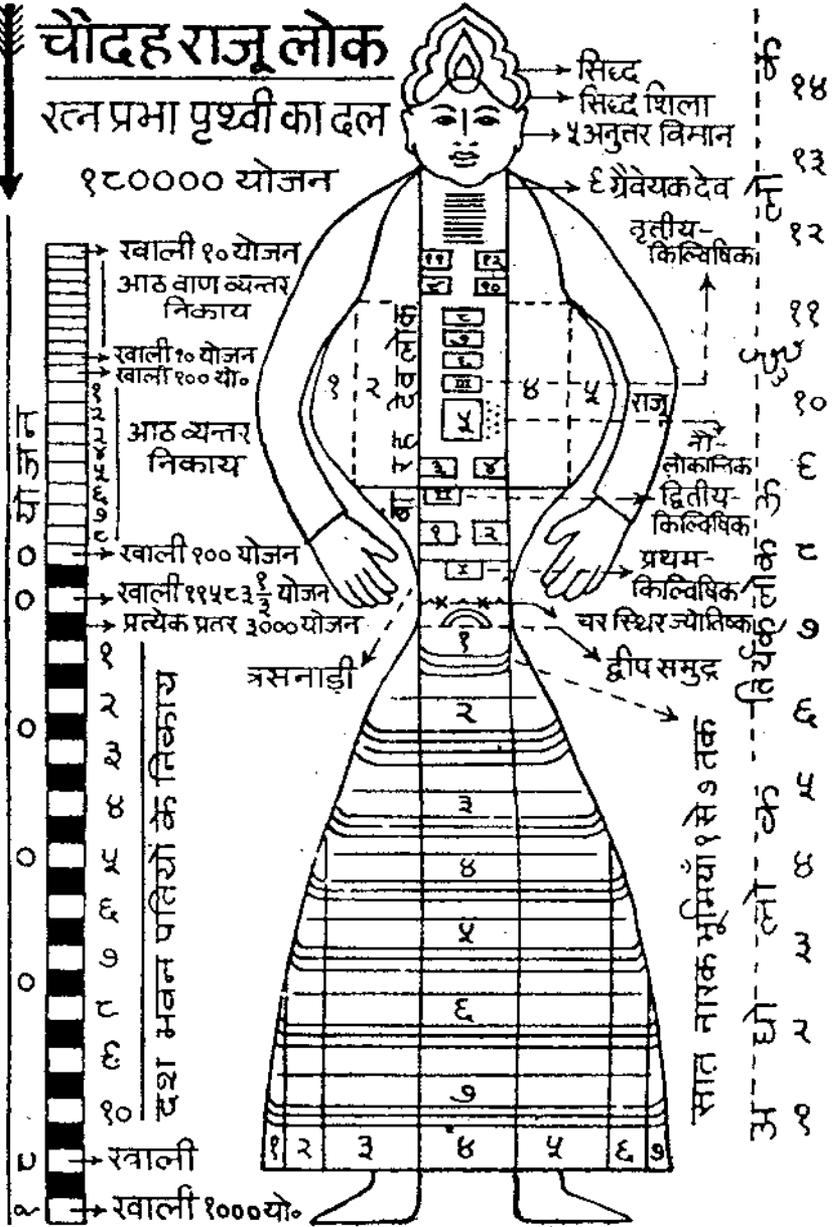
चरण रेणु

आ० श्रीभद्र विजय पद्म चन्द्र सूरि

चौदह राजू लोक

रत्न प्रभा पृथ्वी का दल

१८०००० योजन



प्रकाशकीय

सत् साहित्य का सृजन उसका संकलन एवं प्रकाशन जीवन विकास का उच्चतम सोपान है इस श्रेष्ठतम लक्ष्य को पुरस्सर कर हमारे संस्थान निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन द्वारा श्रुत यज्ञ में एक और पुष्पाञ्जलि समर्पित है स्वनाम धन्य महोपाध्याय श्री विनय विजय जी महाराज ने अनेक ग्रन्थों में श्रेष्ठ, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से युक्त चार विभागों वाले श्री लोक प्रकाश नाम के ग्रन्थ की रचना की है ।

ग्रन्थ शिरोमणि लोक प्रकाश में जैन दर्शन के प्रायः सभी विषयों का सुन्दर अंश समन्वित है । वर्तमान में जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, उनमें विवेच्य विषय द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को पांच भागों में समाहित किया गया है। इस महानतम ग्रन्थ के प्रणयन में उपाध्याय श्री विनय विजय जी गणि वर्य ने समग्र लोक-अलोक व्यवस्था, उसमें विराजित जीव-अजीव के ज्ञान का कैसा वर्णन किया है? यह तो इस महान ग्रन्थ के पठन-पाठन एवं श्रवण से ही जाना जा सकता है। लगभग ११ हजार श्लोक प्रमाण इस महाकाय ग्रन्थ में द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव में जो-जो विषय आये हैं, उनके सम्बंध में पूर्ववर्ती आचार्यों, जैन दर्शन के ग्रन्थों के, जो भी मतान्तर आये हैं, सभी को स्थान दिया गया है। यही कारण है कि अपने कथन की पुष्टि में ग्रन्थकार ने लगभग १४०० साक्षी पाठों एवं ७०० अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के अंश प्रस्तुत किये हैं । अनेक आगमों के प्रकरण ग्रन्थों, प्रकीर्णक ग्रन्थों के पाठों की साक्षी रूप "द्रव्य लोक प्रकाश" में ४०२, 'क्षेत्र लोक प्रकाश' में ५०७, 'काल लोक प्रकाश' में ३७६ तथा 'भाव लोक प्रकाश' में २३ साक्षी पाठ प्रस्तुत किये हैं।

अभी तक जैन दर्शन के दिग्दर्शक इस ग्रन्थ राज के, संस्कृत और गुजराती भाषा में अनुवादित संस्करण ही देखने में आये हैं । प्रथम भाग द्रव्य लोक प्रकाश, सर्ग (१-११) श्लोक प्रमाण ३२६७ का सरल हिन्दी भाषानुवाद प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्ष की अनुभूति हो रही है। परम पूज्य आचार्य "आत्म-वल्तभ-ललित-पूर्णानंद" की शिष्य परम्परा एवं पट्ट परम्परागत अनेक तीर्थोद्धारक, आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय प्रकाश चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज स० के शिष्य रत्न, शास्त्रों के सदव्याख्याता आचार्य प्रवरं

श्रीमद् विजय पदम चन्द्र सूरीश्वर जी महाराज सा० द्वारा हिन्दी भाषा में किया गया भाषानुवाद आपके हाथों में है । सम्पूर्ण ग्रन्थ पाँच भागों में प्रकाशित हो चुका है । जिज्ञासु पाठक वर्ग अनुकूलता अनुसार वाचन कर श्रेयस्कर पथ के पथिक बने ।

सर्व प्रथम परम उपकारी आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय पदम चन्द्र सूरीश्वर जी म० सा० के चरण कमलों में वंदन करता हूँ कि उन्होंने इस ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाषानुवाद करके परम उपकार किया है। ग्रन्थ प्रकाशन में बाल मुनि श्री युग चन्द्र विजय जी म० सा० ने तथा सभी ने प्रूफ संशोधन एवं हस्तलिपि लेखन जैसे दुरूह कार्य का उत्तरदायित्व वहन करते हुए उपकार किया है । श्री नगीन चन्द्र जैन (नगीन प्रकाशन, मेरठ) तथा सुभाष जैन (प्रिन्टोनिक्स) वैस्टर्न कचहरी रोड मेरठ वालों का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने अपने आवश्यक मुद्रण कार्यों को स्थगित रखते हुए इस ग्रन्थ के प्रकाशन कार्य को वरीयता प्रदान की । 'ज्ञानावरणीय' क्षेत्र में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करते हुए जिन दानवीर श्रेष्ठ श्रीमन्तों ने 'श्रुतयज्ञ' में सहयोग प्रदान किया है उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। अन्त में उन सभी ज्ञात-अज्ञात महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने तन, मन, धन, एवं भाव मात्र से भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किंचित मात्र सहयोग प्रदान किया है ।

ग्रन्थ प्रकाशन में जो भी मति दोष अथवा दृष्टि दोष के कारण त्रुटि रह गई है, वह हमारे प्रमादवश है । सुविज्ञ पाठक वृन्द भूल सुधार कर, चिन्तन एवं मनन पूर्वक पढ़ें। यही शुभ अभिलाषा है ।

प्रो० जे०पी० सिंह जैन

एम०ए०, एल एल एम

मंत्री

निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ

ग्रन्थकार - संक्षिप्त परिचय एवं कृतित्व

इस अपूर्व, अद्वितीय, महान ग्रन्थ के रचयिता स्वनाम धन्य उपाध्याय श्री विनय विजय गणिवर्य म०सा० का नाम जैन दर्शन साहित्य में बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरणकिया जाता है। इन्होंने ऐसे-ऐसे अमूल्य ग्रन्थ सर्वजन सुखाय-सर्वजन हिताय प्रदान किये कि किसी भी आध्यात्म मर्मज्ञ अथवा मुमुक्षु व्यक्ति का हृदय अपार श्रद्धा से भर जाता है। ग्रन्थ रूप अमूल्य निधि के प्रणेता का नाम जैन साहित्याकाश में प्रखर सूर्य की भाँति सदैव देदीप्य मान रहेगा। परम वंदनीय, महान उपकारी इन महात्मा का जन्मस्थान, जन्म समय, दीक्षा काल आदि क्या है ? इस सम्बंधमें सर्वथा शुद्ध एवं प्रामाणिक साक्ष्यों का अभाव हृदय को पीड़ा कारक है। लोक प्रकाश ग्रन्थ के प्रत्येक सर्गिक अन्तिम श्लोक में ग्रन्थकार ने स्वयं -

विश्ववाश्चर्यद कीर्ति-कीर्तिविजय श्री वाचकेन्द्रातिष्,
द्राज श्री तनयोऽतनिष्ठ विनयः श्री तेजपालात्मजः ।
काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,
सर्गो निर्गलितार्थ सार्ध सुभगो पूर्ण सुखेनादिमः ॥

अर्थात:- विश्व को आश्चर्य चकित कर देने वाली कीर्ति है जिनकी, उन "कीर्ति विजय"जी उपाध्याय के शिष्य और "राज श्री"माता तथा "श्री तेज पाल"जी के पुत्र, विनय वंत्, विनय विजय नाम वाले (मैंने) निश्चित ही जगत के तत्व को प्रदर्शित कराने में दीपक समान इस "लोक प्रकाश" की रचना की जिसका --(यह अमुक सर्ग समाप्त हुआ)। इस तरह से सर्गान्त में ग्रन्थ कार ने अपने उपकारी, पूज्य गुरु देव तथा संसारी माता-पिता के प्रति भाव भक्ति पूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित की है।

इससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि इनकी माता का नाम 'राज श्री', पिता का नाम 'श्री तेजपाल' तथा गुरु महाराज का नाम 'श्री कीर्ति विजय जी' वाचकेन्द्र था। श्री कीर्ति विजय जी म० सा० अकबर बादशाह के प्रति बोधक, जगद् गुरु विरुद् से सम्मानित आचार्य देव "श्री मद् हीर विजय जी" के शिष्य थे। इस तथ्य की पुष्टि के प्रमाण में लोक प्रकाश काव्य की समाप्ति पर ग्रन्थकार द्वारा सर्ग ३७ के श्लोक संख्या ३२-३३ में उल्लेख किया गया है।

श्री हीरविजय सूरीश्वर शिष्यौ सौंदरवभूतां द्वौ ।

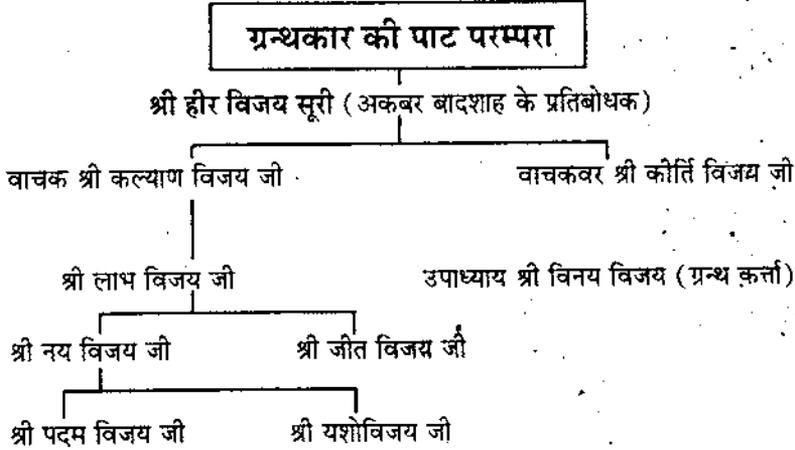
श्री सोमविजय वाचक- वाचक वर कीर्ति विजयाख्यौ ॥३२॥

तत्र कीर्ति विजयस्य किं स्तुमः, सुप्रभावममृतद्युतेरिव ।

यत्करातिशयतोऽजनिष्टमत्प्रस्तरादपि सुधारसौऽसकौ ॥३३॥

इस प्रशस्ति के अनुसार आचार्य देव श्री मद् 'हीर विजय' जी म० सा० के दो

शिष्य- 'श्री सोम विजय' जी म० सा० तथा उपाध्याय 'श्री विनय विजय' जी गणि वर्य इन्हीं वाचक वर्य 'श्री कीर्ति विजय' जी महाराज साहब के शिष्य थे । सन् १६०५ में जामनगर से प्रकाशित पं० हीरालाल, हंसराज की गुजराती भाषा में अनुवादित 'लोक प्रकाश' की एक प्रति में ग्रन्थकार की पाट परम्परा को दर्शाने वाला एक मानचित्र (नक्शा) देखने को मिला। अविकल रूप से उसे यहाँ अंकित करना आवश्यक है -



उपर्युक्त मानचित्र को देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रवर 'श्री हीर विजय सूरी' के शिष्य श्री कल्याण विजय जी तथा श्री कीर्ति विजय जी थे । हमारे ग्रन्थ कर्ता 'श्री विनय विजय' जी म० सा० उपाध्याय 'श्री यशोविजय' जी के समकालीन ठहरते हैं । ये दोनों ही साधु वर्य एक समुदाय में दीक्षित थे । इनमें परस्पर बहुत ही प्रेममय व्यवहार था। एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि किसी प्रसंग पर १२०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ को उपाध्याय 'श्री कीर्ति विजय' जी म० सा० तथा उपाध्याय 'श्री यशोविजय' जी म० सा० ने एक रात्रि में क्रमशः ५०० तथा ६०० श्लोक को कंठस्थ करके अगले दिन अविकल रूप में लिपिबद्ध कर दिया था । इससे इन मुनि द्वय की अलौकिक प्रतिभा एवं स्मरण शक्ति का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

उपाध्याय 'श्री विनय विजय' जी म० सा० जैनागमों के प्रकाण्ड विद्वान् थे । इन्होंने अनेकों बार शास्त्रार्थ में अन्य दर्शनाचार्यों का मत खंडन कर जिन वाणी रूप में स्थापन किया था । अनेकशः ऐसे दृष्टान्तों का उल्लेख मिलता है कि इन्होंने अन्य मतावलम्बियों को जिन मत में दृढ़ किया है । इतने विद्वान् होते हुए भी इनमें विनय भाव अत्यधिक था। यथानाम तथा गुण के आधार पर 'श्री विजय विजय' जी गणिमहाराज पूर्ण रूपेण खरे उतरते हैं । इनकी विनय भक्ति और उदारता का दृष्टान्त है कि किसी समय पर खंभात में

चार्तुमासिक-प्रवास काल में उपाश्रय में इनका व्याख्यान चल रहा था। उसी समय एक बृद्ध ब्राह्मण इनकी धर्म सभा में प्रवेश करता है धर्म सभा पूर्ण रूपेण यौवन पर है। व्याख्यान कर्ता एवं श्रोता गण-श्रावक वर्य दत्त चित्त आध्ययात्म रस का मनोयोग से रसपान कर रहे हैं। वृद्ध ब्राह्मण के सभा कक्ष में प्रवेश पर जैसे ही 'गणिवर्य' श्री 'विनय विजय' जी महाराज साहब ने व्यास पीठ से उतर कर आगे बढ़कर उन वृद्ध ब्राह्मण का स्वागत किया, उनका हाथ पकड़ कर आगे लाये तो सब सभासद श्रावक आश्चर्य चकित रह गये। विचार करते हैं कि ये पूज्य गण जी महाराज 'श्री विजय विजय' श्री म० सा० हैं, जिन्होंने नाम का डंका सारे खंभात में बज रहा है। जिनका सर्वत्र जयघोष हो रहा है। वे इस वृद्ध ब्राह्मण के इस तरह से भक्ति भाव प्रदर्शित कर रहे हैं। श्रावकों ने उपाध्याय जी महाराज से पूछा कि हे गुरुवर्य ! ये महाशय कौन हैं ? उपाध्याय 'श्री विजय विजय' जी म० सा० ने फरमाया कि, हे भाग्य शालियों ! ये हमारे काशी के विद्या दाता गुरु हैं। इनकी ही परम कृपा और परिश्रम से मैं आज इस स्थान पर पहुँचा हूँ। इनका मुझ पर बहुत बड़ा उपकार है। मुनि महाराज का इतना कहना मात्र ही था कि श्रद्धावान श्रावकों ने बिना किसी प्रेरणा व कहने के कुछ ही क्षणों में गुरु दक्षिणा के रूप ७००००, सत्तर हजार रुपये की भेंट आगन्तुक पंडित जी के समक्ष रख दी। कितनी श्रद्धा थी, कितनी भक्ति थी उपाध्याय श्री जी के मन में अपने उपकारी के प्रति। आज ऐसा उदाहरण शायद ही सश्रम खोजने पर भी न मिले।

उपकारी गुरुदेव रचित अनेकों ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। विस्तार भय से सब का पूर्ण विवेचन संभव नहीं है, फिर भी संक्षेप में इसका परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक सा जान पड़ता है। उनमें से कुछ का किंचित् मात्र परिचय निम्नवत् है।

(१) हेम प्रक्रिया :- आगम ग्रन्थों के ज्ञानार्थ सर्व प्रथम व्याकरण का ज्ञान परमावश्यक है। कलि काल सर्वज्ञ श्री हेम चन्द्र सूरीश्वर जी म० सा० ने जैन व्याकरण को आठ अध्यायों में दस हजार श्लोक (लघुवृत्ति) प्रमाण से पूरा किया तथा अठारह हजार श्लोक प्रमाण से वृहद् वृत्ति की रचना की थी। उपाध्याय श्री जी ने उस पर चौरासी हजार श्लोक प्रमाण, धातु पारायण, उणादि गण, धातु पारायण, न्यास दुंदुबिका टीका आदि प्रस्तुत की। उपाध्याय जी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से इस व्याकरण शास्त्र को सरल सुगम और सरस बनाने में भारी पुरुषार्थ किया है। इन्होंने इस पर लघु प्रक्रिया रची। क्रमवार संज्ञा-संधि-षड्लिङ्ग-तद्धित और धातुओं में शब्द रचना की विधि बताई। सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र को अति सुबोध और सुगमता से सुग्राह्य और बाल सुलभ बनाने की दृष्टि से पूज्य श्री जी ने अपनी विशिष्ट कलाओं से युक्त २५०० श्लोक प्रमाण इस ग्रन्थ को संवत् १७६० में पूर्ण

किया । इसके पश्चात् इसकी स्वोपज्ञ टीका रची । अपनी विद्वता प्रतिभा को प्रकाशित करते हुए ३४००० श्लोक प्रमाण यह टीका अत्यन्त सरस एवं सरल संस्कृत भाषा में रची । इस ग्रन्थ को सं० १७३६ में रतलाम में विजय दशमी के दिन पूर्ण किया गया ।

(२) नयकर्णिका :- 'नय' का ज्ञान तो अथाह सागर है । अपने जिन शासन में हर एक विषय में 'नय' दी है । विषय की जटिलता को देखते हुए उपाध्याय जी ने बाल जीवों के ज्ञानार्थ अत्यन्त सरल भाषा में ज्ञान कराने हेतु इसकी रचना की है । इसमें सिर्फ २३ गाथाओं के द्वारा 'नय' विषय में प्रवेश हेतु प्रवेशिका रूप में प्रस्तुत किया है । यह लघुकाय पुस्तक 'नय' के अभ्यासों के लिये अत्यन्त उपयोगी है ।

(३) इन्दुदूत :- (काव्यमाला) यह एक सरस काव्य मय कृति है । पुरातन समय में संवत्सरी प्रतिक्रमण के पूर्ण होने पर एक संघ दूसरे संघ के प्रति क्षमापणा पत्र लिखता था । शिष्य- गुरु के प्रति भक्ति भाव प्रदर्शित कर क्षमा याचना करता था । कभी-कभी तो यह ५० हाथ से १०० हाथ तक के लम्बे कागज पर लिखे जाते थे । इसके दोनों ओर हाशिये बना कर मन्दिरों, मूर्तियों, सरोवरों, नदियों कुओ, नर्तकियों आदि के विभिन्न रंगों वाले चित्रों से सजाया जाता था । उस ही भाव - भंगिमा से प्रेरणा प्राप्त कर उपाध्याय श्री जी ने काव्य कला के विभिन्न रस, छन्द, अलंकार, भाव भंगिमा रूप चित्रों से युक्त एक काव्यमय पत्र जोधपुर से सूरत विराज मान गच्छाधिपति आचार्य भगवत श्री मद् विजय प्रभू सूरेश्वर जी म० सा० की सेवा में लिखा । इस काव्य मय पत्र में चन्द्रमा को दूत बना कर जोधपुर से सूरत तक के सभी तीर्थों, जिन मन्दिरों, नगरों एवं शासन प्रभावक सुश्रावकों का चित्रण (वर्णन) करते हुए लिखा गया यह पत्र अत्यन्त प्रभावोत्पादक था । अत्यन्त मनोरम एवं अद्भुत रूप से रचित मात्र १३१ श्लोकों का यह काव्य अत्यन्त प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । इसका रचना काल सं० १७१८ वि० है ।

(४) शान्त सुधारस :- यह ग्रन्थ रत्न भी काव्य मय है । इसका विवेच्य विषय 'अनित्य' आदि १२ भावना तथा मैत्र्यादि चार भावना हैं । इसमें सरल संस्कृत भाषा में ३५७ श्लोकों से रचा गया है । समस्त संस्कृत साहित्य में, जैन ग्रन्थों में अनेकों प्रकार की राग-रागिनियों युक्त शायद ही कोई दूसरा ग्रन्थ उस काल में रहा होगा । उपाध्याय जी महाराज केवल कवि हृदय ही नहीं अपितु अनुभव सिद्ध कवि थे । उस समय मुगलों का अधिपत्य चतुर्दिग प्रसरित होने से हिन्दू प्रायः असहाय अवस्था का अनुभव करते थे । कदाचित् मुगलों से हैरान, परेशान हिन्दु अधिकतर प्रसंगों पर कषायों से ग्रसित रहे होंगे । ऐसे प्रसंग पर संघ की अपनी आत्मा को

जागृत रखने के उद्देश्य से इस कृति को रचा गया होगा । जो भी इस ग्रन्थ का पठन-वाचन करेगा तो इसके अलौकिक, अध्यात्म परक शान्त सुधा रस का आस्वादन करेगा । प्रायःकर इसका प्रत्येक श्लोक अलग-अलग राम शैली पर आधारित है । इसका रचना काल संवत् १७२३ तथा स्थान गांधार नगर कहा गया है ।

- (५) षट्त्रिंशत् जल्प संग्रह : - परम पूज्य श्री भाव विजय जी म० सा० ने सं० १६६६ में संस्कृत भाषा में पद्यमय काव्य ग्रन्थ 'षट्त्रिंशत्' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। हमारे पूज्य प्रवर उपाध्याय 'श्री विनय विजय' जी म० सा० ने संक्षिप्त रूप से इसे संस्कृत में ही गद्य स्वरूप प्रदान किया है ।
- (६) अर्हन्नमस्कार स्तोत्र : - इस स्तोत्र में परमात्मा की स्तुतिया है । वर्तमान समय में इस ग्रन्थ का अभाव है । इसकी मूल प्रति उदयपुर भंडार में सुरक्षित बताई गई है।
- (७) जिन सहस्र नाम स्तोत्र : - विद्वता से भरी, भक्ति भाव पूर्ण इस कृति में संस्कृत भाषा में रचित १४६ उपजाति द्वन्द्वों का सृजन है । कहा जाता है कि इसकी रचना संवत् 1731 के गांधार नगर के चतुर्मासिक प्रवास काल में की गई थी । इस ग्रन्थ की विशेषता है कि प्रत्येक श्लोक में सात बार भगवंतों को नमस्कार किया गया है। सब मिला कर १००१ बार नमस्कार करने में आया है।
- (८) आनंदलेख : - यह लेख भी संस्कृत भाषा में रचित है । २५१ श्लोकों से युक्त इस ग्रन्थ की रचना १६६६ वि० संवत् कहा गया है । पूर्ण पांडित्य पूर्ण संस्कृत के इस ग्रन्थ का भी बहुत आदर है ।
- उपाध्याय 'श्री विनय विजय' जी म०सा० ने गुजराती भाषा में भी साहित्य सृजन किया है । इनके अनेक ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखित हैं, जिनका उल्लेख करना भी आवश्यक है ।
- (९) सूर्य पुर चैत्य परिपाटी : - गुजराती की प्रथम रचना 'सूर्यपुर चैत्य परिपाटी' का रचना काल विक्रमी संवत् १६८६ है । इस ग्रन्थ में सूर्य पुर (सूरत) नगर के चैत्यो (जिन मन्दिरों) की परिपाटी का वर्णन है । उस में सूरत में स्थित ११ जिनालयों का उल्लेख मिलता है । जिन मन्दिरों के मूलनायक श्री जिनेश्वर भगवंत की स्तुति रूप १४ कडियों में ग्रन्थ-कार ने तीर्थमाला की रचना की है।
- (१०) विजय देव सूरी लेख : - इसमें परम पूज्य, अकबर बादशाह के प्रति बोधक, आचार्य देव श्रीमद् विजय हीर सूरीश्वर जी म० सा० के पट्टालंकार आचार्य

प्रवर श्रीमद् विजय देव सूरीश्वर जी म०सा० की भक्ति रूप सञ्ज्ञाय की रचना की गई है।

- (११) उपमिति भव प्रपंचा :- श्री सिद्धर्षि गणि कृत अत्यन्त वैराग्यपूर्ण महा ग्रन्थ उपमिति भव प्रपंच कथा (संक्षेप) करके गुजराती भाषा में स्तवन रूप में प्रस्तुत किया है। वि० सं० १७१६ में रचित यह स्तवन रूपकृति भगवान् धर्म नाथ प्रभु की भाव भक्ति से ओत-प्रोत है। प्रथम तो सम्पूर्ण भव चक्र को उपमिति प्रमाण में वर्णन किया है, और बाद में श्री धर्मनाथ जिनेश्वर प्रभु की विनंती की है।

धर्म नाथ अवधारिये सेवक की अरदास ।

दया कीजिये-दीजिये, मुक्ति महोदय वास ॥

- (१२) पट्टावली सञ्ज्ञाय :- इस ग्रन्थ का रचना काल वि० सं० १७१८ है। इस कृति में श्री सुधर्मा स्वामी से लेकर पट्टपरम्परा अनुसार उषकारी गुरु 'श्री कीर्ति विजय जी उपाध्याय के समय तक के पूज्य गुरु भगवतों की विशिष्टताओं को ७२ गाथाओं को स्तवन रूप लिखा गया है। इसमें पूज्य गुरु देव की पदवी प्रसंग को बहुत ही प्रभवोत्पादक रूप से प्रस्तुत किया गया है।

- (१३) पाँच समवाय (कारण) स्तवन :- इस ग्रन्थ में ६ ढाल में ५८ गाथाओं से निबद्ध रूप स्तवन में 'कालमतवादी', 'स्वभाव मतवादी', 'भावी समभाववादी', 'कर्मवादी' और 'उद्यम वादियों' के मंतव्य को बड़े ही मनोयोग और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है। पिछली छठी ढाल में सभी वादों को श्री जिनेश्वर प्रभु के चरणों में आते दिखाया है।

ए पाँचे समुदाय मल्या विण, कोई काम न सीझो ।

अंगुलियोगे करणी परे, जे बूझो ते रीझे ॥

इस रीति से पाँचों समवाय को समझाने व समझाने के लिये उपयोगी इस स्तवन को गुजराती भाषा में लिपिबद्ध किया गया है।

- (१४) चौबीसी स्तवन :- चौबीसों भगवतों के प्रत्येक स्तवन में ३-४ या ५ गाथायें हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल १३० गाथायें हैं। इसमें चरम तीर्थकर प्रभु महावीर स्वामी का स्तवन बहुत ही लोक प्रिय है। इसकी अन्तिम कड़ी में-

वाचक शेरखर कीर्तिविजय गुरु, पामी तास पसाय ।

धर्मतणे रसे जिन चोवीशना, विनय विजय गुणगाय ॥

सिद्धारथना रे नंदन विनबुं-----

पूज्य नेमिनाथ प्रभु के तीन स्तवन हैं। इसमें कुल २६ स्तवन हैं। किसी-किसी स्तवन में तो भाव पक्ष बहुत ही प्रबल है।

(१५) **वीष्मि स्तवनः**- यह विहरमान बीस तीर्थकर परमात्माओं का स्तवन है। इसमें हर एक स्तवन की माँच-पाँच गाथा है। चार स्तवनों की छः छः गाथा है। कुल मिलाकर ११५ गाथाओं का संयोजन किया है। अन्तिम में प्रशस्ति रूप से 'कलश' लिखा है।

श्री कीर्ति विजय उवझायणो ए, विनय वदे कर जोड़ ।

श्री जिनना गुणगावतां ए, लहीए मंगल कोड ॥

इस प्रकार से मध्यम प्रकार की इस कृति द्वारा बीस विहरमान परमात्मों के शरीर, आयुष्य आदि का वर्णन भी किया गया है।

(१६) **पुण्य प्रकाश अथवा आराधनानुस्तवनः**- आचार्य श्री 'सोम सूरि'रचित 'आराधना सूत्र' नाम के पचन्ना के आधार पर ८ ढाल और ८७ गाथाओं का यह स्तवन वि०सं० १७२६ में राँदेर के चातुर्मास के प्रवासकाल में रचा गया था। गुजराती भाषा में रचित यह लंघु कृति अत्यन्त मर्मस्पर्शी और सुन्दर है। पूर्ण मनोयोग पूर्वक इसके पठन-पाठन-वाचन या श्रवण करने से व्यक्ति आत्म विभोर हो जाता है। अत्यन्त भावातिरेक उत्पन्न होने से आँखोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। ताप-शोक-पीड़ा-विषाद-दुःखः अथवा अन्तिम अवस्था जैसे प्रसंगों पर यदि अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं हृदय तलस्पर्शी शब्दावली का प्रयोग करके गाया जाय, पढ़ा जाय या समझाया जाय तो यह निश्चय ही मन पर वैराग्य भाव की अमिट छाप छोड़ती है। इसमें दस प्रकार की आराधना बताई गई है। जैसे -

- | | |
|-------------------------------|-------------------------------|
| (१) अतिचार की आलोचना | (२) सर्वदेशीय व्रत ग्रहण |
| (३) सब जीवों के साथ क्षमापण | (४) १८ पापों को वोंसिरावा |
| (५) चारों शरण को स्वीकारना | (६) पापों की निंदा |
| (७) शुभ कार्यों की अनुमोदना | (८) शुभभावना |
| (९) अनशन-पच्चखाण | (१०) नमस्कार महामंत्र स्मरण |

इस तरह प्रतिदिन नियम पूर्वक, भाव सहित पढ़ने-वाचने-बोलने-सुनने-सुनाने से आत्मा निर्मल होती है।

(१७) **विनय विलासः**- उपाध्याय 'श्री विनय विजय' जी रचित गुजराती भाषा की यह छोटी सी कृति मातों अपने उपकारी गुरुदेव उपाध्याय 'श्री कीर्ति विजय' जी म० सा० के चरण कमलों में अर्पित भाव सुमन है। यह लघु रचना ३६ पदों में निबद्ध है।

'श्री कीर्ति विजय' उवञ्जाय केरो, लहेऐ पुण्य पसाय ।

सासता जिन थुणी एणी परे, 'विनय विजय' उवञ्जा ॥

आत्मार्थी महापुरुषों के द्वारा शान्त समय में अपने चेतन मन को प्रायः कर इस शैली में ही ध्वनि रूप से सम्बोधित किया जाता है । संभवतः कथन वैदग्ध्य (वाणिविलास) की शैली विशेष में रचना होने के कारण इस कृति को 'विनय विलास' नाम दिया है । मात्र ३७ पदों की इस लघु रचना का प्रणयन काल संवत् १७३० के निकट रहा होगा ।

- (१८) भगवती सूत्र की सञ्ज्ञायः- उपाध्याय श्री जी के संवत् १७३१ के रांदेर के चातुर्मास के प्रवास काल में इस ग्रन्थ की रचना की गई थी। इक्कीस गाथाओं वाली इस सञ्ज्ञाय में भगवती सूत्र की विशेषताये तथा भगवती सूत्र की विशेषताये तथा भगवती सूत्र के वाचन के लाभ आदि बाताये गये हैं। इस सञ्ज्ञाय की प्रशस्ति इस प्रकार है।

संवत् सत्तर एकत्रीस में रे, रहा रांदेर चौमास ।

संघे सूत्र ए सांभल्यु रे, अणि मन उल्लास ॥

कीर्ति विजय उवञ्जायनोरे, सेवक करे सञ्ज्ञाय ।

एणि परे भगवती सूत्र नेरे, विनय विजय उवञ्जाय रे ----

- (१९) आयं बिलनी सञ्ज्ञाय :- आयंबिल तप में क्या है? इस तप की महिमा क्या है? यह सब कुछ बताने वाली इस सञ्ज्ञाय में ११ गाथा है। इसकी अन्तिम गाथा इस तरह है-

आम्बील तप उत्कृष्टों कहयो, विघन-विदारण कारण कहया ।

वाचऊ कीर्ति विजय सुपसाय, भाखे विनय विजय उवञ्जाय ॥

- (२०) श्री आदि जिन विनतीः- यह स्तवन गाथा दादा आदीश्वर भगवान के समक्ष श्री सिद्धाचल ऊपर बोलने लायक है। इस ६७ गाथाओं के स्तवन में भगवान से विनय की गई है, उन्हें प्रसन्न किया गया है, उन्हें मनाया गया है, उन्हें रिझाया गया है, उल्हाना भी दिया गया है और अन्त में उन्हीं की शरण में स्वीकार की गई। इस प्रार्थना में ऐसा शब्द-विन्यास है कि पढ़ने और सुनने वाले के हृदय रूपी वीणा के तार झंकृत हो उठते हैं ।

- (२१) षडावश्यक प्रतिक्रमण स्तवनः- में छः आवश्यक ऊपर एक-एक ढाल है। इस प्रकार छः ढाल का स्तवन है। इसमें कुल ४२ गाथा हैं। इसमें अंतिम प्रशस्ति इस प्रकार से है।

तप गच्छनायक मुक्ति दायक श्री विजय देव सूरीश्वरो ।
 तस पट्टदीपक मोहज्जिपक, श्री विजय प्रभसूरी गणधरो ॥
 श्री कीर्ति विजय उवञ्जाय सेवक, विनय विजय वाचक कहे ।
 षडावश्यक न आराधे तेह शिव संपद लहे ॥

- (२२) चैत्य वन्दन:- श्री सीमन्धर स्वामी की ' श्री सीमन्धर वीत राग ' इस चैत्य वन्दन की तीन गाथायें हैं।
- (२३) उपधान स्तवन:- इस स्तवन में दो ढाल और कलश को मिलाकर कुल २४ गाथा हैं। उपधान कराने का क्या कारण है? और विशेष माला पहराने सम्बंधी खूब विवेचना की है। इसकी पिछली ढाल ' भाई हये माला पहिरावो ' यह बहुत ही प्रसिद्ध है।
- (२४) श्रीपाल राजानो रास:- उपाध्याय ' श्री विनय विजय जी ' महाराज साहब की यह संस्कृत में रचित अद्भुत कृति है। भावनाओं की सजावट, संस्कृत का गेय काव्य और शान्त सुधा रस का मुख्य स्थान है। वर्ष में दो बार चैत्र तथा अश्विन मास में नव पद की आराधना करते समय ओली में सुदि सप्तमी से सुदि पंदरमी तक विद्वानों द्वारा नौ दिन तक प्रत्येक गाँव-नगर के सभा व कुटुंब के समक्ष वाँचा जाता है। ' श्री पाल रास ' का प्रारंभ संवत् १७३८ के रांदेर के चातुर्मास में श्री संघ की विनती पर किया गया था। इसके प्रथम खंड की पाँचवी ढाल की रचना करते-करते २० वी गाथा के लिखने तक जैन शासन के महान प्रभावक इस ग्रन्थ के रचयिता परम पूज्य उपाध्याय श्री विनय विजय जी गणि का देवलोक गमन हो गया था। इसके अधूरे कार्य को पूरा करने के लिये उपाध्याय श्री के सहअध्यायी उपाध्याय श्री यशो विजय जी म०सा० ने आगे आकर कार्य को संभाल लिया। कुल चार खंड युक्त १२५० गाथा वाले महाकाव्य को पूरा किया। इस प्रकार ७४८ गाथा में पूज्य विनय विजय कृत तथा शेष ५०२ गाथाये पूज्य यशोविजय कृत हैं ।
- (२५) श्री कल्प सूत्र की सुबोधिका टीका:- श्री उपाध्याय जी कृत कल्प सूत्र की सुबोधिका टीका भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ६०० श्लोक प्रमाण ग्रन्थ पयुर्षण पर्व के दिनों में तप गच्छ समुदायों में बड़े ही सम्मान, श्रद्धा व उल्लास के साथ सर्वत्र वाँचने के काम आता है।
- (२६) लोक प्रकाश:- ' लोक प्रकाश ' जैन दर्शन का एक अद्भुत एवं विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें विवेच्य विषय द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव को ३७ सर्गों के रूप में लगभग १८००० श्लोकों में आबद्ध किया गया है। इसमें जैन दर्शन के सभी

पहलुओं का सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। लगभग १४०० साक्षी पाठ एवं ७०० अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरणों से ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ जाती है। विषय महान है, ग्रन्थ भी महान है और उद्देश्य भी महान है। ग्रन्थ आपके हाथों में है। सुधार कर पढ़ेंगे तो निश्चय कल्याण होगा ग्रन्थ की रचना काल तिथि सर्ग ३७ की प्रशस्ति श्लोक ३६ के अनुसार निम्नवत् है ।

वसुरवाश्वेन्दु(१७०८) प्रमिते वर्षे जीर्ण दुर्ग पुरे ।

राघोऽजवल पंचम्या ग्रन्थः पूर्णेऽयमजनिष्ट ॥ सर्ग ३७ श्लोक ३६ ॥

इस प्रकार संवत् १७०८ वैशाख सुदि ५ (ईस्वी सन् १६५२) के दिन जीर्ण पुरे (जूनागढ़) में यह महान ग्रन्थ पूर्ण किया गया।

जैन जगत के पूज्य, महान शासन प्रभावक, आध्यात्म ज्ञानी, महान लेखक एवं पर उपकारी उपाध्याय श्री विनय विजय जी महाराज साहब संवत् १७३८ में रांदोर नगर के चतुर्मासिक प्रवास काल में काल धर्म को अपनाकर गोलोक वासी बने। उपाध्याय श्री जी के जीवन-चरित्र के सम्बंध में कोई प्रामाणिक ग्रन्थ मिलता नहीं। कुछ छुट-पुट घटनायें- लोक कथन या उनके द्वारा लिखे गये 'लोक प्रकाश' 'नयकर्णिका' 'शान्त सुधारस' आदि के बिखरे हुए सन्दर्भों को जोड़ कर ही कुछ समझने व जानने का प्रयत्न किया गया है।

मुनियुग चन्द्र विजय

मूल तथा टीका व्याख्या में आधार भूत आगम पाठों की नामवली

क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
१	भगवती सूत्र	१	२४	२५	स्थानांग सूत्र वृत्ति	१	६
२	जीव समास सूत्र	१	२४	२६	स्थानांग सूत्र वृत्ति	२	६
३	जीव समास वृत्ति	१	२६	२७	भगवती सूत्र शतक-१३	२	२६
४	संग्रहणी की वृहद वृत्ति	१	२६	२८	भगवती सूत्र शतक-११३-११	२	२६
५	प्रवचन सारोद्धार वृत्ति	१	२६	२९	भगवती सूत्र	२	२६
६	जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र	१	१६	३०	भगवती सूत्र शतक ११-३८	३	३८
७	जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	१	४१	३१	भगवती सूत्र शतक-१७ उ० ४	४	४८
८	प्रवचन सरोद्धार	१	४१	३२	प्रज्ञापना वृत्ति (सिद्ध हैम सूत्र ३-२-१५५)	२	४८
९	प्रज्ञापना (पन्नवणा) वृत्ति	१	४४	३३	नव तत्व की अवचूरी	२	४८
१०	अनुयोग द्वार चूर्ण	१	४४	३४	उतराध्ययन वृहद वृत्ति (पाईय टीका)	२	४८
११	अंगुल सप्ततिका	१	५४	३५	अनुयोग द्वार	२	४८
१२	लीलावती (गणित नो ग्रन्थ)	१	७३	३६	तत्वार्थ सूत्र	२	४८
१३	क्षेत्र समास की वृहद वृत्ति	१	७३	३७	नव तत्व प्रकरण	२	७४
१४	लघु क्षेत्र समास	१	७३	३८	गुण स्थान कमारोह	२	७६
१५	जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	१	७३	३९	तत्वार्थ भाष्य	२	८४
१६	प्रवचन सारोद्धार वृत्ति	१	७३	४०	प्राचीन गाथा	२	८५
१७	संग्रहणी वृहद वृत्ति	१	७३	४१	स्थानांग सूत्र पायमुंस्थानक	२	६०
१८	जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति	१	८०	४२	औपपातिक सूत्र की वृत्ति	२	६५
१९	प्रवचन सरोद्धार वृत्ति	१	१११	४३	विशेषावश्य भाष्य की वृत्ति	२	६५
२०	अनुयोग द्वार सूत्र	१	१८१	४४	पंचसंग्रहणी वृत्ति	२	६५
२१	प्राचीन गाथा	१	२०६				
२२	प्राचीन गाथा	१	२१०				
२३	प्राचीन गाथा	१	२११				
२४	प्राचीन गाथा	१	२१२				

क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
४५	उतराध्ययन-अध्याय	३६	२	६६	७३	कर्म प्रकृति की वृत्ति	३ ६०
४६	संग्रहणी	२	६६	७४	भगवती सूत्र	३	६१
४७	सिद्ध प्राभृत टीका	२	६६		शतक-१४ उ० १		
४८	सिद्ध प्राभृत	२	६६	७५	जीवाभिगम वृत्ति	३	१०२
४९	सिद्ध प्राभृत	२	१३१	७६	तत्त्वार्थ की वृत्ति	३	१०४
५०	प्राचीन गाथा	२	१०२	७७	तत्त्वार्थ भाष्य	३	११४
५१	प्रज्ञापना सूत्र	२	११६	७८	तत्त्वार्थ भाष्य की टीका	३	११४
५२	ओपपातिक सूत्र	२	११६	७९	प्राचीन गाथा	३	१२५
५३	आवश्यक सूत्र	२	११६	८०	प्रज्ञापना सूत्र इक्कीसवां पद्य	३	१८५
५४	ओपपातिक उपांग	२	१२८	८१	जीवाभिगम सूत्र	३	१८६
५५	विशेषावश्यक महाभाष्य	२	१३१	८२	भगवती सूत्र	३	१९०
५६	संग्रहणी वृत्ति	२	१३१	८३	सूर्यगंडांग सूत्र	३	१९१
५७	सिद्ध प्राकृत टीका	२	१३१	८४	प्राचीन गाथा	३	१९१
५८	प्राचीन गाथा	२	१२०	८५	प्राचीन गाथा	३	१९६
५९	आवश्यक निर्युक्ति	२	१२२	८६	जीवाभिगम की वृत्ति	३	२०१
६०	संग्रहणी वृत्ति	३	२१	८७	पंचसंग्रहणी वृत्ति	३	२०७
६१	प्रज्ञापना सूत्र	३	२१	८८	भगवती सूत्र	३	२२७
६२	जीवाभिगम सूत्र	३	२१		शतक ६ उ० ६		
६३	प्रवचन सूत्र वृत्ति	३	२१	८९	प्रज्ञापना सूत्र अंतिम पद्य	३	२५६
६४	प्रज्ञापना सूत्र वृत्ति	३	३३	९०	गुण स्थान कमारोह	३	२६५
६५	प्रज्ञापना सूत्र वृत्ति	३	४४	९१	गुण स्थान कमारोह की वृत्ति	३	२६५
६६	तत्त्वार्थ वृत्ति द्वितीयाध्याय	३	५५	९२	प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति	३	२७२
६७	प्रज्ञापना सूत्र	३	५९	९३	प्राचीन गाथा	३ २	८५
६८	स्थानांग सूत्र-तीसरा स्थान	३	६०	९४	शिव शर्मा आर्य कृत शतक ग्रन्थ	३	२९८
६९	आचारांग की वृत्ति	२	६०	९५	प्रज्ञापना सूत्र	३	२९८
७०	बृहदसंग्रहणी	३	७४	९६	प्राचीन गाथा	३	३१६
७१	दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति	३	७८	९७	प्राचीन गाथा	३	३३०
७२	पन्नवणा सूत्र	३	८८				
७३	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	९०				

क्र० सं०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० सं०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
६८	प्रज्ञापना सूत्र	३	३२६	१२८	आचारांग सूत्र वृति	३	४५६
६९	प्रज्ञापना सूत्र	३	३३६	१२९	आचारांग सूत्र	३	४५७
१००	उतराध्ययन सूत्र	३	३३६	१३०	भाष्यकार की गाथा	३	४६६
१०१	प्रज्ञापना वृति	३	३३६	१३१	प्रज्ञापना वृति	३	४७६
१०२	उतराध्ययन सूत्र वृति	३	३५९	१३२	आचारांग वृति	३	४७६
१०३	प्रज्ञापना वृति	३	३५९	१३३	प्रज्ञापना वृति	३	४७७
१०४	संग्रहणी	३	३५९	१३४	प्रथम अंग की वृति	३	४७७
१०५	संग्रहणी वृति	३	३५९	१३५	आचारांग वृति	३	४८८
१०६	प्रवचन सारोद्धार वृति	३	३५९	१३६	प्राचीन गाथा	३	४८८
१०७	प्राचीन गाथा	३	३६२	१३७	प्रज्ञापना मूलटीकाकार	३	४९५
१०८	भगवती सूत्र	३	३८७	१३८	नंदा सूत्र	३	५११
१०९	प्राचीन गाथा	३	३९८	१३९	प्राचीन गाथा	३	५२२
११०	प्राचीन गाथा संग्रहणी की	३	४०८	१४०	रत्नाकरावतारिका	३	५३८
१११	जीवाभिगम	३	४०८	१४१	सिद्धान्त में	३	५३२
११२	योग शास्त्र	३	४१३	१४२	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	३	५३२
११३	प्रज्ञापना वृति	३	४१५	१४३	उपांगनी टीका	३	५३७
११४	कर्मग्रन्थ पहला	३	४२६		(राजप्रशानीय)		
११५	प्रज्ञापना	३	४३८	१४४	प्राचीन गाथा	३	५३७
११६	प्रज्ञापन तृतीय पद्य	३	४३५	१४५	प्राचीन गाथा	३	५३८
११७	प्रज्ञापना वृति	३	४३९	१४६	विशेषावश्यक	३	५४२
११८	स्थानांग सूत्र	३	४४३	१४७	ओथुं उपांग (पन्नावणा)	३	५४५
११९	भगवती सूत्र	३	४४७	१४८	प्रज्ञापना वृति	३	५७०
	शतक-७-उ० ८			१४९	नंदि अध्ययन चूर्ण	३	५७६
१२०	प्राचीन गाथा	३	४४७	१५०	प्रज्ञापना वृति	३	५७७
१२१	प्राचीन गाथा	३	४४८	१५१	नाम माला	३	५७९
१२२	प्राचीन गाथा	३	४४९	१५२	विशेषावश्यक	३	४८५
१२३	प्राचीन गाथा	३	४५०	१५३	स्थानांग वृति	३	५९०
१२४	प्राचीन गाथा	३	४५१	१५४	प्रज्ञापना वृति	३	५९०
१२५	श्रंगार तिलक	३	४५१	१५५	प्रज्ञापना	३	५९६
१२६	प्रवचन सरोद्धार वृति	३	४५६	१५६	पंचसंग्रह वृति	३	५९६
१२७	स्थानांग सूत्र वृति	३	४५६	१५७	प्राचीन गाथा	३	६१५

क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
१५८	विशेषावश्यक सूत्र वृत्ति	३	६१५	१८४	नंदि सूत्र वृत्ति	३	७६२
१५९	शतक चूर्ण	३	६३४	१८५	स्थानांग मूल वृत्ति	३	७६२
१६०	कर्म प्रकृति	३	६३४	१८६	आचारांग सूत्र की वृत्ति	३	७७०
१६१	एक गाथा (कर्म ग्रन्थ कारके मत में)	३	६३४	१८८	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	७७३
१६२	एक गाथा (सिद्धान्त मतानुसारी)	३	६३४	१८९	प्राचीन गाथा	३	७८३
१६३	तत्त्वार्थ भाष्य	३	६३९	१९०	विशेषावश्यक वृत्ति	३	७८५
१६४	तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति	३	६३९	१९१	कर्म ग्रन्थ वृत्ति	३	७८५
१६५	तत्त्वार्थ भाष्य प्रथम अध्याय	३	६३९	१९२	तत्त्वार्थ भाष्य		८०१
१६६	भाष्यकारी गाथा	३	६४८	१९३	भाष्यकार की गाथा (पूर्वान्तर गाथा)		८०१
१६७	कर्म ग्रन्थ	३	६४९	१९४	विशेषावश्यक		८१०
१६८	सिद्धान्त	३	६४९	१९५	कल्प चूर्ण		८१०
१६९	विशेषावश्यक वृत्ति	३	६५५	१९६	प्राचीन गाथा (ज्ञाता धर्म कथा)		८१०
१७०	सिद्धान्त के अभिप्राय की प्राचीन गाथा	३	६८६	१९७	छठे अंग का चतुर्दश अध्ययन		८१०
१७१	सिद्धान्त के अभिप्राय की प्राचीन गाथा	३	६८६	१९८	प्राचीन गाथा		८१३
१७२	महाभाष्य सूत्र वृत्ति	३	६८७	१९९	कर्म विपाक नामक प्रथम कर्म ग्रन्थ की गाथा		८१८
१७३	आवश्यक सूत्र वृत्ति	३	६८७	२००	आचारांग सूत्र की वृत्ति	३	८२३
१७४	कर्म ग्रन्थकार की गाथा	३	६९८	२०१	सेन प्रश्न (अनुयोग द्वार वृत्ति)		८२७
१७५	कर्म ग्रन्थकार की गाथा	३	६९९	२०२	जीवाभिगम सूत्र		८३१
१७६	गुण स्थान कमारोह	३	६९९	२०३	कर्म ग्रन्थकार के मतानुसार		८४८
१७७	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	७०६	२०४	तत्त्वार्थभाष्य	३	८४८
१७८	रत्नाकरावतारिका	३	७०६	२०५	तत्त्वार्थ के सूत्र	३	८४८
१७९	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	७३१	२०६	तत्त्वार्थ भाष्य	३	८५७
१८०	भगवतीसूत्र वृत्ति	३	७३४	२०७	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	८६८
१८१	भाष्यकार की गाथा	३	७३६	२०८	तत्त्वार्थ के सूत्र	३	८६८
१८२	तत्त्वार्थ भाष्य	३	७३८	२०९	योग शास्त्र (प्रथम प्रकाश की वृत्ति)	३	८६८
१८३	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	७४९	२१०	प्राचीन गाथा	३	८७१
				२११	भाष्यकार की गाथा (३)	३	८७८

क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
२१२	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	८८०	२२६	कर्मग्रन्थ	३	१०६०
२१३	चौथा उपांग	३	८८७	२३०	प्राचीन गाथा	३	१०६३
२१४	प्राचीन गाथा	३	८६१	२४१	प्रज्ञापना सूत्र के अठारहवें पद की वृत्ति	३	१०६३
२१५	भगवती सूत्र वृत्ति	३	६२६	२४२	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	१०६०
२१६	राज प्रश्नीय वृत्ति	३	६२६	२४३	शक्रस्तव	३	१०६५
२१७	नंदि सूत्र ३	६२६		२४४	प्रज्ञापना सूत्र के १८ वें पद की वृत्ति	३	१०७२
२१८	नंदि सूत्र वृत्ति (मलय गिरि म० कृत)	३	६२६	२४५	प्राचीन गाथा	३	१०८३
२१९	विशेषावश्यक वृत्ति		६२६	२४६	आगम बचन	३	१०८५
२२०	कर्म ग्रन्थ वृत्ति	३	६२६	२४७	आवश्यक वृत्ति आदि	३	१०६५
२२१	प्रवचन सारोद्धार वृत्ति	३	६२६	२४८	भगवती सूत्र	३	११०६
२२२	ओपपातिक सूत्र वृत्ति	३	६२६		शतक १४ उ० १		
२२३	आवश्यक चूर्ण (ज्ञानसागरसुरि कृत)		६२६	२४९	बृहदसंग्रहणी गाथा-३०५	३	११४
२२४	तत्त्वार्थ वृत्ति आदि	३	६५१	२५०	प्राचीन गाथा	३	११२४
२२५	रत्नाकरावतारिका	३	६५१	२५१	संग्रहणी वृत्ति	३	११२६
२२६	नंदि सूत्र	३	६५१	२५२	आगम मे	३	११२६
२२७	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	६५४	२५३	कर्मग्रन्थ-२ गाथा-२	३	११३२
२२८	नंदि सूत्र आदि	३	६६२	२५४	कर्म ग्रन्थ की अवचूरी	३	१२००
२२९	प्राचीन गाथा	३	६७४	२५५	कर्म ग्रन्थ की टीका	३	१२००
२३०	प्राचीन गाथा दो	३	६८०	२५६	कर्मस्तव की वृत्ति	३	११२०१
२३१	नंदि सूत्र वृत्ति	३	६८०	२५७	महाभाष्य में	३	१२०६
२३२	समंति तर्क	३	६८०	२५८	भाष्य वृत्ति	३	१२११
२३३	तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति	३	६८२	२५९	कर्म ग्रन्थ लघु वृत्ति	३	१२१५
२३४	प्राचीन गाथा	३	६८३	२६०	कर्म ग्रन्थ लघु वृत्ति	३	१२१८
२३५	प्राचीन गाथा दो	३	१०१६	२६१	विशेषावश्यक वृत्ति	३	१२१८
२३६	प्राचीन गाथा दो	३	१०२६- ३०	२६२	कर्म ग्रन्थ की वृत्ति	३	१२३१
२३७	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	१०५३	२६३	भाष्य	३	१२३६
२३८	तत्त्वार्थ वृत्ति	३	१०५५	२६४	भाष्य	३	१२४३
				२६५	भगवती सूत्र	३	१२६६

क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
२६६	भगवती सूत्र वृत्ति	३	१२६६	२६५	प्रज्ञापना की वृत्ति	४	१४६
२६७	भगवती सूत्र चूर्णि	३	१२६६	२६६	प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति	५	७
२६८	आचारांग सूत्र	३	१३०८	२६७	उतराध्ययन की वृत्ति	५	७
२६९	आवश्यक बृहद् वृत्ति	३	१३५७	२६८	प्रज्ञापना वृत्ति	५	१५
२७०	प्राचीन गाथा-२	३	१३५८	२६९	आचारांग सूत्र	५	४६
२७१	प्राचीन गाथा	३	१३६२	३००	प्रज्ञापना वृत्ति	५	५३
२७२	प्राचीन गाथा	३	१३७७	३०१	सिद्धान्त में	५	५३
२७३	प्राचीन गाथा	३	१३८०	३०२	भगवती सूत्र	५	६०
२७४	प्राचीन गाथा	३	१३९७	३०३	प्रवचन सारोद्धार	५	६०
२७५	प्राचीन गाथा	३	१४००	३०४	प्राचीन गाथा	५	६५
२७६	जीवाभिगम सूत्र	४	२६	३०५	प्राचीन गाथा	५	६६
२७७	आचारांग निर्युक्ति वृत्ति	४	२६	३०६	प्राचीन गाथा	५	७३
२७८	प्राचीन गाथा	४	३५	३०७	प्राचीन गाथा	५	७३
२७९	भगवती वृत्ति	४	३७	३०८	प्राचीन गाथा	५	७३
२८०	जीवाभिगम वृत्ति	४	३८	३०९	प्रज्ञापना वृत्ति	५	७३
२८१	प्राचीन गाथा	४	४८	३१०	आचारांग वृत्ति ५ (गाथा १३८)	५	७३
२८२	भगवती सूत्र	४	५५	३११	वनस्पति सप्ततिका	५	७६
२८३	प्रज्ञापना वृत्ति	४	५८	३१२	प्राचीन गाथा	५	७७
२८४	नवतत्व की गाथा-६०	४	५९	३१३	प्राचीन गाथा	५	८३
२८५	विशेषणवती	४	६७	३१४	पन्न वणा सूत्र	५	९२
२८६	प्राचीन गाथा	४	७२	३१५	जीव विचार	५	९४
२८७	प्राचीन गाथा	४	७७	३१६	सूय गडांग सूत्र की वृत्ति ५ में द्वितीय स्कन्ध का तीसरा अध्ययन	५	१०६
२८८	प्रज्ञापना सूत्र १८ वीं में पद की वृत्ति	४	८३	३१७	भगवती सूत्र शतक-७ ५ उद्देश्य-३	५	१११
२८९	प्राचीन गाथा	४	९०	३१८	चौथे उपांग में (पन्नवणा)	५	१३२
२९०	जीवाभिगम	४	९९	३१९	वनस्पति सप्ततिका	५	१३४
२९१	संप्रहणी वृत्ति	४	९९	३२०	पन्नवणा सूत्र	५	१३७
२९२	प्राचीन गाथा-दो	४	११७-१८	३२१	पांचवा अंग (भगवती) ५	५	१३७
२९३	प्रज्ञापना सूत्र	४	१३३				
२९४	आचारांग वृत्ति	४	१४७				

क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० स०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
३२२	पन्नवणा सूत्र	५	१५०	३४४	कर्म ग्रन्थ	५	३१५
३२३	हेम चन्द्राचार्य कृत अभिधाना चिन्तामणि	५	१५०	३४५	प्रज्ञापना वृत्ति	५	३२१
३२४	आचारांग सूत्र	५	१५०	३४६	आचारांग सूत्र	५	३२१
३२५	जीवाभिगम	५	१५०	३४७	प्रज्ञापना सूत्र	५	३३२
३२६	दशवैकालिक सूत्र	५	१५०	३४८	प्राचीन गाथा	६	२७
३२७	जीवाभिगम वृत्ति	५	१६४	३४९	प्राचीन गाथा	६	५५
३२८	भगवती सूत्र	५	१८२	३५०	उतराध्ययन वृत्ति	६	७५
	शतक १३ उद्दे ४			३५१	प्रज्ञापना वृत्ति	६	७६
३२९	तीसरे व चौथे उपांग में जीवाभिगम प्रज्ञापना	५	१८३	३५२	भगवती सूत्र	६	८४
३३०	पंच संग्रह वृत्ति	५	१९२	३५३	जीव समास	६	९३
३३१	पन्नवणा वृत्ति	५	१९२	३५४	सूर्य गडांग सूत्र आहार परिज्ञाध्ययन	६	१०७
३३२	पन्नवणा वृत्ति	५	२०८	३५५	प्रज्ञापना सूत्र	६	१०७
३३३	संग्रहणी	५	२१७	३५६	उतराध्ययन सूत्र	६	१३३
३३४	आचारांग सूत्र	५	२१७	३५७	भगवती सूत्र	६	१५४
३३५	तीसरा उपांग (जीवाभिगम)	५	२४३	३५८	जीवाभिगम सूत्र	६	१७१
३३६	भगवती सूत्र	५	२६२	३५९	छठा कर्म ग्रन्थ	६	१७१
३३७	भगवती सूत्र	५	२६२	३६०	संग्रहणी की बृहद वृत्ति	६	१७१
३३८	भगवती सूत्र के २१ वे शतक की वृत्ति	५	२६२	३६१	संग्रहणी की अवचूरी	७	७
३३९	पांचवां अंग शतक-१८ उद्दे ३	५	२८२	३६२	सूर्य गडांग की वृत्ति	७	३५
३४०	देहाल्प बहुत्वोद्धार (जिन वल्लभ सूरिकृत)	५	२९१	३६३	प्रज्ञापना सूत्र	७	३९
३४१	भगवती सूत्र शतक-१९ उद्दे ३	५	३९१	३६४	भगवती सूत्र का शतक २ उद्दे ५	७	४८
३४२	भगवती सूत्र शतक-२१-२२	५	३००	३६५	आगम सूत्र	७	७२
३४३	भगवती सूत्र शतक-२२५	५	३०५	३६६	भगवती सूत्र की टीका (शतक १ उद्दे २)	७	७९
				३६७	भगवती सूत्र शतक-१२ उद्दे ९	७	८२
				३६८	दशवैकालिक वृत्ति (श्री हारिभद्रसूरिकृत)	७	८२

क्र० सं०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या	क्र० सं०	नाम आगम	सर्ग संख्या	श्लोक संख्या
३६६	हैमवीर चरित्र	७	८२	३८६	प्रज्ञापना सूत्र	८	१५२
३७०	नवपद प्रकरण की वृत्ति	७	८२	३८७	कर्म ग्रन्थ वृत्ति	१०	१५१
३७१	पंच संग्रह	७	६२	३८८	जीत कल्प वृत्ति	१०	१५२
३७२	वृद्ध वाद	७	११०	३८९	प्रज्ञापना वृत्ति	१०	२३३
३७३	प्राचीन गाथा	७	११६	३९०	भगवती सूत्र	११	१६
३७४	प्रज्ञापना टीका	७	११७		शतक २० उद्दे० ५		
३७५	भगवती सूत्र	७	१२३	३९१	भगवती सूत्र	११	२१
३७६	महानिशीथ सूत्र चतुर्थ अध्ययन	८	२८	३९२	प्राचीन गाथा	११	२७
३७७	द्वारणक सूत्र	८	५०	३९३	प्राचीन गाथा	११	२७
३७८	भगवती सूत्र शतक-१४	८	५५	३९४	प्रज्ञापना टीका	१०	२३३
३७९	भगवती सूत्र	८	६८	३९५	भगवती सूत्र शतक-८	११	४३
३८०	प्राचीन गाथा	८	२३	३९६	भगवती सूत्र शतक-१६११	११	४७
३८१	प्राचीन गाथा	८	२४	३९७	उत्तराध्ययन सूत्र	११	१०२
३८२	प्रज्ञापना वृत्ति	८	१२५	३९८	भगवती सूत्र शतक	११	१०३
३८३	प्रज्ञापना वृत्ति	८	१२६	३९९	सिद्धान्तमा	११	१०८
३८४	प्राचीन गाथा	८	१२६	४००	भगवती सूत्र की टीका	११	१२६
३८५	प्रज्ञापना सूत्र	८	१४८	४०१	प्रज्ञापना सूत्र	११	१४७
				४०२	रत्नाकराव तारिका	११	१५६

अनुक्रमणिका

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
पहला सर्ग			१६	तीन प्रकार के संख्याता का स्वरूप	१२३
१	मंगलाचरण	१	२०	नौ प्रकार के अनन्ता का स्वरूप	१२४
२	ग्रन्थकर्ता की प्रस्तावना	८	२१	तीन प्रकार के असंख्याता का स्वरूप	१२४
३	ग्रन्थरंभ-विविध प्रकार के परिणाम	१८	२२	आठवें अनन्त में २२ वस्तु हैं उनके नाम	२०६
४	उत्सेधांगुल	२१	दूसरा सर्ग (लोक स्वरूप)		
५	प्रमाणगुल	३१	१	चार प्रकार के लोक का स्वरूप	२
६	आत्मांगुल	३६	२	पहले प्रकार 'द्रव्य' परत्वे लोक स्वरूप	
७	सूच्यांगुल	४८	३	द्रव्य लोक छः द्रव्य	११
८	प्रतरांगुल	५०	४	धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय के विषय में	१५
९	घनांगुल	५१	५	आकाशस्तिकाय के विषय में विस्तार पूर्वक ज्ञान	२५
१०	अंक के स्थान-गुणाकार-भागाकार	५२	६	जीवास्तिकाय का स्वरूप	५३
११	रज्जु का प्रमाण	५६	७	जीव के सामान्य लक्षण	५३
१२	लोकोक्त मान का कोष्टक	६६	८	जीव के दो प्रकार:- सिद्ध और संसारी	७४
१३	पल्योपम तथा सागरोपम का माप	६८	९	सिद्ध का स्वरूप	८३
१४	उद्धार पल्योपम तथा सागरोपम (सूक्ष्मबादर)	७१	१०	एक समय में कितने सिद्ध हुये?	६५
१५	अर्द्धपल्योपम तथा सागरोपम (सूक्ष्मबादर)	८८	११	सिद्ध की अवगाहना के विषय में	११२
१६	उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी का प्रमाण	१०४	१२	सिद्ध पद को कौन पाता है ?	१३१
१७	क्षेत्र पल्योपम तथा सागरोपम (सूक्ष्मबादर)	१०६			
१८	संख्यात, असंख्यात और अनन्त का स्वरूप	१२२			

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
१३	सिद्ध पाये जीवों के समय श्री प्रमाण	१३३	२०	तैजस शरीर के अवगाहना के विषय में	
१४	सिद्ध का अल्पत्व-बहुत्व	१४१	२१	विस्तृत वास्तविकता	१३४
१५	सिद्धके अनन्त सुख	१४३	२२	विविध शरीर की विशेष स्थिति संख्या का अल्प-बहुत्व तथा अन्तर के विषय में	१८६
१६	सिद्ध के सुख परत्वे दृष्टान्त	१५२	२३	संस्थान	२०४
तीसरा सर्ग			२४	संस्थान के छः प्रकार	२०५
१	संसारी जीवों के स्वरूप	१	२५	शरीर का प्रमाण	२११
२	जीव के भेद	६	२६	समुद्धात	२१२
३	स्थान	६	२६	सात प्रकार	२१५
४	पर्याप्ति	७	२८	सातवां प्रकार केवली समुद्धात	२३७
५	पर्याप्ति के छः प्रकार	१६	२९	समुद्धात विषय में विशेष टिप्पणी	२६५
६	योनी संख्या	४५	३०	(१३-१४) गति-आगति २८०-	
७	योनी के विविध प्रकार	४६	२८१	(१५-१६) अनन्तराप्ति २८२-२८३	
८	मनुष्य योनी का स्वरूप तथा प्रकार	५६	३१	एक समय सिद्धि	
९	कुल कोटि की संख्या	६६	३२	(१७) लेख्या	२८४
१०	भव स्थिति (एकभव का आयुष्य) ६६		३३	लेख्या के छः प्रकार	२९८
११	दो प्रकार का आयुष्य	६६	३४	वर्ण, रस, गंध स्पर्श	२९९
१२	सात प्रकार के आयुष्य के विषय में	७५	३५	सामान्यतः स्थिति काल	३२६
१३	जीव पर भव के आयुष्य कैसे बांधता है ?	९१	३६	विशेष स्थिति काल	३३५
१४	काय स्थिति	९४	३७	लेख्या परत्वे जम्बू वृक्ष आदि का दृष्टान्त	३६३
१५	शरीर	९५	३८	(१८) आहार की दिशा (जीव किस दिशा में आहार ले) उस विषय में	३८३
१६	पाँच प्रकार के शरीर	९५	३९	(१९) संहनन (संघयण)	३९८
१७	शरीर के विशेष कारण	१११	४०	छः प्रकार	३९८
१८	शरीर के विशेष प्रयोजन	१२२			
१९	शरीर के विशेष अवगाहना के विषय में	१२७			

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
४१	(२०) कषाय	४०६	६६	समकित प्राप्त कराने वाले तीन	६०१
४२	चार कषाय	४०६		करण सम्बंधी विस्तार	
४३	चारों के चार-चार भेद	४१३	६७	ग्रन्थी भेद परत्वे द्रष्टान्त और	६०५
४४	दृष्टान्त पूर्वक समझना	४२६		उपनय	
४५	नौ 'नो कषाय' के नाम	४४१	६८	क्षयोपशम समकित का स्वरूप	६३८
४६	(२१) संज्ञा	४४२	६९	सम्यक्तत्व के १-२-३-४-५	६५७
४७	चार तथा दश प्रकार	४४३		प्रकार	
४८	आश्चर्यकारी द्रष्टान्त	४४८	७०	उन-उन प्रकारों के समकित	६७४
४९	तीन प्रकार की संज्ञा के स्वरूप	४४८		के भिन्न-भिन्न स्थिति काल	
५०	(२२) इन्द्रिय	४६४	७१	चार प्रकार के समकित का	६७४
५१	पाँच इन्द्रिय	४६५		स्वरूप	
५२	द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा भेद	४६७	७२	मिथ्या दृष्टि के पाँच प्रकार	६८७
५३	भावेन्द्रिय का विशेष स्वरूप	४७९	७३	मिश्र दृष्टि का स्वरूप	६८९
५४	पाँचों इन्द्रियों के प्रमाण	४९०	७४	(२६) ज्ञान	६९६
५५	पर्दाध ग्रहण करने की शक्ति के विषय में	५१२	७५	पाँच प्रकार	७०१
५६	स्पृष्ट बद्ध और बद्धस्पृष्ट आदि स्वरूप	५२२	७६	(१) मतिज्ञान-अट्टाईस भेद	७०७
५७	इन्द्रिय गोचर पदार्थों का मान	५३३	७७	चार प्रकार की मति (बुद्धि)	७५०
५८	उन-उन इन्द्रियों की अवगाहना और प्रदेश प्रमाण	५४२	७८	(२) श्रुत ज्ञान	७५६
५९	जीवों की अतीत, अनागत इन्द्रियों की संख्या	५५१	७९	चौदह भेद	७७५
६०	नौ इन्द्रिय-मन	५७३	८०	अठारह लिपियों के नाम	७७९
६१	द्रव्यमन-भावमन	५७३	८१	ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के नाम	७९१
६२	(२३) संज्ञित-संज्ञी-मनमाला	५८०	८२	सादि-अनादि आदि चार प्रकार के श्रुत	८१२
६३	(२४) वेद	५८६	८३	श्रुत ज्ञान के बीस भेद	८२०
६४	वेदना के तीन प्रकार और उनके लक्षण	५९०	८४	(३) अवधि ज्ञान	८३५
६५	(२५) दृष्टि-समकित दृष्टि आदि	५९७	८५	छः प्रकार	८३९
			८६	(४) मनः पर्यवज्ञान	८५०
			८७	दो प्रकार	८५२
			८८	(५) केवल ज्ञान	८६७

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
८६	अज्ञान	८७०	११२	आहार के तीन प्रकार	१०६६
८७	तीन प्रकार	८७१	११३	(३०) गुण स्थान	११३१
८९	मतिज्ञान का विषय	८७६	११४	चौदह गुण स्थान के नाम	११३२
८९	श्रुत ज्ञान का विषय	८८२	११५	पहले गुण स्थान का स्वरूप	११३४
९३	अवधि ज्ञान का विषय	८९०	११६	दूसरे गुण स्थान का स्वरूप	११४१
९४	मनः पर्यवज्ञान का विषय	९२४	११७	तीसरे गुण स्थान का स्वरूप	११४४
९५	केवल ज्ञान का विषय	९३४	११८	चौथे गुण स्थान का स्वरूप	११५६
९६	तीन अज्ञान का विषय	९३७	११९	पाँचवें गुण स्थान का स्वरूप	११६१
९७	प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण	९४४	१२०	छठे गुण स्थान का स्वरूप	११६३
९८	छः दर्शनवालों ने इसे माना, भिन्न-भिन्न प्रमाण	९५६	१२१	सातवें गुण स्थान का स्वरूप	११६६
९९	मतिश्रुत आदि ज्ञानों का सहभाव	९६१	१२२	आठवें गुण स्थान का स्वरूप	११६७
१००	ज्ञान और दर्शन का क्रम	९७४	१२३	नवमें गुण स्थान का स्वरूप	११८७
१०१	पाँचों प्रकार के ज्ञान का स्थिति काल	९८३	१२४	दशमें गुण स्थान का स्वरूप	११९४
१०२	तीन अज्ञान का स्थिति काल	९८३	१२५	ग्यारहवें गुण स्थान का स्वरूप	११९७
१०३	इन सबका अन्तर और अल्प-बहुत्व	१००३	१२६	बारहवें गुण स्थान का स्वरूप	१२१६
१०४	ज्ञान और अज्ञान का सर्वपर्याय और पर पर्याय	१०१२	१२७	तेरहवें गुण स्थान का स्वरूप	१२४८
१०५	(२६) दर्शन	१०४६	१२८	चौदहवें गुण स्थान का स्वरूप	१२६१
१०६	चार प्रकार	१०५४	१२९	चौदह गुण स्थानक में मृत्यु प्राप्त होने के विषय में	१२७७
१०७	(२८) उपयोग	१०७४	१३०	उन-उन गुण स्थानों पर प्राणियों को अल्प-बहुत्व	१२८१
१०८	(२९) आहार	१०७६	१३१	उन-उन गुण स्थानों की काल स्थिति	१२८८
१०९	आहारी और अनाहारी का स्वरूप	१०७६	१३२	उन-उन गुण स्थानों के बीच में अन्तर	१२९८
११०	संघात और परिशाट का स्वरूप	१०८७	१३३	(३१) योग	१३०४
१११	वक्र गति के चार प्रकार	१०९६	१३४	तीन प्रकार के योग में १५ प्रकार हैं	१३०४
			१३५	सात प्रकार के काय योग	१३०५
			१३६	मन और वचन के चार-चार योग	१३३६

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
१३७	वचन योग और भाषा बीच एकता	१३५३	११	भव स्थिति और काय स्थिति (द्वार ७-८)	७३
१३८	भाषा के चार प्रकार	१३५६	१२	शरीर (द्वार-६)	६४
१३९	सत्य भाषा के दस प्रकार	१३६१-१	१३	संस्थान, देहमान और समुद घात (द्वार १०-१२)	६६
१४०	असत्य भाषा के दस प्रकार	१३७८	१४	गति और आगति (द्वार १३-१४)	१०१
१४१	मिश्र भाषा के दस प्रकार	१३८१	१५	अन्तराप्ति और समय सिद्धि (१५-१६)	१२०
१४२	व्यवहार भाषा के चार प्रकार	१३९५	१६	लेश्या, टिगाहार, सहनन, १२१-१२६ कषाय, संज्ञा, इन्द्रिय, असंज्ञी, वेद (१७-२४ द्वार)	
१४३	(३२) जीवों का प्रमाण	१४१०	१७	मिथ्यादृष्टि आदि (२५-२८ द्वार)	१२७
१४४	(३३) जीवों की स्वज्ञाति की अपेक्षायें, अल्प-बहुत्व	१४११	१८	सूक्ष्म जीवों को आहार (२९)	१३१
१४५	(३४) दिशा की अपेक्षायें, अल्प-बहुत्व	१४१२	१९	गुण स्थान, योग और मान (३०-३२)	१३४
१४६	(३५) अपनी जाति उत्पन्न होने के जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर	१४१३	२०	जघन, अल्प-बहुत्व (३३)	१४२
१४७	(३६) भव संवेध	१४१४	२१	दिशा के आश्रयो अल्प-बहुत्व तथा अन्तर (३४-३५)	१४६
१४८	(३७) महान अल्प-बहुत्व	१४१६			
चौथा सर्ग					
१	संसारी जीवों की अलग-अलग विवक्षायें	२			
२	मांडी के अनेक प्रकार	२			
३	एकेन्द्रिय मार्गणा का स्वरूप	२६			
४	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	२८			
५	जीव के स्वरूप और भेद	२९			
६	निगोद का स्वरूप	३२			
७	व्यवहार राशि और अव्यवहार राशि का स्वरूप	५७			
८	जीव का स्थान (द्वार-२)	६८			
९	जीवों की पर्याप्ति, योनी, कुल संख्या	६९			
१०	संवृतत्वादि चार द्वार (३-६)	६९			
पाँचवा सर्ग					
१	बादर एकेन्द्रिय, व्याख्या और उसके पृथ्वीकाय आदि छः भेद	१			
२	इनके प्रत्येक के भेद (द्वार-१)	५			
३	वनस्पति के विषय में जीव तत्व की प्रतीति	३०			
४	साधारण वनस्पति के लक्षण	७५			
५	भेद	७७			
६	प्रत्येक वनस्पति के लक्षण	९३			
७	भेद	९७			

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
८	प्रत्येक वनस्पतिकाय का वर्ण, गंध तथा भेद	१६०	३	स्थान के विषय में (द्वार-२)	११
९	अठारह भार वनस्पति का प्रमाण	१६८	४	पर्याप्ति के विषय में (द्वार-३)	१४
१०	बादर पृथ्वीकाय आदि का स्थान	१७० (द्वार-२)	५	योनि संख्या तथा कुल संख्या (द्वार-४-५)	१६
११	पर्याप्ति, योनि संख्या, कुल संख्या (द्वार ३-४-५)	२१३	६	योनि स्वरूप (द्वार-६)	१७
१२	योनि संवृतत्व (द्वार-६)	२२४	७	भव स्थिति (द्वार-७)	२०
१३	भव स्थिति (द्वार-७)	२२६	८	काय स्थिति (द्वार-८)	२२
१४	काय स्थिति (द्वार-८)	२३६	९	शरीर, संस्थान, देहमान, समुदघात (द्वार-१७-१९)	२६
१५	शरीर के विषय में (द्वार-९)	२५१	१०	गति-आगति (द्वार-१३-१४)	३०
१६	संस्थान (द्वार-१०)	२५२	११	उपपात और च्यवन का विरह	३२
१७	देहमान के विषय में (द्वार-११)	२५४	१२	अन्तर भव (द्वार-१५)	३४
१८	समुदघात के विषय में (द्वार-१२)	२६२	१३	समय सिद्धि (द्वार-१६)	३५
१९	गति के विषय में (द्वार-१३)	२६३	१४	लेश्या, दिगाहार तथा संघयण (द्वार-२३-२६)	३६
२०	आगति के विषय में (द्वार-१४)	२६६	१५	कषाय, संज्ञा तथा इन्द्रिय (द्वार-२०-२२)	३६
२१	अन्तराप्ति, समय सिद्धि तथा लेश्या के विषय में (द्वार १५-१६-१७)	३०७	१६	संज्ञा, वेद, दृष्टि तथा ज्ञान के विषय में (द्वार-२३-२६)	३८
२२	दिगाहार के विषय में (द्वार-१८)	३१३	१७	दर्शन, उपयोग, आहार (द्वार-२७-२९)	४५
२३	गुण स्थान तथा योग के विषय में	३१५ (द्वार-३०-३१)	१८	गुण स्थान तथा योग (द्वार-३०-३१)	५१
२४	प्रमाण के विषय में (द्वार-३२)	३१७	१९	प्रमाण (द्वार-३२)	५३
२५	अल्प-बहुत्व के विषय में (द्वार-३३)	३३४	२०	अल्प-बहुत्व (द्वार-३३)	५६
२६	दिगाश्रयी अल्प-बहुत्व (द्वार-३४)	३३४	२१	दिगाश्रयी अल्प-बहुत्व (द्वार-३३)	५८
२७	अन्तर के विषय में (द्वार-३६)	३५६	२२	अन्तर (द्वार-३५)	६१
छठा सर्ग			२३	पंचेन्द्रिय जीवों का स्वरूप	६२
१	विकलेन्द्रिय के विषय में	१	२४	जलचर जीवों के विषय में	६४
२	भेद के विषय में (द्वार-१)	२			

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
२५	स्थलचर जीवों के विषय में	७०		(मनुष्य)	
२६	चतुष्पद जीवों के विषय में	७२	२	मनुष्यों के दो प्रकार	१
२७	परिसर्प जीवों के विषय में	७८	३	सम्पूर्ण मनुष्यों के ३७ द्वार भेद के विषय में	२
२८	खेचर जीवों के विषय में	६६	४	स्थान, पर्याप्त के विषय में	५
२९	स्थान के विषय में	१०६	५	योनि, संख्या, कुल संख्या तथा योनि स्वरूप के विषय में	८
३०	पर्याप्त के विषय में	११०	६	भव स्थिति, काय स्थिति	६
३१	योनि, संख्या और कुल संख्या के विषय में	११४	७	शरीर, संस्थान, देहमान, समुदघात के विषय में	१०
३२	योनि संवृतत्व	११७	८	गति, आगति के विषय में	११
३३	भव स्थिति	१२१	९	अनन्तराप्ति तथा समय सिद्धि के विषय में	१३
३४	काय स्थिति	१२७	१०	दृष्टि, ज्ञान आदि द्वारों के विषय में	१५
३५	शरीर, संस्थान, तथा देहमान के विषय में	१३८	११	आहार-गुण आदि के विषय में	१६
३६	समुदघात, गति के विषय में	१४८	१२	प्रमाण के विषय में	१८
३७	आगति के विषय में	१६४	१३	अल्प-बहुत्व आदि के विषय में	२१
३८	अन्तराप्ति, समयसिद्धि आदि (द्वार-१५-२३)	१६६	१४	गर्भज मनुष्यों के द्वारों के विषय में	२२
३९	वेद के विषय में	१७३	१५	भेद के विषय में	२२
४०	दृष्टि, ज्ञान, दर्शनादि के विषय में (द्वार-२५-२७)	१७५	१६	साढ़े पचीस आर्य देशों के नाम	२७
४१	उपयोग के विषय में	१७६	१७	मुख्य नगरों के नाम	३१
४२	आहार के विषय में	१८१	१८	आर्य और अनार्य के लक्षण	३६
४३	गुण स्थानक और योग के विषय में	१८४	१९	स्थान के विषय में	४०
४४	प्रमाण के विषय में	१८५	२०	पर्याप्त आदि द्वारों के विषय में (३-७)	४१
४५	अल्प-बहुत्व, दिगाश्रयी, अल्प-बहुत्व के विषय में	१९२	२१	कायस्थिति आदि द्वारों के विषय में (८-१२)	४६
४६	अन्तर के विषय में	१९५	२२	गति द्वार के विषय में	५७
सातवां सर्ग					
१	पंचेन्द्रिय जीव के दूसरे प्रकार	१			

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
२३	आगति द्वार के विषय में	८४	१४	लेश्या आदि द्वार (१६ से २६)	८७
२४	अनन्तराप्ति द्वार के विषय में	६३	१५	गुण स्थान और योग द्वार (३० से ३१)	६४
२५	अद्वाइस लब्धियों के नाम	६६	१६	प्रमाण के विषय में	६५
२६	समय सिद्धि आदि (१६ से २३ द्वार)	१०४	१७	लघु-अल्प-बहुत्व के विषय में	११५
२७	वेद आदि (२४ से ३१ द्वार)	१०६	१८	दिगाश्रयी अल्प-बहुत्व के विषय में	१३२
२८	प्रमाण के विषय में	११५	१९	अन्तर के विषय में	१५३
२९	अल्प-बहुत्व आदि के विषय में (३३-३४ द्वार)	११८		नीचा सर्ग	
३०	अन्तर के विषय में	१२२		आठवां सर्ग	
	आठवां सर्ग		१	पंचेन्द्रिय जीवों का चौथा प्रकार (नारकी) सात तरह के नारकी	१
१	पंचेन्द्रिय जीवों के तीसरे प्रकार भेद के विषय में (देव)	१	२	स्थान के विषय में	३
२	दशजाति के भवन यति देव	२	३	पर्याप्ति आदि द्वार (३-४-५-६)	४
३	पन्द्रह परमाधामी के स्वरूप	३	४	भव स्थिति आदि द्वार (७-११)	६
४	देवों के दूसरे प्रकार व्यन्तर तथा अनेक उपभेद	२६	५	समुदघात आदि द्वार (१२-१५)	११
५	देवों के तीसरे प्रकार 'ज्योतिष्क' तथा ५ प्रकार	५६	६	समय सिद्धि आदि द्वार (१६-२८)	१५
६	देवों का चौथा प्रकार वैमानिक चार तरह के कल्पोपन्न	६२	७	आहार आदि द्वार (२९-३२)	२०
७	कल्पातीत वैमानिक	६२	८	लघु-अल्प-बहुत्व तथा दिगाश्रयी बहुत्व द्वार (३३-३४)	३०
८	नौ प्रेवेयक तथा पाँच अनुतर विमानवासी	६३	९	अन्तर द्वार के विषय में	३७
९	लोकान्तक देव	६६		दसवां सर्ग	
१०	स्थान के विषय में	७१	१	भवसंवेध प्रकरण, संसारी जीवों के भवसंवेध	१
११	पर्याप्ति आदि द्वार (३ से १०)	७२	२	महा-अल्प-बहुत्व प्रकरण संसारी जीवों के महाअल्प बहुत्व नाम (द्वार ३६)	
१२	देहमान आदि द्वार (११ से १४)	७६	३	जीवास्ति काय के पाँच प्रकार	१२५
१३	अनन्तराप्ति और समयसिद्धि द्वार (१५ से १६)	८३	४	कर्म बन्धन के मूल और उतर हेतु	१३३

क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०	क्र० सं०	विषय	श्लोक सं०
५	कर्म के मुख्य आठ प्रकार, उतर प्रकृतियाँ	१४६	२	स्कंध-देश-प्रदेश और परमाणुओं के लक्षण	५
६	नाम कर्म की प्रकृतियाँ	१६७	३	परमाणु का स्वरूप, इसके चार प्रकार	१४
७	आठ प्रकार के कर्म की उत्कृष्टता तथा जघन्य स्थिति	२६५	४	पुद्गलों का दश प्रकार का परिणाम (बंध परिणामआदि)	२२
८	कर्मों के अबाध काल और कर्मों के निषेक और व्याख्या	२७८	५	इन दश में से तीसरे प्रकार (संस्थान-परिणाम)	४८
९	जीव की पुण्य प्रकृतियाँ और पाप प्रकृतियाँ	२९२	६	संस्थान-परिणाम के अनेकों भेद-प्रभेद	४८
१०	घाती और भवोपग्राही (अघाती) कर्म	३००	७	संस्थान परिणाम की आकृतियाँ	६७
	ग्यारहवां सर्ग		८	पुद्गल का अन्य परिणाम	११३
१	पुद्गलास्ति काय का स्वरूप; इसके पाँच प्रकार	२	९	अजीव रूपी पुद्गलों का भेद	५३० १३०
			१०	शब्द परिणाम	१३६
			११	छाया आदि पौद्गलिक है	१३
			१२	सर्ग समाप्ति	१५८

दो-शब्द

अपने साधु जीवन के प्रारम्भिक काल से सुनता आ रहा था कि, उपाध्याय 'श्री विनय विजय' जी गणि वर्य रचित 'लोक प्रकाश' महान ग्रन्थ है। अनेकों बार वयोवृद्ध श्रमण भगवंतों के मुखारविंद से इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के सभी तत्त्वों का समावेश है। द्रव्य लोक-क्षेत्र-लोक काल लोक एवं भाव लोक के सभी पदार्थों का ज्ञान इसमें है। उस समय ज्ञान की इतनी क्षमता भी नहीं थी की तत्काल इस ग्रन्थ की अद्भुत सूक्ष्मता को समझ पाता। जैसे-जैसे संयम साधना चलती रही, शास्त्रों का पठन-पाठन-मनन-अनुशीलन चलता रहा। बुद्धि में भी कुछ जानने-समझने की पात्रता आती गई। अनेकों दुर्लभ ग्रन्थों को पढ़कर-समझकर हिन्दी भाषा में रूपान्तर करने का क्रम भी अविरत गति से चलता रहा इस ग्रन्थ के प्रति मन में अधिक-अधिक उत्कंठा जागृत होती गई। सौभाग्य से 'लोक प्रकाश' ग्रन्थ पढ़ने में आया। पूर्ण मनोयोग से दत्तचित्त होकर कई बार आद्यान्त पारायण किया। ग्रन्थराज में वर्णित गूढ तत्त्वों का भान होने पर पता चलता है कि वस्तुतः यह ग्रन्थ तो जैन साहित्य की अमूल्य निधि है। विभिन्न गुजराती भाषा में रूपान्तरित संस्करण पढ़ने में आये। मन में विचार जाग्रत हुआ कि ऐसे अनुपम और दुर्लभ ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में प्रचलन न होना बड़ा ही कष्टकारी है। हिन्दी तो राष्ट्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित है और हिन्दी भाषी प्रदेश भी कितने ही हैं। बस इसी भावना से प्रेरित होकर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का आलम्बन पाकर सम्पूर्ण 'लोक प्रकाश' ग्रन्थ सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद करने का द्रढ़ निश्चय कर लिया। श्रुत ज्ञान देव की परम कृपा एवं पूज्य गुरु भगवतों के शुभाशीर्वाद से दो वर्ष की अल्पावधि में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ को पाँच भागों में हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर सका। यह वर्ष मेरी दीक्षा पर्याय का ५० वाँ साल चल रहा है, उधर ग्रन्थराज 'लोक प्रकाश' का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो रहा है। 'अहो कल्याणं परम्परा' मेरे लिये तो बहुत ही आनन्द दायक है। यह मणिकांचन योग बहुत ही श्रेयस्कर है।

इस ग्रन्थ का मनोयोग पूर्वक अध्ययन व चिन्तन करने से जैन दर्शन के गूढ व दुर्लभ तत्त्वों का ज्ञान मिलता है। जीव द्रव्य लोक-क्षेत्र लोक-काल लोक और भाव लोक के पदार्थों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान प्राप्त होता है। इन तत्त्वों को जानकर मनुष्य जीव हिंसा के पापों से भी बच सकता है और कर्म रहित भी हो सकता है। पवित्र वीत राग परमात्म-

मार्ग की आराधना करके मुक्ति पथ का पथिक बनता है। ग्रन्थराज सम्पूर्ण पाँचों भागों में छप चुका है। अपनी अनुकूलता अनुसार पाठक गण प्राप्त कर पठन-पाठन करेंगे तो कल्याण होगा।

‘द्रव्य क्षेत्र’ नाम से प्रसिद्ध ‘लोक प्रकाश’ ग्रन्थ का प्रथम भाग (सर्ग १ से ११ तक) आपके हाथों में है। वर्ष्य विषय की अनुक्रमणिका इस ग्रन्थके प्रारम्भिक पृष्ठों पर दी गई है, इससे विषयअन्वेषण में सुविज्ञ पाठक जन को सुविधा होगी। इस ग्रन्थ का विषय यद्यपि दुरुह है फिर भी सूक्ष्मति सूक्ष्म विचार पूर्ण रूप से जैन शैली के अनुरूप हैं। भाषानुवाद में मेरी मतिमंदता अथवा कथंचित् प्रमाद वश कहीं कोई खलना रही है तो मिच्छामि दुक्कडं करोमि’।

सुहय एवं सुविज्ञजन विचार सहित अध्ययन करें। कहा भी है कि -

अवश्यं भाषिनो दोषाः, छद्मस्थत्वानुभावतः।

समाधितन्वते सन्तः, किंनराश्चात्र वक्रगा ॥

गच्छतः सखलनं कवापि, भवत्येव प्रमादतः।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र, साधयन्ति सज्जनाः ॥

शिवं भवतु-सुखं भवतु-कल्याणं भवतु

आचार्य पद्म चन्द्र सूरी का धर्म लाभ

परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय पद्म चन्द्र सूरीश्वर जी म० सा०
द्वारा प्रकाशित सरल आध्यात्म हिन्दी साहित्य

	रु० पै०
१. योग शास्त्र	६०=००
२. संवेग रंगशाला	४०=००
३. जैन रामायण	२०=००
४. महाभारत (पांडव चरित्र)	२०=००
५. उपदेश माला	७०=००
६. वंदितु सूत्र	२५=००
७. समरादित्य महाकथा	३०=००
८. आध्यात्म सार	१२=००
९. युगादिदेशना	५=००
१०. पर्व कथा संग्रह	३=००
११. ज्ञान सार अष्टक	१=५०
१२. प्रशम रति	२=००
१३. देव वंदन माला	७=००
१४. पूजा कैसे करनी चाहिये	२=००
१५. तीर्थ हस्तिनापुर	०=५०
१६. प्राचीन तीर्थ (पुरिम ताल) इलाहाबाद	५=००
१७. ललित भक्ति दर्पण	०=३५
१८. श्री शान्ति नाथ चरित्र	२५=००
१९. श्री नेमिनाथ चरित्र	२०=००
२०. श्री पार्श्वनाथ चरित्र	२५=००
२१. श्री धर्म कथा संग्रह भाग-१	६०=००
२२. श्री धर्म कथा संग्रह भाग-२	६०=००
२३. श्री धर्म कथा संग्रह भाग-३	६०=००
२४. बीस स्थानक तप आराधना विधि	१२=००
२५. त्रैलोक्य प्रकाश	७०=००
२६. पंचाशक प्रकरण	१००=००
२७. लोक प्रकाश भाग-१	१५०=००
२८. लोक प्रकाश भाग-२	१५०=००
२९. लोक प्रकाश भाग-३	१५०=००
३०. लोक प्रकाश भाग-४	१५०=००
३१. लोक प्रकाश भाग-५	१५०=००

नोट - श्री ऋषभ देव चरित्र, पंच वस्तुक तथा श्राद्ध विधि कर्म प्रेस में हैं ।

॥ शासनपति श्री वर्धमान स्वामिने नमः॥

श्री आत्मवल्लभ ललित पूर्णानंद प्रकाशचन्द्र सद्गुरुभ्यो नमः

श्रीमद् उपाध्याय श्री विनय विजय प्रणीत

लोक प्रकाश

प्रथम द्रव्य लोक प्रकाश

सर्ग प्रथम

मंगलाचरण

ॐ नमः परमानन्द निधानाय महस्विने ।

शंखेश्वर पुरोत्तं स पार्श्वनाथाय ता यिने ॥१॥

अर्थात् - शंखेश्वर नगर (वर्तमान काल में जो शंखेश्वर नामक तीर्थ है) के आभूषण रूप, परम (उत्कृष्ट) आनंद के निधान स्वरूप, रक्षा करने वाले और कान्तिमान श्री पार्श्वनाथ भगवान् को मेरा नमस्कार हो । (१)

पिपतिं सर्वदा सर्व कामितानि स्मृतोऽपि यः ।

स कल्पद्रुमजित्पार्श्वा भूयात्प्राणि प्रियंकरः ॥२॥

जिसके नाम स्मरण मात्र से सर्व मन कामना परिपूर्ण होती हैं तथा कल्पवृक्ष से भी अधिक श्रेष्ठतर श्री पार्श्वनाथ भगवान् सर्वदा सर्व प्राणियों का कल्याण करने वाले हों । (२)

पार्श्वक्रम नरवाः पान्तु दीप्रदीपांकुर श्रियः ।

प्लुष्ट प्रत्यूह शलभाः सर्व भावाव भासिनः ॥३॥

तेजस्वी दीपक शिखा के सदृश जगमगाते, (चमकती) वस्तु मात्र के स्वरूप को व्यक्त-स्पष्ट रूप में करने वाले तथा विघ्न का विनाश करने वाले श्री पार्श्वनाथ परमात्मा के चरण कमल के नाखून सब का रक्षण करे । (३)

जयन्ति व्यञ्जिता शेष वस्तवोन्तस्तमो द्रुहः ।

गिरः सुधाकिरस्तीर्थ कृतामद्भुत दीपिकाः ॥४॥

अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके सर्व पदार्थों को प्रगट करने में अद्भुत-अनोखे दीपक के समान जिनेश्वर भगवन्त की अमृत झरती वाणी सर्वत्र विजय प्राप्त करती है । (४)

कृपा कटाक्ष निक्षेप निपुणी कृत सेवकाः।

भक्त व्यक्त सवित्री सा जयति श्रुत देवता ॥५॥

कृपामृत का छिड़काव करके जिसने अपने आराधक वर्ग को (ज्ञानमय) सचेतन किया है वह भक्तवत्सल श्रुत (ज्ञान) देवी निरन्तर विजयी होती है । (५)

जीयाजगद्गुरुर्विश्व जीवात् वचनामृतः ।

श्री हीर विजयः सूरिर्मदीयस्स गुरोगुरुः ॥६॥

अपनी उपदेशात्मक वाणी द्वारा सारे जगत् के लोगों को धर्म के विषय में जाग्रत रखने वाले मेरे गुरु के गुरु जगत् गुरु आचार्य श्री हीर विजय सूरीश्वर की सदा विजय हो । (६)

श्री कीर्ति विजयान् सूते श्री कीर्ति विजयाभिधः ।

शत कृत्वोऽनुभूवोऽयं मन्त्रः स्यादिष्ट सिद्धि दः ॥७॥

श्री-लक्ष्मी, कीर्ति और विजय प्राप्त करने वाले 'श्री कीर्ति विजय' मंत्र का जो मैंने अनेक बार अनुभव किया है, वे मेरे सर्व मन वांछित पूर्ण करो ।

अस्ति लोक स्वरूपं यद्वि प्रकीर्णं श्रुताम्बुधौ ।

परोपकारिभिः पूर्वं पण्डितैः पिण्डयते स्म तत् ॥८॥

१- द्रव्य लोक, २- क्षेत्र लोक, ३- काल लोक और ४- भाव लोक - इस तरह चार प्रकार के 'लोक' का स्वरूप शास्त्र समुद्र में अलग-अलग स्थान पर वर्णन किया है । उसे पूर्व में हो गये परोपकारी पंडित जनों ने एक स्थान पर विशाल मात्रा में एकत्रित किया है । (८)

तत संक्षिप्य निक्षिप्तमाप्नायैः करणादिभिः ।

संग्रहण्यादि सूत्रेषु भूयिष्ठार्थं मिताक्षरम् ॥९॥

उसमें से उसे संक्षिप्त करके 'करण' आदि आम्नाय-प्राचीन परंपरागत आचार के अनुसार संग्रहणी आदि सूत्रों में दाखिल किया है । वह संक्षेप में है, फिर भी उसमें से अर्थ विस्तार युक्त निकलता है । (९)

साम्प्रतं चक्रमात्रायः प्राणिनो मन्दमेधसः ।

असुबोधमतस्तैस्तत् कवित्वमिव बालकैः ॥१०॥

ततस्तदुपकृत्यै तन्मया किञ्चिद्विन्यते ।

करणोक्त्यादि काठिन्यमपा कृत्य यथामति ॥११॥

वर्तमान काल में प्रायः कर प्राणियों की बुद्धि अनुक्रम से मंद होती जाती है,

इसलिए बालकों के समान कविता सरलता से समझ में नहीं आती । इसी तरह यह विशाल-लोक स्वरूप हम मंद बुद्धि वालों को सरलता से समझ में नहीं आता । इसलिए मैं उनके उपकारार्थ 'करण आम्नाय' अर्थात् परम्परागत सुना हुआ, धर्मानुशासन में रही कठिनता को दूर करके उसके विषय में कुछ यथामति अनुसार लिखता हूँ। (१०-११)

अधि प्रसन्नास्ते सन्तु सन्तः सर्वोपकारिणः ।

मयि प्रवृत्ते पुण्यार्थमविमृश्य स्व शक्यताम् ॥१२॥

यह प्रवृत्ति मैंने पुण्यार्थ ही स्वीकार की है। मेरे में इस प्रवृत्ति के विषय में, जितनी चाहिए उतनी सामर्थ्य नहीं है । इसलिए सर्व के ऊपर उपकार दृष्टि से देखने वाले संत महापुरुष मेरे पर भी प्रसन्न होकर उसी ही दृष्टि से देखना । (१२)

शिशु क्रीडागृह प्राया ममेयं वचसां कला ।

निवेश नीयास्तत्रामी कथमर्था द्विपोपमाः ॥१३॥

श्री गुरुणां प्रसन्नानामचिन्त्यो महिमाथवा ।

तेजः प्रभावादादर्शे किं न यान्ति धराधराः ॥१४॥

मेरी लेखन सामर्थ्य (पूँजी) बालकों के क्रीडागृह समान अल्प प्रमाण है । इसके अन्दर हाथी प्रमाण विस्तार वाले भावार्थ को किस तरह समावेश कर सकूँगा, इसका मुझे विचार आता है । परन्तु मेरे सदा कृपालु गुरु महाराज का अचिन्त्य प्रभाव है, उनके प्रभाव से सब कुछ हो सकता है। छोटे से दर्पण में महान् पर्वत समा जाता है- इस दर्पण के सहायक तेज के प्रभाव से ही होगा । (१३-१४)

संक्षिप्ताः संग्रहाः प्राच्या यथा ते सुपठा मुखे ।

तथा सविस्तरत्वेन सुबोधो भवतादयम् ॥१५॥

पूर्वाचार्यों ने अनेक संग्रह संक्षेप में लिखे हैं, वे जैसे अल्प प्रयास से मुख पाठ-कण्ठस्थ हो सकते हैं उसी ही तरह यह मेरा संक्षिप्त लेखन भी शीघ्र बोधदायक हो जाय । (१५)

लोक प्रकाशनामानं ग्रन्थमेनं विचक्षणाः ।

आद्रियध्वं जिनप्रोक्त विश्वरूप निरूपकम् ॥१६॥

जिनेश्वर भगवन्त कथित जगत् स्वरूप का मैं जिस विषय में कहने वाला हूँ वह यह 'लोक प्रकाश' ग्रन्थ सर्व पारदर्शी सज्जनों का सत्कार प्राप्त करे । (१६)

प्राप्यानुशासनमिदं समुप्रकमेह मैदं युगीन विहरद्गुरु गौतमस्य ।

श्रीमत्तपागणपते विजयादिदेवसूरी शितुर्विजय सिंह मुनीशितुश्च ॥१७॥

मानो श्री गौतम गणधर स्वयं इस युग में विचरण हेतु आए हों इस तरह तपगच्छाधिपति श्रीमान् विजयदेव सूरीश्वर जी तथा विजय सिंह सूरीश्वर जी महाराज की आज्ञा लेकर मैं इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ । (१७)

ग्रंथारंभ

मानैरंगुल योजन रज्जूनां सागरस्य पत्यस्स ।

संख्यासंख्याननैरूप योगोऽस्तीह यद् भूयान् ॥१८॥

ततः प्रथमस्तेषां स्वरूपं किञ्चिदुच्यते ।

तत्राप्यादावंगुलानां मानं वक्ष्ये त्रिधा च तत् ॥१९॥

उत्सेधाख्यं प्रमाणख्यमात्माख्यं चेति तत्र च ।

उत्सेधात्कमतो वृद्धेर्जातमुत्सेधमंगुलम् ॥२०॥

इस ग्रन्थ के अन्दर संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त, अंगुल, योजन, रज्जू सागरोपम, और पत्योपम - इन नामों के क्षेत्र और काल के नाप-माप की बातें बारम्बार आती ही रहेंगी, इसलिए प्रथम इसकी थोड़ी समझदारी देते हैं । प्रथम अंगुल का स्वरूप कहते हैं । अंगुल तीन प्रकार का होता है- १- उत्सेध अंगुल, २- प्रमाण अंगुल और ३- आत्म अंगुल। (१८ से २०)

तथाहि-

द्विविध परमाणुः स्यात्सूक्ष्मश्च व्यावहारिकः ।

अनन्तरणुभिः सूक्ष्मैरेकोऽणुर्व्यावहारिकः ॥२१॥

सोऽपि तीव्रेण शस्त्रेण द्विधा कर्तुं शक्यते ।

एनं सर्वप्रमाण नामादिमाहुर्मुनीश्वराः ॥२२॥

व्यवहार नये नैव परमाणुरयं भवेत् ।

स्कन्धोऽनन्ताणुको जात सूक्ष्ममत्वो निश्चयात्पुनः ॥२३॥

अनन्त व्यवहाराणुनिष्यन्तोत्पलक्ष्णश्लक्षिणाका ।

निष्पद्यते पुनः श्लक्ष्णश्लक्षिणाका ताभिरष्टभिः ॥२४॥

ताभिरष्टाभिरेकः स्यादुर्ध्वं रेणुर्जिनोदितः ।

अष्टोर्ध्वरेणु निष्पन्नस्त्रसरेणुरूदीरितः ॥२५॥

त्रसरेणुभिरष्टाभिरेकः स्याद्रथ रेणुकः ।

अष्टभिस्तैर्भवेदकं केशाग्रं कुरू युग्मिनाम् ॥२६॥

ततोऽष्टघ्नं हरिवर्षरम्यक क्षेत्रभूस्युशाम् ।

ततोऽष्टघ्नं हैमवत हैरण्यवत युग्मिनाम् ॥२७॥

तस्मादष्ट गुणस्थूलं बालस्याग्रमुदीरितम् ।

पूर्वापरविदेहेषु नृणां क्षेत्रानुभावतः ॥२८॥

स्थूलमष्ट गुणं चास्माद्भर तैरवताङ्गिनाम् ।

अष्टभिस्तैश्च बाला गैर्लिक्षामानं भवेदिह ॥२९॥

लिक्षाष्टकमितायूका भवेद्यूकाभिरष्टभिः ।

यवमध्यं ततोऽष्टाभिस्तैः स्यादुत्सेधमंगुलम् ॥३०॥

१- उत्सेध अंगुल - सूक्ष्म और व्यवहारिक दो प्रकार के परमाणु होते हैं। अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं का एक व्यवहारिक परमाणु होता है। वह भी इतना सूक्ष्म होता है कि उसके तीव्र शस्त्र द्वारा भी दो टुकड़े नहीं हो सकते हैं। श्री जिनेश्वर भगवान् ने इस परमाणु को माप में सब से पहला माप कहा है और यह व्यवहार नय से ही परमाणु कहलाता है। निश्चय नय से अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं वाला वह एक स्कंध कहलाता है। अनन्त व्यवहारिक परमाणुओं की एक 'उत्शलक्षणांलक्षणका' होती है। आठ 'उत्शलक्षणश्लक्षिकाओं' की एक 'शलक्षणश्लक्षिका' होता है (ऐसा अभिप्राय भगवती सूत्र जीव समास आदि का है)। आठ श्लक्षणश्लक्षिका का एक 'उध्वरेणु' होता है। आठ उध्वरेणु का एक 'त्रसरेणु' होता है। आठ त्रसरेणु का एक 'रथरेणु' होता है, आठ रथरेणु का कुरुक्षेत्र के युगलियों का एक 'केशाग्र' होता है, इस तरह आठ केशाग्रों का एक हरिवर्ष और आठ हरिवर्ष क्षेत्र एक रम्यक क्षेत्र के युगलियाओं का एक केशाग्र भाग होता है। इस तरह आठ केशाग्रों का हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों के युगलियाओं का एक केशाग्र होता है और ऐसे आठ केशाग्रों का पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह के मनुष्यों का एक केशाग्र होता है। इस तरह आठ गुणा स्थूल भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों का एक केशाग्र होता है इस प्रकार आठ केशाग्रों के द्वारा एक 'लीख' का मान होता है (यही बात संग्रहणी वृहद्वृत्ति तथा प्रवचन सारोद्धार वृत्ति आदि में आयी है)। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र की वृत्ति आदि में तो इस तरह कहा है कि - पूर्व पश्चिम विदेह के मनुष्य के आठ केशाग्रों द्वारा ही एक 'लीख' का माप होता है। हरिवर्ष, रम्यक, हैमवत, हैरण्यवत, पूर्व विदेह, पश्चिम विदेह, भरत क्षेत्र और ऐरावत

क्षेत्र ये जम्बूद्वीप के आठ विभाग हैं ।) आठ लीख के मान से एक जूँ है और आठ जूँ प्रमाण से 'जौ का मध्य भाग' होता है। इस तरह आठ माप प्रमाण एक उत्सेध अंगुल होता है। (२१ से ३१)

चत्वार्युत्सेधांगुलानां शता न्यायामतोमतम् ।
तत्सार्द्धद्वयंगुलव्यासं प्रमाणांगुलमिष्यते ॥३१॥

प्रमाणं भरतश्चक्री युगादौ वादिमो जिनः ।
तदंगुलमिदं यत्तत् प्रमाणांगुलमुच्यते ॥३२॥

यदुत्सेधांगुलैः पञ्चधनुः शत समुच्छ्रितः ।
आत्मांगुलेन चाद्योऽर्हन् विशांगुल शतोन्मितः ॥३३॥

ततः षणवतिघ्नेषु धनुः शतेषु पञ्चसु ।
शतेन विंशत्याद्येन भक्तेष्वाप्ता चतुः शती ॥३४॥

यच्च क्वाप्युक्त मौत्सेधात्सहस्र गुणमेव तत् ।
तदेकांगुल विष्कम्भदीर्घं श्रेणि विवक्षया ॥३५॥

भच्चतुः शत दीर्घायाः सार्द्धद्वयंगुल विस्तृतेः ।
स्यादेकांगुल विस्तारा सहस्रांगुल दीर्घता ॥३६॥

२- प्रमाण अंगुल - एक 'उत्सेध' अंगुल से चार सौ गुणा लम्बा और अढ़ाई गुणा मोटा (चौड़ा) एक प्रमाण अंगुल होता है। युगादि प्रभु श्री ऋषभदेव अथवा भरत चक्रवर्ती दोनों प्रमाणभूत हैं और उनका अंगुल प्रमाण अंगुल कहलाता है। युगादि जिनेश्वर 'उत्सेध' अंगुल के माप से पांच सौ धनुष्य ऊँचे थे और आत्मांगुल के माप से एक सौ बीस अंगुल ऊँचे थे । इससे पांच सौ धनुष्य कों छियासी के द्वारा गुणा करने से अड़तालीस हजार अंगुल होता है और उसे एक सौ बीस से भाग करने पर चार सौ होता है। किसी स्थान पर इस तरह कहा है कि 'उत्सेध' अंगुल से एक हजार गुना होता है वह 'आत्मांगुल' लम्बी है । यह एक अंगुल की चौड़ाई वाली दीर्घ श्रेणि की विवक्षा से कहा है क्योंकि चार सौ अंगुल लम्बी और अढ़ाई अंगुल चौड़ी श्रेणि होती है । उसकी एक अंगुल चौड़ाई वाली लम्बाई एक हजार अंगुल होता है। (३१ से ३६ तक)

दृष्टान्तश्चात्र -

चतुरंगुल दीर्घायाः सार्द्धद्वयंगुल विस्तृतेः ।

पटया यथांगुल व्यासश्चीरो दैर्घ्ये दशांगुलः ॥३७॥

वस्तुतः पुनरौत्सेधात्सार्द्धं द्विगुण विस्तृतम् ।

चतुः शत गुणं दैर्घ्ये प्रमाणांगुल मा स्थितम् ॥३८॥

और यहां दृष्टांत देते हैं - जैसे कि चार अंगुल लम्बा और अढाई अंगुल चौड़ा तख्ता हो, उसको एक-एक अंगुल चौड़ा कर दें तो वह दस अंगुल लम्बाई में होता है । अतः वस्तुतः उत्सुधांगुल से अढाई गुना चौड़ा और चार सौ गुणा लम्बा प्रमाणांगुल का माप आता है। (३७-३८)

एतच्चा भरतादीनामात्मांगुलतया मतम् ।

अन्य काले त्वनियत मानमात्मांगुल भवेत् ॥३९॥

यस्मिन्काले पुमांसो ये स्व कीयांगुल मानतः ।

अष्टोत्तर शतोत्तुंगा आत्मांगुलं तदंगुलम् ॥४०॥

एतत्प्रमाणतो न्यूनाधिकानां तु यदंगुलम् ।

तत्स्यादात्मांगुलाभासं न पुनः परमार्थिकम् ॥४१॥

३- आत्मांगुल - जिस काल में जो मनुष्य अपनी अंगुल के माप से एक सौ आठ अंगुल ऊँचा हो उसका अंगुल 'आत्मांगुल' कहलाता है । यह प्रमाण 'भरत' आदि के काल के मनुष्यों के आत्मांगुल का माप से माना गया है क्योंकि अन्य काल में आत्मांगुल का प्रमाण अनिश्चय होता है। यह एक सौ आठ अंगुल के माप करते जिसका माप कम हो या अधिक हो उनका अंगुल 'आत्मांगुलाभास' कहलाता है, 'परमार्थिक आत्मांगुल नहीं है । यह कथन 'प्रवचन सारोद्धार' का है। 'पद्मवणा सूत्र' में तो इस तरह कहा है कि- 'जिस काल में जो मनुष्य हो उनका मान-तेज आत्मांगुल है' परन्तु वह मान अनियमित रूप है, इसलिए इसका वास्तविक स्वरूप इस तरह है :- परमाणु, रथरेणु, त्रसरेणु, लीख, जूँ और जौ इन्हें अनुक्रम से आठ-आठ गुना करते जाने पर उत्सेधांगुल का माप आयेगा । फिर उत्सेधांगुल को हजार गुना करने से 'प्रमाणांगुल' आयेगा और उसे ही दो गुना करने से वीर परमात्मा का 'आत्मांगुल' आयेगा । (३९ से ४१)

उत्सेधांगुल मानेन ज्ञेयं सर्वाङ्गिनां वपुः ।

प्रमाणांगुल मानेन नग पृथ्व्यादि शाश्वतम् ॥४२॥

तस्यांगुलस्य दैर्घ्येण मीयते वसुधादिकम् ।

इत्याहुः केचिदन्ये च तत्क्षेत्र गणितेन वै ॥४३॥

तद्विष्कम्भेण केऽप्यन्ये पक्षेष्वेतेषु च त्रिषु ।

ईष्टे प्रामाणिकं पक्षं निश्चेतुं जगदीश्वरः ॥४४॥

सर्व प्राणियों का शरीर 'उत्सेध' अंगुल के माप से मापा जाता है और पर्वत तथा पृथ्वी आदि जो शाश्वत पदार्थ हैं वे 'प्रमाण' अंगुल के माप से मापे जाते हैं । उसमें भी पृथ्वी आदि को अंगुल की लम्बाई द्वारा मापा जाता है । इस प्रकार कईयों का मत है, जबकि अन्यो का ऐसा कहना है कि इसका क्षेत्रफल निकाला जाता है तथा इस तरह भी कहने वाले हैं कि इसकी चौड़ाई ही इसका माप है । इस तरह तीन पक्ष हैं । इन तीन में प्रामाणिक पक्ष कौन सा है ? इसका निश्चय तो परमात्मा ही कर सकते हैं । (४२ से ४४)

यहां पहला पक्ष स्वीकार करें तो एक योजन में 'उत्सेध' अंगुल के माप में चार सौ योजन होता है, दूसरे पक्ष को स्वीकार करें तो हजार योजन होता है और तीसरा पक्ष स्वीकार करें तो दस कोश होता है। श्री 'अनुयोग द्वार' की चूर्णी में तीसरा पक्ष ही स्वीकार किया है। उसमें कहा है कि पृथ्वी आदि का मान प्रामाणांगुलों से निकलता है और यह मान जितने प्रामाणांगुल की इसकी चौड़ाई है वह समझना । मुनि चन्द्र सूरि रचित 'आंगुलसप्ततिका' ग्रन्थ में कहा है कि- 'पृथ्वी आदि का क्षेत्रफल ही इसका माप है इस तरह कईयों का मानना है, अन्य ने वस्तु की लम्बाई ही माप माना है। परन्तु सूत्र में इस तरह नहीं कहा है।' इसकी विस्तार युक्तचर्चा के लिए उनका 'अंगुलसप्ततिका' नामक ग्रन्थ अध्ययन करें ।

वापी कूप तडागादि पुर दुर्ग गृहादिकम् ।

वस्त्र पात्र विभूषादि शय्या शस्त्रादि कृत्रिमम् ॥४५॥

इन्द्रियाणां च विषयाः सर्वमेशमिदं किल ।

आत्मांगुलैर्यथामानमुचितैः स्वस्वचारके ॥४६॥

बावड़ी, कुआं, तालाब आदि; नगर, किला, घर आदि, वस्त्र, पात्र, आभूषण आदि तथा शस्त्रादि सर्व कृत्रिम पदार्थ हैं और इसके उपरांत सर्व इन्द्रियों के विषय हैं। इन सबका माप 'आत्मांगुल' द्वारा निकालना चाहिए और वह भी यथास्थित मानपूर्वक और इसका यथोचित स्व-स्व बार में निकालना चाहिए । (४५-४६)

आत्मोत्सेध प्रमाणाख्यं त्रैधमप्यंगुलं त्रिधा ।

सूच्यंगुलं च प्रतरांगुलं चापि घनांगुलम् ॥४७॥

पूर्व कथित उत्सेधांगुल, प्रामाणांगुल और आत्मांगुल- इन प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं । १- सूच्यंगुल, २- प्रतरांगुल और ३- घनांगुल । (४७)

एक प्रदेश बाहृत्य व्यासैकांगुल दैर्घ्य युक् ।

नभः प्रदेश श्रेणियां सा सूच्यंगुलमुच्यते ॥४८॥

वस्तुतस्तदसंख्येय प्रदेशमपि कल्प्यते ।

प्रदेशत्रय निष्पन्नं सुखावगतये नृणाम् ॥४६॥

१- सूच्यंगुल - एक प्रदेश मोटी चौड़ी तथा एक अंगुल लम्बी - इस तरह 'आकाश प्रदेश की श्रेणि' को सूच्यंगुल कहते हैं । वास्तविक रूप में तो इसके असंख्य प्रदेश की कल्पना की है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति इसे सरलता से समझ सके इसलिए इसके तीन प्रदेश कहे हैं । (४८-४९)

सूची सूच्यैव गुणिता भवति प्रतरांगुलम् ।

नव प्रादेशिकं कल्प्यं तद्दैर्घ्यं व्यासयोः समम् ॥५०॥

२- प्रतरांगुल - सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने से 'प्रतरांगुल' होता है। इसके समान लम्बाई चौड़ाई वाले नौ प्रदेश कल्पना करने में आते हैं । (५०)

प्रतरे सूची गुणिते सप्तविंशतिखांशकम् ।

दैर्घ्यं विष्कम्भबाहल्यैः समानं स्याद् घनांगुलम् ॥५१॥

३- घनांगुल - प्रतरांगुल को सूच्यंगुल द्वारा गुणा करने से 'घनांगुल' होता है। एक के बाद एक ऊपर तीन रखे जायें वह घनांगुल की स्थापना कहलाती है । इसके सत्ताईस प्रदेश हैं । इसकी लम्बाई, चौड़ाई, मौटाई एक समान ही होती है। (५१)

तत्र गुणन विधिश्चैवम्

अंकोऽन्तिमो गुण्यराशेर्गुण्यो गुणक राशिना ।

पुनरुत्सारितेनो पान्त्यादयोऽप्येवमेव च ॥५२॥

उपर्यधश्चादिमान्यौ राश्योर्गुणक गुण्ययोः ।

कपाट सन्धिवत्स्थाप्यौ विधिरेवमनेक धा ॥५३॥

स्थानाधिक्येन संस्थाप्यं गुणितेऽङ्के फलं च यत् ।

यथास्थान कर्मकानां कार्या संकलना ततः ॥५४॥

पूर्व में गुणाकार करने का कहा है, उस गुणाकार की विधि इस तरह है- जिस रकम- संख्या का गुणाकार करना हो उस रकम के अन्तिम अंक का जिस रकम से गुणा करना हो उसके अन्तिम अंक से गुणा करना, और इसी ही तरह पुनः-पुनः उपान्त्य उपान्त्य अंक से गुणा करते जाना । गुणक और गुण्य की संख्या के पहले और अन्तिम अंक को दो दरवाजे की संधि के समान ऊपर नीचे रखना। अंक का गुणाकार करते जो 'फल' आता है उसे इससे अधिक-अधिक स्थान अनुसार से

अनुक्रम द्वारा स्थापन करना। फिर यथा स्थानक अंकों का जोड़ लगाना चाहिए ।
(५२ से ५४)

अंक स्थानानि चैवम्

एकं दश शत सहस्रायुत लक्ष प्रभुत कोटयः क्रमतः।

अर्बुदमब्जं सर्वं निखर्वं महापद्म शङ्कुवस्तस्मात् ॥५५॥

जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्थ्यमिति दश गुणोत्तरं संज्ञाः ।इति॥

अंक का स्थान इस तरह से है- एक, दस, सौ, हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, अब्ज, दस अब्ज, खर्व, दस खर्व, निखर्व; दस निखर्व, महापद्म, दस महापद्म, शंकु, दस शंकु, जलधि, दस जलधि । इसी तरह अन्त्य, मध्य और परार्थ्य यह सर्व संख्या उत्तरोत्तर दस गुना समझनी चाहिए । (५५)

अत्रोदाहरणम्

पञ्चत्र्येकमितो राशिर्दिवाकर गुणीकृतः।

स्याद्विंशा षोडशशती क्रमोऽङ्कानां च वामतः ॥५६॥

गुणाकार का एक दृष्टान्त देते हैं - मानो कि १३५ को १२ से गुणा करना है तो ऊपर कहे अनुसार गुणा अंक रखने से जोड़ करते कुल १६२० आता है । (५६)

अथ प्रसंगादुपयोगित्वाच्च भागहार विधिरुच्यते:

यद्गुणो भाजकः शुद्धयेदन्यादेर्भाज्य राशितः ।

तत्फलं भागहारे स्यात् भागाप्राप्तौ च खं फलम् ॥५७॥

अग्रे यथाप्यते भागः पूर्वमंकं तथा भजेत्।

षड्भिर्भागो यथा षष्टेः प्राप्यन्ते केवलं दश ॥५८॥

गुणाकार की विधि कही है तब प्रसंगोपात भागाकार की विधि भी उपयोगी होने से कहते हैं - अन्त्यादिक भाज्य- भाजक राशि से जितने गुणों का भाजक होता है उतना भागाकार- उतने अंक से भाग दिया जाता हो तो "फल" होता है, जब भाग न चले तब 'फल' में शून्य रखना जैसे-जैसे आगे भाग चलता हो वैसे-वैसे पूर्व के अंक का भाग देते जाना। उदाहरण तौर पर ६० को ६ का भाग देने पर फल में १० आता है। (५७-५८)

अथ प्रकृतम्

पादः स्यादंगुलैः षड्भिर्वितस्तिः पादयोर्द्वयम् ।

वितस्तिद्वितयं हस्तौ द्वौ हस्तौ कुक्षिरुच्यते ॥५९॥

कुक्षिद्धयेन दण्डः स्यात्तावन्मानं धनुर्भवेत् ।
युगं वा मुसलं वापि नालिका वा समाः समे ॥६०॥
अंगुलैः पणवत्यैव सर्वेऽपि प्रमिता अमी ।
सहस्रद्वि तये नाथ क्रोशः स्याद्भनुषामिह ॥६१॥
चतुष्टयेन क्रोशानां योजनं तत्पुनस्त्रिधा ।
उत्सेधात्म प्रमाणाख्यैरंगुलैर्जायते पृथक् ॥६२॥
एवं पादादि मानानां सर्वेषा त्रिप्रकार ताम् ।
विभाव्य विनियुञ्जीत स्व स्व स्थाने यथायथम् ॥६३॥

अब प्रस्तुत विषय में कहते हैं- छह अंगुल का एक 'पाद' होता है, दो पाद की एक 'वेत' होता है, दो वेत का एक 'हाथ' और दो हाथ की एक 'कुक्षि' होती है। दो कुक्षि का एक दंड होता है। 'धनुष्य युग' अर्थात् 'मूसल' और 'नालिका' - ये तीनों दण्ड समान ही हैं, इस गिनती से धनुष्य के ६६ अंगुल होते हैं और दो हजार धनुष्य का एक 'कोस' होता है और चार कोस का एक 'योजन' कहलाता है। इस योजन के उत्सेधांगुल, आत्मांगुल और प्रमाणांगुल के इन तीन माप के लिए अलग-अलग तीन भेद हैं 'पाद' आदि सर्व के भी इसी तरह तीन-तीन भेद हैं, इनको योग्य रूप में अपने-अपने स्थान पर रखना । (५६ से ६३)

प्रमाणांगुल निष्पन्नयोजनानां प्रमाणतः ।
असंख्य कोटा कोटीभिरेका रज्जुः प्रकीर्तिता ॥६४॥
स्वयंभूरमणाब्धेर्ये, पूर्व पश्चिम वेदिके ।
तयोः परान्तान्तरालं रज्जु मानमिदं भवेत् ॥६५॥

प्रमाणांगुल के माप से जो योजन, निष्पन्न होता है उस असंख्यात् कोड़ा-कोड़ी योजन का एक 'रज्जु' अर्थात् राजलोक होता है। स्वयंभूरमण समुद्र के पूर्व और पश्चिम दोनों वेदिकाओं के बीच जितना अन्तर है उतना एक 'रज्जु' का माप होता है। (६४-६५)

लोकेषु च -

यवोदरैरंगुलमष्टसंख्यैः हस्तोऽङ्गुलैः षड्गुणितैश्चतुर्भिः ।
हस्तैश्चतुर्भिर्भवतीह दण्डः क्रोशः सहस्रद्वितयेन तेषाम् ॥६६॥
स्याद्योजनं क्रोश चतुष्टयेन तथा कराणां दशकेन वंशः ।
निवर्तनं विंशति वंश संख्यैः क्षेत्रं चतुर्भिश्च भुजैर्निबद्धम् ॥६७॥

लोगों में जो माप प्रवृत्ति है वह इस तरह- आठ यवोदर का एक अंगुल, चौबीस अंगुल का एक हाथ, चार हाथ का एक दण्ड, दो हजार दण्ड का एक कोश और चार कोश का एक योजन होता है। दस हाथ का एक वंश कहलाता है, बीस वंश का एक 'निवर्तन' कहलाता है और चार हाथ का एक 'क्षेत्र' कहलाता है। (६६-६७)

मानं पल्योपमस्याथ तत्सागरोपमस्य च ।

वक्ष्ये विस्तरतः किञ्चित् श्रुत्वा श्रीगुरु सन्निधौ ॥६८॥

अब पल्योपम तथा सागरोपम के विषय में कहा जाता है। वह भी इन दोनों के सम्बन्ध में गुरु महाराज के पास में जो कुछ सुना है वही यहां कहते हैं। (६८)

आद्यमुद्धारपल्यं स्यादद्धारपल्यं द्वितीयकम् ।

तृतीयं क्षेत्रं पल्यं स्यादिति पल्योपमं त्रिधा ॥६९॥

एकैकं द्वि प्रकारं स्यात् सूक्ष्म बादर भेदतः ।

त्रैधस्यैवं सागरस्याप्येवं ज्ञेया द्विभेदता ॥७०॥

पल्योपम के तीन भेद होते हैं - १- उद्धार पल्योपम, २- अद्धारपल्योपम और ३- क्षेत्र पल्योपम। इन प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं - सूक्ष्म और बादर। इसी तरह ही सागरोपम के भी तीन भेद होते हैं और इन तीन के भी इसी तरह दो-दो भेद होते हैं। (६९-७०)

उत्सेधांगुल सिद्धैक योजनं प्रमितोऽष्ट ।

उण्डत्वायाम विष्कभैरेष पल्य इति स्मृतः ॥७१॥

परिधिस्तस्य वृत्तस्य योजनत्रितयं भवेत् ।

एकस्य योजनस्योनषष्ट भागेन संयुतम् ॥७२॥

स पूर्य उत्तरं कुरुनृणां शिरसि भुण्डते ।

दिनैरेकादि सप्तान्तरूढ केशाग्र राशिभिः ॥७३॥

उत्सेधांगुल के माप से मापते जो योजन होता है उस योजन के अनुसार गहराई, चौड़ाई और लम्बाई वाला कुआं हो वह, 'पल्य' कहलाता है। उस कुएं की परिधि अर्थात् घेराव ३ योजन-संगभग हो, उस कुएं में उत्तर-कुरु क्षेत्र के युगलियों के मस्तक के एक दिन से आरम्भी सात दिन तक के बढ़े हुए बाल किनारे तक दबा दबाकर भर देना चाहिए। (७१ से ७३)॥

यह अभिप्राय 'क्षेत्र समास वृहद् वृत्ति' और 'जम्बूद्वीप पत्रति' में कहा है।

परन्तु 'प्रवचन सारोद्धार वृत्ति' और 'संग्रहणी वृहत् वृत्ति' में 'उत्तर कुरु क्षेत्र के युगलियों के केशाग्र' का उल्लेख नहीं किया, सामान्य रूप में 'केशाग्र' इतना ही कहा है। 'वीर जय सेहर क्षेत्र विचार' की स्वोपज्ञ टीका में - देव कुरु और उत्तर कुरु क्षेत्र में जन्मे हुए सात दिन के भेड़ के बाल का उल्लेख किया है। उसके उत्सेधांगुल के प्रमाण के सात रोम करके, उस रोम को दलते बीस लाख सत्तासी हजार एक सौ बावन टुकड़े हों तब उस रोम खंडों-केशाग्र द्वारा उस कुएं को भरना। ऐसे बाल के टुकड़े एक हाथ में चौबीस गुना समा जाते हैं, इससे चौगुना एक धनुष्य में समा जाते हैं, और इससे भी दो हजार गुना एक कोश में समा जाते हैं।

त्रयस्त्रिंशत्कोटयः स्युः सप्तलक्षाणि चोपरि ।

द्वाषष्टिश्च सहस्राणि शतं च चतुरुत्तरम् ॥७४॥

एतावत्यः कोटि-कोटि कोटा-कोटयः स्मृता अथ ।

चतुर्विंशतिर्लक्षाणि पञ्चषष्टिः सहस्रकाः ॥७५॥

पञ्च विशांः शताः षट् च स्युः कोटा कोटि कोटयः ।

कोटा कोटीनां च लक्षा द्विचत्वारिंशदित्यथ ॥७६॥

एकोन विंशतिरपि सहस्राणि शता नव ।

षष्टिश्चोपरि कोटीनां मानमेवं निरूपितम् ॥७७॥

लक्षाणि सप्तनवतिस्त्रिपञ्चाशत्सहस्रकः ।

षट्शतानि च पल्येऽस्मिन् स्युः सर्वे रोमखण्डकाः ॥७८॥

पंचभि कलापकम्

इस तरह कुएं में भरे हुए केशाग्र की संख्या तैंतीस करोड़, सात लाख बासठ हजार और एक सौ चार - इतनी कोटा कोटी - कोटा कोटी, चौबीस लाख पैसठ हजार और छह सौ पचीस - इतना कोटा कोटी कोटी, बयालीस लाख कोटा कोटी, उन्नीस हजार नौ सौ साठ करोड़ तथा सत्तासी लाख तिरपन हजार व छह सौ होता है। इसकी संख्या अंक से लिखे तो इस तरह संख्या बनती है- ३३०७६२१०४४ ४६५६२५ ४२ १६६६० ६७५३६००००००००००० । इस तरह रोम खण्ड पल्योपम के होते हैं। (७४ से ७८)

त्रिंशद्दशर साक्ष्या शावाद्धर्यक्षयब्धि र सेन्द्रियम् ।

षट् द्वि पञ्च चतुर्द्वयैकां कांकषट् खांक वाजिनः ॥७६॥

पञ्च त्रीणि च षट् किञ्च नव खानि ततः परम् ।

आदितः पल्यरोमांश राशि संख्यांक संग्रहः ॥८०॥ युग्मम्

इन दो श्लोक में एक जबरी संख्या बताने के लिए कर्त्ता ने नौ अंक तथा शून्य के लिए अलग-अलग शब्दों का उपयोग किया है। इसमें अजब भरी रचना करने में बहुत खूबी की है जैसे 'ख'-० शून्य का संकेत है क्योंकि ख का अर्थ आकाश होता है, वह खाली शून्य है। अश्व और वाजिन् सात का संकेत है, क्योंकि सूर्य के वाजि (अश्व) सात होते हैं। रस छः होने से छः का संकेत है। अक्षि-आंखें दो होने से दो का संकेत माना जाता है। आशा-दिशा दस होने से दस का संकेत है, अब्धि वार्धि (समुद्र) चार, इन्द्रिय पांच, अंक नौ का संकेत का माना जाता है। (७६-८०)

तथा निविडमाकण्ठं भ्रियते स यथा हि तत् ।

नाग्निर्दहति वालाग्रं सलिलं च न कोथयेत् ॥८१॥

इस कुएं को किनारे तक इस तरह दबा कर भर दें कि जिससे अग्नि इसमें रहे बाल को जला न सके, वैसे ही पानी उसे सड़ा न सके। (८१)

यथा च चक्रि सैन्येन तमाक्रम्य प्रसर्पता ।

न मनाक् क्रियते नीचै खं निविडतां गतात् ॥८२॥

समये समये तस्मात् बाल खण्डे समुद्धृते ।

कालेन यावता पल्यः स भवेत्त्रिष्टितोऽखिलः ॥८३॥

कालस्स तावतः संज्ञा पल्योपम मिति स्मृता ।

तत्राप्युद्धार मुख्यत्वादियुद्धार संज्ञि तम् ॥८४॥ त्रिभि विशेषकम्

और उसी तरह उसके ऊपर चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सेना कुचलती चली जाय फिर भी वे बाल किनारे से अल्पमात्र नीचे न जायें, इस तरह भरा हुआ हो। उस कुएं में से प्रत्येक समय में एक-एक केशाग्र निकालते जितने काल में यह सम्पूर्ण कुआं खाली हो जाय इतने काल का नाम 'पल्योपम' है, तथा इस काल में केश-कुएं में से बाहर निकालने से-केशों का उद्धार करने से इस काल को 'उद्धार पल्योपम' कहते हैं। इसका प्रमाण संख्यात् समय का है। (८२ से ८४)

इदं बादरमुद्धार पल्योपममुदीरितम् ।

प्रमाणमस्य संख्याताः समयाः कथिता जिनैः ॥८५॥

अस्मिन्न रूपे सूक्ष्मं सुबोधमबुधैरपि ।

अतो निरूपितं नान्यत्किञ्चिदस्य प्रयोजनम् ॥८६॥

यह सादी बात बादर पल्योपम सम्बन्धी कही है, सूक्ष्म सम्बन्धी नहीं कहा। बादर का निरूपण पहले इसलिए किया है कि इस तरह करने से सूक्ष्म का

बोध कम समझ वालों को भी शीघ्र सरलता से हो सके, इसलिए कहा है।
(८५-८६)

एतेषामथ पल्यानां दसभिः कोटि कोटिभिः ।

भवेद् छाददमुद्धार संज्ञकं सागरोपमम् ॥८७॥

इस तरह दस कोटा कोटि पल्योपम का एक सागरोपम होता है। एक बादर उद्धार सागरोपम उसी तरह से होता है। यह सब बादर पल्योपम और सागरोपम के विषय में कहा है। (८७)

अब सूक्ष्म सम्बन्धी कहते हैं -

अथैकैकस्य पूर्वोक्त बालाग्रस्य मनीषया ।

असंख्येयानि खण्डानि कल्पनीयानि धीधनैः ॥८८॥

यत्सूक्ष्मं पुद्गलद्रव्यं छद्मस्थश्चक्षुषेक्षते ।

तदसंख्यांश मानानि तानि स्युर्द्रव्य मानतः ॥८९॥

सूक्ष्मपनक जीवांगावगाढ क्षेत्रतोऽधिके ।

असंख्ये गुणो क्षेत्रेऽवगाहन्त इमानि च ॥९०॥

व्याचक्षतेऽथ वृद्धास्तु मानमेषां बहुश्रुताः ।

पर्याप्त बादरक्षोणी कायिकांगेन सम्मितम् ॥९१॥

समानान्येव सर्वाणि तानि च स्युः परस्परम् ।

अनन्त प्रादेशिकानि प्रत्येकमखिलान्यपि ॥९२॥

ततस्तेः पूर्यते प्राग्वत् पल्यः पूर्वोक्त मानकः ।

समये समये चैकं खण्डमुद्विष्यते ततः ॥९३॥

निःशेषं निष्ठिते चास्मिन् सूक्ष्ममुद्धार पल्यकम् ।

संख्येयं वर्ष कोटीभिर्मितमेतदुदाहृतम् ॥९४॥

अब सूक्ष्म पल्योपम और सागरोपम के विषय में कहते हैं - पूर्व में कहे अनुसार एक एक रोम की बुद्धिमान ने बुद्धिपूर्वक 'असंख्यात' खण्ड की कल्पना करना, इस तरह प्रत्येक रोम खण्ड है। छद्मस्थ मनुष्य को आंख द्वारा दिख सके ऐसे सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य के असंख्यातवें भाग के समान होता है और वह सूक्ष्म निगोद के जीव के शरीर से व्याप्त क्षेत्र से असंख्य गुणा अधिक क्षेत्र में अच्छी तरह समा जाते हैं। बहुश्रुत वृद्ध पुरुषों ने इसका प्रमाण पर्याप्त बादर पृथ्वी काय के अंग समान कहा है और इसमें प्रत्येक के अधिकतः अनन्त प्रदेश होते हैं। इस तरह जो

रोम खंड कहा है- यह रोम खण्ड पूर्व में कहे अनुसार पूर्वोक्त कुएं में भर देना फिर समय-समय में इसमें से एक-एक बाहर निकलना। वे जितने समय में कुएं में से सारे बाहर निकलते रहें और कुआं सम्पूर्ण खाली हो जाय उतने समय को 'सूक्ष्म' उद्धार पत्योपम कहते हैं । इसका मान संख्यात करोड़ों वर्षों का होता है। (८८ से ९४)

सुसूक्ष्मोद्धार पल्यानां दशभिः कोटि कोटिभिः ।

सूक्ष्मं भवति चोद्धारभिधानं सागरोपमम् ॥९५॥

दस कोटा कोटि सूक्ष्म उद्धार पत्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है। (९५)

आभ्यां सागर पल्याभ्यां मीयन्ते द्वीप सागराः ।

अस्ताः सार्द्धद्वि सागर्याः समयैः प्रभिता हि ते ॥९६॥

यद्वैतासु पत्य कोटा कोटीषु पञ्च विंशतौ ।

यावन्ति बाल खण्डानि तावन्तो द्वीप सागरा ॥९७॥

यह सागरोपम और पत्योपम दोनों मान (नाप-पैमाना) सर्व द्वीप और सर्व समुद्रों के नाप के लिए है क्योंकि अढ़ाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम का जितना समय है उतनी ही संख्या द्वीप समुद्र की है अथवा इस तरह भी कहलाता है कि पच्चीस कोटा कोटि सूक्ष्म उद्धार पत्योपम में जितने रोमखण्ड और समय है उतनी संख्या द्वीप समुद्रों की है। (९६-९७)

एकादि सप्तान्ति दिनोदगतैः केशाग्र राशिभिः ।

भृतादुक्त प्रकारेण पल्यात्पूर्वोक्त मानतः ॥९८॥

प्रति वर्ष शतं खण्डमेकमेकं समुद्धरेत् ।

निशेषं निष्ठिते चास्मिन्नद्धापल्यं हि बादरम् ॥९९॥ युग्मम्

एक से लेकर सात दिन में उत्पन्न हुआ मस्तक का केश पूर्वोक्त कुएं में पूर्वोक्त अनुसार भरकर फिर उसमें से प्रति सौ वर्ष में एक-एक केश बाहर निकालते, जितने वर्ष (समय) लगे उतने समय का एक बादर 'अर्द्ध पत्योपम' कहा है। (९८-९९)

एतेषामथ पल्यानां दशभिः कोटि कोटिभिः ।

भवेद्दरमद्धाख्यं जिनोक्तं सागरोपमम् ॥१००॥

पूर्वरीत्याथ बालाग्रैः खण्डी भूतैरसंख्यशः ।

पूर्णात्पल्यात्तथा खण्डं प्रतिवर्षशतं हरेत् ॥१०१॥

कालेन यावता पल्यः स्यात्त्रिलोपोऽखिलोऽपि सः ।

तावान्कालो भवेत्सूक्ष्ममद्भा पल्योपमं किल ॥१०२॥

एतेषामथ पल्यानां दशभिः कोटि कोटिभिः ।

सूक्ष्ममद्भामिधं ज्ञान सागराः सागरं जगुः ॥१०३॥

इस तरह दस कोटा कोटि बादर आधा पल्योपमों का एक बादर अद्भा सागरोपम होता है, इसी तरह पहले कहे अनुसार केशाग्रों के असंख्यात् टुकड़े करके पूर्वोक्त प्रकार से ही पूर्वोक्त नाप वाला पल्योपम है अर्थात् कुएं में भरकर उसके बाद उसमें से प्रत्येक सौ वर्ष में एक-एक टुकड़ा निकालकर कुआं खाली करने में जितना समय लगता है वह सूक्ष्म आधा पल्योपम कहलाता है और इतने दस कोटा कोटि पल्योपम का एक 'सूक्ष्म' आधा सागरोपम कहलाता है। (६८ से १०३)

सूक्ष्माद्भापल्यवाद्भिभ्यामाभ्यां मीयन्त आर्हतैः ।

आयुषि नारकादीनां कर्म कायस्थिति तथा ॥१०४॥

नरक आदि का आयुष्य तथा कर्मों की स्थिति तथा पृथ्वी आदि जीवों की कायस्थिति आदि (जीवन काल) यह सूक्ष्म आधा पल्योपम और सागरोपम द्वारा मापा जाता है। (१०४)

एतेषामेव वाद्भिनां दशभिः कोटिकोटिभिः ।

उत्सर्पिणी भवेदेका तावत्येवावसर्पिणीं ॥१०५॥

इस तरह दस कोटा कोटि सागरोपम के काल को एक को 'उत्सर्पिणी' काल नाम दिया है और दूसरा 'अवसर्पिणी' काल भी इतना ही होता है। (१०५)

एकादि समन्तघस्त्ररूढ केशाग्र राशिभिः ।

भृतादुक्त प्रकारेण पल्यात्पूर्वोक्त मानतः ॥१०६॥

तत्तद्द्वालयसंस्पृष्ट ख प्रदेशापकर्षणे ।

समये समये तस्मिन् प्राप्ते निःशेषतां तथा ॥१०७॥

कालचक्रैरसंख्यातैर्मितं तत्क्षेत्र नामकम् ।

बादरं जायते पल्योपमेवं जिनैर्मतम् ॥१०८॥ त्रिभिविशेषकम्

इस तरह पल्योपम और सागरोपम के तीन भेद में से प्रथम उद्धार और

दूसरा अद्धा के विषय में कहा गया है । अब तीसरे प्रकार 'क्षेत्र' के विषय में कहते हैं - मस्तक पर उत्पन्न हुए एक दिन से सात दिन के बाल पूर्वोक्त, नाप वाले कुए में पूर्वोक्त रूप से ही भर कर फिर उसको स्पर्श कर रहते आकाश प्रदेशों का समय समय पर आकर्षण करना, इस तरह करते कुए खाली होते हैं उसमें जो असंख्यात काल चक्र व्यतीत होता है उसे जिनेश्वर भगवान् ने बादर क्षेत्र पल्योपम कहा है । (१०६ से १०८)

कोटा कोटयो दशैषां च बादरं क्षेत्र सागरम् ।

सुबोधतायै सूक्ष्मस्य कृतमेतन्निरूपणम् ॥१०६॥

छिन्नैरसंख्यशः प्राग्वत् केशाग्रैः पल्यतो भृतात् ।

समये समये चैकः ख प्रदेशोपकृष्यते ॥११०॥

एवं केशांशसंस्पृष्टा भांश कर्षणात् ।

तस्मिन्निः शेषिते सूक्ष्मं क्षेत्र पल्योपमं भवेत् ॥१११॥

इस तरह दस कोटा कोटि पल्योपम होता है तब एक बादर क्षेत्र सागरोपम होता है और पूर्व के समान ही असंख्यात टुकड़े हुए केशाग्र इस तरह कुएँ में भरकर फिर उन केशाग्रों को स्पर्श किए और नहीं स्पर्श किए इस प्रकार दोनों जात के आकाश प्रदेशों को आकर्षण करते हुए कुएँ को खाली करने में जितना समय लगता है उतने समय का एक सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम होता है । (१०६ से १११)

यहाँ केशाग्र के खंड को स्पर्श किया हो और स्पर्श न किया हो - इस तरह दोनों प्रकार के आकाश प्रदेशों के आकर्षण की बात कही है । उसके बाद प्रत्येक केशाग्र के असंख्य विभाग करने की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि ये दोनों समान हैं परन्तु प्रवचन सारोद्धार वृत्ति आदि पूर्व ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है इसलिए यहाँ पर भी ऐसा कहा है । इस प्रकार दस कोटा कोटि पल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है ।

नन्वेवं निचिते पल्ये बालाग्रैः सम्भवति किम् ।

नभः प्रदेशा असृष्टास्त तदुद्धारो यदीरितः ॥११२॥

उच्यते सम्भवत्ये वा स्पृष्टास्ते सूक्ष्म भावतः ।

नभोऽशकानां बालाग्रखण्डौघात्तादृशादपि ॥११३॥

यथा कूष्माण्डभरिते मातु लिंगानि मञ्चके ।

यान्ति तैश्च भृते धात्री फलानि बदराण्यपि ॥११४॥

तत्रापि यान्ति चणकादयः सूक्ष्मा यथा क्रमम् ।

एवं बालाग्र पूर्णोऽपि तत्रा स्पृष्टा नभोऽशका ॥११५॥

यहाँ कोई शंका करता है कि- इस तरह दबा कर केशाग्र भरे हों ऐसे कुएं में इन केशाग्रों को नहीं स्पर्श हुए आकाश प्रदेश संभव ही कैसे हो सकता है ? फिर उद्धार किसका हो सकता है ? इस शंका का समाधान करते हैं कि-केशाग्र के खंडों का समूह करते भी आकाश प्रदेश सूक्ष्म है, इतना ही स्पर्श करते भी आकाश प्रदेश इसमें संभव है । दृष्टान्त रूप में बीजों से भरी पेटो में बीच-बीच में खाली जगह रहती है उसमें छोटी वस्तु समा जाती है जैसे आवले या बेर समा जाते हैं और इसी तरह आवले अथवा बेर से भरे बरतन में चने समा सकते हैं । (११२ से ११५)

अथवा

यतो घनेऽपि स्तम्भादौ शतशोयान्ति कीलकाः ।

ज्ञायन्तेऽस्पृष्ट खांशानां ततरतत्रापि सम्भवः ॥११६॥

एवं बालाग्र खण्डो घैरत्यन्त निचितोऽपि हि ।

युक्तैव पत्ये खांशानाम स्पृष्टानां निरूपणा ॥११७॥

यहाँ दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि-कठोर से भी कठोर मजबूत लकड़ी स्तंभ में सैंकड़ों कील लगाने से उसमें समा जाते हैं तो इसी तरह कुएं में स्पर्श किए बिना आकाश प्रदेश किसलिए न समा जाय ? इसलिए जो निरूपण किया है वह युक्त ही है । (११६-११७)

एतेषामथ पत्यानां दशभिः कोटि कोटिभिः ।

सूक्ष्म सूक्ष्मेक्षिभिः क्षेत्र सागरोपममीक्षितम् ॥११८॥

जिस तरह एक सौ ग्यारहवें श्लोक में 'सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपम' की बात कही है वही दस कोटा कोटि हो तब एक 'सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम' होता है । (११८)

बादर क्षेत्र पत्याभ्यो निधिभ्यां सूक्ष्मके इमे ।

असंख्य गुण माने स्तः कालतः पत्य सागरे ॥११९॥

सूक्ष्म क्षेत्र पत्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम का काल बादर क्षेत्र पत्योपम और बादर क्षेत्र सागरोपम के काल से असंख्य गुना है। (११९)

क्षेत्र सागर पत्याभ्यामाभ्यां प्रायः प्रयोजनम् ।

द्रव्य प्रमाण चिन्तायां दृष्टिवादे क्वचिद् भवेत् ॥१२०॥

यह क्षेत्र पल्योपम और सागरोपम के द्रव्य प्रमाण सम्बन्धी चिन्तन के प्रसंग पर दृष्टिवाद में कही कही काम आता है। (१२०)

पल्यं पल्योपम चापि ऋषिभिः परिभाषितम् ।

सारं वारिधि पर्यायं सागरं सागरोपमम् ॥१२१॥

पूर्वाचार्यों ने पल्य और पल्योपम दोनों को पर्याय अर्थात् समानार्थ वाचक शब्द कहा है, वैसे ही सागरोपम के स्थान पर 'सार', 'वारिधि' और 'सागर' शब्द का उपयोग कर चारों को पर्याय गिना है। (१२१)

अथ संख्यातादिकानां स्वरूपं किञ्चिदुच्यते ।

श्रोतव्यं तत्सावधानैर्जस्तत्त्वं बुभुत्सुभिः ॥१२२॥

अब संख्यात, असंख्यात और अनन्त का कुछ स्वरूप कहते हैं। वह तत्त्व जिज्ञासु जन एक चित्त से सुनें। (१२२)

त्रिधा संख्यातं जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदतः ।

असंख्यातादन्तयोस्तु भेदा नव नवोदिताः ॥१२३॥

परित्तासंख्यातमाद्यं युक्तासंख्यातकं परम् ।

तार्तीयिककम संख्याता संख्यातं परिकीर्तितम् ॥१२४॥

संख्यात के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट - इस तरह तीन भेद हैं - और असंख्यात के भी तीन भेद हैं - १- परीत २- युक्त और ३- असंख्यात् परन्तु इन तीन में पुनः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इस तरह तीन भेद हैं। इस प्रकार असंख्यात के $३ \times ३ = ९$ नौ भेद होते हैं। (१२३-१२४)

परित्तानन्तमाद्य स्याद्युक्तानन्तं द्वितीयकम् ।

अनन्तानन्तकं तार्तीयिकं च गदितं जिनै ॥१२५॥

अनन्त के १- परीत, २- युक्त और ३- अनन्त - इस तरह तीन भेद हैं। ये तीनों भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट तीन प्रकार से होते हैं अर्थात् अनन्त के भी असंख्यात् के समान नौ भेद जिनेश्वर ने कहे हैं। (१२५)

षडप्येते स्युर्जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदतः ।

अष्टादशाथ संख्यातैस्त्रिभिः सहैक विंशतिः ॥१२६॥

इस तरह संख्यात के तीन, असंख्यात के नौ और अनन्त के नौ - कुल मिलाकर $३ + ९ + ९ = २१$ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं - १- जघन्य संख्यात, २- मध्यम संख्यात, ३- उत्कृष्ट संख्यात। ये संख्यात के तीन भेद हैं। १- जघन्य परीत

असंख्यात, २- मध्यम परीत्त असंख्यात, ३- उत्कृष्ट परीत्त असंख्यात, ४- जघन्य युक्त असंख्यात, ५- मध्यमयुक्त असंख्यात, ६- उत्कृष्टयुक्त असंख्यात, ७- जघन्य असंख्य असंख्यात, ८- मध्यम असंख्य असंख्यात और ९- उत्कृष्ट असंख्य असंख्यात। इस असंख्यात के नौ भेद हैं। १- जघन्य परीत्त अनन्त, २- मध्यम परीत्त अनन्त, ३- उत्कृष्ट परीत्त अनन्त, ४- जघन्य युक्त अनन्त, ५- मध्यम युक्त अनन्त, ६- उत्कृष्ट युक्त अनन्त, ७- जघन्य अनन्त अनन्त, ८- मध्यम अनन्त अनन्त, ९- उत्कृष्ट अनन्त अनन्त। ये अनन्त के नौ भेद हैं। इस तरह कुल २१ भेद होते हैं। (१२६)

द्वावेव लघु संख्यातं त्र्यादिकं मध्यमं ततः ।

अर्वाङ्गुत्कृष्ट संख्यातात् नैकस्तु गणना भजेत् ॥१२७॥

इस तरह दो संख्या जघन्य संख्यात है, उत्कृष्ट संख्यात से पहले का तीन आदि संख्या वाला मध्यम संख्यात है, एक की संख्या की गिनती की गणना नहीं करते हैं। (१२७)

यत्तु संख्यातमुत्कृष्ट तत्तु ज्ञेयं विवेकिभिः ।

चतुष्पल्याद्युपायेन सर्षपोत्कर मानतः ॥१२८॥

संख्यात का तीसरा भेद जो उत्कृष्ट संख्यात है उसको समझने के लिए चार पाला और सरसों की रहस्यपूर्ण बातें आगे कहते हैं। (१२८) वह इस प्रकार है :-

जम्बूद्वीप समायाम विष्कम्भपरि वेषकाः ।

सहस्रयोजनो द्वेधाः पल्याश्चत्वार ईरित्ता ॥१२९॥

उच्चया योजनान्यष्टौ जगत्या ते विराजिताः ।

जगत्युपरि च क्रोश द्वयोच्च वेदिकाञ्चिता ॥१३०॥

दिदृक्षवो द्वीपवाधीन् स्वीकृतोद् ग्रीविका इव ।

ध्यायन्तो ज्येष्ठ संख्यातं योगपट्ट भृतोथवा ॥१३१॥

त्रिभि विशेषकम्

जम्बूद्वीप के समान लाख योजना लम्बा-चौड़ा घिराव वाले तथा एक हजार योजन गहरे चार पाल कहे हैं। वे प्रत्येक आठ योजन ऊँची शोभायमान 'जगती' हैं और उस दीवार जगती के ऊपर दो कोस सुन्दर वेदिकाएं हैं। इसके कारण से पाल मानो द्वीप और समुद्र को ऊँची गरदन करके देख रहे हो इस तरह अथवा उत्कृष्ट संख्यात का विचार करते 'योगपट्टधारी' (योगपट्ट-एकाग्र ध्यान में हो तब

घुटने तक योगीजन द्वारा धारण किया वस्त्र, ध्यानस्थ योगी) हो - इस तरह विराजमान हुए हों । (१२६ से १३१)

आद्योऽनवस्थिताख्यः स्याच्छलाकाख्यो द्वितीयकः ।

तृतीयः प्रतिशलाकस्तुर्यो महाशलाककः ॥१३२॥

इन चार पालाओं का नाम इस तरह है - १- अनवस्थित, २- शलाका, ३- प्रतिशलाका और ४ महाशलाका । (१३२)

आवेदिकान्तं सशिखस्तत्र पत्योऽनवस्थितः ।

मायादेकोऽपि न यथा सर्षपैर्भ्रियते तथा ॥१३३॥

असत्कल्पनया कश्चिद्देवस्तमनवस्थितम् ।

कृत्वा वामकरे तस्मात्सर्षपं पर पाणिना ॥१३४॥

जम्बूद्वीपे क्षिपेदेकं द्वितीयं लवणोदधौ ।

तृतीयं घातकी खण्डे तुर्यं कालोदवारिधौ ॥१३५॥

एवं द्वीपे समुद्रे वा सपत्यो, यत्र निष्ठितः ।

तत्समायाम विष्कम्भपरिधिः कल्प्यते पुनः ॥१३६॥

उद्वेधतोत्सेधतः प्राग्वद् भ्रियते सर्षपैश्च सः ।

क्रमाद् द्वीपे समुद्रं च पूर्ववन्नयस्यते कणः ॥१३७॥

इसमें से प्रथम अनवस्थित नामक पाला (प्याला-कटोरा) है । उसकी वेदिका तक ऊपर शिखर चढ़ाकर सरसों भरना, फिर उसमें एक भी अधिक दाना नहीं समाय इस तरह कुछ कल्पना करके, उस पाले को कोई देवता बायें हाथ में उठाकर उसमें से एक कण-दाना दाहिने हाथ से जम्बूद्वीप में फेंक दे, दूसरा एक कण लवण समुद्र में, तीसरा एक दाना घातकी खण्ड में और चौथा एक कालोदधि समुद्र में फेंकता है । इस तरह फेंकते हुए जिस द्वीप अथवा समुद्र में वह प्याला खाली हो जाय, उस द्वीप या समुद्र समान फिर प्याले की कल्पना करना, उसकी गहराई और ऊँचाई पूर्व समान कही है । ऐसे प्याले में पूर्व समान फिर सरसों भरना और पुनः उसमें का एक-एक दाना पूर्व कहे अनुसार द्वीप समुद्र में फेंकना चाहिए। (१३३ से १३७)

एवं द्वितीयवारं च रिक्तोभूतेऽनवस्थिते ।

मुच्यते सर्षपः साक्षी शलाका भिध पत्यके ॥१३८॥

पूर्यमाणौ रिच्यमानै खं भूयोऽनवस्थितैः ।

शलाकाख्योऽपि स शिखं पूर्यते साक्षिसर्षपैः ॥१३९॥

अत्रेदं ज्ञेयम् - आद्येऽनवस्थिते रिक्तोभूते साक्षी न मुच्यते ।

सर्वैः पत्यैः समानत्वान्नानव स्थित तास्य तत् ॥१४०॥

यास्याऽनव स्थितेत्याह्वा ज्ञेया योग्यतया तु सा ।

घृतयोग्यो घटो यद्द्वद् घृतकुम्भोऽभिधीयते ॥१४१॥

साक्षी च सर्षपकणो मुच्यते यः शलाकके ।

अनवस्थित सत्कं त जगुरेके परे परम ॥१४२॥

पूर्णीभूते शलाकेऽथ स्थाप्यस्तत्राऽनव स्थितः ।

कमागत द्वीप वार्धिसमानः सर्षपैर्भूतः ॥१४३॥

अथोत्पाट च शलाकाख्यं प्राग्वत्तस्य कणान्क्षिपेत् ।

अनवस्थान्तिम् कणा कान्त द्वीपाम्बुधेः पुरः ॥१४४॥

इस तरह करते दूसरे समय भी जब वह प्याला खाली हो जाय तब दूसरे 'शलाका' नामक प्याले में सरसों का एक दाना पहचान या साक्षी रूप में डालना। इस तरह वह अनवस्थित प्याला बारम्बार भरते और खाली होते, शलाका प्याला भी साक्षी रूप दानों द्वारा शिखर चढ़ाकर इतना भर जाय तब पुनः अनुक्रम से द्वीप अथवा समुद्र समान सरसों भरना और अनवस्थित प्याला स्थापना करना, फिर 'शलाक प्याले' को उठाकर इसके दाने को अनवस्थित प्याले के अन्तिम दाने वाले द्वीप अथवा समुद्र से आगे बढ़कर फेंकना, इस तरह करते हुए शलाक प्याला भी खाली होता है (१३८ से १४४)

रिक्ती भूते शलाकेऽथ पत्ये प्रतिशलाकके ।

क्षिप्यते सर्षपस्तस्य साक्षीभूतस्तृतीयके ॥१४५॥

अथ तत्र स्थितं पूर्णं तं गृहीत्वाऽनव स्थितम् ।

शलाकान्त्य कणा क्रान्तादग्रे प्राग्वत् कणान्क्षिपेत् ॥१४६॥

पूर्यमाणै रिच्य मानैर्भूयोभूयोऽनव स्थितैः ।

पुनः शलाको भ्रियते प्राग्वत्तथानव स्थितः ॥१४७॥

प्राग्वत् शलाकमुत्पाट्य परतो द्वीपवार्धिषु ।

रिक्ती कृत्य च तत्साक्षी स्थाप्यः प्रति शलाकके ॥१४८॥

एवं प्रति शलाकेऽपि स शिखं सम्भृते सति ।

अनवस्थशलाकाख्यौ स्वयमेव भूतौ स्थितौ ॥१४९॥

शलाक साक्षिणः स्थानाभावात्स रिच्यते कथम् ।

आद्यस्यापि तद् भावात् कथं सोऽपि हि रिच्यते ॥१५०॥

ततः प्रतिशलाकाख्यमुत्तपाद्य तस्य सर्षपान ।

क्षिपेत् पूर्वोक्तया रीत्या परतो द्वीप वार्धिषु ॥१५१॥

उसके बाद साक्षी के लिए सरसों का एक दाना तीसरे 'प्रतिशलाक' नामक प्याले में डालना और फिर उसे पूर्ण भरना और अनवस्थित प्याले को उठाकर शलाक के अन्तिम दाने वाले द्वीप समुद्र से आगे द्वीप समुद्रों में पूर्व के समान सरसों के दाने फेंकना। इस तरह बारम्बार अनवस्थित प्याले को भरते और खाली होते पूर्व के समान शलाक प्याला भर देना और पूर्व के समान शलाक प्याला उठाकर तथा उसके आगे से आगे के द्वीप समुद्रों में खाली करके इसके साक्षी कण तीसरे प्रतिशलाक प्याले में डालना, यह प्रतिशलाक प्याला भी जब शिखा तक भर जाय तब अनवस्थित और शलाक दोनों अपने आप ही भरे हुए रख छोड़ना। क्योंकि इसके साक्षी रूप दाने सामने डालने हैं। शलाक में साक्षी रूप डाले हुए सरसों भरे हैं, वह डालने का अन्य स्थान नहीं है वैसे ही प्रथम अनवस्थित के साक्षीरूप दानों को डालने का भी स्थान नहीं है। उसके बाद प्रतिशलाक प्याले को उठाकर पूर्व के अनुसार इसमें से सरसों के दानों को आगे से आगे के द्वीप समुद्र में फेंकना। (१४५ से १५१)

एवं प्रति शलाकेऽपि निखिलं निश्चिते सति ।

साक्षीभूतं कणमेकं क्षिपेन्महाशलाकके ॥१५२॥

ततः शलाकमुत्पाद्य द्वीपाब्धिषु तदग्रतः ।

सर्षपात्रयस्य तत्साक्षीस्थाप्यः प्रतिशलाकके ॥१५३॥

ततः क्रमाद्बद्धमानं विस्तारमनवस्थितम् ।

उत्पाद्य परतो द्वीप पाथोधिषु कणान् क्षिपेत् ॥१५४॥

इस तरह करते जब वह पूर्ण खाली हो जाय तब इसके साक्षीभूत एक दाने को चौथे 'महाशलाक' प्याले में डालना। उसके बाद शलाक के प्याले को उठाकर इसके सरसों को इसके आगे के द्वीप समुद्र में डालकर इसके साक्षी दाने को प्रतिशलाक प्याले में डालना । फिर अनुक्रम से वृद्धि होते विस्तार वाले अनवस्थित प्याले को उठाकर इसके कणों (दानों) को आगे वाले द्वीप समुद्रों में डालना। (१५२ से १५४)

प्राग्वदेतत्साक्षिकणैः शलाकाख्यः प्रपूर्यते ।

तमप्यनेकशः प्राग्वत् संरिच्यैतस्य साक्षिभिः ॥१५५॥

तृतीय परिपूर्येता स कृदेतस्य साक्षिभिः ।

पल्यो महाशलाकोऽपि सशिखं पूर्यते ततः ॥१५६॥ युग्मम् ॥

पूर्व के समान इसके साक्षी रूप दाने से शलाक प्याला भर जाय तब इसे भी पहले के समान बारम्बार खाली करके इसके साक्षी दानों द्वारा तीसरा प्याला भरना। इसे पूर्वोक्त कहे अनुसार खाली करते इसके साक्षी दानों से महाशलाक प्याला भी शिखर तक भर देना। (१५५-१५६)

यथोत्तरमथो साक्षि स्थानाऽभावादि मे समे ।

भृताः स्थिता दिक्क नीनां क्रीडा समुद्र गका इव ॥१५७॥

यत्रान्ति माया वेलायां रिक्तीभूतोऽनव स्थितः ।

तावन्मानस्तादास्त्येष त्रयस्त्वन्ये यथोदिताः ॥१५८॥

अथैतांश्चतुरः पल्यान् सावकाशे स्थले क्वचित् ।

उद्धम्य तत्सर्षपाणां निचयंश्चयेद्धिया ॥१५९॥

ततश्च जम्बूद्वीपादि द्वीपवार्धिषु सर्षपान् ।

उच्चित्य पूर्वनिक्षिप्तांस्तत्रैव निचये क्षिपेत् ॥१६०॥

एक सर्षपरूपेण न्यूनोऽयं निचयोऽखिलः ।

भवेदुत्कृष्ट संख्यातमानमित्युदितं जिनैः ॥१६१॥

इस तरह उत्तरोत्तर साक्षी दानों को डालने का स्थान न होने से चारों प्याले भरे हुए रहें। ये सर्व मानो दिग् कन्याओं के खेलने के लिए डिब्बे हों ऐसे सुन्दर शोभते हैं। उस समय में अनवस्थित प्याले का माप आखिर समय में खाली हो तब जितना था उतना रहता है। अन्य तीन का माप पूर्व समान होता है। अब इन चारों प्यालों को किसी खाली स्थान पर खाली करना- अर्थात् सरसों का एक ढेर करना और फिर जम्बूद्वीप आदि पूर्व में फेंके दोनों को भी एकत्रित करके उस ढेर में डालना। फिर इस समस्त ढेर में से एक दाना कम करना। इस एक दाना कम वाले ढेर का मान 'उत्कृष्ट संख्यात' कहलाता है। इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान् ने कहा है। (१५७ से १६१)

एतदुत्कृष्ट संख्यातमेक रूपेण संयुतम् ।

भवेत्परीक्षा संख्यातं जघन्यमिति तद्विदः ॥१६२॥

ज्येष्ठात्परीक्षा संख्यातादवाग् जघन्यतः परम् ।

मध्यं परीक्षा संख्यातं भवेदिति जिनैः स्मृतम् ॥१६३॥

जघन्य युक्ता संख्यातमेक रूप विवर्जितम् ।

भवेत्परीक्षा संख्यातमुत्कृष्टमिति तद्विदः ॥१६४॥

उत्कृष्ट संख्यात में एक दाना सरसों को मिलाने से वह संख्या जघन्य परीत असंख्यात होती है उत्कृष्ट परीत असंख्यात के पहले और जघन्य परीत असंख्यात से आगे का मध्यम परीत असंख्यात कहलाता है तथा एक रूप हीन जघन्य युक्त असंख्यात, उत्कृष्ट परीत असंख्यात कहलाता है। (१६२ से १६४)

जघन्य युक्तासंख्य प्रकारश्चायम्-

यावत्प्रमाणो यो राशिर्भवेत्स्वरूप संख्यया ।
 स न्यस्य तावतो वारान् गुणितोऽभ्यास उच्यते ॥१६५॥
 यथा पञ्चात्मको राशिः पञ्चवारान् प्रतिष्ठितः ।
 मिथः संगुणितो जातः प्रथमं पञ्चविंशतिः ॥१६६॥
 शतं सपादं सज्जातो गुणितः सोऽपि पञ्चभिः ।
 पुनः संगुणितः पञ्च विंशानि स्यु शतानि षट् ॥१६७॥
 जातश्चतुर्थं वेलायामेकं त्रिंशच्छतानि सः ।
 पञ्चविंशत्युपचितान्यभ्यास गुणितं ह्यदः ॥१६८॥

जघन्य युक्त असंख्यात के भेद इस प्रकार से हैं- स्वरूप की संख्या से जो राशि जितने प्रमाण की हो उतनी स्थापन करके उसे उतनी बार उतने गुना करने से जो राशि आती हो, वह राशि अभ्यास कहलाती है। उदाहरण तौर पर पांच राशि (अंक) ले लो। उस पांच को पांच गुणा करना अर्थात् वह पच्चीस होता है। उस पच्चीस को फिर पांच से गुणा करने से एक सौ पच्चीस होता है। इन एक सौ पच्चीस को वापिस पांच से गुणा करने से छह सौ पच्चीस होता है। इन छह सौ पच्चीस संख्या को अन्तिम पांच से गुणा करने से तीन हजार एक सौ पच्चीस होता है। इसका नाम 'अभ्यास गणित' कहते हैं। (१६५ से १६८)

ततश्च - प्रागुक्ते सार्षपे पुञ्जे यावन्तः किल सार्षपाः ।

तत्संख्यानं मुख्यनिचय तुल्यान् राशीन पृथक् पृथक् ॥१६९॥

कृत्वामिथस्तद् गुणने यो राशिर्जायतेऽन्तिमः ।

जघन्ययुक्तासंख्यं तदावली समयैः समम् ॥१७०॥

अब पूर्व में जो कहा हुआ है, उस सरसों के ढेर में जितने सरसों हो उतने, मुख्य ढेर के समान अलग-अलग ढेर करके उनको परस्पर गुणा करने से जो अन्तिम राशि (संख्या) आती है वह जघन्य युक्त संख्यात कहलाता है और वह एक आवली के जितना समय है। (१६९-१७०)

इयमत्र भावना - स सर्षपाणां निकरः कल्प्यते चेदृशात्मकः ।

प्राग्वदभ्यास गुणितः सहस्र कोटिको भवेत् ॥१७१॥

यहां इसको यह भावार्थ है कि- जैसे कि किसी ढेर में दस दाने हैं तो पूर्व कहे अनुसार 'अभ्यास गुणाकार' करने से उस ढेर की संख्या एक हजार करोड़ होती है । (१७१)

गरिष्ठयुक्ता संख्यातादवाग् जघन्यतः परम् ।

मध्यमं जायते युक्ता संख्यातमिति तद्विदः ॥१७२॥

जघन्ययुक्ता संख्यातं प्राग्वदभ्यासताडितम् ।

हीनमेकेन रूपेण युक्ता संख्यातकं गुरु ॥१७३॥

एतदेव रूप युक्तम् संख्यासंख्यकं लघु ।

मध्यासंख्याता संख्यातमस्मादुत्कृष्टतावधि ॥१७४॥

जघन्या संख्यातं भवेदभ्यासताडितम् ।

एक रूपोनितं ज्येष्ठा संख्या संख्यातकं स्फुटम् ॥१७५॥

अत्रैक रूपक्षेपे च परीत्तानन्तकं लघु ।

मध्यं चास्मात्समुत्कृष्ट परीत्तानन्तकावधि ॥१७६॥

ह्रस्वं परीत्तानन्तं च प्राग्वदभ्यास संगुणम् ।

परीत्तानन्तकं ज्येष्ठमेक रूपोनितं भवेत् ॥१७७॥

सैकरूपं तज्जघन्य युक्तानन्तकमीरितम् ।

परमस्मात्पर्याच्चावाग् युक्तानन्तं हि मध्यमम् ॥१७८॥

युक्तानन्तं तज्जघन्यमभ्यास परिताडितम् ।

निरैक रूपमुत्कृष्ट युक्तानन्तकमाहितम् ॥१७९॥

अत्रैक रूप क्षेपे स्यादनन्तानन्तकं लघु ।

अस्माद्यदधिकं मध्यानन्तानन्तं च तत्समम् ॥१८०॥

उत्कृष्टानन्तानन्तं तु नास्ति सिद्धान्ति नां मते ।

अनुयोगद्वार सूत्रे यदुक्तं गणधारिभिः ॥१८१॥

अब उत्कृष्टयुक्त असंख्यात से पहले का और जघन्ययुक्त असंख्यात से आगे का है वह मध्यम युक्त असंख्यात कहलाता है और अभ्यास गुणित तथा एक रूप हीन जघन्ययुक्त असंख्यात उत्कृष्ट युक्त असंख्यात कहलाता है और वह एक रूप युक्त ही तो वह जघन्य असंख्य असंख्य असंख्यात कहलाता है और इससे वह

अन्तिम उत्कृष्ट तक का 'मध्यम असंख्यात असंख्यात' कहलाता है तथा 'जघन्य असंख्यात असंख्यात' को अभ्यास गुणा करते 'उत्कृष्ट असंख्यात असंख्यात' होता है यदि वह एक रूपहीन हो तो तथा एक रूपहीन स्थान पर एक रूप युक्त हो तो वह 'जघन्य परीत्त अनन्त' होता है और वहां से वह अन्तिम 'उत्कृष्ट परीत्तानन्त' तक का मध्यम परीत्त अनन्त होता है। अब एक रूपहीन 'जघन्य परीत्त अनन्त' को पूर्व के समान अभ्यास गुणित करते उत्कृष्ट परीत्त अनन्त होता है और उसमें जब एक रूप मिलाने में आता है तब जघन्य युक्त अनन्त होता है। उसके बाद और 'उत्कृष्ट युक्त अनन्त' के पहले का- वह मध्यम युक्त अनन्त होता है। एक रूपरहित 'जघन्ययुक्त अनन्त' को अभ्यास गुणा करने से उत्कृष्ट अनन्त होता है और उसमें एक रूप मिलाने से तो 'जघन्य अनन्तानन्त' होता है। इससे अधिक हो वह सारा 'मध्यम अनन्तानन्त' होता है और 'उत्कृष्ट अनन्त अनन्त' तो जैन सिद्धान्तों के मत में ही नहीं है। गणधर भगवन्तों ने भी अनुयोग द्वार सूत्र में इसी तरह ही कहा है। (१७२ से १८१)

अभिप्रायः समग्रोऽयं प्रोक्तः सूत्रानुसारतः ।

अथ कर्मग्रन्थिकानां मतमत्र प्रपंच्यते ॥१८२॥

समद्विधातो वर्गः स्यात् इति वर्गस्य लक्षणम् ।

पञ्चानां वर्गकरणे यथास्युः पंच विंशतिः ॥१८३॥

जघन्ययुक्ता संख्यातावधि तुल्यं मतद्वये ।

अतः परं विशेषोऽस्ति स चायं परिभाव्यते ॥१८४॥

ऊपर के सभी अभिप्राय सूत्रों के अनुसार कहे हैं। अब कर्म ग्रन्थकारों ने क्या कहा है उसे देखो - किसी भी संख्या को उसी संख्या से गुणा करते जो संख्या आती है यह उसका 'वर्ग' कहलाता है। जैसे कि पांच को पांच से गुणा करते पच्चीस होता है, यह पच्चीस पांच का वर्ग कहलाता है। सूत्र और कर्म ग्रन्थ दोनों के मत में जघन्ययुक्त असंख्यात तक तो सारा एक समान है, उसके बाद मतभेद दिखते हैं। (१८२ से १८४)

. वह इस प्रकार-

जघन्य युक्ता संख्यातादारभ्योत्कृष्टतावधि ।

मध्यमं युक्ता संख्यातं स्यादुत्कृष्टमथोच्यते ॥१८५॥

जघन्य युक्ता संख्यातं वर्गितं रूप वर्जितम् ।

उत्कृष्ट युक्ता संख्यातं प्राप्त रूपैः प्ररूपितम् ॥१८६॥

एक रूपेण युक्तं तद संख्यासंख्यकं लघु ।

अर्वागुत्कृष्टतो मध्यमथोत्कृष्टं निरूप्यते ॥१८७॥

'जघन्य युक्त असंख्यात' से प्रारम्भ करके अन्तिम उत्कृष्ट युक्त असंख्यात तक का मध्यम युक्त असंख्यात कहलाता है, और एक रूप हीन 'जघन्य युक्त असंख्यात' का वर्ग कहने से 'उत्कृष्ट युक्त असंख्यात' होता है, परन्तु यदि वह एक रूप युक्त हो तो वह जघन्य असंख्य असंख्यात कहलाता है। उत्कृष्ट से पूर्व का है वह 'मध्यम असंख्य असंख्यात' होता है। (१८५ से १८७)

जघन्यासंख्यासंख्यातं यत्ततो वर्गितं त्रिशः ।

अभीभिर्दशाभिः क्षेपैर्वक्ष्यमाणैर्विमिश्रितम् ॥१८८॥

अब उत्कृष्ट असंख्य असंख्यात विषय कहते हैं - जघन्य असंख्य असंख्यात का तीन बार वर्ग करना और उसमें आगे कहे अनुसार दस असंख्याता मिलाना चाहिए। (१८८)

तच्चैवम् - त्रिंशत्कोटा कोटि सारा ज्ञान वरण कर्मणः ।

स्थितिरुत्कर्षतो ज्ञेया जघन्यान्तमुहूर्त की ॥१८९॥

अनयोरन्तराले च मध्यमाः स्युरसंख्यशः ।

आसां बन्धहेतु भूताध्यवसाया असंख्यशः ॥१९०॥

एवमेवाध्यवसाया अपरेष्वपि कर्मसु ।

स्युरसंख्येय लोकाभ्रप्रदेश प्रमिता इमे ॥१९१॥

जघन्यादि भेदवन्तोऽनुभागाः कर्मणा रसाः ।

तेषु संख्येय लोकाभ्रप्रदेश प्रमिताः किल ॥१९२॥

ज्ञानावरणी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटा कोटी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर मुहूर्त की है। इन दोनों के बीच में असंख्य मध्यम स्थिति हैं और इसके बन्ध के हेतु भूत 'असंख्य' अध्यवसाय हैं। इसी तरह से अन्य कर्मों में भी अध्यवसाय (परिणाम) असंख्य लोकाकाश के प्रदेश के जितने ही हैं। इस तरह जैसे कर्म का स्थिति बन्ध असंख्य है वैसे ही जघन्यादि भेद से इसके अनुभाग रूप रस बन्ध भी असंख्य हैं। (१८९ से १९२)

ततश्च- लोकाभ्रधर्माधर्मैक जीवानां ये प्रदेशकाः ।

अध्यवसाय स्थानानि स्थिति बन्धानुभागयोः ॥१९३॥

मनोवचः काययोग विभागा निर्विभागकाः ।

कालचक्रस्य समयास्तथा प्रत्येक जन्तवः ॥१९४॥

अनन्तांगिदेह रूपा निगोदाश्च दशाप्यमन् ।

त्रिवर्गिते लघ्व संख्यासंख्योऽसंख्यात्रियोजयेत् ॥१९५॥

त्रिंशः पुनर्वर्गयेच्चा भवेदेवं कृते सति ।

असंख्यासंख्यमुत्कृष्टमेक रूप बिना कृतमे ॥१९६॥

चतुर्भिः कलापकम् ।

१- लोकाकाश का प्रदेश, २- धर्मास्तिक का प्रदेश, ३- अधर्मास्तिक काय का प्रदेश, ४- एक जीव के प्रदेश, ५- स्थिति बंध के अध्यवसाय के स्थान अर्थात् अमुक कर्म अमुक काल या मुहूर्त तक रहता है - उस कर्म का स्थिति बंध कहलाता है । कर्म के शुभाशुभ फल वह कर्म का अनुभाग या रस कहलाता है । उसका निश्चय वह अनुभाग बंध है, ६- अनुभाग बंध के अध्यवसाय के स्थान, ७- मन योग, वचन योग और काय योग के अविभाज्य विभाग, ८- काल चक्र का समय (दस कोटा कोटी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी काल कहलाता है), अवसर्पिणी काल भी उतना ही कहलाता है और उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों का काल हो जाय वह कालचक्र कहलाता है, ९- प्रत्येक-शरीर जंतु और १०- अनन्त काय के जीव (निगोद) का शरीर। ये सब असंख्यात हैं । इसको मिलाने के बाद पुनः इसके तीन बार वर्ग करना । उसके बाद इसमें से एक रूप कम करना अर्थात् 'उत्कृष्ट असंख्य असंख्यात' होता है। (१९३-१९६)

तत्रैक रूप प्रक्षेपे परीत्तानन्तक लघु ।

परीत्तानन्त काजयेष्टदवाक् तच्च मध्यमम् ॥१९७॥

अभ्यास गुणिते प्राग्वत्परीत्तानन्तके लघौ ।

परीत्तानन्तमुत्कृष्टमेक रूपोऽङ्कितं भवेत् ॥१९८॥

सैक रूपे पुनस्तस्मिन् युक्तानन्तं जघन्यकम् ।

अभव्य जीवैस्तुलितं मध्यं तूत्कृष्टकावधि ॥१९९॥

जघन्ययुक्तानन्ते च वर्गिते रूप वर्जिते ।

स्याद्युक्तानन्तमुत्कृष्टमित्युक्तं पूर्वं सूरिभिः ॥२००॥

यत्रैक रूप प्रक्षेपादनन्तानन्तकं लघु ।

प्राग्देवदपि ज्ञेयं मध्यमुत्कृष्टकावधि ॥२०१॥

उत्कृष्ट असंख्य असंख्यात में एक रूप मिला ले तो 'जघन्य परीत्त अनन्त' होता है। इसके बाद का और 'उत्कृष्ट परीत्त अनन्त' से पहले का वह 'मध्यम परीत्त अनन्त' तथा पहले अनुसार 'जघन्य परीत्त अनन्त' का अभ्यास गुणाकार करके एक रूप बाद करते 'उत्कृष्ट परीत्त अनन्त' होता है और एक रूप बढ़ाने में आए तो 'जघन्य युक्त अनन्त' होता है। उसके बाद का अन्तिम 'उत्कृष्ट' तक का 'मध्यम युक्त अनन्त' है और 'जघन्य युक्त अनन्त' का वर्ग करके उसमें से एक रूप का बाद करने से तो 'उत्कृष्ट युक्त अनन्त' होता है ऐसा पूर्व आचार्यों ने कहा है और एक मिलाने से तो 'जघन्य अनन्त अनन्त' होता है। उसके बाद का अन्तिम 'उत्कृष्ट' तक का 'मध्यम अनन्त अनन्त' होता है। (१६७ से २०१)

जघन्यानन्तानन्तं तत् वर्गयित्वा त्रिंशस्ततः ।

क्षेपानमूननन्तान् षट् वक्ष्यमाणान्नियोजयेत् ॥२०२॥

अब उत्कृष्ट अनन्त अनन्त के विषय में कहते हैं - 'जघन्य अनन्त अनन्त' का तीन बार वर्ग करके उसमें आगे कहे छः अनन्त को मिलाना। (२०२)

वह इस प्रकार-

तेचामी- वनस्पतीन्निर्गोदानां जीवान् सिद्धांश्च पुद्गलान् ।

सर्वं कालस्य समयान् सर्वा लोक नभोशकान् ॥२०३॥

पुनस्त्रि वर्गिते जात राशौ तस्मिन् विनिक्षिपेत् ।

पर्यायान् केवलज्ञान दर्शनानामनन्तकान् ॥२०४॥

अनन्तानन्तमुत्कृष्टं भवेदेवं कृते सति ।

मेयाभावादस्य मध्ये नैव व्यवहृतिः पुनः ॥२०५॥

१- वनस्पति काय के जीव, २- निर्गोद के जीव, ३- सिद्धात्मा, ४- पुद्गल के परमाणु, ५- सर्व काल का समय और ६- सर्व अलोकाकाश का प्रदेश। इनको मिलाने से जो राशि होती है उसे पुनः तीन बार वर्ग करना और उसमें केवल ज्ञान का तथा केवल दर्शन का अनन्त पर्याय मिलाना चाहिए। यह जो राशि बनती है वह 'उत्कृष्ट अनन्तानन्त' है परन्तु वह माप के पदार्थ से अभाव होने से यह संख्या व्यवहार में नहीं है। (२०३ से २०५)

एवं च नवधानन्तं कर्मग्रन्थमते भवेत् ।

भवत्यष्टविधं किञ्च सिद्धान्ताश्रयिणांमते ॥२०६॥

इस तरह 'अनन्त' के सिद्धान्तमत के अनुसार आठ और कर्मग्रन्थ के अनुसार नौ भेद होते हैं। (२०६)

सर्वेषां रूपमेकैकमेषां ज्येष्ठकनीयसाम् ।

मध्यमानां तु रूपाणि भवन्ति बहुधा किल ॥२०७॥

सर्व जघन्यों का और सर्व उत्कृष्टों का एक-एक ही रूप होता है और मध्यम का तो बहुत भेद होता है। (२०७)

संख्यातभेदं संख्यातमसंख्यात विधं पुनः ।

असंख्यातमनन्तं चानन्त भेदं प्रकीर्तितम् ॥२०८॥

जिस प्रकार की संख्या से गिनती हो सकती है वह प्रकार संख्यात कहलाता है, और जिस प्रकार से जिस तरह गिनती न हो सके उसे 'असंख्यात' कहते हैं और जिसका अन्त ही नहीं है वह संख्या अनन्त कहलाती है। (२०८)

प्रयोजनं त्वेतेषाम् -

अभविअ चउत्थणं ते पचम्मि सम्माइ परिवडिअ सिद्धा ।

सेसा अट्टमणंते पज्जथूलवणाइ बावीसम् ॥२०९॥

अनन्त का प्रयोजन इस प्रकार है- अभविअ चौथे 'अनन्त' होते हैं, समकित से भ्रष्ट हुए जीव और सिद्धात्मा पांचवें अनन्त होते हैं और बादर पर्याप्त वनस्पति आदि शेष बाईस हैं वह आठवां अनन्त होता है। इन बाईस के नाम इस प्रकार हैं। (२०९)

तेचामी- बायरपज्जत्तवणा बायरपज्ज अपज्जबायर वणा य ।

बायर अपज्ज बायर सुहुमा पज्जवण सुहुम अपज्जा ॥२१०॥

सुहुमवणा पज्जत्ता पज्ज सुहुमा सुहुम भव्वथ निगोया ।

वण एगिंदिय तिरिया मिथ्थादिट्ठी अविरया य ॥२११॥

सकसाइणो य छउमा सजोगि संसारि सव्व जीवा य ।

जह संभवमप्पहििया बावीसं अट्टमेऽणंते ॥२१२॥

१- बादर पर्याप्त वनस्पति, २- बादर पर्याप्त, ३- अपर्याप्त बादर वनस्पति, ४- बादर अपर्याप्त, ५- बादर, ६- सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पति, ७- सूक्ष्म अपर्याप्त, ८- सूक्ष्म पर्याप्त वनस्पति, ९- सूक्ष्म पर्याप्त, १०- सूक्ष्म, ११- भवि, १२- निगोद, १३- वनस्पति, १४- एकेन्द्रिय, १५- तिर्यच, १६- मिथ्या दृष्टि, १७- अविरति, १८- सकषायी, १९- छद्मस्थ, २०- संयोगी, २१- संसारी, २२- सर्वजीव। ये बाईस आठवां अनन्त हैं और वे एक दूसरे से अधिक से अधिक होते हैं। (२१० से २१२)

इत्यादि यथास्थानं ज्ञेयम् ।

इत्थंगुलादि प्रकृतोपयोगिमानं, मयाप्रोक्तिमपेक्ष्य दृष्यम् ।

अथोयथा स्थानमिदं नियोज्यं, कोशस्थितं द्रव्यमिवागमज्ञैः ॥२१३॥

इस प्रकार मैंने यह प्रकृत-यथार्थ ग्रन्थ में उपयोगी अंगुल आदि की माप का आस पुरुषों के वचनों की अपेक्षा से वर्णन किया है । शास्त्रज्ञ ने निधि में के द्रव्य के समान यथा-योग्य स्थान पर इसका उपयोग करना। (२१३)

विश्वाश्चर्यद कीर्ति कीर्तिविजय श्री वाचकेन्द्रान्तिष ।

द्राज श्री तनयोऽतनिष्ठ विनयः श्री तेजपालात्मजः ॥

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्वप्रदीपोपमे ।

सर्गो निर्गल तार्थसार्थ सुभगो पूर्णः सुखे नादिमः ॥२१४॥

समस्त जगत् को आश्चर्य कराने वाले कीर्तिमान उपाध्याय भगवन्त श्री कीर्ति विजय महाराज के शिष्य, माता राजश्री और पिता तेजपाल के पुत्र उपाध्याय श्री विनय विजय ने इस काव्य ग्रन्थ रत्न की रचना की है। जगत् के निश्चित तत्त्वों पर प्रकाश करने में दीपक समान इस ग्रन्थ का, इसमें से निकलते अर्थ समूह द्वारा मंगलकारी सुन्दर प्रथम सर्ग निर्विघ्न-सुखपूर्वक समाप्त हुआ। (२१४)

॥ इति प्रथम सर्ग समाप्त ॥

द्वितीयः सर्ग

स्तुमः शंखेश्वरं पार्श्वं मध्यलोके प्रतिष्ठितम् ।

देहली दीपकन्यायाद् भुवनत्रय दीपकम् ॥१॥

अर्थात्- मध्य लोक में रहने पर भी देहली (डेबढी) दीपक न्याय से तीन जगत को प्रकाशित करने वाले श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान् की हम स्तुति करते हैं। (१)

देहली का अर्थ है चौखट-इयोढी या द्वार की नीचे लकड़ी। अर्थात् देहली के ऊपर दीपक रखने से जैसे कमरे के अन्दर और कमरे के बाहर चौक आदि में शुद्ध प्रकाश करता है वैसे श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान् भी स्वयं मध्यलोक में विराजमान होने पर भी उर्ध्व और अधः आदि पूर्ण लोक में प्रकाश करते हैं अर्थात् अज्ञान रूपी अंधकार दूर करके ज्ञान रूपी प्रकाश को करते हैं ।

प्रस्तुयतेऽथ प्रकृतं स्वरूपं लोकगोचरम् ।

द्रव्यतः क्षेत्रतः कालभावतस्तच्चतुर्विधम् ॥२॥

इस ग्रन्थ का नाम 'लोक प्रकाश' है। तो इस लोक का क्या विषय है उसका स्वरूप कहते हैं - लोक का स्वरूप १- द्रव्यपरत्व, २-क्षेत्र परत्व, ३- काल परत्व और ४- भाव परत्व- इस तरह चार प्रकार का है । (२)

एक पंचास्तिकायात्मा द्रव्यतो लोक इध्यते ।

योजनानामसंख्येयाः कोटयः क्षेत्रतोऽमितः ॥३॥

कालतोभूच्च भाव्यस्ति भावतोऽनन्तपर्यवः ।

लोकशब्द प्ररूप्यास्ति कायस्थ गुण पर्यवैः ॥४॥

लोक धर्मास्ति काय आदि पंचास्ति कायात्मक है । वह इसका प्रथम विभाग है । यह लोक-असंख्यात कोटि योजन विस्तार वाला इसका क्षेत्रफल, वह इसका दूसरा विभाग है। यह लोक भूतकाल में था, भविष्य काल में रहेगा और अभी वर्तमान काल में विद्यमान है, यह इसका तीसरा विभाग है तथा इस लोक में पांच अस्तिकाय हैं इन अस्ति कार्यों में गुण और पर्याय रहे हैं । इसके कारण लोक अनन्त पर्यायी है, इसका यह चौथ विभाग है । (३-४)

अथवा

जीवाजीव स्वरूपाणि नित्या नित्यत्ववन्ति च ।

द्रव्याणि षट् प्रतीतानि द्रव्यलोकः स उच्यते ॥५॥

अथवा जीव अजीव स्वरूप और नित्य अनित्य आदि छः द्रव्य हैं, उसे द्रव्य लोक कहते हैं । (५)

तथोक्तं स्थानांग वृत्तौ

जीवमजीवे रूढमरूढि सपए समप्यएसे अ ।

जाणाहि दव्वलोगं निच्चमनिच्चं च जं दव्वं ॥६॥

स्थानांग (ठाणांग) सूत्र की वृत्ति में कहा है - रूपी, अरूपी, सप्रदेशी, अप्रदेशी तथा नित्यानित्य जीव अजीव रूप छः द्रव्य को द्रव्य लोक कहते हैं । (६)

ये संस्थान विशेषेण तिर्यगूर्ध्वमघः स्थिताः ।

आकाशस्य प्रदेशास्तं क्षेत्रलोकं जिनाः जगुः ॥७॥

ऊर्ध्व, अध और तिच्छर्छा इस तरह विशिष्ट संस्था का-स्थानों वाला आकाश प्रदेश है, उसे जिनेश्वर क्षेत्रलोक कहते हैं । (७)

समयावलिकादिश्च काल लोको जिनेः स्मृतः ।

भावलोकस्तु विज्ञेयो भावा औदयिकादयः ॥८॥

समय और आवलि आदि को काललोक कहा है तथा औदयिक आदि अमुक भाव है, उसे जिनेश्वर प्रभु ने भाव लोक कहा है।

अति सूक्ष्म काल को समय कहते हैं । आंख बन्द करके खोलो तो उसमें असंख्यात समय हो जाता है। असंख्यात समय हो तब एक आवलि होती है । एक करोड़ छियासठ लाख-सत्तर हजार दो सौ सोलह आवली का एक मुहूर्त (दो घड़ी) होता है, आदि शब्द से दो घड़ी का एक मुहूर्त ३० मुहूर्त का एक दिन, १५ दिन का एक पखवारा, दो पखवारे का एक महीना, १२ महीने का एक वर्ष, असंख्यात वर्ष का एक पल्योपम, दस कोटा कोटी पल्योपम का एक सागरोपम, दस कोटा कोटी सागरोपम का एक उत्सर्पिणी या एक अवसर्पिणी काल है, इन दोनों को मिलाने से एक कालचक्र कहलाता है और अनन्त काल चक्र का एक पुद्गल परावर्तन काल कहलाता है। और भावलोक का भावार्थ है वस्तु का स्वभाव । (८)

स्थानांग सूत्र की वृत्ति में कहा है - यदाहुः स्थानांगवृत्तौः

उदईए अवसमिए खइए अ तथा खओवसमिए अ ।

परिणाम सन्निवाए छव्विहो भावलोओत्ति ॥९॥

भावलोक की ठाणांग सूत्रवृत्ति में छः प्रकार इस तरह कहे हैं - १. औदयिक, २. औपशमिक, ३. क्षायिक, ४. क्षायोपशमिक, ५. परिणामी, ६. सन्निपाति । (९)

तत्र प्रथमतो द्रव्यलोकः किञ्चिद्विदितन्यते ।

मया श्रीकीर्तिविजय प्रसाद प्राप्त बुद्धिना ॥१०॥

श्री मान्यवर्य उपाध्याय वर्य कीर्ति विजय गुरु महाराज की परम कृपा से मैं बुद्धिमान बना हुआ अब प्रथमतः द्रव्यलोक सग्वन्धी कुछ अल्पमात्र विवेचन करता हूँ। (१०)

धर्मास्तिकाया धर्मास्तिकायावाकाश एव च ।

जीव पुद्गल कालाश्च षड् द्रव्याणि जिनागमे ॥११॥

धर्माधर्माध्रजीवाख्याः पुद्गलेन समन्विताः ।

पञ्चामी अस्तिकायाः स्युः प्रदेश प्रकरात्मकाः ॥१२॥

अनागत स्यानुपत्तेरुत्पन्नस्य च नाशतः ।

प्रदेश प्रचया भावात् काले नैवास्ति कायता ॥१३॥

जिन आगम में धर्मास्ति काय, अधर्मास्ति काय, आकाशास्ति काय, जीवस्ति काय, पुद्गलास्ति काय और काल - ये छः गिने हैं। उसमें धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल - इन पांच का विस्तार बहुत प्रदेश-होने से हमने इसे 'अस्तिकाय' कहा है और जो काल है वह अस्तिकाय नहीं है क्योंकि अनागत-भविष्य काल को उत्पत्ति न होने से, और उत्पन्न का नाश होने से इस काल को प्रदेश समूह नहीं है। (११ से १३)

विना जीवेन पञ्चामी अजीवा कथिताः श्रुते ।

पुद्गलेन विना चामी जिनैरुक्तां अरूपिणः ॥१४॥

जीव बिना के पांच द्रव्य को जिन शास्त्र में अजीव कहा है और पुद्गल बिना के पांचों को 'अरूपी' कहा है। (१४)

धर्मास्तिकायं तत्राह पञ्चथा परमेश्वरः ।

द्रव्यतः क्षेत्रतः काल भावाभ्यां गुणतस्तथा ॥१५॥

द्रव्यतो द्रव्यमेकं स्यात् क्षेत्रतो लोक सम्मितः ।

कालतः शाश्वतो यस्माद् भूद् भाव्यस्ति चानिशम् ॥१६॥

वर्णरूप रसैर्गन्धस्पर्शैः शून्यश्च भावतः ।

गत्युपपृष्ठधर्मश्च गुणतः स प्रकीर्तितः ॥१७॥

स्वभावतः संचरतां लोकेऽस्मिन् पुद्गलात्मनाम् ।

पानीयमिव मीनानां साहाय्यं कुरुते ह्यसौ ॥१८॥

धर्मास्तिकाय के १- द्रव्य परत्व, २- क्षेत्र परत्व, ३- काल परत्व, ४- भाव परत्व और ५- गुण परत्व, इस तरह पांच भेद होते हैं। द्रव्य परत्व एक द्रव्य रूप है, क्षेत्र परत्व लोकाकाश तक है, कालपरत्व शाश्वत है क्योंकि भूतकाल में था, वर्तमान काल में भी है और भविष्य काल में भी रहने वाला है और भाव परत्व वर्ण रूप रस गंध, स्पर्श - इन पांचों से रहित है और गुरु परत्व यह गति में सहायक है, क्योंकि पुद्गल को तथा आत्माओं को यह संचार में सहायता करता है। जैसे जल मछली की सहायता करता है वैसे ही वह सहायता करता है। (१५ से १८)

जीवानामेष चेष्टासु गमनागमनादिषु ।

भाषामनः वचोकाय योगादि एवेति हेतु ताम् ॥१९॥

अस्यासत्त्वाद लोके हि नात्म पुद्गल योगतिः ।

लोकालोक व्ययस्थायि नाभावेऽस्योपपद्यते ॥२०॥

तथा सर्व जीव गमन आगमन आदि कर सकता है - इसमें भी यह हेतु रूप है, तथा वह भाषा और मन, वचन, काया के योग आदि चेष्टाएँ कर सकता है। इसका भी यही कारण है। इस लोक में यदि धर्मास्तिकाय न हो तो वहां आत्मा की अथवा पुद्गल की गति नहीं हो सकती, एवं इसके अभाव में लोक और अलोक की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है। (१९-२०)

द्रव्य क्षेत्र काल भावैर्धर्म भ्रातेव युग्मजः ।

स्यादधर्मास्ति कार्योंऽपि गुणतः किन्तु भिद्यते ॥२१॥

स्थित्यु पष्टम्भकर्ता हि जीव पुद्गलयोरयम् ।

मीनानां स्थलवद्ये नालां के नासौ न तत्स्थितिः ॥२२॥

अयं निषदन स्थान शयनालम्बनादिषु ।

प्रयाति हेतुतां चित्त स्थैर्यादि स्थिरतासु च ॥२३॥

गति स्थिति परिणामे सत्य वै तौ सहायकौ ।

जीवादीनां न चेत्तेषां प्रसज्येते सदापि ते ॥२४॥

अधर्मास्ति काय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव- ये चार परत्व तो जानता है, धर्मास्ति काय का युग्म ही बन्धु समान होता है केवल गुण परत्व में भिन्न है। एक स्थान पर जैसे मछली स्थिर हो जाती है वैसे अधर्मास्तिकाय के कारण जीव और पुद्गल दोनों स्थिरता में आ जाते हैं। यह अधर्मास्तिकाय अलोक में नहीं है। इसलिए वहां जीव अथवा पुद्गल की स्थिति नहीं है। बैठने में, खड़े होने में, सोने में,

आलम्बन में तथा चित्त की स्थिरता में भी यह अधर्मास्तिकाय ही हेतुभूत है। गति और स्थिति का परिणाम होने पर भी यह धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय दोनों जीव और पुद्गल के सहायक हैं। यदि इस तरह न हो तो जीव और पुद्गल गति में हों तो हमेशा गति करते ही रहें और स्थिर रहें तो सदा ही स्थिर रहें। (२१-२४)

भवेदध्मास्ति कायस्नु लोकालोकभिदा द्विधा ।

लोकाकाशास्ति कायः स्यात्तत्रासंख्य प्रदेशकः ॥२५॥

स भाव्य लोकाकाशेन परीत्तऽतिगरीयसा ।

गोलकं मध्य शुषिरं महान्तमनु कुर्वता ॥२६॥

आकाशास्तिकाय १- लोकाकाश और २- अलोकाकाश ये दो भेद हैं। इसमें लोकाकाश असंख्य प्रदेशों का है और इसके अन्दर बिल्कुल पोला एक बड़ा गोला होता है। इसके चारों तरफ आया अत्यन्त विस्तृत अलोकाकाश द्वारा शोभ रहा है। (२५-२६)

‘भगवती सूत्र के ग्यारहवें शतक के ग्यारहवें उद्देश में गौतम के प्रश्न के उत्तर में श्री वीर परमात्मा ने कहा है कि- ‘हे गौतम ! अलोकाकाश पोला गोलाकर समान है।’

असौ च धर्माधर्माभ्यां स्वतुल्याभ्यां सदान्वितः ।

भूपाल इव मन्त्रिभ्यां विभर्ति सकलं जगत् ॥२७॥

आकाशास्तिकाय और अपने समान ही धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय की सहायता द्वारा अखिल जगत् को धारण कर रखा है, जैसे एक राजा ने अपने दो मन्त्रियों की सहायता से जगत् को धारण कर रखा हो वैसे ही आकाशास्तिकाय ने धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के द्वारा जगत् को धारण रखा है। (२७)

अलोकाभ्रं तु धर्माधैर्भावैः पञ्चभिरुञ्जितम् ।

अनेनैव विशेषण लोकाभ्रात् पृथगीरितम् ॥२८॥

अलोकाकाश तो धर्मास्तिकाय आदि पांचों द्रव्य से रहित है और इसी भेद के कारण लोकाकाश से भिन्न है। (२८)

अनन्तस्याप्यस्य पूज्यैर्महत्तायां निदर्शनम् ।

असद् भाव स्थापनया पञ्चमांगे प्रकीर्तितम् ॥२९॥

इस तरह अनन्त अलोकाकाश की विशालता के ऊपर भगवान् महावीर प्रभु ने पांचवें अंग-भगवती सूत्र में काल्पनिक दृष्टान्त कहा है। (२९)

वह इस प्रकार-

तथाहि - सुदर्शनं सुरगिरिं परितो निर्जरा दश ।

केऽपि कौतुकिनः सन्ति स्थिता दिक्षु दशस्वपि ॥३०॥

मानुषोत्तर पर्यन्तेऽष्टासु दिक्षु बहिर्मुखाः ।

बलिपिंडान् दिक्कुमार्यः किरन्त्यष्टौ स्वदिक्ष्वथ ॥३१॥

विकीर्णान् युगपत्ताभिस्तान् पिंडानगतान् क्षितिम् ।

यया गत्या सुरस्तेषामेकः कोप्याहरे द्रयात् ॥३२॥

तया गत्याथ ते देवा अलोकान्त दिदक्ष या ।

गन्तुं प्रवृत्ता युगपद्यदा दिक्षु दशस्वपि ॥३३॥

तदा च वर्षं लक्षायुः पुत्रोऽभूत्कोऽपि कस्यचित् ।

तस्यापि तादृशः पुत्रः पुनस्तस्यापि तादृशः ॥३४॥

कालेन तादृशाः सप्त पुरुषाः प्रलयं गताः ।

ततस्तदस्थिमज्जादि तन्नामापि गतं क्रमात् ॥३५॥

एक बार मेरुपर्वत के आस-पास दस दिशाओं के दस देव कौतूहल को लेकर खड़े हुए । उस समय में मानुषोत्तर पर्वत के शिखर पर रहकर आठ दिक्कुमारियां अपनी-अपनी दिशा में बलिपिंड फैंकने लगीं। दिक्कुमारियों ने इस तरह एक समय में फैंका कि आठ बलिपिण्डों को पृथ्वी पर पड़ने न देकर उन देवों ने एक ही गति द्वारा एक साथ ग्रहण किया । उसी गति द्वारा जब वे देव अलोक के अन्त भाग को देखने की इच्छा को लेकर सभी साथ में दस दिशाओं चले जाते हैं। उस समय में किसी एक मनुष्य को लाख वर्ष के आयुष्य वाला एक पुत्र हुआ, और फिर उसी पुत्र को भी उतनी ही आयुष्य में एक पुत्र हुआ । उस पुत्र के पुत्र का भी इतने ही आयुष्य वाले में एक पुत्र हुआ। इस तरह काल जाते सात पेढी परम्परा हो गयी। अनुक्रम से उनकी अस्थि, रक्षा, मज्जा आदि भी नष्ट हो जाये, उनका नाम भी नष्ट हो जाये। (३० से ३५)

अस्मिंश्च समये कश्चित्सर्वज्ञ यदि पृच्छति ।

स्वामिस्तेषां किमगतं क्षेत्रं किं वा गतं बहु ॥३६॥

तदा वदति सर्वज्ञो गतमत्यं परं बहु ।

अगतस्यानन्ततमो भागोगतमिहोह्यताम् ॥३७॥

उस समय कोई यदि सर्वज्ञ परमात्मा से प्रश्न करे कि- हे स्वामी ! इन देवों

ने जितना क्षेत्र पार किया है वह अधिक है अथवा जो पार करना क्षेत्र अभी शेष है वह अधिक है। तब भगवन्त कहते हैं - जितना क्षेत्र पार किया है वह तो अल्प है, अभी तो इससे बहुत सारा पार करना रह गया है। ऐसा समझना या एक जो पार किया है वह अन्य के अनन्त में विभाग के समान है। (३६-३७)

स्थित्वा सुरोऽपि लोकान्ते नालोके स्वकरादिकम् ।

ईष्टे लम्बयितुं गत्य भावात्पुद्गलजीवयोः ॥३८॥

तथा पुद्गल और जीव अलोक में गमन नहीं कर सकता है अर्थात् लोकान्त में रहा कोई देव भी इस लोक में अपने हाथ पैर आदि लम्बे नहीं कर सकता। (३८) उसे कहते हैं -

तदुक्तम्- वस्तुतस्तु नभोद्रव्यमेकमेवास्ति सर्वगम् ।

धर्मादि साहचर्येण द्विधाजातमुपाधिना ॥३९॥

लोकालोक प्रमाणत्वात् क्षेत्रतोऽनन्तमेव तत् ।

असंख्येय प्रमाण च परं लीक विवक्षया ॥४०॥

वस्तुतः तो यह सर्व व्यापक आकाश द्रव्य एक ही है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के साहचर्य के कारण से ही इसके दो हुए हैं। इसका क्षेत्र लोकालोक के सदृश विस्तार है अर्थात् 'अनन्त' है परन्तु लोकाकाश की विवक्षा से इसका प्रमाण असंख्यात है। (३९-४०)

कालतः शाश्वतं वर्णादिभिमुक्तं च भावतः ।

अवगाह गुणं तच्च गुणतो गदितं जिनैः ॥४१॥

अवकाशे पदार्थानां सर्वेषां हेतुता दधत् ।

शर्कराणां दुग्धमिव वह्नेर्लोहादि गोलवत् ॥४२॥ युग्मम्

काल परत्व यह (आकाश) शाश्वत है। भाव परत्व वर्ण, रूप, रस, स्पर्श, गंध से युक्त है। गुण परत्व अवगाह गुण वाला है। जैसे दूध में शर्कर के लिए अवकाश है और लोहखण्ड आदि के गोल में अग्नि के लिए अवकाश होता है अर्थात् एक अन्य में समा जाता है उसी तरह आकाश में सर्व पदार्थों के लिए अवकाश है अर्थात् इसमें वे समा जाते हैं। (४१-४२)

यतः- परमाण्वादिना द्रव्येणैके नापि प्रपूर्यते ।

खप्रदेशस्तथा द्वाभ्यामपि ताभ्यांतथा त्रिभिः ॥४३॥

अपि द्रव्यशतं मायान्तत्रैवैक प्रदेशके ।

मायात् कोटिशतं मायादपि कोटि सहस्रकम् ॥४४॥

अवगाहं स्वभावत्वादान्तरिक्षस्य तत्समम् ।

चित्रत्वाच्च पुद्गलानां परिणमस्य युक्तिभत् ॥४५॥

कहा है कि परमाणु आदि एक द्रव्य द्वारा एक आकाश प्रदेश पूर्ण हो जाता है, वैसे दो या तीन द्रव्य से भी वही प्रदेश पूर्ण हो जाते हैं । तथा इस प्रकार एक सौ द्रव्य भी उसी आकाश प्रदेश में समा जाते हैं, सौ करोड़ भी समा जाते हैं और हजार करोड़ भी समा जाते हैं । इसी प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणु भी समा जाते हैं । आकाश का अवगाह स्वभाव होने से इसे यह सर्व समान है और पुद्गल के परिणाम विचित्र-होने से इस प्रकार होना युक्ति वाला भी है। (४३-४५)

द्वयोरपि क्रमात् दृष्टान्तौ-

दीप्रदीप प्रकाशेन यथापबर कोदरम् ।

एकेनापि पूर्यते तत् शतमप्यत्र माति च ॥४६॥

तथा- विशत्यौषध सामर्थ्यात् पारदस्यैक कर्षके ।

सुवर्णस्य कर्षशतं तौत्ये कर्षाधिक न तत् ॥४७॥

पुनरौषध सामर्थ्यात्तद्वयं जायते पृथक् ।

सुवर्णस्य कर्षशतं पारदस्यैक कर्षक ॥४८॥

इत्यर्थतो भगवती शतक १३ उ ४ वृत्तो।

पूर्व की दोनों बातों के समर्थन में श्री भगवती सूत्र के तेरहवें शतक चौथे उद्देश में एक-एक दृष्टान्त दिया है- १- एक कमरे के अन्दर विभाग में एक तेजस्वी दीपक का प्रकाश समा जाता है वैसे सौ दीपक का प्रकाश भी समा सकता है। २- औषधी के सामर्थ्य से एक कर्ष प्रमाण पारे में सौ कर्ष प्रमाण सुवर्ण समा जाता है फिर भी उसका ब्रजन एक कर्ष से बढ़ता नहीं है। औषध के सामर्थ्य से पुनः अलग करने पर सुवर्ण सौ कर्ष और पारा एक कर्ष हो जाता है अर्थात् दोनों मूल थे उतने हो जाते हैं। (४६-४८)

किञ्च-धर्मास्तिकायस्तद्देशस्तत्प्रदेश इति त्रयम् ।

एवं त्रयं त्रयं ज्ञेयम धर्माश्चास्ति काययोः ॥४९॥

धर्मास्तिकाय के १- अस्तिकाय (स्कंध), २- इसका देश और ३- इसके प्रदेश - इस तरह तीन भेद होते हैं - अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के भी इसी तरह तीन-तीन भेद होते हैं। (४९)

तत्रास्तिकायः सकल स्वप्रदेशात्मको भवेत् ।

कियन्मात्रांश रूपाश्च तस्य देशाः प्रकीर्तिताः ॥५०॥

अपना सर्व प्रदेश रूप अर्थात् स्कंध (सम्पूर्ण पदार्थ) यह अस्तिकाय है और अल्प प्रदेश रूप (कुछ विभाग) यह देश कहलाता है। (५०)

कहा है कि-

“स्कन्दन्ति शुष्यन्ति पुद्गल विचनेन धीयन्ते च पुष्यन्ते पुद्गल चटनेनेति स्कन्धाः। पृषोदरादयः इति रूप निष्पत्तिः। इति प्रज्ञापना वृत्तौ व्युत्पादितत्वादेते स्कन्धव्यपदेशं नार्हन्ति। अतएव सूत्रे प्रायः धर्मास्थिकाए धर्मास्थिकायस्स देसे इत्याद्येव श्रूयते ॥”

नव तत्त्वावचूरी तु चतुर्दश रज्ज्वात्मके लोके सकलोऽपि यो ।

धर्मास्तिकायः स सर्वः स्कन्धः कथ्यते इत्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥

‘पुद्गल का स्वभाव पूरन-गलन-सड़न है, इससे परमाणु घटने-बढ़ने से सूख जाना वह पोषण स्कंध कहलाता है। प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में इस तरह कहा है ‘स्कंध’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘पृषोदयादय’ यह व्याकरण सूत्र के आधार पर की है। इस तरह व्युत्पत्ति करने से यह ‘स्कंध’ नाम कहलाने के योग्य है। अनन्त पुद्गल परमाणुओं के छोटे समूह को स्कन्ध (सम्पूर्ण पदार्थ) कहते हैं। इससे ही सूत्र में प्रायः धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकाय के देश इत्यादि पाठ ही दिखते हैं। यद्यपि ‘नव तत्त्व’ की अवचूरी टीका में तो ‘चौदह राज्जलोक में जितने भी धर्मास्तिकाय हैं उतने सारे ‘स्कंध’ कहलाते हैं।’ इस तरह कहा है।

निर्विभागा विभागाश्च प्रदेशा इत्युदाहृताः ।

ते चानन्तास्तृतीयस्या संख्येया आद्ययोर्द्वयोः ॥५१॥

पूर्व में अस्तिकाय और देश के विषय में कहा गया है। अब प्रदेश के विषय में कहते हैं - जिसके कभी विभाग न हो सके उस सूक्ष्म विभाग को प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश आकाशास्तिकाय के अनन्त हैं और धर्माधर्मास्तिकाय के असंख्यात हैं। (५१)

अनन्तैश्चागुरु लघु पर्यायैः संश्रिता इमे ।

त्रयोऽपि यदमूर्त्तेषु संभवन्त्येत एव हि ॥५२॥

तथा ये तीनों धर्म, अधर्म, आकाश के अस्तिकाय; अनन्त अगुरु, लघु, पर्यायों से संश्रित हैं क्योंकि अमूर्तों में वही संभव है। (५२)

अथ जीवास्ति कायस्य स्वरूपं वच्मि तस्य च ।

चेतना लक्षणो जीव इति सामान्य लक्षणम् ॥५३॥

अब जीवास्तिकाय के विषय में कुछ स्वरूप कहते हैं - जीव चेतना लक्षण वाला है । यह जीव का सामान्य लक्षण-व्याख्या है । (५३)

मति श्रुतावधिमनपर्याय केवलान्यपि ।

मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंगज्ञानमित्यपि ॥५४॥

अचक्षुश्चक्षुरवधिकेवल दर्शनानि च ।

द्वादशामी उपयोगा विशेषाज्जीव लक्षणम् ॥५५॥ युग्मम् ।

१- मतिज्ञान, २- श्रुतज्ञान, ३- अविधिज्ञान, ४- मनः पर्यवज्ञान, ५- केवलज्ञान, ६- मति अज्ञान, ७- श्रुत अज्ञान, ८- विभंगज्ञान, ९- अचक्षु दर्शन, १०- चक्षु दर्शन, ११- अविधि दर्शन तथा १२- केवल दर्शन - ये बारह प्रकार का जिसको उपयोग हो वह जीवात्मा है। यह जीव का विशेष लक्षण है। इसमें प्रथम पांच ज्ञान सम्यक्त्व के आश्रयी कहे हैं, उसके बाद ६-७-८ ये तीन मिथ्यात्व आश्रयी हैं । (५४-५५)

उपयोगं बिना कोऽपि जीवो नास्ति जगत्त्रये ।

अक्षरानन्त भागो यद्व्यक्तो निगोदिनामपि ॥५६॥

तीन जगत् में उपयोग बिना का कोई भी जीव नहीं है, क्योंकि अक्षर का अनन्तवां भाग निगोद के जीव को भी व्यक्त होता है । (५६)

तं चाक्षरानन्त भागमपि त्रैलोक्यवर्तिनः ।

न शक्नुवन्त्या वरितुं पुद्गलाः कर्मता गता ॥५७॥

तीन लोक में रहे कर्म पुद्गल (स्वयं के एकत्र-संयुक्त बल से भी) इस अक्षर के अनन्तवां भाग का भी आवरण करने में समर्थ नहीं हैं । (५७)

एषेऽप्यत्रियते चेत्तत् स्याज्जीवाजीवयोर्नभित् ।

अक्षरं त्विह साकारे तरोपयोग लक्षणम् ॥५८॥

यदि आवरण में आए तो फिर जीव, अजीव ऐसा भेद नहीं रहता और अक्षर-ज्ञान का तो साकार निराकार का उपयोग रूप लक्षण है। (५८)

खेर्यथातिसान्द्राभ्रच्छन्नस्यापि भवेत्प्रभा ।

कियत्यनावृता रात्रि दिना भेदोऽन्यथा भवेत् ॥५९॥

उदाहरण के तौर पर - सूर्य अत्यन्त प्रगाढ़ बादलों में छिपा हो तो भी

इसकी कुछ प्रभा तो छुपी नहीं ही होती है। नहीं तो रात्रि अथवा दिन की पहचान नहीं होती । (५६)

इयं चाल्पीयसी ज्ञानमात्राद्यसमये भवेत् ।

अपर्याप्त निगोदानां सूक्ष्माणां क्रमतस्ततः ॥६०॥

शेषैकाक्षद्वित्रिचतुष्पंचाक्षादिषु मात्रया ।

वर्धमानेन्द्रिय योगलब्धि वृद्धिव्यपेक्षया ॥६१॥

क्षयोपशम वैचित्र्यात्राना रूपाणि बिभ्रती ।

सर्वज्ञेयग्राहिणी स्याद् धातिकर्म क्षयेण सा ॥६२॥

त्रिभिविशेषकम् ।

यह ज्ञान मात्रा सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद को आद्य क्षण में अत्यन्त अल्प होता है और बाद में क्रमानुसार शेष एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों को विषय वृद्धि होते इन्द्रिय के योग की प्राप्ति होती है और वृद्धि की अपेक्षा से क्षयोपशम की विचित्रता के कारण विविध रूप धारण करता है और धातिकर्म का क्षय होने से सर्वज्ञ रूप में ग्रहण करने वाला होता है। (६० से ६२)

नन्वेवमात्मनो ज्ञानं यदि लक्षणमुच्यते ।

अभेदः स्यात्तदनयोः साम्नावृषभयोरिव ॥६३॥

एवं चास्य सदा ज्ञानमिष्यतेऽखिल वस्तुगम् ।

ज्ञान रूपो न जानातीतेतद्युक्तिः सह न यत् ॥६४॥

कथं च ज्ञान रूपस्थात्मनः स्युः संशयस्तथा ।

अव्यक्त बोधाबोधौ च किञ्चिद् बोधविपर्ययाः ॥६५॥

यह शंका करते हैं कि-जब ज्ञान आत्मा का लक्षण है ऐसा कहोगे तो गल कंबल (बैल आदि पशुओं के गले के नीचे लटकता भाग कंबल) और बैल के समान आत्मा और ज्ञान का अभेद होगा। इस तरह तो आत्मा को सर्व वस्तु के सदा ज्ञान वाला कहते हो और ज्ञान रूप आत्मा यह नहीं जानता यह बात युक्ति युक्त नहीं है, न ऐसा बनता है। तथा 'ज्ञान रूप आत्मा' कहते हैं तो फिर इसे संशय या अप्रकट ज्ञान या अज्ञान अथवा किंचत् ज्ञान या विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है? (६३ से ६५)

अत्रोच्यते- सत्यप्यस्य चिदात्मत्वे नोपयोगो निरन्तरम् ।

भवत्यावरणीयानां कर्मणा वशतः खलु ॥६६॥

यहां शंका का समाधान करते हैं कि- आत्मा ज्ञान रूप होने पर भी वह आवरणीय कर्मों-के वश में होने से उसका निरंतर उपयोग नहीं होता क्योंकि आठ प्रकार के कर्मों में १- ज्ञानावरणीय, २- दर्शनावरणीय, ३- मोहनीय और ४- अन्तराय- ये चार घाति कर्म कहलाते हैं । ये आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों का घात-नाश करने वाले हैं । (६६)

तथाहि- आत्मा सर्व प्रदेशेषुत्वक्त्वां शानष्टमध्यगान् ।

प्रक्वथ्यमानोदकवत् सदा विपरि वर्तते ॥६७॥

ततः स चिरमेकस्मिन्न वस्तुन्युपयुज्यते ।

अर्थान्तरोपयुक्तः स्याच्चपलः कृ कलासवत् ॥६८॥

उत्कर्षेणोपयोगस्य कालोप्यान्त मुहूर्तिकः ।

उपयोगान्तरं याति स्वभावात्तदनन्तरम् ॥६९॥

न सर्वमपि वेद्येष प्राणी कर्मावृतो यथा ।

नार्कस्याभ्राभि भूतस्य प्रसरन्त्यभितः प्रभाः ॥७०॥

यह आत्मा तो मध्य के आठ प्रदेशों के अलावा अन्य सर्व प्रदेशों के विषय में उबलते जल के समान उथल पुथल हुआ करता है और इससे उसे चिरकाल तक एक वस्तु में उपयोग नहीं रहना, परन्तु गिरगिट (छिपकली जैसा जन्तु) समान चपल होकर अन्य-अन्य पदार्थों के विषय में 'उपयुक्त' होता है। यद्यपि यह उपयोग अर्थात् उपयुक्तता का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त का है और उसके बाद तो यह आत्मा पुनः अन्य विषय में उपयुक्त होता है। जैसे बादल से आच्छादित हुए सूर्य की कान्ति सर्वतः नहीं फैलती वैसे ही कर्मों से आच्छादित हुआ सर्व बात को नहीं जान सकता। (६७ से ७०)

संशयाव्यक्त बोधद्या अप्यस्य कर्मणा वशात् ।

कुर्वतां ज्ञान वैचित्र्यं क्षयोपशम भेदतः ॥७१॥

किं च- आभोगाना भोगोद् भव वीर्यवतो तदा क्षयोपशमः ।

लब्धिकरणानुरूपं तदात्मनो ज्ञानमुद्भवति ॥७२॥

वीर्यापगमे च पुनस्तदेव कर्मावृणोत्यपाकीर्णम् ।

शैवल जालमिवाभ्भो दर्पणमिव विमलितं पंकः ॥७३॥

तथा आत्मा को संशय होना, अप्रकट अज्ञान, किंचित् ज्ञान आदि होता है । यह भी क्षयोपशम के भेद से विचित्र ज्ञान उत्पन्न करते कर्मों के यह आत्मा वश में है, इससे होता है और आभोग अथवा अनाभोग से उद्भव हुआ वीर्य यह आत्मा

के विषय में आता है और इसे क्षयोपशम होता है तभी ही इसमें लब्धि (शक्ति) और करण-कार्य के अनुरूप ज्ञान उत्पन्न होता है । परन्तु यह वीर्य जब चला जाय तब समझना कि यही कर्म आत्मा को आवरण करता है । शैवाल जैसे जल को और कीचड़ जैसे निर्मल दर्पण को आवरण करता है वैसे यह आत्मा को करता है । (७१ से ७३)

इस तरह शंका का समाधान करते हैं । अब प्रस्तुत विषय कहते हैं -

अथ प्रकृतम्-

द्विधा भवन्ति ते जीवाः सिद्ध संसारि भेदतः ।

सिद्धा पंचदश विधास्तीर्थातीर्थादि भेदतः ॥७४॥

उस जीव के दो भेद होते हैं - १- सिद्ध और २- संसारी। उसमें सिद्ध के तीर्थ अतीर्थ आदि पंद्रह भेद होते हैं । अतः कहा है कि-

जिण अजिण तित्थतित्था गिहि अन्नस लिंग थी नर नपुंस ।

पत्तेय सयं बुद्धा बुद्धवोहिक्कणिक्काय ॥

१- जिन सिद्ध- तीर्थकर पदवी प्राप्तकर मोक्ष में जाते हैं । २- अजिन सिद्ध- सामान्य केवली बनकर मोक्ष जाना। ३- तीर्थ सिद्ध-तीर्थकर के केवल ज्ञान की प्राप्ति के बाद मोक्ष जाने वाला । ४- अतीर्थकर- तीर्थकर को केवल ज्ञान प्राप्त होने के पहले मोक्ष जाने वाले । ५- गृहिलिंग सिद्ध- गृहस्थ रूप में से मोक्ष जाना। ६- अन्यलिंग सिद्ध- सन्यासी- तापस आदि वेश से मोक्ष जाना । ७- स्वलिंग सिद्ध- साधुपने में से मोक्ष जाना। ८- स्त्री सिद्ध- स्त्री वेद वाला मोक्ष जाना। ९- पुरुष सिद्ध- पुरुष वेद वाले जीव का मोक्ष में जाना। १०- नपुंसक सिद्ध- नपुंसक रूप में मोक्ष जाना। ११- प्रत्येक बुद्ध सिद्ध- कोई भी पदार्थ देखकर प्रतिबोध प्राप्त कर चारित्र लेकर मोक्ष जाना। १२- स्वयं बुद्ध सिद्ध- गुरु के उपदेश बिना स्वयं अपने आप जाति स्मरण आदि से प्रतिबद्ध होकर मोक्ष जाना। १३- बोध बोधित सिद्ध- गुरु के उपदेश द्वारा वैराग्य प्राप्त कर मोक्ष जाना। १४- एक सिद्ध- एक समय में एक ही मोक्ष जाना और १५- अनेक सिद्ध- एक समय में अनेक मोक्ष जाना । (७४)

जीवन्तीति स्मृता जीवा जीवनं प्राणधारणम् ।

ते च प्राण द्विधा प्रोक्ता द्रव्यभाव विभेदतः ॥७५॥

जो जीता है उसे जीव कहते हैं जीना अर्थात् प्राण होना - धारण करना। वह प्राण दो प्रकार का है - द्रव्यप्राण और भाव प्राण। (७५)

सिद्धनामिन्द्रियोच्छ्वासादयः प्राण न यद्यपि ।

ज्ञानादि भाव प्राणानां योगाज्जीवास्तथाप्यमी ॥७६॥

सिद्धों को यद्यपि इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास रूप प्राण नहीं है अर्थात् द्रव्य प्राण नहीं है, फिर भी उनको ज्ञान आदि भाव प्राण होता है। अतः वे भी जीव कहलाते हैं । (७६)

अलोकस्खलिताः सिद्धालोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः ।

इह संत्यज्य देहादि स्थितास्तत्रैव शाश्वताः ॥७७॥

अलोक से स्खलित होने से अर्थात् अलोक में गति-गमन न होने से वे लोक के अग्र भाग में रहते हैं । शरीर आदि को यहां त्याग कर वे शाश्वत स्थान में ही रहते हैं । (७७)

ते ज्ञानावरणीयाद्यै मुक्ताः कर्मभिरष्टभिः ।

ज्ञान दर्शन चारित्राद्यनन्ताष्टक संयुताः ॥७८॥

वे सिद्धात्मा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों से मुक्त होते हैं और ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आठ अनन्त वस्तुओं से युक्त हैं । (७८)

तथोक्तं गुण स्थान क्रमारोहे

अनन्तं केवल ज्ञानं ज्ञानावरण संक्षयात् ।

अनन्तं दर्शनं चापि दर्शनावरण क्षयात् ॥७९॥

क्षायिके शुद्ध सम्यक्त्व चारित्रे मोह निग्रहात् ।

अनन्ते सुखवीर्ये च वेद्यविघ्नक्षयात्क्रमात् ॥८०॥

आयुषः क्षीण भावत्वात् सिद्धानामक्षया स्थितिः ।

नाम गोत्रा क्षयादेवा मूर्त्तानन्तावगाहना ॥८१॥

रोगं मृत्यु जराद्यर्त्तिहीना अपुनरुद्भवाः ।

अभावात्कर्म हेतुनां दग्धे बीजे हि नांकुर ॥८२॥

गुण स्थान क्रमारोह नामक ग्रन्थ में कहा है कि- ज्ञान आवरण के क्षय होने से अनन्त केवल ज्ञान और दर्शन होता है। मोह के विनाश से क्षायिक शुद्ध सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त होता है। वेदनीय और अन्तराय कर्मों का क्षय होने से अनुक्रम से अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्राप्त होता है। आयुर्कर्म क्षीण होने से अक्षय स्थिति प्राप्त होती है। तथा नाम कर्म और गोत्र कर्म के क्षय से अनन्त अवगाहना होती है। कर्म के हेतुओं के अभाव से जन्म जरा मृत्यु आदि के दुःख खतम हो जाते हैं, अतः उसे

पुनः जन्म धारण नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब बीज ही जल जाता है तो फिर अंकुर की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती। (७६ से ८२)

यावन्मात्रं नरक्षेत्रं तावन्मात्रं शिवास्पदम् ।

यो यत्र प्रियते तत्रैवोर्ध्वं गत्वा स सिद्धयति ॥८३॥

उत्पत्योर्ध्वं सम श्रेण्या लोकान्तरस्तैरलंकृतः ।

यत्रैकस्तत्र तेऽनन्ता निर्बाधा सुखमासते ॥८४॥ युगम् ।

जितने विस्तार में मनुष्य का क्षेत्र है उतने ही (पैंतालीस लाख योजन) मोक्ष का स्थान है। जो जहां मृत्यु प्राप्त करता है वह वहां से सम श्रेणि में ऊँचे जाकर सिद्ध होता है। इन सिद्धों से ही लोक का अग्रभाग शोभ रहा है। जितने में एक रह सकता है उतने में ये अनंत भी बाधा रहित सुख पूर्वक रह सकते हैं। (८३-८४)

तथोक्त तत्त्वार्थ भाष्ये

कृत्स्न कर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधि गच्छति ।

यथा दग्धेन्धनो वह्निः निरूपादान सन्ततिः ॥८५॥

तदनन्तरमेवोर्ध्वंमालोकान्तात्स गच्छति ।

पूर्वं प्रयोगा संगत्वबन्धच्छेदोर्ध्वं गौरवैः ॥८६॥

कुलाल चक्रे दोलायामिधौ चापि तथेष्यते ।

पूर्वं प्रयोगात्कर्मैह तथा सिद्धगतिः स्मृता ॥८७॥

तत्त्वार्थ भाष्य में कहा है कि इंधन जल जाने से उपादान कारण गया अर्थात् अग्नि जैसे निर्वाण प्राप्त करता है- शान्त हो जाता है वैसे कर्म सर्व जल जाने से- क्षीण होने से आत्मा निर्वाण प्राप्त करता है और उसके बाद ही आत्मा- १- पूर्व प्रयोग द्वारा, २- आसंग छोड़ देने से, ३- बंधन छेदन करने और ४- अपना उर्ध्वगामी स्वभाव द्वारा अन्तिम लोकान्त तक उच्चे जाता है। तथा पूर्व प्रयोग से कुंभार के चक्र झूला-हिंडोले और बाण के समान गति सदृश सिद्ध गति समझना। (८५-८७)

मृत्लेप संग निर्मोक्षाद्यथा दृष्टाप्स्वलाबुनः ।

कर्म संग विनिर्मोक्षात्तथा सिद्ध गतिः स्मृता ॥८८॥

एरंडयन्त्र पेडासु बन्धच्छेदाद्यथा गतिः ।

कर्म बन्धन विच्छेदात् सिद्धस्यापि तथेष्यते ॥८९॥

मिट्टी के लेप का संग छोड़ने से जैसे तूबडा पानी के ऊपर तैरता है वैसे ही

गति रूप कर्मों का संग छोड़ने से सिद्धों की गति समझना। रेंडी में, यन्त्र में और पेडापुट में बन्धन छोड़ने से जैसी गति करता है वैसे ही कर्म बन्धन के छेदन करने से सिद्ध की गति समझना। (८८-८९)

व्याघ्रपाद बीज बन्धनच्छेदात् यन्त्र बन्धनच्छेदात् पेडा बन्धनच्छेदात् च गतिर्दृष्टा मिंजा काष्ठा पेडा पुटानाम् एवं कर्म बन्धन विच्छेदात् सिद्धस्य गतिः इति भावः।

रेंडी के बीज के बंधन छेदन करने से, यंत्र के बंधन छेदन करने से तथा पेडा के बन्धन के छेदन से बीज, काष्ठ और पेडा पुट के समान उछलकर ऊँचा जाने रूप गति होती है, उसी तरह ही कर्म बन्धन के छेदन होने से सिद्धों की गति समझना। ऐसा भावार्थ है।

ऊर्ध्व गौरवधर्माणो जीवा इति जिनोत्तमैः ।

अधोगौरव धर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥६०॥

'ऊर्ध्वगमन एवं गौरवं धर्मः स्वभावो जीवानाम्। पुद्गलास्तु अधोगमन धर्माण इति सर्वज्ञवचनम् इति भावः।'

जिन भगवान के वचन हैं कि जीव ऊर्ध्व गति परिणाम वाला है और पुद्गल अधोगति परिणाम वाला है अर्थात् ऊर्ध्व गमन करना यही जीव का स्वरूप है और अधोगमन यह पुद्गलों का स्वभाव है ऐसा सर्वज्ञ भगवन का वचन है। ऐसा भावार्थ है। (६०)

यथाघस्तीर्यगूर्ध्वं च लोष्ट्रवाय्वग्नि वीतयः ।

स्वभावतः प्रवर्तन्ते तथोर्ध्वगतिरात्मनः ॥६१॥

अवस्तु गति वैकृत्यमेषां यदुपलभ्यते ।

कर्मण प्रतिघातच्च प्रयोगाच्चा तदिष्यते ॥६२॥

अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः ।

ऊर्ध्वमेव तु तद्धर्मा भवति क्षीण कर्मणाम् ॥६३॥

पत्थर आदि वजनदार वस्तुओं का स्वभाव अधो गमन है, वायु का स्वभाव तिर्यग् गमन है और अग्नि की ज्वाला का स्वभाव ऊर्ध्व गमन है; वैसे ही आत्मा का भी अनादि स्वभाव ऊर्ध्व गमन है। इसलिए कभी किसी समय में इसके स्वभाव में विकार मालूम हो तो वह कर्म के प्रतिघात से और प्रयोग से समझना। जीव की तिर्छी, ऊर्ध्व अथवा अधो गति होना वह उसके कर्मों के ही कारण है। स्वाभाविक ऊर्ध्व गति तो जिसके कर्मों का क्षय होता है उसकी ही होती है। (६१ से ६३)

तत्रापि गच्छतः सिद्धिं संयतस्य महात्मनः ।

सर्वैर्गैर्विनिर्याति धेतनस्तनुपंजरत् ॥६४॥

जब सिद्ध की गति प्राप्त करने वाले संयमी महात्मा के प्राण निकलते हैं तब वह सर्व अंगों में से निकलते हैं । (६४)

तदुक्त स्थानांग पंचम स्थानके

पंचविहे जीवस्स णिजाण मग्गे पन्नत्ते। पाएहिं ऊरूहिं उरेणं सिरेणं सव्वंगेहिं॥
पाएहिं निजायमाणे निरयगामी भवति। उरूहिं निजाय माणे तिरियगामी भवति। उरेणं
निजायमाणे मणुयगामी भवति। सिरणं निजायमाणे देवगामी भवति। सव्वंगेहिं
निजायमाणे सिद्धिगति पज्जवसाणे पणत्ते॥

स्थानांग सूत्र के पाचवें स्थानक में कहा है कि- जीव के निकलने के पांच द्वार हैं । जीव- पैर से, उरु-जंघा से, हृदय से, मस्तक या सर्व अंगों से निकलता है। पैर से जीव निकले तो नरक गामी, उरु से निकले तो तिर्यंच, हृदय से निकले तो मनुष्य, मस्तक से निकले तो देवगति तथा सर्वांग से निकले तो सिद्धिगामी होता है।

भवोपग्राहि कर्मान्तक्षण एवं स सिद्धयति ।

उदगच्छन्न स्पृशद् गत्या ह्यचिन्त्या शक्तिरात्मनः ॥

संसार में जकड़कर रखने वाले कर्मों का ही क्षण में अंत आता है । उसी क्षण में बीच रहे प्रदेशों को स्पर्श किए बिना ऊँचे चढ़कर सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मा की अचिन्त्य शक्ति है।

अत्र च अस्पृशन्ती सिद्धयन्तराल प्रदेशान् गतिर्यस्य सः अस्पृशद्गति। अन्तराल प्रदेश स्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिरिष्यते। तत्र च एक एव समयः अतः अन्तराले समयान्तरस्या भावात् अन्तराल प्रदेशानाम् असंस्पर्शनम् इति औपपातिक सूत्र वृत्तौ॥
अवगाढ प्रदेशेभ्यः अपराकाश प्रदेशेषु तु अस्पृशन् गच्छति इति महाभाष्यवृत्तौ॥
यावत्सु आकाश प्रदेशेषु इह अवगाढः तावतः एवं प्रदेशान् ऊर्ध्वमपि अवगाहमानः गच्छति इति पंच संग्रह वृत्तौ॥ तत्त्वं तु केवलं गम्यम् ॥

सिद्धि पहुँचने के मार्ग में जो प्रदेश आते हैं उसे स्पर्श किए बिना चला जाय वह 'अस्पृशत् गति' कहलाती है। बीच के प्रदेशों को स्पर्श करते जाये तो वह सिद्धि स्थान पर समय में नहीं पहुँचता। और यहां तो केवल एक ही समय लगता है, बीच में अन्य समय का अभाव है, इसीलिए ही कहा है कि बीच के प्रदेशों का स्पर्श नहीं करता है। यह बात औपपातिक सूत्र की वृत्ति में कही है। महाभाष्य की वृत्ति में 'जीव अवगाढ किए प्रदेशों के सिवाय के अन्य आकाश प्रदेशों को स्पर्श

किए बिना जाता है।' ऐसे शब्द हैं। पंच संग्रह की वृत्ति में तो इस तरह कहा है कि- 'जितने आकाश प्रदेशों के अवगाह कर जीव यहां रहता है उतने ही आकाश प्रदेशों को ऊर्ध्व जाते अवगाह करते जाता है।' तत्त्व तो इसमें केवली गम्य है।

एकस्मिन्समये चोर्ध्व लोके चत्वार एव ते ।

सिद्ध्यन्त्युत्कर्षतो दृष्टमधोलोके मतत्रयम् ॥६५॥

विंशतिर्द्वाविंशतिश्च चत्वारिंशदिति स्फुटम् ।

उत्तराध्ययने संग्रहण्यां च सिद्ध प्राभूते ॥६६॥

एक समय में ऊर्ध्व लोक में से उत्कृष्ट चार ही सिद्ध होते हैं। अधोलोक के लिए तीन भिन्न-भिन्न मत है। उत्तराध्ययन सूत्र में बीस की संख्या कही है। संग्रहणी में बाईस कही हैं तथा सिद्ध प्राभूत में चालीस कही हैं। (६५-६६)

'बीस अहे तहेव इति उत्तराध्ययने जीवाजीव विभक्त्यध्ययने॥ उद्बुहोतिरिय लोए चउवा वीसदु सयं इति संग्रहण्याम् ॥ वीसं पहुत्तं अहोलोए इति सिद्ध प्राभूते॥ तद्वीकायां विंशति पृथक् त्वं द्वे विंशती इति॥'

अधोलोक में से बीस - इस तरह उत्तराध्ययन सूत्र के जीवाजीव विभक्ति नामक अध्ययन में पाठ आता है। ऊर्ध्वलोक में से चार, अधोलोक में से बाईस और तिर्यक् लोक में से एक सौ आठ इस तरह संग्रहणी में पाठ है। 'अधोलोक में से दो बीस' इस तरह सिद्ध प्राभूत में पाठ है। बीस पृथक्त्व अर्थात् दो बीस-चालीस इस तरह उसकी टीका में कहा है।

अष्टोत्तर शतं तिर्यग् लोकं च द्वौ पयोनिधौ ।

नदीनदादिके शेष जले चोत्कर्षतस्त्रयः ॥६७॥

विंशतिश्चैक विजये चत्वारो नन्दने वने ।

पंडके द्वावष्ट शतं प्रत्येकं कर्म भूमिषु ॥६८॥

प्रत्येकं सहरणतो दशाकर्म महीष्वपि ।

पंच चाप शतोच्चौ द्वौ चत्वारो द्विकरांगक ॥६९॥

जघन्योत्कृष्ट देहानां मानमेतन्निरूपितम् ।

मध्यांगास्त्वेक समये सिद्ध्यन्त्यष्टोत्तरं शतम् ॥१००॥

उत्कृष्ट तिर्यक् लोक में से १०८, समुद्र में से दो और नदी नदादिक शेष जलाशय में से तीन सिद्ध होता है। उत्कृष्ट एक विजय में बीस, नंदन वन में से चार, पंडकवन में से दो और प्रत्येक कर्मभूमि में से १०८ सिद्धि होती है। देवता आदि

संहरण के कारण प्रत्येक अकर्म भूमि में से भी दस सिद्ध होते हैं। पांच सौ धनुष्य की काया वाले उत्कृष्ट से दो ही सिद्ध होते हैं। दो हाथ की काया वाले उत्कृष्ट चार सिद्ध गति में जाते हैं। यह सारा उत्कृष्ट और जघन्य शरीर वाले के विषय में समझना। मध्यम शरीर मान वाले तो एक समय में एक सौ आठ सिद्ध पद करते हैं । (६७ से १००)

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योस्तार्त्तीपाक तुरीययोः ।

अरयोरष्ट सहितं सिद्धयन्त्युत्कर्षतः शतम् ॥१०१॥

यत्तु अस्या अवसर्पिण्याः तृतीयारक प्रान्ते श्री ऋषभ देवेन सहाष्टोत्तरं शतं सिद्धाः तदाश्चर्यं मध्ये अन्तर्भवतीति समाधेयम् ॥

विंशतिश्चावसर्पिण्याः सिद्धयन्ति पंचमेऽरके ।

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः शेषेषुदश संहताः ॥१०२॥

उत्सर्पिणी के तीसरे और अवसर्पिणी के चौथे आरे में उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते हैं । इस अवसर्पिणी के तीसरे आरे के अन्तिम श्री ऋषभ देव के साथ में एक सौ आठ सिद्ध हुए थे। इस विषय एक आश्चर्यभूत हुआ है। इस तरह समाधान करना । अवसर्पिणी के पांचवें आरे में बीस और दोनों के शेष आराओं में दस सिद्ध होते हैं। (१०१-१०२)

पुवेदेभ्यः सुरादिभ्यश्चयुत्वा जन्मन्यनन्तरे ।

भवन्ति पुरुषाः केचित् स्त्रियः केचिन्नपुंसकाः ॥१०३॥

स्त्रीभ्योऽपि देव्यादिभ्यः स्युरेव त्रैधा महीस्पृशः ।

क्लीवेभ्यो नारकादिभ्योऽप्येवं स्युर्मनजास्त्रिधा ॥१०४॥

पुरुष वेद वाले देव आदि च्यवन कर अन्य जन्म लेते हैं । उसमें कई पुरुष होते हैं, कई स्त्री होती हैं और कोई नपुंसक भी होते हैं । स्त्री वेद वाली देवी आदि से नपुंसक वेद वाली नारकी आदि से भी इसी तरह से तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। (१०३-१०४)

नवस्वेषु भंगेषु पुंभ्यः स्युः पुरुषाहि ये ।

सिद्धयन्त्यष्टोत्तर शतं तेऽन्ये दश दशाखिला ॥१०५॥

इस तरह इसके नौ विभाग होते हैं । इसमें जो पुरुष वेद पुरुष होते हैं वही एक सौ आठ सिद्ध होता है और शेष सब दस दस सिद्ध होते हैं । (१०५)

दशान्याभिक्षुनेपथ्याश्चत्वारो गृहि वेषकाः ।

सिद्धयन्त्यष्टोत्तरशतं मुनि नेपथ्य धारिणः ॥१०६॥

विंशतियोधितः किं च पुमांसोऽष्टोत्तर शतम् ।

एकस्मिन्समये क्लीवाः सिद्धयन्ति दस नाधिका ॥१०७॥

एक सौ आठ स्वलिङ्ग में दस अन्यभिक्षुलिङ्ग और चार गृहस्थ लिङ्ग में सिद्ध हुए हैं और एक समय में स्त्रीलिङ्ग बीस, पुरुषलिङ्ग में एक सौ आठ तथा नपुंसक लिङ्ग से उत्कृष्ट दस होते हैं । इससे अधिक नहीं होते। (१०६-१०७)

एक समये अष्टोत्तर शत सिद्धि योग्यता संग्रहश्चैवम्

तिर्यग् लोके क्षपित कलुषाः कर्मभूमि स्थलेषु ।

जाता वैमानिक पुरुषतो मध्यमांग प्रमाणः ॥

सिद्धयन्त्यष्टाधिकमपि शतं साधुवेषाः पुमांसः ।

तार्तीयके नियतमरके चिन्त्येता वा तुरीये ॥१०८॥

एक समय में एक सौ आठ कौन कौन सिद्धि के योग्य हो सकते हैं ? इन सब का संग्रह इस प्रकार - तिर्यक लोक में और कर्म भूमियों में प्रत्येक में एक सौ आठ सिद्धि के योग्य होते हैं । वैमानिक पुरुष वेद से उत्पन्न हुए मध्यम अंग प्रमाण वाला तथा साधु वेषधारी- इन तीनों में से भी प्रत्येक में से एक सौ आठ सिद्धि के योग्य होते हैं । तथा उत्सर्पिणी के तीसरे आरे में और अवसर्पिणी के चौथे आरे में भी इतनी संख्या के सिद्धि के योग्य होते हैं । (१०८)

यत्रैको निर्वृतः सिद्धस्तत्रान्ये परिनिर्वृताः ।

अनन्ता नियमाल्लोक पर्यान्त स्पर्शिनः समे ॥१०९॥

जहां एक सिद्ध रहते हैं वहां उतनी ही अवगाहना में अन्य भी अनंत सिद्ध रहे हैं, और ये सर्व लोक के अग्र भाग में स्पर्श करके रहे हैं । (१०९)

अयमर्थ- सम्पूर्णमेका सिद्धस्यावगाह क्षेत्रमाश्रिताः ।

अनन्ताः पुनरन्ये च तस्यैकेकं प्रदेशं कम् ॥११०॥

समाकथ्यावगाहाः स्युः प्रत्येकं तेऽप्यनन्ताः ।

एवं परे द्वित्रिचतुः पंचाष्टांशाभिवृद्धिताः ॥१११॥ युगम् ।

कहने का भावार्थ यह है कि- एक सिद्ध में सम्पूर्ण अवगाह किए क्षेत्र के अन्दर अनन्त सिद्धात्मा रह सकते हैं - रहते हैं और इससे उपरांत अन्य भी इससे कम बहुत एक-एक प्रदेश के आश्रित रहे हैं, वे भी अनन्त हैं । इसी तरह अन्य भी दो, तीन, चार, पांच आदि बढ़ते हुए अंशों के आश्रित रहे, अनन्त हैं । (११०-१११)

तथा-सिद्धाव गाह क्षेत्रस्य तस्यैकैकं प्रदेशकम् ।

त्यक्त्वा स्थितारस्तेऽप्यनन्ता एवं द्वयादि प्रदेशकान् ॥११२॥

तथा सिद्ध के अवगाह क्षेत्र के एक-एक प्रदेश को छोड़कर जा रहे हैं, वे भी अनन्त हैं। इसी तरह दो, तीन आदि प्रदेशों को छोड़कर रहे हैं। वे भी अनन्त हैं। (११२)

एवं च- प्रदेश वृद्धि हानिभ्यां येऽवगाढा अनन्तकाः ।

पूर्ण क्षेत्रवगाढेभ्यः स्युस्तेऽसंख्य गुणाधिकाः ॥११३॥

इसी तरह से प्रदेश ज्यादा अथवा कम जो अनन्त सिद्ध अवगाही रूप में रहे हैं, वे पूर्ण क्षेत्र अवगाही में रहे सिद्ध से असंख्यात अधिक हैं। (११३)

ततश्च- एकः सिद्धः प्रदेशैः स्वैः समग्रैरति निर्मलैः ।

सिद्धाननन्तान् स्पृशाति च्चवगाढैः परस्परम् ॥११४॥

तेभ्योऽसंख्यगुणान् देशप्रदेशैः स्पृशति ध्रुवम् ।

क्षेत्रावगाहनाभेदैरन्योऽन्यैः पूर्वदर्शितै ॥११५॥

इस प्रकार से एक सिद्ध अपने अत्यन्त निर्मल और परस्पर अवगाह सर्व प्रदेशों से अनन्त सिद्धों का स्पर्श कर सकता है और इससे असंख्य गणाओं के पूर्वदर्शित अन्य-अन्य कम ज्यादा क्षेत्रावगाहना के भेदों को लेकर देश प्रदेशों से स्पर्श करता है। (११४-११५)

तथोक्तं प्रज्ञापनायां औपपातिके आवश्यके च

फुसइ अणान्ते सिद्धे सब्बपए सेहिं नियमसो सिद्धो ।

ते वि असंखिज्ज गुणा देसपए सेहिं जे पुट्ठा ॥

प्रज्ञापना सूत्र में उब्वाइ सूत्र में तथा आवश्यक सूत्र में भी इस बात का समर्थन करते हैं - सिद्ध का जीव निश्चय से सर्व प्रदेशों से अनन्त सिद्धों को स्पर्श करते हैं और इनका भी देश प्रदेशों से जिसका स्पर्श किया है, ऐसे असंख्य सिद्धों का स्पर्श करता है।

अशरीर जीवघना ज्ञान दर्शन शालिना ।

साकारेण निराकारेणोपयोगेनलक्षिताः ॥११६॥

ज्ञानेन केवलेनैते कलयन्ति जगत्रयीम् ।

दर्शनेन च पश्यन्ति केवले नैव केवलाः ॥११७॥ युग्मम् ॥

यहां सिद्ध का जीव अशरीर-शरीर बिना का है, केवल जीव रूप है, ज्ञान और दर्शन से युक्त है, साकार उपयोग-ज्ञान और निराकार उपयोग-दर्शन द्वारा लक्षित है, वे तीन जगत् के केवल ज्ञान से जानते हैं और केवल दर्शन से देखते हैं। (११६-११७)

पूर्वभवाकारस्यान्यथा व्यवस्थापनाच्छुपिरपूर्त्या ।
संस्थानमनित्थंस्थं स्यादेषामनियताकारम् ॥११८॥

केनचिद् लौकिकेन स्थितं प्रकारेण निगदि तुम शक्यम् ।
अतएव व्यपदेशो नैषां दीर्घादि गुण वचनैः ॥११९॥

खोखलापन पूर्ण करने से इनका पूर्व जन्म का आकार बदल जाता है, उनका भिन्न प्रकार का अनिश्चय आकृति वाला 'संस्थान' होता है। यह संस्थान कोई ऐसा अलौकिक प्रकार से होता है कि वह वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकते हैं और इससे ही उनका दीर्घ-ह्रस्व आदि गुणवाचक शब्दों द्वारा वर्णन नहीं कर सकते हैं। (११६-११९)

आगम में भी कहा है कि "तथाहुः- से न दीहे। से न हस्से। से न वट्टे। इत्यादि" अर्थात् यह सिद्ध का जीव दीर्घ नहीं है, ह्रस्व नहीं है, वृद्धि भी प्राप्त नहीं करता। इत्यादि।

ननु- संस्थानं ह्याकारः स ऋथममूर्तस्य भवति सिद्धस्य ।
अत्रोच्यते- परिणाम वत्यमूर्तेऽप्यसौ भवेत्कुम्भनभ सीव ॥१२०॥
पूर्वभव भावि देहाकारमपेक्ष्येव सिद्ध जीवस्य ।
संस्थानं स्यादौपाधिकमेव न वास्तवं किञ्चित् ॥१२१॥

यहां कोई शंका करता है कि- संस्थान अर्थात् आकार यह अमूर्त- अशरीर ऐसा सिद्ध के जीव को कैसे हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं कि- एक कुंभ में के आकार में - घटाकाश में जैसे आकार होता है वैसे परिणामी अमूर्त में भी आकार संभव है। पूर्व जन्म के देहाकार अपेक्षी को ही सिद्ध के जीवों का औपाधिक संस्थान होता है। वास्तविक कुछ नहीं होता। (१२०-१२१)

तथाहुरावश्यक निर्युक्ति कृत :

ओगाहणाइ सिद्धा भवति भागेण हुंति परिहीणा ।
संठाणमणित्थंत्थं जरामरण विप्पमुक्काणं ॥
उत्ताणओ व पासिल्लओ व अहवा निसन्नओ चेव ।
जो जइ करेइ कालं सो तह उववज्जाए सिद्धो ॥

इह भवभिन्नगारो कम्मवसाओ भवतरे होइ ।
 नय तं सिद्धस्स तओ तंमीतो से तयागारो ॥
 जं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरम समयम्मि ।
 आसी अ पएसघणं तं संठाणं तहिं तस्स ॥

इस विषय में आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति टीका में कहा है कि सिद्ध के जीवों की अवगाहना करते पूर्व जन्म से तीसरा विभाग कम होता है अर्थात् पूर्व जन्म के दो तृतीयांश होता है। इस तरह जरा मृत्यु से मुक्त सिद्धों का संस्थान होता है। जीव सोया हो, खड़ा हो अथवा बैठा हो, जिस स्थिति में रहे, काल धर्म प्राप्त करे, उसी ही स्थिति में सिद्धत्व रूप में उत्पन्न होता है। यहां भी फिर कोई शंका करता है कि- जीव का इस जन्म में जैसा आकार होता है, इससे भिन्न आकार अगले जन्म में होता है वह कर्म के वश से होता है, परन्तु सिद्ध का तो कोई कर्म ही नहीं रहा तो फिर सिद्ध का वैसा आकार ही किस तरह होता है ? इसका उत्तर देते हैं कि- इस जन्म में च्यवन के समय में चरम-अन्तिम समय में जो संस्थान होता है वैसा ही प्रदेश धन संस्थान उनका वहां भी होता है।

शतानि त्रीणि धनुषां त्रयस्त्रिंशद्दन्तूषि त्र ।
 धनुस्त्रिभागश्च परा सिद्धानामवगाहना ॥१२२॥
 जघन्याष्टांगुलोपेत हस्तमाना प्ररूपिता ।
 जघन्योत्कृष्टयोरन्तराले मध्या त्वनेकधा ॥१२३॥
 षोडशांगुलयुक्ता या मध्या कर चतुष्टयी ।
 आगमे गीयते सर्वमध्यानां सोपलक्षणम ॥१२४॥

सिद्धों के जीव की उत्कृष्ट अवगाहना ३३३ $\frac{1}{3}$ धनुष्य प्रमाण की होती है। जघन्य अवगाहना एक हाथ और आठ अंगुल की होती है। मध्यम अर्थात् उत्कृष्ट और जघन्य के बीच की अवगाहना अनेक प्रकार की होती है। आगम में मध्यम अवगाहना चार हाथ और सोलह अंगुल की कही है। वह सर्व मध्यम के उपलक्षण से अर्थात् तीर्थकर की जघन्य अवगाहना के अपेक्षी कही है। (१२२ से १२४)

प्राच्ये जन्मनि जीवानां या भवेदवगाहना ५
 तृतीय भागन्यूना सा सिद्धानामवगाहना ॥१२५॥

अन्तिम मनुष्य जन्म में जीव की जो अवगाहना होती है उसका दो तृतीयांश भाग सिद्ध की अवगाहना होती है।

उत्कृष्टा च भवे प्राच्ये धनुः पंच शतीमिता ।

मध्यमा च बहुविधा जघन्या हस्तयोर्द्वयम् ॥१२६॥

जघन्या सप्त हस्तैव जिनेन्द्राणामपेक्षया ।

त्र्यंशोनत्वे किलौतासां ताः स्युः सिद्धावगाहनाः ॥१२७॥ यगम् ।

पूर्व जन्म में वह उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य की हो, मध्यम अनेक प्रकार की हो और जघन्य दो हाथ की हो अथवा जिनेश्वर भगवन्त की अपेक्षा से जघन्य सात हाथ की हो, उस अवगाहनाओं का दो तृतीयांश ही उन सिद्धों की अवगाहना होती है। यह अभिप्राय औपपातिक उपांग का है। (१२६-१२७)

एतद्भिप्रेत्यैव औपपातिकोपांगे उक्तम्

जीवाणं भन्ते सिञ्ज्यमाणा कथरं मि उच्चान्ते सिञ्जन्ति ।

गोअम जहण्णेणं सत्तरयणीए उक्कोसेणं पंचधणु सइए सिञ्जन्ति ॥

मरु देवा कथं सिद्धा नन्वेवं जननी विभोः ।

साग्र पंचाचापशतोत्तुंगा नाभि समोच्छ्रया ॥१२८॥

संघयणं संठाणं उच्चत्तं चैव कुलगरेहिं समम् इति वचनात् ॥

अत्र उच्यते - स्त्रियो ह्युत्तमंसं स्थानाः पुंसः कालार्हसंस्थितेः ।

किंचिदन प्रमाणाः स्युर्नाभेरु नोच्छ्रयेति सा ॥१२९॥

गज-स्कन्धाधिरूढत्वान्मनाक्संकुचितेति वा ।

पंचशापशतोच्चैव सेति किंचिन्न दूषणम् ॥१३०॥

अयं च भाष्य कृदभिप्रायः ॥

यहां शंका करते हैं कि- जब 'उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य की काया वाले सिद्धि प्राप्त करते हैं' इस तरह कहते हैं तो प्रथम तीर्थंकर की माता मरुदेवी जो नाभिराजा पांच सौ धनुष्य से अधिक ऊँचे थे, वह किस तरह सिद्ध हो सकता है? 'संहनन, संस्थान तथा ऊँचाई कुलकरों के समान होती है' इस शास्त्र वचन के अनुसार निश्चय ही मरु देवी माता नाभिराज जितने ऊँचे थे । इस शंका का समाधान इस तरह करते हैं - मरु देवी नाभिराजा से कम ऊँचाई वाली थीं क्योंकि स्त्रियों की कितनी भी ऊँचाई हो परन्तु उन पुरुषों की अधिक से अधिक उच्चार में कम ही होती है। अथवा हाथी के स्कंध पर चढ़ने से वह जरा संकोच युक्त थे इसलिए उनका अधिक मान न होने पर भी पांच सौ धनुष्य ही थे । इस तरह समझना। यह अभिप्राय भाष्यकार का है। (१२८ से १३०)

संग्रहणी वृत्यधिप्रायस्त्वयम्

यदिदमागमे पंच धनुः शतान्तुत्कृष्टं मानयुक्तं तद्वाहुल्यात्। अन्यथा एतद् धनुः पृथक्त्वैः अधिकमपि स्यात् तच्च पंच विंशत्यधिक पंचधनुः शतरूपं बोद्धव्यम्॥ सिद्ध प्राभृतेऽपि उक्तम्-

ओगाहणा जहण्णा रयणि दुगं अह पुणाइ उक्कोसा ।

पंचेव धणुसयाइं धणुअ पुहुत्तेण अहिया इति ॥

एतद् वृत्तिश्च- प्रथकत्व शब्दः अत्र बहुत्व वाची । बहुत्वं चेह पंचविंशतिरूपं द्रष्टव्यमिति ॥

इस सम्बन्ध में संग्रहणी की टीका में तो इस तरह कहा है कि- आगम में जो पांच सौ धनुष्य का उत्कृष्ट मान कहा है वह अधिकतः इस तरह होता है, ऐसा कहा है। यदि इस प्रकार न हो तो वह माप कभी धनुष्य के भिन्न रूप में लेकर पांच सौ से अधिक अर्थात् उदाहरण रूप में पांच सौ पच्चीस धनुष्य भी हो सकता है। टीका में इस तरह कहा है कि-पृथकत्व शब्द बहुत्ववाची है और यह बहुत्व अर्थात् 'पच्चीस धनुष्य' समझना।

आद्य संहनना एवं सिद्धयन्ति न पुनः परे ।

संस्थानानां त्वनियमस्तेषु षट्स्वपि निर्वृत्तिः ॥१३१॥

प्रथम संघयण वाले अर्थात् वज्र ऋषभ नाराच संघयण वाले ही सिद्ध होते हैं, अन्य नहीं। संस्थान के सम्बन्ध में कुछ नियम नहीं है। छः संस्थानों में सिद्ध होते हैं ।

संहनन अर्थात् संघयण- शरीर का बन्धन ग्रन्थि या शरीर का संधि स्थान छः प्रकार का है - १- वज्र ऋषभ नाराच, २- ऋषभ नाराच, ३- नाराच, ४- अर्ध नाराच, ५- कीलिका और ६- सेवार्ता। सिद्ध में जाने वाला सर्व श्रेष्ठ प्रथम संघयण होता है। संस्थान अर्थात् शरीर की आकृति देवताओं की 'समचतुरस्र' चारों कोने से समान होती है। समचतुरस्र के सिवाय अन्य आकृतियां- १- हुंडक (बाघ मेष) २- ध्वज, ३- सुई, ४- बुलबुला, ५- मसर की दाल और ६- चन्द्र समान होते हैं। देव के बिना अन्य सर्व जीवों की इन छः में से एक आकृति होती है। (१३१)

पूर्व कोटयायुरू कर्षात् सिद्धयेन्नाधिक जीविनः ।

जघन्यान्नववर्षायुः सिद्धयेन्न न्यून जीविनः ॥१३२॥

आयुष्य के सम्बन्ध में कहते हैं - उत्कृष्ट करोड़ पूर्व के आयुष्य वाला हो

तो वह सिद्धि पद प्राप्त करता है, इससे अधिक वाला सिद्ध नहीं होता! जघन्य नौ वर्ष के आयुष्य वाला सिद्ध होता है, इससे कम आयुष्य वाला नहीं होता । (१३२)

द्वात्रिंशदंता एकाधाश्रेत् सिद्धयन्ति निरन्तरम् ।

तदाष्ट समयान् यावन्नवमे त्वन्तरं ध्रुवम् ॥१३३॥

अष्टचत्वारिंशदन्तास्त्रयस्त्रिंशन्मुखा यदि ।

सिद्धयन्ति समयान् सप्त ध्रुवमन्तरमष्टमे ॥१३४॥

एकोन पंचाशदाद्याः षष्टयन्ता यदि देहिनः ।

सिद्धयन्ति समयान् षट् वै सप्तमे त्वन्तरं भवेत् ॥१३५॥

एक षष्टि प्रभृतयो यावद् द्वासप्तति प्रभाः ।

सिद्धयन्ति समयान् पंच षष्ठे त्ववश्यमन्तरम् ॥१३६॥

त्रिसप्ततिप्रभृतयश्चतुर शीतिसीभकाः ।

चतुरः समयान् यावत् सिद्धयन्त्यग्रेतनेऽन्तरम् ॥१३७॥

पंचाशीत्याद्याः क्षणां स्त्रीन् यान्त्याषण्णवति शिवम् ।

क्षणौ सप्तनवत्याद्या द्वौ च द्वयाद्यशतावधि ॥१३८॥

त्रयाधिक शताद्याश्चेत् यावदष्टोत्तरं शतम् ।

सिद्धयन्ति चैक समयं द्वितीयेऽवश्यमन्तरम् ॥१३९॥

एक से लेकर बत्तीस तक अन्तर पड़े बिना सिद्ध हो तो आठ समय में होता है। नौवें समय में तो अन्तर पड़ता ही है । तैंतीस से लेकर अड़तालीस तक सिद्ध होते हैं तो सात समय में होता है और आठवें समय में अन्तर पड़ता है । उनचास से साठ की संख्या तक सिद्ध होते हैं तो छः समय तक में होता है और सातवें समय में अन्तर पड़ता है । एकसठ से बहतर तक पांच समय तक में सिद्ध होते हैं । छठे समय में अवश्य अन्तर पड़ता है। तिहतर से लेकर चौरासी तक सिद्ध होते हैं उसमें चार समय लगता है, पाचवें समय में अन्तर पड़ता है। पचासी से लेकर छियासी तक सिद्ध हों तब तीन समय में होता है और सत्तासी से एक सौ दो तक दो समय में सिद्ध होता है । एक सौ तीन से एक सौ आठ तक एक समय में सिद्ध होते हैं, दूसरे समय में अवश्य अन्तर पड़ता है। (१३३ से १३९)

जघन्यमन्तरं त्वेक समयं परमं पुनः ।

षण्मासान्नास्ति सिद्धानां च्यवनं शाश्वता हि ते ॥१४०॥

सिद्ध के जीवों को सिद्ध रूप उत्पन्न होने में जघन्य अन्तर एक समय का है,

उत्कृष्ट छः महीने तक होता है। सिद्धों का च्यवन नहीं होता क्योंकि वे सदा शाश्वत होते हैं । (१४०)

सर्वस्तोका क्लीव सिद्धास्तेभ्यः संख्य गुणाधिकाः।

स्त्रीसिद्धा पुनरेभ्यः पुं सिद्धाः संख्य गुणाधिकाः ॥१४१॥

नपुंसक सिद्ध सर्व से अल्प है, स्त्रीलिंग से सिद्ध हुए हैं उससे संख्यात गुना हैं और पुरुषलिंग सिद्ध उससे संख्यात गुना हैं । (१४१)

सर्वस्तोका दक्षिणस्यामुदीच्यां च मिथः समाः ।

प्राच्यां संख्यगुणाः पश्चिमायां विशेषतोऽधिकाः ॥१४२॥

दक्षिण दिशा में सर्व से अल्प संख्या में सिद्ध हुए हैं, उत्तर में दक्षिण जितने ही सिद्ध हुए हैं, पूर्व दिशा में इससे संख्यात गुणा है और पश्चिम दिशा में इससे अधिक विशेष रूप में सिद्ध हुए हैं । (१४२)

न तत्सुखं मनुष्याणां देवानामपि नैव तत् ।

यत्सुखं सिद्ध जीवानां प्राप्तनां पदमव्ययम् ॥१४३॥

त्रै कालिकानुत्तरान्त निर्जराणां त्रिकालजम् ।

भुक्तं भोग्यं भुज्यमानमनन्तं नाम यत्सुखम् ॥१४४॥

पिण्डीकृतं तदैक त्रानन्तैर्वर्गैश्च वर्गितम् ।

शिव सौख्यस्य समतां लभते न कदाचन ॥१४५॥

सर्वाद्वा पिण्डितः सिद्ध सुख राशिर्विकल्पतः ।

अनन्त वर्ग भक्तोऽपि न मायाद् भुवनत्रये ॥१४६॥

अव्यय पद को प्राप्त करने वाले सिद्ध के जीवों को जो सुख होता है वह मनुष्यों को अथवा देवों को कुछ भी नहीं होता । अन्तिम अनुत्तर विमान तक के तीन काल के देवों का भोगा हुआ, भोगा जाता और भविष्यकाल में भोगने वाले का जो त्रिकालिक अनन्त सुख है उसे एक स्थान पर एकत्रित करके अनन्त वर्ग किया जाय तो फिर भी मोक्ष सुख के बराबर नहीं आता अथवा विकल्प से सिद्ध के सर्व सुखों को एकत्रित करके इसका अनन्त वर्गमूल निकालने में आए तो वह तीन जगत् में समावेश नहीं हो सकता है। (१४३ से १४६)

वर्ग विभागश्चैवम

स्युः षोडशचतुर्भक्ताश्चत्वारो वर्गभागतः ।

द्वावेव परिशिष्येते च्चारोऽपि द्विभिजिताः ॥१४७॥

सोलह के चार वर्ग से भाग (गुणा) करने से चार भागाकार (हिस्सा) करने में आता है, चार का भी दो भाग करने से दो ही बचते हैं । (१४७)

सुखस्य तस्य माधुर्यं कलयन्नपि केवली ।
 वक्तुं शक्नोति नो जग्धगुडादेहिवत् ॥१४८॥
 यथेप्सितान्नपानादि भोजनानन्तरं पुमान् ।
 तृप्तः सन् मन्यते सौख्यं तृप्तास्ते सर्वदा तथा ॥१४९॥
 एवमापात मात्रेण दृश्यते तन्निदर्शनम् ।
 वस्तुतस्तु तदा ह्लादोपमानं नास्ति विष्टपे ॥१५०॥
 औपम्यस्याप्य विषयस्ततः सिद्धं सुखं खलु ।
 यथा पुरसुखं जज्ञे म्लेच्छवाचाम गोचरः ॥१५१॥

इन सिद्ध के सुख की मधुरता केवली भगवन्त स्वयं जानते हैं, फिर भी मिष्ट पदार्थ भोजन करने वाले गूंगे मनुष्य के समान अन्य के सामने वर्णन नहीं कर सकते हैं । केवल मन वांछित भोजन से तृप्त बना पुरुष जो सुख मानता है वैसा ही सुख सिद्ध के जीव को म्रदा रहता है। मोक्ष सुख का यह किंचित् मात्र दिग्दर्शन है, वस्तुतः तो इसके आह्लाद-प्रसन्नता का अखिल जगत् में कोई उपमान-उपमा ही नहीं है । वास्तविक सिद्ध का सुख तो एक नगर में सुख का जैसे एक सामान्य मनुष्य से वर्णन नहीं हो सकता, वैसे किसी से वर्णन नहीं हो सकता है। (१४८-१५१)

तथा चाहुः- म्लेच्छः कोऽपि महारण्ये वसति स्म निराकुलः ।
 अन्यदा तत्र भूपालो दुष्टाश्चेन प्रवेशितः ॥१५२॥

म्लेच्छेनासौ नृपा दृष्ट सत्कृतश्च यथोचितम् ।
 प्रापितेश्च-निजं देशं सौऽपि राज्ञा निजं पुरम् ॥१५३॥
 ममायमुपकारीति कृतो राज्ञाति गौरवात् ।
 विशिष्ट भोगभूतीनां भाजनं जनपूजितः ॥१५४॥
 तुंगप्रासाद श्रृंगेषु रम्येषु काननेषु च ।
 वृतो विलासिनी वृन्दैर्भुक्ते भोग सुखान्यसौ ॥१५५॥
 अन्यदा प्रावृषः प्राक्तौ मेघाऽम्बरमम्बरे ।
 दृष्ट्वा मृदंगमधुरैर्गर्जितैः केकिनर्तनम् ॥१५६॥
 जातोत्कंठो दृढं जातोऽरण्यवास गमं प्रति ।
 विसर्जितश्च राज्ञापि प्राप्तोऽरण्यमसौ ततः ॥१५७॥

पृच्छन्त्वरण्य वासास्तं नगरं तात कीदृशम् ।

परं नगरं वस्तूनामुपमाया अभावतः ॥१५८॥

न शशाकतमां तेषां गदितुं स कृतोद्यमः ।

एवमत्रोपमाभावात् वक्तुं शक्यं न तत्सुखम् ॥१५९॥

वह दृष्टान्त इस प्रकार है- कोई साधारण पुरुष सुखपूर्वक जंगल में रहता था। एक समय किसी राजा को उसका घोड़ा विपरीत चलकर वन ले आया। राजा को देखकर उसने उसका यथोचित सत्कार किया और उसको वापिस नगर में पहुंचा दिया। राजा ने भी उसको प्रत्युपकारार्थ अपने नगर में रखा। अपना उपकारी समझकर उसका सम्मान किया और उत्तम प्रकार के भोजन आदि वैभव से उसे संतुष्ट किया। नागरिकों ने भी उसका सत्कार किया। वहां रहकर वह राजमहल के झरोखे और मनोहर उद्यानों में विलासिनी स्त्रियों के साथ में सुख भोगते रहने लगा। एक समय वर्षा ऋतु के दिन आए। उसमें आकाश के विषय में मेघाडम्बर तथा मृदंग के समान मधुर टहुका करते मोर को नृत्य करते देखकर उसे अपने पूर्व के अरण्य में जाने की दृढ़ उत्कंठा जागृत हुई। अतः राजा ने भी उसे जाने की आज्ञा दी और वह अपने वन में गया। वहां वनवासियों ने उसे पूछा 'भाई! नगर कैसा था?' परन्तु उस नगर की वस्तुओं की कोई भी उपमा वन में नहीं दिखने से वह किसी भी प्रकार से नगर सुख का वर्णन नहीं कर सका। इसी तरह उपमा के अभाव से सिद्ध के सुखों का भी वर्णन करना अशक्य है। (१५२ से १५९)

सिद्धा बुद्धा गताः पारं परं पारंगता अपि ।

सर्वा मनागतामद्धां तिष्ठन्ति सुखलीलया ॥१६०॥

बुद्ध अर्थात् ज्ञानी और पारंगत सिद्ध के जीव परम्परा से सर्व भविष्य काल में भी सुख और आनंद में रहते हैं। (१६०)

अरूवा अपि प्राप्त रूप प्रकृष्टा,

अनंगा स्वयं ये त्वनंग द्रुहोऽपि ।

अनन्ताक्षराश्चोञ्जिता शेष वर्णाः ।

स्तुमस्तान् वचोऽगोचरान् सिद्ध जीवान् ॥१६१॥

सिद्धों के जीव का रूप नहीं होने पर, मोक्ष पद प्राप्त करने से उत्कृष्ट रूप वाले हैं, अशरीर होने पर अनंग का द्रोह करने वाले, अनन्ताक्षर अर्थात् अनंत अक्षर

ज्ञान वाले होने पर भी सर्व वर्ण- अक्षर से रहित, अवर्णनीय सिद्ध के जीवों की हम स्तुति करते हैं । (१६१)

इति सिद्धाः ॥ (इस तरह से सिद्ध का स्वरूप कहा)

विश्वाश्चर्यद कीर्ति कीर्तिविजय श्री वाचकेन्द्रान्तिष
द्राज श्री तनयोऽत्तनिष्ठ विनयः श्री तेजपालात्मजः।

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,
सर्गो निर्गलितार्थ सार्थसुभगः पूर्णो द्वितीयः सुखम् ॥१६२॥

सारे जगत् को आश्चर्य में मग्नगूल करने वाली कीर्ति युक्त कीर्तिविजय उपाध्याय के अन्तेवासी-शिष्य, माता राजश्री और पिता तेजपाल के सुपुत्र, विनयविजय जी ने इस जगत् के तत्त्वों को प्रकाशित करने में दीपक समान काव्यग्रंथ रचना की है । उसके अन्दर से प्रगट हुए अनेक अर्थों के कारण मनहरण करने वाला दूसरा सर्ग निर्विघ्न समाप्त हुआ । (१६२)

॥ इति द्वितीयः सर्गः ॥

तृतीयः सर्ग

अथ संसारि जीवाना स्वरूपं वर्णयाम्यहम् ।

द्वारैः सप्तत्रिंशता तान्यमूनिस्स्युर्यथाक्रमम् ॥१॥

पूर्व में सिद्धात्मा का स्वरूप कहा अब मैं संसारी जीवों का स्वरूप सैंतीस द्वार से वर्णन करता हूँ। वे सैंतीस द्वार अनुक्रम से इस प्रकार हैं । (१)

भेदाः स्थानानि पर्याप्तिः संख्ये योनि कुलाश्रिते ।

योनीनां संवृतत्वादि स्थितौ च भव काययोः ॥२॥

देह संस्थानांगमान समुद्घाता गतागती ।

अनन्तराप्तिः समये सिद्धिलेश्या दिगाहती ॥३॥

संहननानि कषायाः संज्ञेन्द्रिय संज्ञितास्तथा वेदाः ।

दृष्टिर्ज्ञानं दर्शनमुपयोगाहार गुण योगाः ॥४॥

मानं लघ्वल्प बहुता सैवान्या दिग्पेक्षया ।

अन्तरं भव संवेधो महाल्प बहुतापि च ॥५॥

१- भेद, २- स्थान, ३- पर्याप्ति, ४- योनि संख्या, ५- कुल संख्या, ६- योनियों का संवृतत्व आदि, ७- भव स्थिति, ८- काय स्थिति, ९- देह, १०- संस्थान, ११- अंगमान, १२- समुद्घात, १३- गति, १४- आगति, १५- अनन्तराप्ति, १६- समय सिद्धि, १७- लेश्या, १८- दिगाहार, १९- संघयण, २०- कषाय, २१- संज्ञा, २२- इन्द्रिय, २३- संज्ञित, २४- वेद, २५- दृष्टि, २६- ज्ञान, २७- दर्शन, २८- उपयोग, २९- आहार, ३०- गुण, ३१- योग, ३२- मान, ३३- लघु अल्प बहुता, ३४- दिगाश्री अल्प बहुता, ३५- अन्तर, ३६- संवेध और ३७- महा अल्प बहुता। संसारी जीव का स्वरूप है । वह अनुक्रम कहते हैं । (२-५)

भेदा इह प्रकाशः स्युर्जीवानां स्व स्व जातिषु ।

समुद्घात निज स्थानोपपातः स्थानकं त्रिधा ॥६॥

प्रथम द्वार - 'भेद' अपनी अपनी जाति के विषय में जीव के जो प्रकार हैं उनका नाम भेद है । दूसरा द्वार 'स्थान' समुद्घात, निज स्थिति और उत्पत्ति इस तरह तीन प्रकार के स्थान कहलाते हैं । (६)

पर्याप्ता व्यपदिश्यन्ते यामिः पर्याप्तयस्तु ताः ।

पर्याप्तापर्याप्त भेदादत एव द्विधांगिनः ॥७॥

तीसरा द्वार पर्याप्त है। जिसको लेकर जीव पर्याप्त कहलाता है उसका नाम पर्याप्त है। इसी कारण ही प्राणि के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद हैं। (७)

पर्याप्तयः स्वयोग्या यैः सकलाः साधिताः सुखम् ।

पर्याप्त नाम कर्मानुभावात्पर्याप्त कास्तु ते ॥८॥

जिन्होंने अपने-अपने योग्य सर्व पर्याप्तियां साधन की हों वे पर्याप्त नाम कर्म के अनुभाव से पर्याप्त (सम्पूर्ण पर्याप्ति वाला) कहलाते हैं। (८)

द्वि धामी लब्धि करण भेदात् त्रिदि मास्तु ये ।

समाप्य स्वाहं पर्याप्तीर्घ्नियन्ते नान्यथा ध्रुवम् ॥९॥

करणानि शरीराक्षादीनि निर्वर्तितानि यैः ।

ते स्युः करण पर्याप्ताः करणानां समर्थनात् ॥१०॥

पर्याप्त दो प्रकार का है - लब्धि पर्याप्त और करण पर्याप्त। अपने योग्य पर्याप्तियों को सम्पूर्ण करके मरता है, सम्पूर्ण किए बिना नहीं मरता; उसकी लब्धि पर्याप्त है और जिसने अपनी शरीर इन्द्रिय आदि का करण निर्वर्तन किया है, अर्थात् सम्पूर्ण रूप में समर्थ किया है वह करण पर्याप्त है। (९-१०)

अपर्याप्ता द्विधाः प्रोक्ता लब्ध्या च करणेन च ।

द्वयोर्विशेषं श्रृणुत भाषितं गणधारिभिः ॥११॥

असमाप्य स्वपर्याप्तीर्घ्नियन्ते येऽल्पजीविताः ।

लब्ध्यांते ते स्युर पर्याप्ता यथा निः स्वमनोरथाः ॥१२॥

निर्वर्तितानि नाद्यापि प्राणिभिः करणानि यैः ।

देहाक्षादीनि करणा पर्याप्तास्ते प्रकीर्तिताः ॥१३॥

अपर्याप्त भी दो प्रकार की है - लब्धि अपर्याप्त और करण अपर्याप्त। इन दोनों में अन्तर इस तरह है - जिसकी अल्प आयुष्यवाला होने के कारण निर्धन के मनोरथ के समान अपनी पर्याप्त पूर्ण किए बिना मृत्यु हो जाये वह लब्धि अपर्याप्त कहलाता है, और जो अपना शरीर तथा इन्द्रिय आदि करण सम्पूर्ण खिले (विकसित) बिना मृत्यु प्राप्त करते हैं उसका करण अपर्याप्त कहलाता है। (११ से १३)

घ्नियन्तेऽल्पायुषो लब्ध पर्याप्ता इह येऽङ्गिनः ।

तेऽपि भूत्वैव करण पर्याप्तानान्यथा पुनः ॥१४॥

लब्धि अपर्याप्त वाला जीव अल्पायु में मृत्यु प्राप्त करता है, वह भी करण

पर्याप्त होकर ही अर्थात् शरीर इन्द्रियादि सम्पूर्ण समर्थ होने के बाद ही मृत्यु प्राप्त करता है। (१४)

याहारादि पुद्गला नामादान परिणामयोः ।

जन्तोः पर्याप्ति नामोत्था शक्तिः पर्याप्तिरत्र सा ॥१५॥

पर्याप्ति का भावार्थ यह है- प्राणियों के आहारादि पुद्गलों को ग्रहण करने और ग्रहण करके वापिस परिणाम की जो शक्ति है उसका नाम पर्याप्ति है। (१५)

पुद्गलोपचयादेव भवेत्सा सा च षड्विधा ।

आहारांगेन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा मनोऽभिधाः ॥१६॥

यह पर्याप्ति पुद्गलों के संचय से ही होती है और वह छः प्रकार से है -
१- आहार पर्याप्ति, २- शरीर पर्याप्ति, ३- इन्द्रिय पर्याप्ति, ४- श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति,
५- भाषा पर्याप्ति और ६- मनः पर्याप्ति। (१६)

तत्रैषाहार पर्याप्तिर्यथादाय निजोचितम् ।

पृथक्खल रसत्वेनाहारं परिणतिं नयेत् ॥१७॥

प्राणी अपनी जिस शक्ति से उचित आहार ग्रहण करके फिर इसमें से मल और रस दोनों की अलग परिणति-पुष्टि करे वह आहार पर्याप्ति है। (१७)

वैक्रियाहार कौदारिकांग योग्यं यथोचितम् ।

तं रसीभूतमाहारं यथा शक्त्या पुनर्भवी ॥१८॥

रस सुम्मांस मेदोऽस्थिषज्ज शुक्रादि धातु ताम् ।

नयेद्यथा सम्भवं सा देह पर्याप्तिरुच्यते ॥१९॥ युग्मम्।

प्राणी अपनी जिस शक्ति द्वारा अपनी वैक्रिय, आहारक अथवा औदारिक शरीर के योग्य आहार लेकर, वह आहार रस रूप होता है, उसमें से रुधिर, मांस, मज्जा, शुक्र आदि धातु परिणाम रूप उत्पन्न हों, उस शक्ति का नाम 'शरीर' पर्याप्ति है। (१८-१९)

धातुत्वेन परिणतादाहारादिन्द्रियोचितात् ।

आदाय पुद्गलांस्तानि यथास्थं प्रविधाय च ॥२०॥

इष्टे तद्विषयज्ञप्ती यथा शक्त्या शरीरवान् ।

पर्याप्तिः सेन्द्रियाव्हाणा दर्शिता सर्वदर्शिभिः ॥२१॥

इस तरह इन्द्रिय की योग्यता अनुसार लिये हुए आहार की धातु बनकर उस धातु में से पुद्गलों को लेकर, उनको यथास्थित करके, प्राणी अपनी जिस शक्ति

द्वारा इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान-जानकारी प्राप्त करता है, वह शक्ति 'इन्द्रिय पर्याप्ति' कहलाती है। (२०-२१)

इति संग्रहणी वृत्त्यभिप्रायः ॥ 'यह अभिप्राय संग्रहणीकार ने कहा है।'

प्रज्ञापना जीवाभिगम प्रवचन सारोद्धार वृत्यादिषु तु यया धातु तथा परिणामितमाहार मिन्द्रिय तथा परिणामयति सा इन्द्रिय पर्याप्तिः इति एतावदेवदृश्यते॥

पत्रवणा, जीवाभिगम और प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति आदि ग्रंथो में तो इतना ही शब्द कहा है 'आहार में से धातु बनने के बाद इसमें से इन्द्रिय परिणाम हो, ऐसी प्राणी की शक्ति इन्द्रिय पर्याप्ति कहलाती है।'

ययोच्छ्वासाहमादाय दलं परिणामय्य च ।

तत्तयालम्ब्य मुंचेत्सोच्छ्वास पर्याप्तिरुच्यते ॥२२॥

इस धातु में से प्राणी जिस शक्ति द्वारा उच्छ्वास के उचित दल लेकर परिवर्तन करे, ऐसा आलम्बन ले और छोड़े उसे उच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं। (२३)

ननु देहोच्छ्वासनाम कर्मभ्यामेव सिद्ध्यतः ।

देहोच्छ्वासौ किमेताभ्यां पर्याप्तिभ्यां प्रयोजनम् ॥२३॥

यहां शंका उपस्थित होती है कि देह और उच्छ्वास दोनों जब देह नामकर्म और उच्छ्वासनाम कर्म से ही सिद्ध होते हैं तब इन दो पर्याप्तियों की क्या आवश्यकता है ? (२३)

अत्रोच्यते पुद्गलानां गृहीतानामिहात्मना ।

साध्या परिणतिर्देहतया तत्राम कर्मणा ॥२४॥

आरब्धांग समाप्तिस्तु तत्पर्याप्त्या प्रसाध्यते ।

एव भेदः साध्य भेदादेह पर्याप्ति कर्मणो ॥२५॥

एवमुच्छ्वासलब्धिः स्यात्साध्या तत्राम कर्मणा ।

साध्यमुच्छ्वास पर्याप्तिस्तस्या व्यापारणं पुनः ॥२६॥

सतीमप्युच्छ्वास लब्धिमुच्छ्वास नाम कर्मजाम् ।

व्यापारयितुमीशः स्यात्तत्पर्याप्त्यैव नान्यथा ॥२७॥

सतीमपि शरक्षेपशक्तिं नैव भटोऽपि हि ।

विना चापादान शक्तिं सफलीकर्तुमीश्वरः ॥२८॥

यहां शंका का समाधान करते हैं कि- आत्मा द्वारा ग्रहण किए पुद्गलों का जो देह रूप परिणाम है वह इसका नामकर्म के द्वारा साध्य है और आरंभ किए अंग की समाप्ति इसकी पर्याप्ति द्वारा साधन होती है, इस तरह साध्य भेद के कारण देह नाम कर्म और पर्याप्ति नाम कर्म दोनों भिन्न हैं। इसी तरह से उच्छ्वास लब्धि भी उच्छ्वास नामकर्म से साध्य भी होती है और इस लब्धि का व्यापार उच्छ्वास पर्याप्ति से होता है। इस तरह उच्छ्वास लब्धि यद्यपि 'उच्छ्वास नाम कर्म' से उत्पन्न हुई है फिर भी इसको व्याप्त करने के लिए तो उच्छ्वास पर्याप्ति ही होनी चाहिए, दूसरी नहीं। क्योंकि दृष्टान्त रूप है कि एक सुभट में तीर फेंकने की शक्ति तो है परन्तु वह होने पर भी अपादान शक्ति अर्थात् उस तीर को पहले ही ग्रहण करने की शक्ति होनी चाहिये। वह शक्ति न हो तो उस सुभट का यह कार्य सफल नहीं होता। (२४ से २८)

भाषार्हं दलमादाय गीस्त्वं नीत्वावलम्ब्य च ।

यया शक्त्या त्यजेत्प्राणी भाषा पर्याप्तिरित्य सौ ॥२६॥

धातु में से भाषा के योग्य दल लेकर इसक्रे वचन- रूप बदल दे और अवलम्बन लेकर जिस शक्ति द्वारा प्राणी इसे वापिस रखे, वह शक्ति भाषा पर्याप्त कहलाती है। (२६)

दल लात्वा मनोयोग्यं तत्तां नीत्वावलम्ब्य च ।

यया मनन शक्तः स्यान्मनः पर्याप्तिरत्र सा ॥३०॥

जिस आहार में से धातु बना है उससे और मन योग्य दल लेकर इस रूप में रूपान्तर करना, अवलम्बी प्राणी मनन करने की शक्तिमान हो - इस शक्ति का नाम मनः पर्याप्ति है। (३०)

प्रियन्ते येऽप्यपर्षासाः पर्याप्तित्रयमादि मम् ।

पूर्णा कृत्यैव न पुनरन्यथा सम्भवेन्मृतिः ॥३१॥

प्राणी मृत्यु प्राप्त करे तो यह हमेशा छः पर्याप्ति पूर्ण करके ही मृत्यु प्राप्त करता है - ऐसा तो नहीं कह सकते परन्तु उससे पहले तीन पर्याप्ति तो पूर्ण करनी ही होती है, उसके बाद ही मृत्यु संभव है। (३१)

तथाहि- पर्याप्ति त्रय युक्तोऽन्तर्मुहूर्तेनायुरग्रिमम् ।

बद्धा ततोऽन्तरमुहूर्तप्रबाधान्तस्य जीवति ॥३२॥

क्योंकि तीन पर्याप्तियां पूर्ण की हों तभी प्राणी अन्तर्मुहूर्त-में आगामी भव का आयुष्य बंधन करता है और अन्तर्मुहूर्त तक अब्बाधा काल तक जीता है। (३२)

ततो निबद्धायुर्योग्या याति तां गतिमन्यथा ।

अबद्धायुरनापूर्णं तदाबाधो व्रजेत्स्व स ॥३३॥

इस तरह आयुष्य-बांधकर ही मरकर प्राणी योग्य गति में जाता है। आयुष्य बन्धन किए बिना और अबाधाकाल पूर्ण किये बिना जाता भी नहीं है। (३३)

तथोक्त प्रज्ञापना वृत्तौ-

यस्मादागामि भवायुर्बद्ध्वा प्रियन्ते सर्वदेहिनो नाबद्ध्वा । तच्च शरीरेन्द्रिय पर्याप्तिभ्यां पर्याप्तानां बन्धमायाति नापर्याप्तानाम् ॥

प्रज्ञापना सूत्र-पत्रवणसूत्र में भी कहा है कि- सर्व प्राणी मात्र आगामी जन्म का आयुष्य बांधकर ही मरता है, उसके बिना नहीं मरता। वह आयुष्य बन्धन भी जिसने शरीर और इन्द्रिय-पर्याप्त पूर्ण की हों उसे ही प्राप्त होता है, अन्य को नहीं होता।

समयेभ्यो नवभ्यः स्यात्प्रभृत्यन्तर्मुहूर्तकम् ।

समयोनि मुहूर्तान्तमसंख्यातविधं यतः ॥३४॥

ततः सूक्ष्म क्षमादीनामन्तर्मुहूर्तं जीविनाम् ।

अन्तर्मुहूर्तानेकत्वमिदं संगतिमंगति ॥३५॥ युग्मम् ।

कम से कम नौ समय अर्थात् 'अन्तर्मुहूर्त' में एक समय जहां तक कम हो वहां तक यह 'अन्तर्मुहूर्त' असंख्य प्रकार का कहलाता है और इससे अन्तर्मुहूर्त तक जीते सूक्ष्म पृथ्वी कार्यो का अन्तर्मुहूर्त अनेकत्व वाला कहलाता है। वह योग्य है। (३४-३५)

उत्पत्तिक्षण एवैता स्वाः स्वा युगपदात्मना ।

आरभ्यन्ते संविधातुं समाप्यन्ते त्वनुक्रमात् ॥३६॥

तद्यथा- आदावाहार पर्याप्तिस्ततः शरीर संज्ञिता ।

ततइन्द्रिय पर्याप्तिरेव सर्वा अपि क्रमात् ॥३७॥

आत्मा अपनी-अपनी इन सब पर्याप्तियों को एक ही समय में - उत्पत्ति समय में ही बनाने लगता है और फिर अनुक्रम समाप्त करता है। वह इस प्रकार- पहले आहार पर्याप्ति समाप्त करे, फिर शरीर पर्याप्ति समाप्त करता है, उसके बाद इन्द्रिय संज्ञिता अर्थात् इन्द्रिय पर्याप्ति समाप्त करता है। इस तरह अनुक्रम से छः पर्याप्ति समाप्त करता है। (३६-३७)

तत्रैकाहार पर्याप्तिः समाध्ये तादिमे क्षणे ।

शेषां असंख्य समय प्रमाणान्तर्मुहूर्त्ततः ॥३८॥

आहार पर्याप्ति प्राणी प्रथम क्षण में ही समाप्त करता है, शेष पांच रहे हुआ को असंख्यात समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त में समाप्त करता है। (३८)

अनुक्रमोऽयं विज्ञेय औदारिक शरीरिणाम् ।

वैक्रियाहारकवतां ज्ञातव्योऽयं पुनः क्रमः ॥३९॥

एका शरीर पर्याप्तिर्जायतेऽन्तर्मुहूर्त्ततः ।

एकैक क्षण वृद्धयातः समाप्यन्ते पराः पुनः ॥४०॥

यह अनुक्रम औदारिक शरीर वाले को समझना। वैक्रिय और आहारक शरीर वालों की तो केवल शरीर पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त्त में होती है। शेष पांच एक-एक क्षण देरी में समाप्त होती हैं। (३९-४०)

निष्पत्ति कालः सर्वासां पुनरान्तर्मुहूर्त्तिकः ।

आरम्भ समयाद्यान्ति निष्ठां ह्यन्तर्मुहूर्त्ततः ॥४१॥

आहार पर्याप्तिस्त्वत्रापि प्राग्वत् ।

छहों का निष्पत्ति काल तो अन्तर्मुहूर्त्त का ही है क्योंकि इनका आरंभ समय से प्रारंभ करके अंतर्मुहूर्त्त में ही सम्पूर्ण होता है। (४१) आहार पर्याप्ति तो यहां भी पूर्व के अनुसार ही समझना ।

मनोवचः काय बलान्यक्षाणि पंच जीवितम् ।

श्वासश्चेति दश प्राण्य द्वारेऽस्मिन्नेव वक्ष्यते ॥४२॥

इति पर्याप्ति स्वरूपम् ॥३॥

मनोबल, कायबल, वचन, पांच इन्द्रिय, आयुष्य और श्वासोच्छ्वास - इस तरह दस प्राण हैं । इसका विवेचन भी इसी द्वार के प्रकरण में आगे कहा जायेगा। (४२) इस प्रकार से संसारी जीवों के स्वरूप सैतीस द्वारों में से तीसरा पर्याप्ति नामक द्वार का स्वरूप कहा गया है।

अथ योनि संख्या स्वरूपम्

तैजस कार्मण्यन्तो युज्यन्ते यत्र जन्तवः स्कन्धैः ।

औदारिकादियोग्यैः स्थानं तद्योनिरित्याहुः ॥४३॥

अब चौथा द्वार योनि संख्या के विषय में कहते हैं - तैजस शरीर वाले और कार्मण्य शरीर वाले जन्तु औदारिक आदि शरीर के योग्य-स्कंध द्वारा जहां जुड़ता है उस स्थान को योनि कहते हैं। (४३)

तथा च- व्यक्ति तोऽसंख्यभेदास्तः संख्याहानैव यद्यपि ।

तथापि सम वर्णादि जातिभिर्गणना गताः ॥४४॥

यह योनि व्यक्ति परत्व से असंख्यात भेद वाली होती है । इसकी संख्या नहीं हो सकती है परन्तु समान वर्ण आदि जाति को लेकर इसकी गिनती हो सकती है । (४४)

तथोक्तं प्रज्ञापना वृत्तौ- "केवलमेव विशिष्ट वर्णादियुक्ताः संख्यातीताः स्वस्थाने व्यक्ति भेदेन योनयः। जाति अधिकृत्य एकैव योनिर्गण्यते॥"

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति-टीका में कहा है कि- विशिष्ट वर्ण आदि से युक्त होने से योनियां निज स्थान में व्यक्ति भेद को लेकर असंख्यात कहलाती हैं, परन्तु जाति की अपेक्षा से एक ही योनि गिनी जाती है।

लक्षाश्चतुरशीतिश्च सामान्येन भवन्ति ताः ।

विशेषातु यथास्थानं वक्ष्यन्ते स्वामि भावतः ॥४५॥

आम तौर से योनियां चौरासी लाख होती हैं जो सात लाख सूत्र में इसका विस्तार पूर्व आया है। इस विषय में विशेष विस्तार स्वामि भाव से यथा स्थान पर कहा जायेगा। (४५)

किंच- संवृता विवृता चैव योनिर्विवृत संवृता ।

दिव्य शय्यादि वद्वस्त्राद्यावृता तत्र संवृता ॥४६॥

योनि के १- संवृत, २- विवृत और ३- विवृत संवृत - इस तरह तीन भेद होते हैं । दिव्य शय्या आदि के समान वस्त्रादि से आच्छादित हुई हो वह प्रथम संवृत योनि है। (४६)

तथा विस्पष्टमनुपलक्ष्यमाणापि संवृता ।

विवृता तु स्पष्टमुपलक्ष्या जलाशयादिवत् ॥४७॥

जो स्पष्ट रूप में नहीं दिखती हो वह इस संवृत के अन्तर भेद में आती है । जो जलाशयादि के समान स्पष्ट रूप में दिखाई दे वह दूसरी विवृत योनि है । (४७)

उक्तोभय स्वभावा तु योनिर्विवृत संवृता ।

बहिर्दृश्याऽदृश्या मध्या नारोगर्भाशयादिवत् ॥४८॥

जो कुछ स्पष्ट दिखाई देती हो और कुछ अस्पष्ट दिखाई देती हो, वह तीसरी विवृत संवृता अर्थात् मिश्र योनि कहलाती है। इसका स्त्री के गर्भाशय के

समान बाहर का विभाग दिखाई देता है, अन्दर का विभाग नहीं दिखाई देता है।
(४८)

तृतीय योनिजाः स्तोकास्ततो द्वितीय योनयः ।

असंख्यध्नास्ततोऽनन्त गुणिताः स्युयोनयः ॥४६॥

तेभ्योऽप्यनन्त गुणिताः ख्याताः प्रथम योनयः ।

एवं शीत सचित्तादिष्वप्यल्प बहुतोह्यताम् ॥५०॥

तीसरी योनि से उत्पन्न हुए थोड़े होते हैं। ये दूसरी प्रकार की योनि से उत्पन्न हुए से असंख्यात गुणे होते हैं। इससे अनन्तगुणे अयोनि अर्थात् योनि से नहीं उत्पन्न हुए होते हैं। इससे भी अनन्त गुणा प्रथम प्रकार की योनि से उत्पन्न हुए होते हैं। इसी तरह शीत आदि तथा सचित आदि योनियों के विषय में उत्पन्न हुए की संख्या भी अल्प-अनल्प समझ लेना। (४८ से ५०)

शीता चौष्णा च शीतोष्णा तत्तत्स्पर्शान्वयात् त्रिधा ।

सचित्ताचित्त मिश्रेति भेदतोऽपि त्रिधा भवेत् ॥५१॥

स्पर्शपरत्व से देखें तो इस योनि के तीन भेद होते हैं - शीत, उष्ण और शीतोष्ण (मिश्र)। सचित, अचित और मिश्र - इस तरह भी इसके तीन भेद होते हैं। (५१)

जीवप्रदेशैरन्यौऽन्यानुगमेनोररी कृता ।

जीवदेहादिः सचिता शुष्क काष्ठादिवत् परा ॥५२॥

परस्पर अनुगमन करके जीव प्रदेश से स्वीकार किया हो और जीवित शरीर आदि जिसमें हो ऐसी योनि सचित कहलाती है और जो सूखे काष्ठ (लकड़ी) के समान हो वह अचित योनि कहलाती है। (५२)

अत एवांगिभिः सूक्ष्मैस्त्रैलोक्ये निचितेऽपि हि ।

न तत्प्रदेशैर्योनीनामचित्तानां सचित्ता ॥५३॥

इसलिए सूखे काष्ठ के समान होने के कारण तीन लोक में सूक्ष्म जन्तु भरे हुए हैं फिर भी इसके प्रदेशों से अचित योनि सचित नहीं होती। (५३)

सचित्ताचित्त रूपा तु मिश्रा योनिः प्रकीर्तिता ।

नृतिरश्वा यथा योनौ शुक्रशोणित पुद्गलाः ॥५४॥

आत्मसाद्विहिता येऽस्युस्ते सचिताः परेऽन्यथा ।

सचित्ताचित्तयोगे तद्योनेर्मिश्रत्वमाहितम् ॥५५॥ युग्मम् ॥

सचित अचित रूप होने से योनि- 'मिश्र योनि' कहलाती है। दृष्टान्त के तौर

पर मनुष्य और तिर्यच की योनि में शुक्र तथा रुधिर के पुद्गल होते हैं उसमें से यदि पुद्गल आत्मा के साथ में जुड़े हों तो वह सचित है और अन्य 'अचित' है। इस तरह सचित अचित का योग जिसमें हो वह योनि 'मिश्रयोनि' कहलाती है ।
(५४-५५)

“योषितां किल नाभेरधस्तात् शिराद्वयं पुष्पमाला वैकक्षका कारमस्ति। तस्याधस्तात् अधोमुख संस्थित कोशा कारा योनिः। तस्याश्च बहिः चूतकलिकाकृतयो मांसमंजर्यो जायन्ते। ताः किल असुकस्यन्दित्वात् ऋतौ स्रवन्ति। तत्र केचित् असृजः लवाः कोशा कारकां योनिं अनुप्रविश्य सन्तिष्ठन्ते पश्चात् शुक्रसंमिश्रान् तान् आहारयन् जीवाः तत्र उत्पद्यते। तत्र ये योन्या आत्मसात् कृता ते सचिताः कदाचित् मिश्र इति। ये तु न स्वरूपतामापादिताः ते अचिताः। अपरे वर्णयन्ति असूक् सचेतनं शुक्रमचेतनं इति। अन्ये ब्रुवते शुक्र शोणितम् अचित्तं योनि प्रदेशाः सचिताः इत्यतः योनि मिश्रा। इति तु तत्त्वार्थ वृत्तौ द्वितीये अध्याये॥”

अर्थात् - स्त्रियों को नाभि के नीचे विकस्वर पुष्पों की माला के समान दो नाड़ी होती हैं उनके नीचे अधोमुख रही कोश आकार की योनि होती है। इसके आस-पास आम की मंजरी हो - इस तरह मांस का मंजर होता है। उस मंजर में से स्वाभाविक रूप में ऋतुकाल में रुधिर झरता है। उस रुधिर के कोई-कोई कण योनि में प्रवेश होते हैं और इसमें जब पुरुष का वीर्य मिलता है तब इस मिश्रण में से जीव उत्पन्न होता है जो इन कणों का आहार लेता है। उन कणों में से जो योनि में योनि रूप हो जाता है वह सचित है अथवा सचित अचित्त-मिश्र है। जो योनि में रहने पर भी योनि रूप नहीं होता वह अचित है। इस विषय पर कईयों का मत ऐसा है कि रुधिर सचित है और वीर्य अचित है। कई के मतानुसार दोनों अचित हैं, परन्तु योनि का प्रदेश सचित होता है उसमें प्रवेश करने से मिश्र भाव को प्राप्त करता है। इस तरह 'तत्त्वार्थ वृत्ति' के दूसरे अध्याय में कहा है।”

योनिस्त्रिधा मनुष्याणां शंखावर्त्तादि भेदतः ।

यस्या शंख इवावर्त्तः शंखावर्त्ता तु तत्र सा ॥५६॥

कर्मात्रता भवेद्योनिः कूर्मपृष्ठमिवोन्नता ।

वंशीपत्रा तु संयुक्त वंशीपत्र द्वयाकृतिः ॥५७॥

मनुष्यों की योनि तीन प्रकार की है, जिसमें शंख के समान आवर्त्त होता है वह १- शंखावर्त्त है, जो कूर्म-कछुआ की पीठ के समान उन्नत-ऊँची हो वह २-

कूर्मोन्नत और जिसकी बांस के दो संयुक्त पत्र जैसी आकृति हो वह ३- वंशीपत्रा योनि कहलाती है। (५६-५७)

स्त्रीरत्नस्य भवेच्छंखावर्ता सा गर्भवर्जिता ।

व्युत्क्रामन्ति तत्र गर्भा निष्यद्यन्ते न ते यतः ॥५८॥

अति प्रबल कामाग्रेर्विलीयन्ते हि ते यथा ।

कुरुमत्या कर स्पृष्टोऽप्य द्रवलोह पुत्रकः ॥५९॥

स्त्री रत्न की योनि 'शंखावर्त' होती है और यह गर्भवर्जित होती है अर्थात् उसमें गर्भ रहता ही नहीं है, नष्ट हो जाता है। क्योंकि ऐसी स्त्री रत्न की कामाग्री अत्यन्त प्रबल होती है इस कारण गर्भ भस्मसात् हो जाता है। कहा है कि कुरुमति जो एक स्त्रीरत्न थी, उसके हाथ के स्पर्श होते ही जो लोहे का पुतला था वह द्रवीभूत (पिघल) हो गया था। (५८-५९)

तथा च प्रज्ञापनायाम्।संखावर्ताणं जोणी इत्थिरयणस्स ॥

तथा प्रज्ञापना सूत्र भी साक्षी देता है कि स्त्री रत्न की शंखावर्त योनि होती है।

अर्हच्चक्रिविष्णु बलदेवाम्बानां द्वितीयिका ।

तृतीया पुनरन्यासां स्त्रीणां योनिः प्रकीर्तिता ॥६०॥

अरिहंत, चक्रवर्ती, वासुदेव तथा बलदेव माताओं की योनि दूसरे प्रकार की अर्थात् 'कूर्मोन्नत' होती है। शेष सर्व स्त्रियों की तीसरे प्रकार की अर्थात् वंशीपत्रा योनि होती है। (६०)

इदं च योनीनां त्रिधा त्रैविध्यं स्थानांगतृतीय स्थाने ॥ आचारांग वृत्तौ तु शुभाशुभ भेदेन योनीनामनेकत्त्वमेवं गाथाभिः प्रदर्शितम्-

इस प्रकार योनि तीन प्रकार की हैं और प्रत्येक के भी पुनः तीन-तीन भेद की बातें स्थानांग सूत्र तीसरे स्थान में कही हैं। आचारांग सूत्र की वृत्ति में तो योनियों का शुभाशुभ भेद करके अनेक भेद बताए हैं। उसकी गाथाएँ इस प्रकार कहते हैं -

सीआदी जोणीओ चउरासी ती अ सय सहस्सेहि ।

असुहाओ य सुहाओ तत्थ सुहावो इमा जाण ॥६१॥

अस्संखाउ मणुस्सा राइ सर संखमादि आ ऊणं ।

तित्थयर नाम गोअं सव्व सुहं होइ नायव्वं ॥६२॥

तत्थ वि य जाइ संपन्नयाइ सेसाओ होत्ति असुहाओ ।

देवेसु किच्चि साइ सेसाओ होत्ति उ सुहाओ ॥६३॥

पंचेदियतिरिएसु हय गय रयणा हवंति उ सुहाओ ।

सेसाओ असुहाओ सुअ वत्रेगिंदिया दीया ॥६४॥

चौरासी लाख शीत आदि शुभ अशुभ योनियां हैं । इनमें असंख्यात् आयुष्य वाले मनुष्यों की और संख्यात आदि आयुष्य वाले चक्रवर्ती तथा तीर्थकर नाम गोत्र वाली शुभ योनि जानना, इसमें भी जाति संपन्न की शुभ और अन्य की अशुभ समझना। देवों में किल्विष आदि की अशुभ और अन्यो की शुभ जानना। पंचेन्द्रिय तिर्यचों में अश्वरत्न की तथा गजरत्न की शुभ और अन्यो की अशुभ है । उत्तम वर्ण वाले एकेन्द्रिय रत्न आदि की शुभ है। (६१-६४)

देविंद चक्र वट्टित्ताण्डं मोत्तुं च तित्थयर भावं ।

अणगार भावि या विय सेसाओ अणंतसो पत्ता ॥६५॥

इति योनि स्वरूपम् ॥४॥

देवेन्द्र चक्रवर्ती तथा तीर्थकर और अणगार - इनसे अन्य शेष सब का अनन्त बार संसार योनि में पतन हुआ है। इस तरह योनि का वर्णन सम्पूर्ण हुआ । (६५)

अब पाचवां द्वार कुल संख्या के विषय में कहते हैं -

कुलानि योनि प्रभवान्याहुस्तानि बहून्यपि ।

भवन्ति योनावेकस्यां नाना जातिय देहिनाम् ॥६६॥

कृमि वृश्चिक कीटादि नाना क्षुद्रांगिनां यथा ।

एक गोमयपिंडान्तः कुलानि स्युरनेकशः ॥६७॥

कोटयेका सप्तत्रवतिर्लक्षाः सार्धा भवन्ति हि ।

सामान्यात्कुल कोटीनां विशेषो वक्ष्यतेऽग्रतः ॥६८॥

जिस योनि में उत्पन्न हो वह कुल कहलाता है । एक योनि के विषय में नाना प्रकार की जाति वाले प्राणियों के अनेक कुल होते हैं। उदाहरण के तौर पर-छान के पिंड में कृमि, कीड़े, बिच्छू आदि अनेक प्रकार के क्षुद्र प्राणियों के अनेक कुल होते हैं । आम तौर पर ऐसे कुल एक करोड़ साढ़े सत्तासी लाख होते हैं । इस विषय में आगे विशेष कहा जायेगा। (६६ से ६८)

इति योनि कुलस्य रूपं तत्संवृतत्वादि च ॥५॥६॥

इस तरह कुल के विषय में समझ लेना । छठे द्वार योनि के संवृतत्व आदि के विषय में भी कहा गया है।

भवस्थितिस्तद भवायुर्द्विविधं तच्च कीर्तितम् ।

सोपक्रमं स्यात्तत्राद्यं द्वितीयं निरूपक्रमम् ॥६९॥

अब सातवें द्वार में भव स्थिति के विषय में कहते हैं - भव स्थिति अर्थात् उस भव-जन्म का आयुष्य । वह दो प्रकार का है- १- सोपक्रम और २- निरूपक्रम। (६६)

कालेन बहुना वेद्यमप्यायुर्थन्तु भुज्यते ।

अल्पेनाध्यवसानाद्यै रागमोक्तै रूपक्रमैः ॥७०॥

आयुः सोपक्रमं तत्त्यादन्यद्वा कर्म तादृशम् ।

यद्बन्ध समये बद्धं श्लथं शक्यापवर्तनम् ॥७१॥ शुभम्

बहुत काल से वेदन होने पर भी शस्त्रोक्त अध्यवसायादि उपक्रम से अल्पकाल में भोगा जाय ऐसा जो आयुष्य है वह सोपक्रम आयुष्य है अथवा शिथिल और निवर्तन हो सके, ऐसा बंधन किया हो वह कर्म है, वह भी सोपक्रम कहलाता है । (७०-७१)

दत्ताग्निकतो रज्जुर्यथा दीर्घीकृता क्रमात् ।

दह्यते संपिण्डिता तु सा झटित्येकहेलया ॥७२॥

जैसे लम्बी की हुई रस्सी एक किनारे से जलाने पर अनुक्रम से जलती है परन्तु वही रस्सी गोल कर अग्नि में डालने पर एक साथ ही जल जाती है। (७२)

यत्पुनर्बन्ध समये बद्धं गाढ निकाचनात् ।

क्रमवेद्यफलं तद्धि न शक्यमपवर्तितुम् ॥७३॥

इसी तरह जो कर्म गाढ़े निकाचित बंधन किया हो उसका फल अनुक्रम से भोगना पड़ता है और इसका परिवर्तन नहीं हो सकता है। (७३)

क्षीयतेऽध्यवसानाद्यैः स्वोत्थैः स्वस्व जीवितम् ।

परैश्च विषशस्त्राद्यैस्तु स्युः सर्वेऽप्युपक्रमाः ॥७४॥

उपक्रम अर्थात् स्वयं अपने से उत्पन्न हुए अध्यवसाय आदि तथा अन्यो द्वारा प्रेरित विष, शस्त्र आदि जिस आयुष्य का नाश करने वाले हैं वह सारा उपक्रम कहलाता है । (७४)

यदाहु-अङ्गवसाण निमित्ते आहारे वेद्यणापराध्याए ।

फासे आणापाणू सत्तविहं जिञ्झए आउं ॥७५॥

कहा है कि- अध्यवसाय, निमित्त, आहार, वेदना, पराघात, स्पर्श और श्वासोच्छ्वास - इन सात प्रकार से आयुष्य नष्ट होता है। (७५)

त्रिधा तत्राध्यवसानं रागस्त्रेह भयोद्भवम् ।

व्यापादयन्ति रागाद्या अप्यत्यन्त विकल्पिताः ॥७६॥

अध्यवसाय तीन प्रकार के कहे हैं, १- राग द्वारा, २- स्नेह द्वारा और ३- भय द्वारा । अत्यन्त-संकल्प - विकल्प युक्त राग आदि से भी मृत्यु का कारण बनता है। (७६)॥

यथा प्रपालिकाया युवानमनुरागतः ।

पश्यन्त्याः क्षीणमायुर्यत्कामस्यान्त्या दशा मृतिः ॥७७॥

उदाहरण के तौर पर- एक युवा पुरुष के विषय में राग के कारण आसक्त बनी एक स्त्री की मृत्यु होती है क्योंकि काम की दस अवस्था कही हैं उन में अन्तिम अवस्था मृत्यु है। (७७)

यतः- - चिन्ते दद्मिच्छई दीहं नीससइ तह जरे दाहे ।

भक्त अरायणमुच्छा उम्माय न याणई भरणं ॥७८॥

काम की १- चिन्तन करना, २- स्नेह के पात्र को देखने की इच्छा करना, ३- दीर्घ निःश्वास छोड़ना, ४- ज्वर होना, ५- दाह होना, ६- भोजन पर अरुचि होनी, ७- मूर्च्छा आनी, ८- उन्माद होना, ९- विचार शक्ति खतम होना, १०- अन्तिम मृत्यु - ये दस अवस्थायें हैं । (७८)

कस्याश्चित् सार्थवाह्याश्च विदेशादागते प्रिये ।

मित्रैः स्नेह परीक्षार्थं विपन्ने कथितेऽथ सा ॥७९॥

सार्थवाही विपन्नैव सार्थवाहोऽपितां मृताम् ।

श्रुत्वा तत्संगमायेव तूर्णं स्नेहाद् व्यपद्यत ॥८०॥ युग्मं।

कोई सार्थवाह परदेश से अपने घर आ रहा था। उस समय उसके मित्रों ने उसके घर जाकर पहले उसकी स्त्री के प्रेम की परीक्षा करने के लिए, उसके पास पहुंचकर समाचार दिया कि 'तेरे स्वामी की मृत्यु हो गयी है।' इतना सुनते ही वह स्त्री पति प्रेम के कारण मर गई । सार्थवाह ने भी घर आकर देखा तो स्नेह के कारण मानो स्वयं उसको मिलने जाता हो, इस तरह प्राण का त्याग कर दिया। इस तरह राग और स्नेह के कारण दोनों की मृत्यु हो गई । (७९-८०)

भयाद्यथा वासुदेव दर्शनात् सोमिन्नो द्विजः ।

हत्वा गजसुकुमारं नगरीमाविशन् मृतः ॥८१॥

गजसुकुमार का घात कर नगर में आते सोमिल ब्राह्मण की श्री कृष्ण को देखकर भय के कारण से मृत्यु हुई। (८१)

इस तरह राग, स्नेह व भय से मृत्यु प्राप्त करने वाले अनुक्रम से तीन दृष्टान्त कहे हैं ।

निमित्ताद्विष शस्त्रादेराहाराद् बहुतोऽल्पतः ।
स्निग्धतश्चास्निग्धतश्च विकृता दहिता वहात् ॥८२॥
शूलादेर्वेदनायाश्च गर्त्ता प्रपतनादिकात् ।
पराघातात्स्पर्शतश्च, त्वग्विषादि समुद्र भवात् ॥८३॥
श्वासोच्छ्वासाच्च विकृतत्वे नात्यन्तं प्रसर्पतः ।
निरुद्धाद्वा भ्रियेतांगी तस्मादेते उपक्रमाः ॥८४॥ त्रिबिंशोऽक्षकं ॥

निमित्त से अर्थात् विषपान अथवा शस्त्रघात से मृत्यु होती है । आहार से अर्थात् अति अल्प, बहुत ज्यादा, बहुत भारी, अतीव लूखा, विकारी या अहितकारी भोजन करने से मृत्यु होती है । वेदना अर्थात् शूलि फांसी आदि से मृत्यु होती है । परघात अर्थात् किसी का कुछ अनिष्ट किया हो उसके आघात से मृत्यु होती है । स्पर्श से अर्थात् चमड़ी आदि किसी कठोर विष के स्पर्श होने से मृत्यु होती है । श्वासोच्छ्वास अर्थात् किसी व्याधि आदि के कारण जोर से श्वासोच्छ्वास चलने लगे, इससे मृत्यु होती है अथवा श्वासोच्छ्वास रोकने से भी मृत्यु होती है । यह सब उपक्रम आयुष्य जानना ॥ (८२ से ८४)

स्युः केषांचिद्यदप्येतेऽनुपक्रमायुषामपि ।
स्कंदकाचार्य शिष्याणामिव यंत्र निपीलना ॥८५॥
तथापि कष्ट दास्तेषां न त्वायुः क्षयहेतवः ।
सोपक्रमायुष इव भासन्ते तेऽपि तैर्मृताः ॥८६॥ युग्मं ।

यह उपक्रम कितने ही अनुपक्रमी आयुष्य वालों को भी यद्यपि लगता है, जैसे स्कंदकाचार्य के शिष्यों को यंत्र में पिलना पड़ा था, फिर भी यह उपक्रम उनको केवल कष्ट देने वाला नहीं होता वरन् आयुष्य का अन्त लाने वाला होता है । इससे सोपक्रमी आयुष्य वालों के समान उनकी भी इस उपक्रम के कारण मृत्यु होती है - ऐसा भास होता है ॥ (८५-८६)

अथ प्रकृतम्- सोपक्रमायुषः केऽप्यनुपक्रमायुषः परे ।
इति स्युर्द्विविधा जीवास्तत्र सोपक्रमायुष ॥८७॥
तृतीये नवमे सप्तविंशे भागे निजायुषः ।
बध्नन्ति पर जन्मायुरन्त्ये वान्तर्मुहूर्त्तं के ॥८८॥ युग्मं ।

अब पुनः प्रस्तुत विषय कहते हैं - कई जीवों का आयुष्य सोपक्रमी होता है और कईयों का निरुपक्रमी होता है । उसमें सोपक्रमी आयुष्य वाला अपनी आयुष्य

के तीसरे, नौवें अथवा सत्ताईसवें विभाग में अथवा आखिर अन्तर्मुहूर्त में अगले जन्म का आयुष्य बंधन करता है। (८७-८८)

यदाहुः श्यामाचार्याः।सियति भागे सियति भागति भागे सियति भागति भागति भागे इति॥

केचित्तु सप्तविंशोऽप्यूर्ध्वं विकल्पयन्ति वै ।

त्रिभाग कल्पना यावदन्त्यमन्तर्मुहूर्तकम् ॥८६॥

श्री श्यामाचार्य भी इसी तरह ही सत्ताईस सत्ताईस भाग करते हैं। और कई तो सत्ताईस से भी आगे बढ़कर अन्तिम अन्तर्मुहूर्त तक इन तीन विभागों की कल्पना करते हैं। (८६)

असंख्यायुर्नृतिर्यंचश्रमागांश्च नारका ।

सुरा शलाका पुमांसोऽनुपक्रमायुषः स्मृता ॥६०॥

असंख्यात वर्ष आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यंच, चरम शरीर वाले, नारकी जीव, देव तथा तिरसठ शलाका पुरुष कहलाते हैं, वे सभी निरुपक्रमी आयुष्य वाले होते हैं - ऐसा समझना। (६०)

अपरे वर्णयन्ति। तीर्थ करौपपातिकानां नोपक्रमतो मृत्युः। शेषाणामुभयथा। इति तत्त्वार्थ वृत्तो॥ कर्म प्रकृति वृत्तावपि अद्भ्याजोगुक्कसं इति गाथा व्याख्यानेऽभोग भूमि जेसु तिर्यक्षु मनुष्येषु च त्रिपल्योपम स्थितिभूत्पन्नः पश्चादाशु सर्वाल्य जीवितमन्तर्मुहूर्त विहाय शेषमायुः त्रिपल्योपम स्थितकं अपवर्त्तयन्ति अन्तर्मुहूर्तो नय इति॥

कईयों का ऐसा मत है कि तीर्थकरों के तथा देवताओं की मृत्यु उपक्रम से नहीं होती, इसके सिवाय अन्यो की मृत्यु उभय प्रकार से अर्थात् सोपाक्रमी और निरुपक्रमी होती है। इस तरह "तत्त्वार्थ वृत्ति" के कर्ता कहते हैं। कर्म प्रकृति की टीका में और 'अद्भजोगुक्कस' गाथा के व्याख्यान में कहा है कि 'अकर्मभूमि में हुए तिर्यंच और मनुष्यों के विषय में तीन 'पल्योपम' के आयुष्य वाला जीव उत्पन्न होकर फिर तुरन्त अल्पिष्ट अन्तर्मुहूर्त के आयुष्य को छोड़कर शेष का अन्तर्मुहूर्त कम तीन पल्योपम की स्थिति वाला आयुष्य संक्षेप कर सकता है।

सुर नैरयिकाऽसंख्य जीवितिर्यग्मनुष्यकाः ।

बध्नन्ति षण्मासशेषायुषोऽग्रभव जीवितम् ॥६१॥

देवता, नरकी जीव तथा असंख्यात आयुष्य वाले तिर्यंच और मनुष्यों का जब छः महीने आयुष्य शेष रह जाता है तब वह अगामी जन्म का आयु बंधन करता है। (६१)

“मतान्तरेण उत्कर्षतः षणमासावशेषे जघन्यतश्च अन्तर्मुहूर्त्त शेषे नारकाः
पर भवायुर्बध्नन्ति इति भगवती सूत्रे (शतक १४ उद्देश ?) ॥”

अन्य मत ऐसा है कि उत्कृष्ट छः मास आयुष्य शेष रहे तब और जघन्य
अंतर्मुहूर्त्त शेष रहे तब नारकी जीव अगले जन्म का आयुष्य बंधन करता है । यह
भगवती सूत्र के चौदहवे सूत्र के प्रथम उद्देश में कहा है।

निजायुषस्तृतीयेशे शेषेऽनुपक्रमायुषः ।

नियमादन्य जन्मायुर्निर्बध्नन्ति परे पुनः ॥६२॥

और शेष निरुपक्रमी आयुष्य वाले अपनी आयुष्य का तीसरा विभाग शेष रहे
तब निश्चय से अगले जन्म का आयुष्य बंधन करते हैं । (६२)

यावत्यायुष्यवशिष्टे पर जन्मायुरर्च्यते ।

कालस्तावानबाधाख्यस्ततः परमुदेति तत् ॥६३॥

जितना आयुष्य शेष रहते अगले जन्म का आयुष्य बंधन करने में आता है
उतने काल को 'अबाध काल' कहते हैं और उसके बाद वह उदय में आता है। (६३)

इति भवस्थिति ॥७॥

इस तरह सातवें द्वार में भव स्थिति का स्वरूप कहा ।

कायास्थितिस्तु पृथिवी कायिकादिशरीरिणाम् ।

तत्रैव कायेऽवस्थानं विपद्योत्पद्य चासकृत् ॥६४॥

आठवें काया द्वार में- पृथ्वी काय आदि जीव मृत्यु प्राप्त करके तथा पुनः वहीं
उत्पन्न होकर एक साथ में ही उसी काया में रहते हैं वह काया स्थिति कहलाती है।

इति काय स्थिति स्वरूपम् ॥८॥

यह आठवां द्वार काय स्थिति का स्वरूप कहा है।

औदारिकं वैक्रियं च देहमाहारकं तथा ।

तैजसं कार्मणं चेति देहाः पंचेदिता जिनैः ॥६५॥

अब नौवां द्वार देह या शरीर के विषय में कहते हैं- श्री जिनेश्वर प्रभु ने पांच
प्रकार के शरीर कहे हैं - १- औदारिक, २- वैक्रिय, ३- आहारक, ४- तैजस और
५- कार्मण । (६५)

उदारैः पुद्गलैजातं जिनदेहाद्यपेक्षया ।

उदारं सर्वतस्तुंगमिति चौदारिकं भवेत् ॥६६॥

श्री जिनेश्वर के शरीर आदि की अपेक्षा से मनोहर पुद्गल का बना हुआ सर्वोत्तम शरीर प्रथम 'औदारिक' शरीर कहलाता है। (६६)

क्रिया विशिष्टा नाना वा विक्रिया तत्र संभवम् ।

स्वाभाविक लब्धिजं च द्विविधं वैक्रियं भवेत् ॥६७॥

यत्तदेकमनेकं वा दीर्घं ह्रस्वं महल्लघु ।

भवेत् दृश्यमदृश्यं वा भूचरं वापि खेचरम् ॥६८॥

नाना प्रकार की विशिष्ट क्रिया का नाम विक्रिया है। इससे होने वाला दूसरा वैक्रिय शरीर कहलाता है। इसके दो भेद हैं। स्वाभाविक और लब्धि से होता है। यह वैक्रिय शरीर एक के अनेक हो सकते हैं, ह्रस्व दीर्घ हो सकता है, बड़ा छोटा हो सकता है, दृश्य अदृश्य हो सकता है तथा भूमि पर से आकाश में अथवा आकाश में से भूमि पर संचार कर सकता है। (६७-६८)

आकाशस्फटिक स्वच्छं श्रुतं केवलिना कृतम् ।

अनुत्तरामरेभ्योऽपि कान्तमाहारकं भवेत् ॥६९॥

श्रुतावगाहाप्तामपौषध्याद्भृद्धिः करोत्यदः ।

मनोज्ञानी चारणो वोत्यन्नाहारकलब्धिकः ॥१००॥

तीसरा आहारक शरीर आकाश और 'स्फटिक' रत्न के समान स्वच्छ निर्मल तथा अनुत्तर विमान के देवों से भी अधिक कान्ति वाला श्रुत केवली कृत तीसरा शरीर 'आहारक' कहलाता है। शास्त्रों के अभ्यास से आमर्ष औषधि आदि की ऋद्धि प्राप्त होने से अथवा आहारक लब्धि प्राप्ति होने से, मनः पर्यवज्ञानी अथवा चारण मुनि ऐसा आहारक शरीर बना सकता है। (६९-१००)

तेजसं चौष्णतालिंगं तेजो लेश्यादि साधनम् ।

कार्मणानुगमाहार परिपाक समर्थकम् ॥१०१॥

अस्मात्तपो विशेषोत्थ लब्धि युक्तस्य भूस्पृशः ।

तेजो लेश्या निर्गमः स्यादुत्पन्ने हि प्रयोजने ॥१०२॥

चौथा 'तेजस' शरीर है। तेजस अर्थात् उष्णता शक्ति वाला, तेजो लेश्या आदि की साधना वाला है और कार्मण शरीर पाचवां है। यह शरीर अनुगामी है और आहार को पचाने में समर्थ होता है। जिस प्राणी को किसी विशिष्ट तपस्या से लब्धि प्राप्त होती है उसे कार्य पढ़ने पर उसके तेजस शरीर में से तेजो लेश्या निकलकर उसका उसी प्रकार का कार्य साधन कर देता है (१०१-१०२)

तथोक्तं जीवाभिगम वृत्तौ

सव्वस्स उन्ह सिद्धं रसाइ आहार पाग जणगं च ।

तेअगलद्धि निमित्तं च तेअगं होइ नायव्वम् ॥१०३॥

जीवाभिगम सूत्र की टीका में कहा है कि- उष्णता से सिद्ध हुआ रसादि आहार को पचाने वाला है और तेजो लेश्या की लब्धि के निमित्त यह तेजस शरीर सर्व को होता है ऐसा समझना। (१०३)

अस्मादेव भवत्येवं शीत लेश्या विनिर्गमः ।

स्यातां च रोषतोषाभ्यां निग्रहानुग्रहापितः ॥१०४॥

इसी तरह तेजस शरीर में से शीत लेश्या भी निकलती है। इस शीत लेश्या के कारण प्राणी तुष्टमान हुआ हो तो अनुग्रह कर सकता है। जबकि पूर्व कही तेजो लेश्या द्वारा रोष-चढ़ जाने पर प्राणी निग्रह कर सकता है। (१०४)

तथोक्तं तत्त्वार्थ वृत्तौ

“यदा उत्तर गुण प्रत्यया लब्धिः उत्पन्न भवति तदा परं प्रति दाहाय विसृजति रोष विषाध्मातो गोशालादिवत्। प्रसन्नस्तु शीत तेजसा अनुगृह्णति इति॥”

तत्त्वार्थ वृत्ति में कहा है कि-जब उत्तर गुण की प्रतीति-जानकारी वाली लब्धि उत्पन्न होती है तब रोष रूपी विष से ज्वाजल्यमान बना मनुष्य गोशाला के समान शत्रु को जला कर भस्म करने के लिए तेजो लेश्या को छोड़ता है अथवा प्रसन्न-तुष्टमान बना हो तो शीत लेश्या से अनुग्रह करता है।

क्षीर नीर वदन्योऽन्यं श्लिष्टा जीव प्रदेशकैः ।

कर्म प्रदेशा येऽनन्ताः कर्मणं स्यात्तदात्मकम् ॥१०५॥

सर्वेषामपि देहानां हेतुभूतमिदं भवेत् ।

भवान्तर गतौ जीव सहायं च सतैजसम् ॥१०६॥

अब पाचवां व अन्तिम कर्मण शरीर, जीव प्रदेशों के साथ में क्षीर नीर-दूध पानी के समान परस्पर मिल गये कर्म प्रदेश रूप कर्मण शरीर होता है। यह कर्मण शरीर सारे शरीर का हेतुभूत है और तेजस तथा कर्मण दोनों साथ में मिलकर जीव को जन्मान्तर में जाने के लिए सहायक हो जाता है (१०५-१०६)

नन्वैताभ्यां शरीराभ्यां सहात्मायाति याति चेत् ।

प्रविशन्निरयन्वापि कुतोऽसौ तर्हि नेक्ष्यते ॥१०७॥

अत्रोच्यते- न चक्षुर्गोचरः सूक्ष्मतया तैजस कार्मणे ।

ततो नोत्पद्यमानोऽपि म्रियमाणोऽप्यसौ स्फुटः ॥१०८॥

यह शंका होती है कि जब आत्मा इन दोनों शरीरों सहित आया-जाया करता है तब आते-प्रवेश करते और जाते-निकलते क्यों नहीं दिखता है ? इस शंका का समाधान करते हैं- तैजस और कार्मण शरीर सूक्ष्म हैं इससे दृष्टि गोचर नहीं होते। इससे आत्मा इन दो शरीर सहित होने पर भी उत्पन्न होते या मृत्यु होते जाते-आते भी स्पष्ट नहीं दिखता है। (१०७-१०८)

परैरप्युक्तम्- अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वात्त्रोपलभ्यते ।

निष्कामन्प्रविशन्वापि नाऽभावोऽनीक्षणादपि ॥१०९॥

अन्य दर्शन में भी कहा है कि- अंतरंग आत्म शरीर सूक्ष्म होने से निकलते प्रवेश करते दिखता नहीं है, परन्तु इस कारण से इसकी उपस्थिति नहीं है, ऐसा नहीं जानना। (१०९)

स्वरूपमेवं पंचानां देहानां प्रतिपादितम् ।

कारणादि कृतांस्तेषां विशेषान् दर्शयाभ्यथ ॥११०॥

इस तरह पांच प्रकार के शरीर का स्वरूप समझाया है। अब इस शरीर सम्बन्धी कारण आदि कृत विशेष अन्तर कहते हैं। (११०)

संजातं पुद्गलैः स्थूलैर्देहमौदारिकं भवेत् ।

सूक्ष्मं पुद्गल जातानि ततोऽन्यानि यथोत्तरम् ॥१११॥

औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलों का बना है। इसके बाद के अन्य उत्तरोत्तर सूक्ष्म पुद्गलों के बने हैं। (१११)

इति कारण कृतो विशेषः ॥ अर्थात् यही कारण कृत विशेष अन्तर है।

यथोत्तरं प्रदेशैः स्युसंख्येय गुणानि च ।

आ तृतीयं ततोऽनन्त गुणे तैजस कार्मणे ॥११२॥

इति प्रदेश संख्या कृतो विशेषः ॥

पहले शरीर से लेकर तीसरे शरीर तक उत्तरोत्तर असंख्य प्रदेश वाला होता है और चौथा व पांचवां इससे अनन्त गुणा प्रदेश वाला होता है। (११२)

यह प्रदेश संख्याकृत विशेष अन्तर है।

आद्यं तिर्यग्मनुष्याणां देव नारकयोः परम् ।

केषांचिल्लब्धिमद्वायुसंज्ञि तिर्यग् नृणामपि ॥११३॥

आहारकं सलब्धीनां स्याच्चतुर्दश पूर्विणाम् ।

सर्वं संसारि जीवानां ध्रुवे तैजस कार्मण ॥११४॥

प्रथम औदारिक शरीर तिर्यच और मनुष्य का होता है । दूसरा यानि वैक्रिय शरीर देव और नारकी जीवों का होता है । कई लब्धि वालों को, वायु को, संज्ञि तिर्यच और मनुष्यों को भी होता है। तीसरा आहारक शरीर लब्धि वाले चौदह पूर्व धारी मुनियों को होता है और चौथा-पांचवा सर्व संसारियों को होता है । (११३-११४)

तत्त्वार्थ भाष्ये तु उक्तम्

“एके तु आचार्याः नयवादापेक्षं व्याचक्षते कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम् । तेनैवैकेन जीवस्य अनादिः सम्बन्धः भवति इति । तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति । सा च तैजस लब्धिः न सर्वस्य भवति कस्यचिदेव भवति ॥ एतद्गीकालेशः अपि एवं एकीय मतेन प्रत्याख्यातमेव तैजसं शरीर अनादि सम्बन्धतया सर्वस्य च इति । या पुनः अभ्यवहृताहारं प्रति पाचक शक्तिः बिनाऽपि लब्ध्या सा तु कार्मणस्यैव भविष्यति कर्मोष्णात्वात् । कार्मणं हि इदं शरीर अनेक शक्ति गर्भत्वात् अनुकरोति विश्वकर्मणः । तदेवहि तथा समासादित परिणतिः व्यपदिश्यते यदि तैजस शरीर तथा ततो न कश्चिद्दोष इति ॥ अत्र भूयान् विस्तरोऽस्ति । स तु तत्त्वार्थ वृत्तेः अवसेयः ॥”

तत्त्वार्थ भाष्य में तो इस तरह कहा है कि-कई आचार्य नयवाद की अपेक्षा से कहते हैं कि- एक कार्मण शरीर के ही जीव के साथ में अनादि सम्बन्ध हैं, तेजस शरीर तो लब्धि के अपेक्षी को होता है। यह लब्धि सब को नहीं होती है। इसकी टीका का भावार्थ इस तरह से है- कइयों के मतानुसार तेजस शरीर का जीव का अनादि सम्बन्ध नहीं है। लब्धि बिना भी आहार का पाचन करने की जो क्रिया-शक्ति दिखती है वह कार्मण शरीर को लेकर ही है क्योंकि शरीर कर्मों के कारण उष्ण है तथा कार्मण शरीर में अनेक शक्तियां हैं इससे यह विश्वकर्मा का अनुकरण करता है और इसी तरह परिणति-प्रौढ़ता प्राप्त करने से यदि कार्मण शरीर को तेजस शरीर कहने में आये तो कोई दोष नहीं है। यहां टीका-में बहुत विस्तार है, वह तत्त्वार्थनी वृत्ति-टीका में पढ़ लेना चाहिए ।

युगपच्चैक जीवस्य द्वयं त्रयं चतुष्टयम् ।

स्याद्देहानां न तु पंच नाप्येकं भववर्तिनः ॥११५॥

वैक्रियस्याहार कस्याऽसत्त्वादेकस्य चैकदा ।

न पंचस्युः सदा सत्त्वादन्य योर्नैकमप्यदः ॥११६॥

स्यादेकमपि पूर्वोक्त मतान्तर व्यपेक्षया ।

भवान्तरं गच्छतस्तन्मते स्यात्कार्मणं परम् ॥११७॥

एक संसारी जीव को एक साथ में दो तीन अथवा चार शरीर होते हैं, पंच नहीं होते तथा एक नहीं होता । क्योंकि वैक्रिय और आहारक दोनों एक साथ में एक जीव को नहीं होते । इसलिये पांचों एक साथ शरीर नहीं होते, वैसे तेजस तथा कार्मण दोनों हमेशा होने से एक शरीर में भी नहीं होता। परन्तु पूर्व में जो मन्तातर कहा उसकी अपेक्षा से एक- वह अकेला कार्मण होता है क्योंकि जन्मान्तर में जाते जीव को तेजस तथा कार्मण दोनों नहीं होते, केवल एक कार्मण होता है। (११५-११७)

इति स्वामिकृतो विशेषः॥ इस तरह स्वामि कृत विशेष है।

आद्यस्य तिर्यगुत्कृष्टा गतिरारूचकाचलम् ।

जंघाचारण निग्रंथानाश्रित्य कलयन्तु ताम् ॥११८॥

आनन्दीश्वरमाश्रित्य विद्या चारण खेचरान् ।

ऊर्ध्वं चापंडकवनं तत्रयापेक्षया भवेत् ॥११९॥

प्रथम औदारिक शरीर की उत्कृष्ट तिरछी गति आखिर रूचक पर्वत तक होती है और वह जंघा चारण मुनियों को होती है। विद्या चारण तथा विधाधरों की वह गति आखिर नन्दीश्वर द्वीप तक होती है। सीधी ऊर्ध्व गति तो तीनों की पंडक वन तक होती है। (११८-११९)

विषयो वैक्रियांगस्याऽसंख्येया द्वीप वार्धयः ।

महाविदेहा विषयोज्ञेय आहारकस्य च ॥१२०॥

लोकः सर्वोऽपि विषयस्तुर्यं पंचमयोर्भवेत् ।

भवाद् भवान्तरं येन गच्छतामनुगे इमे ॥१२१॥

इति विषय कृतो भेदः ॥

वैक्रिय शरीर वाले की गति अंसख्यात द्वीप समुद्र तक होती है। आहारक की गति महाविदेह क्षेत्र तक होती है। चौथा और पांचवां तेजस और कार्मण शरीर वाले की गति सर्वलोक में होती है, क्योंकि एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय सर्व प्राणियों को ये दोनों शरीर होते हैं। (१२०-१२१)

इस तरह से विषयकृत विशेष-भेद है।

धर्माधर्माजनं सौख्यदुःखानुभव एव च ।

केवल ज्ञान मुक्त्यादि प्राप्तिराद्यप्रयोजनम् ॥१२२॥

एकानेकत्व सूक्ष्मत्व स्थूलत्वादि नभोगतिः ।

संघ साहाय्यमित्यादि वैक्रियस्य प्रयोजनम् ॥१२३॥

सूक्ष्मार्थ संशयच्छेदो जिनेन्द्रिद्वि विलोकनम् ।

ज्ञेयमाहार कस्यापि प्रयोजनमनेकधा ॥१२४॥

प्रथम औदारिक शरीर का प्रयोजन धर्माधर्म उपार्जन करना, सुख दुःख का अनुभव करना, केवल ज्ञान प्राप्त करना, मोक्ष पद प्राप्त करना है। वैक्रिय शरीर का प्रयोजन एकत्व, अनेकत्व, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व आदि आकाश गमन और संघ को सहायता करना इत्यादि है। आहारक शरीर का प्रयोजन सूक्ष्मार्थ शंकाओं का निवारण करना, जिनेन्द्र ऋद्धि दर्शन इत्यादि है। (१२२ से १२४)।

यदाहुः-तित्थयरिद्धिदंसणसुहुमपयत्यावगाहहेउंवा।

संसयवोच्छे अत्थं गमणं जिण पाय मूलंमि ॥१२५॥

शास्त्र के वचन हैं कि तीर्थकर भगवन्त की समृद्धि अवलोकन करने के लिए, सूक्ष्म पदों के अर्थों का बोध कराने के लिए और संशय के उच्छेदन के लिए जिनेश्वर भगवन्त के चरण के पास गमन करना। ॥१२५॥

शापानुग्रहयोः शक्तिर्भुक्ति पाकः प्रयोजनम् ।

तैजसस्य कार्मणस्य पुनरन्य भवे गति ॥१२६॥

इति प्रयोजन कृतो विशेषः ॥

तैजस शरीर का प्रयोजन शाप और अनुग्रह की शक्ति है तथा भोजन किया हो उसे पचाने की शक्ति प्राप्त करना है। कार्मण शरीर का प्रयोजन अन्य जन्म लेने में गमन करने के लिए है। (१२६)

यह प्रयोजन कृत विशेष है।

उत्कर्षतः सातिरेक सहस्र योजन प्रमम ।

औदारिकं वैक्रिय साधिकैकलक्ष योजनम् ॥१२७॥

आहारकं हस्तमानं लोकाकाशमिते उभे ।

समुद्घाते केवलिनः स्यातां तैजस कार्मणे ॥१२८॥

औदारिक शरीर का उत्कृष्ट प्रमाण एक हजार भोजन से कुछ अधिक होता है। वैक्रिय शरीर का एक लाख योजन से थोड़ा अधिक है। आहारक का एक हाथ का प्रमाण है। तैजस तथा कर्मण शरीर केवली समुद्धात के समय लोकाकाश के सदृश होता है। (१२७-१२८)

अवगाहं प्रदेशेषु स्वल्पेष्वआहारकं किल ।

ततः संख्य गुणांशस्थमुत्कृष्टौदारिकं स्मृतम् ॥१२९॥

आहारक शरीर सर्व से अल्प प्रदेशों में अवगाहना करते हैं। औदारिक उत्कृष्ट संख्यात गुणा प्रदेशों में अवगाहना करते हैं। (१२९)

ततोऽपि संख्य गुणित देशस्थं गुरु वैक्रियम् ।

समुद्धातेऽर्हतोऽन्त्ये द्वे सर्वलोकावगाहके ॥१३०॥

इससे भी उत्कृष्ट संख्यात गुणा प्रदेशों में वैक्रिय शरीर का अवगाहन होता है, और अर्हत प्रभु के समुद्धात के समय में तो आखिरी दोनों शरीर सर्व लोक का अवगाहन करते हैं। (१३०)

दीर्घं मृत्यु समुद्धातेतूत्पत्ति स्थानकावधि ।

अन्यदा तु यथा स्थानं स्व स्व देहावगाहिनी ॥१३१॥

मरणान्त समुद्धातं गतानां देहिनां भवेत् ।

यावत्येकेन्द्रियादीनां तैजसस्यावगाहना ॥१३२॥

ब्रवीमि तां जिन प्रोक्त स्वरूपां सोपपत्तिकम् ।

भाव्यैवं कर्मणस्यापि सोभयोः साहचर्यतः ॥१३३॥ युग्मम्।

मृत्यु के समुद्धात के समय में तो ये दोनों शरीर अन्तिम उत्पत्ति स्थान तक लम्बे होते हैं, अन्यथा यथास्थान में अपने अपने शरीर के समान होते हैं। तथा मरणान्त समय में समुद्धात को प्राप्त हुए एकेन्द्रियादि प्राणियों का तेजस शरीर के समान अवगाह होता है, उतना ही कर्मण शरीर का भी होता है। क्योंकि जिन वचन के अनुसार ये दोनों शरीर सहचारी होते हैं। (१३१ से १३३)

स्व स्व देहमिता व्यासस्थौल्याभ्यां सर्वदेहिनाम् ।

मरणान्त समुद्धाते स्यात्तैजसावगाहना ॥१३४॥

मरणान्त समुद्धात के समय में सर्व प्राणियों की तेजस शरीर की अवगाहना अपने अपने शरीर की मोटाई चौड़ाई के अनुसार होती है। (१३४)

आयामतो विशिष्येत तत्रैकेन्द्रिय देहिनाम् ।

अंगुला संख्येय भाग प्रमाणा सा जघन्यतः ॥१३५॥

उत्कर्षतश्च लोकान्ताल्लोकान्तं यावदाहिता ।

एकेन्द्रियाणां जीवानामेवमुत्पत्ति संभवात् ॥१३६॥ युग्मम् ।

इसमें एकेन्द्रिय प्राणियों की अवगाहना की लम्बाई में अन्तर है क्योंकि वे जघन्यता से अंगुल के असंख्यात विभाग समान हैं और उत्कृष्टता से लोक के एक किनारे से दूसरे किनारे तक है क्योंकि एकेन्द्रिय जीवों की इस प्रकार की उत्पत्ति संभव है। (१३५-१३६)

सामान्यतोऽपि जीवानां विभाव्यैतदपेक्षया ।

लोकान्तावधि लोकान्ता तैजसस्यावगाहना ॥१३७॥

तथा इस अपेक्षा को लेकर सामान्य रूप में भी जीवों की तेजस शरीर की अवगाहना लोक के एक किनारे से दूसरे किनारे तक होती है। (१३७)

अंगुलासंख्य भागेन प्रमिताथ जघन्यतः ।

निर्दिष्टा विकलाक्षाणां तैजसस्यावगाहना ॥१३८॥

तिर्यग्लोकाच्च लोकान्तावधि तेषां गरीयसी ।

संभवो विकलाक्षाणां यत्तिर्यग्लोक एव हि ॥१३९॥

विकलेन्द्रिय जीव के तेजस शरीर की अवगाहना जघन्य रूप में अंगुल के असंख्य भाग समान कही है, और उत्कृष्ट रूप में तिर्यग्लोक से लोकान्त तक की है क्योंकि विकलेन्द्रियों का संभव केवल तिर्यग्लोक में ही होता है। (१३८-१३९)

अधोलोकेऽप्यधोलोक ग्रामेषु दीर्घिकादिषु ।

उर्ध्वं च पांडकवनवर्तिं वापीहृदादिषु ॥१४०॥

सम्भवो विकलाक्षाणां यद्यप्यस्ति तथापि हि ।

सूत्रे स्वस्थानमाश्रित्य तिर्यग्लोको निरूपितः ॥१४१॥ युग्मम् ।

यद्यपि अधोलोक में भी अधोलोक गांव की बावडियों के विषय में तथा उर्ध्वलोक में पांडक वन मध्य में आई बावडी तथा हृद-सरोवर आदि में विकलेन्द्रियों का संभव है। फिर भी सूत्र में स्वस्थान में आश्रित तिर्यग्लोक कहा है। (१४०-१४१)

तत उक्तातिरिक्तापि विकलानां भवत्यसौ ।

अधोग्रामात्पांडकाच्च लोकाग्रान्ता गरीयसी ॥१४२॥

इसलिए कहा है कि इससे अधिक की अवगाहना विकलेन्द्रियों को होती है

अर्थात् उत्कृष्ट अधोग्राम और पांडकवन से लेकर उस लोकाग्र में अंत तक होता है। (१४२)

सातिरेकं योजनानां सहस्रस्याज्जघन्यतः ।

नारकाणां तैजसावगाहना साथ भाव्यते ॥१४३॥

नारकी के जीवों की जघन्य तेजस अवगाहना एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है। इस विषय में कहते हैं। (१४३)

सन्ति पाताल कलशाश्चत्वारोऽब्धौ चतुर्दिशम् ।

अथो लक्षं योजनानामवगाढा इह क्षितौ ॥१४४॥

सहस्र योजन स्थूल कुडयास्तेषां च निश्चिते ।

अधस्तने तृतीयांशे वायुर्वर्त्ति केवलम् ॥१४५॥

मध्यमे च तृतीयांशे मिश्रितौ सलिलानिलौ ।

तथोपरितने भागे तृतीये केवलं जलम् ॥१४६॥

समुद्र के अन्दर चार दिशाओं में चार पाताल कलश हैं। ये कलश पृथ्वी के अन्दर एक लाख योजन अवगाह करके रहते हैं। एक हजार योजन मोटे तले के कारण निश्चल रहते हैं। उन कलशों में बिलकुल नीचे तीसरे भाग में केवल वायु ही है, बीच के तीसरे विभाग में जल और वायु मिश्र रहते हैं और आखिरी ऊपर के तीसरे विभाग में केवल जल ही रहता है। (१४४-१४६)

ततश्च- सीमन्तकादि नरकवर्ती कश्चन नारकः ।

पातालं कलशासन्नो मरणान्त समुद्भूतः ॥१४७॥

कुडयं पाताल कुम्भानां विभिद्योत्पद्यते यतः ।

मत्स्यत्वेन तृतीयांशे मध्यमे चरमेऽपि वा ॥१४८॥ युग्म् ।

तस्माद्वाक् तु नैवास्ति तिर्यग्मनुज सम्भवः ।

उत्पत्तिचरिकाणां च न तिर्यग्मनुजौ बिना ॥१४९॥

इससे सीमंतक आदि नरक में रहने वाला कोई भी नारकी एक पाताल कलश के नजदीक में मरणांत समुद्घात करे तो पाताल कलश के तले को भेदन कर उस नारकी का जीव कलश के बीच अथवा आखिरी ऊपर के भाग में मत्स्य उत्पन्न होता है। क्योंकि उससे आगे तिर्यच अथवा मनुष्य का होना संभव नहीं है और नारकीयों की उत्पत्ति तिर्यच अथवा मनुष्य बिना नहीं है। (१४७-१४९)

उत्कर्षतस्त्वधो यावत्सप्तमीं नरकावनीम् ।

नारकाणामेत दन्तं स्वस्थान स्थिति सम्भवात् ॥१५०॥

तिर्यक् स्वयम्भूरमण समुद्रावधि सा भवेत् ।

नारकाणां तत्र मत्स्यादित्वेनोत्पत्ति सम्भवात् ॥१५१॥

ऊर्ध्वं च पंडक वन स्थायितोयाश्रयावधि ।

अतः ऊर्ध्वं तु कुत्रापि नृ तिर्यक् सम्भवोऽस्ति न ॥१५२॥

अब नारकी जीवों की उत्कृष्ट तेजस अवगाहना के विषय में कहते हैं। यह अवगाहना नीचे अन्तिम सातवें नरक तक होती है। क्योंकि इनका अपने स्थानों के विषय में ही रहने का संभव है और इन स्थानों का किनारा आ जाता है। तिरछा लोक आखिर स्वयंभूरमण समुद्र तक होता है। क्योंकि वहां उनका मत्स्यादि रूप में उत्पन्न होना संभव है तथा ऊँचाई में आखिर पांडक वन के जलाशय तक होता है क्योंकि इससे ऊपर तिर्यच अथवा मनुष्य की उपस्थिति कहीं पर भी नहीं होती। (१५० से १५२)

पंचेन्द्रिय तिरश्चां च जघन्या परमापि च ।

विकलेन्द्रियवत् ज्ञेयां तैजसस्यावगाहना ॥१५३॥

पंचेन्द्रिय तिर्यचो के तेजस शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट रूप में विकलेन्द्रिय के समान जानना। (१५३)

अंगुलासंख्येय भाग मात्रा नृणां जघन्यतः ।

उत्कर्षतश्च नृक्षेत्राल्लोकान्तावधि कीर्तिता ॥१५४॥

मनुष्य के तेजस शरीर की अवगाहना जघन्य रूप में अंगुल के असंख्यातवें विभाग जितनी और उत्कृष्ट रूप में आखिर भरत क्षेत्र से लोकांत तक जानना। (१५४)

भवन व्यन्तर ज्योतिष्काद्यद्विसर्गनाकिनाम् ।

अंगुला संख्येय भागमाना ज्ञेया जघन्यतः ॥१५५॥

ममत्वाभिनिविष्टानां स्वरत्नाभरणादिषु ।

पृथिव्यादितया तेषां तत्रैवोत्पत्ति सम्भवात् ॥१५६॥ युग्मं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पहले दो देवलोकों के देवों की तेजस अवगाहना जघन्य रूप में अंगुल के असंख्यातवें विभाग जितनी जानना। क्योंकि ये रत्न, आभूषण आदि में ममत्व रूप देव समझते हैं इस कारण ही पृथ्वी कायादिक रूप में उत्पन्न होना संभव है। (१५५-१५६)

उत्कर्षतस्त्वथः शैला नरकक्ष्मातलावधि ।
 गतानां तत्र केषां चित्तेषां मरण सम्भवात् ॥१५७॥
 तिर्यक् स्वयंभूरमणा परान्त वेदिकावधि ।
 ऊर्ध्वं तथेषत्प्राग्भारा पृथिव्यूर्ध्वं तलावधि ॥१५८॥
 एता वदन्तं पृथिवी कायत्वेन समुद्भवात् ।
 ततः परं च पृथिवीकायादीनाम सम्भवात् ॥१५९॥

तथा उत्कृष्ट रूप में नीचे अन्तिम शैला नामक नरक के तले तक जानना क्योंकि वहां जाने वाले कईयों की वहां मृत्यु होनी संभव होती है। तिरछा, अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र के अन्तिम किनारे की वेदिका तक जानना और ऊंचा अन्तिम सिद्ध शिला की पृथ्वी के ऊर्ध्व तले तक जानना क्योंकि वहां तक वे पृथ्वीकाय रूप में उत्पन्न होते हैं। उससे आगे पृथ्वीकायादि की उत्पत्ति नहीं होती है। (१५७ से १५९)

सनत्कुमार कल्पादि देवानां स्याज्जघन्यतः ।
 अंगुलासंख्येय भागमाना सैवं विभाव्यते ॥१६०॥

सनत्कुमार आदि देवलोक के देवों की जघन्य तैजस अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें विभाग सदृश होती है। (१६०)

वह इस प्रकार-

देवा सनत्कुमाराद्या उत्पद्यन्ते स्वभावतः ।
 गर्भजेषु नृतिर्यक्षु ध्रुवं नैकेन्द्रियादिषु ॥१६१॥

सनत्कुमार आदि देव स्वाभाविक रूप में गर्भज मनुष्य और तिर्यचों में उत्पन्न होते हैं। एकेन्द्रिय आदि में वे उत्पन्न नहीं होते हैं। (१६१)

यदा सनत्कुमारादि सुधाभुग्मन्दरादिषु ।
 दीर्घिकादौ जलक्रीडां कुवार्णः स्वायुषः क्षयात् ॥१६२॥

उत्पद्यते मत्स्यातया स्वात्यासन्न प्रदेशके ।

तदा जघन्या स्यादस्य यद्वैवं सम्भवत्यसौ ॥१६३॥ युगं।

ऐसा एक देव जब मन्दराचल पर्वत आदि में बावड़ी हृद, सरोवर आदि में जल क्रीड़ा करता हो उस समय आयुष्य का क्षय होने से अपने से अति नजदीक के प्रदेश में मत्स्य रूप में उत्पन्न होता है तब उसे जघन्य तैजस अवगाहना होती है। (१६२-१६३)

अथवा इस तरह संभव-उत्पन्न होता है-

पूर्व सम्बन्धिनीं नारीमुपभुक्तां महीस्युशा ।

कश्चित्सनत्कुमारादिदेवः प्रेम वशीकृतः ॥१६४॥

तदवाच्य प्रदेशे स्वमवाच्यांशं विनिक्षिपन् ।

परिष्वज्य मृतस्तस्या एव गर्भे समुद्भवेत् ॥१६५॥

किसी सनत्कुमारादि देव की अपने पूर्व सम्बन्ध वाली मनुष्य जीवन काल में भोगी हुई स्त्री के प्रति प्रेमातुर होकर उसके अवाच्य प्रदेश में अपन अवाच्य अंश को डालकर आलिंगन करते समय मृत्यु हो जाये तो वह उसी के ही गर्भ में उत्पन्न होता है। (१६४-१६५)

उत्कर्षतस्त्वधो यावत्पाताल कलशाश्रितम् ।

मध्यमीयं तृतीयांशं तत्र मत्स्यादि सम्भवात् ॥१६६॥

तिर्यक् स्वयंभूरमण पर्यन्तावधि सा भवेत् ।

अच्युत स्वर्ग पर्यन्तमूर्ध्व सा चेति भाव्यते ॥१६७॥

अब उनकी उत्कृष्ट अवगाहना नीचे पाताल कलश के बीच तीसरे भाग तक होती है, क्योंकि वहाँ मत्स्यादि का होना संभव है। तिरछा स्वयंभूरमण समुद्र के अन्तिम किनारे तक होता है और ऊँचा अन्तिम अच्युत देवलोक तक होता है। तथा उसकी भावना इस तरह से है। (१६६-१६७)

कश्चिदच्युतनाकस्थसुहृद्देवस्य निश्रया ।

देवः सनत्कुमारादिर्गतस्तत्र म्रियेत यत् ॥१६८॥

कोई सनत्कुमारादि देव अच्युत देवलोक में रहने वाले किसी मित्र देव की निश्रा से वहाँ गया हो और वहाँ मृत्यु प्राप्त करे। (१६८)

सहस्रारान्त देवानां भावनीयानया दिशा ।

कनिष्ठा च गरिष्ठा च तैजसस्यावगाहना ॥१६९॥

सहस्रार देवलोक तक के देवों की जघन्य और उत्कृष्ट तैजस अवगाहना इसी तरह चिन्तन होता है। (१६९)

आनताद्यच्युतान्तानां देवानास्याज्जघन्यतः ।

अंगुलासंख्येय भाग परिमाणावगाहना ॥१७०॥

आनत देवलोक से लेकर अच्युत देवलोक तक के देवों की जघन्य तैजस अवगाहना एक अंगुल के असंख्यातवें विभाग के समान होता है। (१७०)

उत्पद्यन्ते नरेष्वेव देवानन्वानतादयः ।

नराश्च नृक्षेत्र एव तदियं घटते कथम् ॥१७१॥

यहां कोई शंका करते हैं कि- अनंत देवलोक आदि के देव तो च्यवन करके मनुष्य लोक में ही उत्पन्न होते हैं और मनुष्य तो मनुष्य क्षेत्र में ही होता है, तो फिर जघन्य अवगाहना किस तरह हो सकती है ? (१७१)

अत्रोच्यते- उपभुक्तां मनुष्येण मानुषीं पूर्ववत्लभाम् ।

उपलभ्यावधिज्ञानात्प्रेमपाशानियन्त्रितः ॥१७२॥

इहागत्यासन्नमृत्युं तथा वृद्धिं विपर्ययात् ।

मलिनत्वाच्च कामानां वैचित्र्यात्कर्ममर्मणाम् ॥१७३॥

गाढानुरागादालिङ्ग्य तदवाच्य प्रदेशके ।

परिक्षिप्य निजावाच्यं म्रियते स्वायुषः क्षयात् ॥१७४॥

गर्भेऽस्या एव मृत्वायं यद्युत्पद्येत निर्जरः ।

आनतादि क्रतु भुजस्तदेयमुपद्यते ॥१७५॥

यहां शंका का समाधान करते हैं कि- मनुष्य जीवन काल में भोगी हुई अपनी पूर्व जन्म की स्नेह वाली मनुष्यनी (स्त्री) को अवधि ज्ञान से जानकर कोई आनत आदि देव स्नेह के कारण आकृष्ट होकर यहां मनुष्य क्षेत्र में आकर और मृत्यु नजदीक होने के कारण बुद्धि में विपरीतता आने से, काम की दुष्ट वासना से तथा कर्मों की विचित्रता से गाढ़ आलिङ्गन देकर उस स्त्री के अवाच्य प्रदेश में अपने अवाच्य अंश का क्षेपण-स्थापन करे और अपनी आयुष्य का क्षय होने के कारण मर जाये और इस तरह मृत्यु प्राप्त कर वह देव यदि उसी स्त्री के गर्भ में उत्पन्न हो तो उसकी यह जघन्य तेजस अवगाहना सुखपूर्वक घट सकती है। (१७२-१७५)

आनतादि क्रतुभजां मनोविषय सेविनाम् ।

काये नास्पृशतां देवीमपि क्षीणमनो भुवाम् ॥१७६॥

मनुष्यस्त्रियमाश्रित्य यद्येवं स्याद्विडम्बना ।

तर्हि को नाम दुर्वारं कन्दर्पं जेतुमीश्वरः ॥१७७॥ युगम् ।

केवल मन द्वारा ही विषय सेवन करने वाले, देवी का भी शरीर स्पर्श नहीं करने वाले तथा क्षीण कर्मा आनत आदि देवलोक के देव को मनुष्यनी (स्त्री) सम्बन्धी ऐसी विडम्बना होती है तो फिर ऐसे दुर्वार कामदेव को अन्य कौन जीत सकता है ? (१७६-१७७)

अधो यावदधो ग्रामास्तिर्यग् नृक्षेत्रमेव च ।

ततः परं मनुष्याणामुत्पत्ति स्थित्य सम्भवात् ॥१७८॥

इस तरह इनकी-आनतादि देवों की नीचे अवगाहना अधोग्राम तक की होती है और तिर्यग् अवगाहना मनुष्य क्षेत्र तक ही होती है क्योंकि इससे आगे मनुष्य की उत्पत्ति-स्थिति असंभव है। (१७८)

ऊर्ध्वमच्युत नाकान्तं गतानां मित्र निश्रया ।

आनतादि क्रतु भुजामयच्यते मृत्यु सम्भवात् ॥१७९॥

उनकी ऊर्ध्व अवगाहना अच्युत देवलोक तक होती है क्योंकि मित्र की निश्रा से वहां गये हुए की मृत्यु संभव हो सकती है। (१७९)

ऊर्ध्वमच्युत जानां तु स्वविमान शिरोऽवधि ।

स्वैरं तत्र गतानां यत् केषांचित् सम्भवेन्मृतिः ॥१८०॥

अच्युत देवलोक के देवों की ऊर्ध्व अवगाहना अपने विमान के शिखर पर्यन्त होती है क्योंकि स्वच्छंद रूप से वहां जाने पर मृत्यु संभव हो सकती है। (१८०)

ग्रैवेयकानुत्तरस्थ सुराणां सावगाहना ।

यावद्विधाधर श्रेणीमास्व स्थानाजघन्यतः ॥१८१॥

खेचर श्रेणि परतो मनुष्याणाम् सम्भवात् ।

ग्रैवेयकादि देवानामप्यत्रागत्य सम्भवात् ॥१८२॥

ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देवों की तैजस अवगाहना जघन्य रूप में अपने स्थान से विधाधरों की श्रेणि तक होती है क्योंकि विधाधरों की श्रेणि से आगे मनुष्यों का जाना असंभव है और ग्रैवेयक आदि के देवों का भी यहां आना संभव नहीं है। (१८१-१८२)

अधोयावदधोग्रामानूर्ध्वं च स्वाश्रयावधि ।

तिर्यक् घुनर्नर क्षेत्र पर्यन्तं सा प्रकीर्तिता ॥१८३॥

उनकी नीचे अवगाहना अधोग्राम तक की है, ऊर्ध्व अपने स्थान तक की और तिर्यक् मनुष्य क्षेत्र तक की है। (१८३)

यावन्नदीश्वरं खेटाः सस्त्रीका यान्ति यद्यपि ।

संभोगमपि कुर्वन्ति तत्र कामेषुनिर्जिताः ॥१८४॥

परं नोत्पद्यते गर्भं नरो नृक्षेत्रतो बहिः ।

ततः उत्कर्षतस्तिर्यग् नृक्षेत्रावधि सोदिता ॥१८५॥

इत्यर्थतः प्रज्ञापन सूत्रैक विंशतितमपदे॥

अगर विधाधर स्त्री के साथ में नन्दीश्वर द्वीप तक आता है और वह काम के बाण से पराजित होकर वहां संसार संभोग भी करता है, परन्तु मनुष्य क्षेत्र से बाहर गर्भ में मनुष्य उत्पन्न नहीं होता । इसलिए उनकी तिर्यक् अवगाहना उत्कृष्ट रूप में मनुष्य क्षेत्र तक ही कही है । (१८४-१८५)

इस तरह पत्रावणा सूत्र के इक्कीसवें पद में अर्थ कहा है। "इति प्रमाणवगाहकृतः विशेषः" इस तरह प्रमाणवगाह कृत विशेष रूप में कहा है ।

स्थितिरौदारिकस्यान्तर्मुहूर्त्तं स्याज्जघन्यतः ।

उत्कृष्टा त्रीणि पल्यानि सातु युग्मिष्यपेक्षया ॥१८६॥

औदारिक शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है और यह युगालियों की अपेक्षा से कहा है । (१८६)

दशवर्षं सहस्राणि जघन्या जन्म वैक्रिये ।

त्रयस्त्रिंशत्सागराणि स्थितिरुत्कर्षतः पुनः ॥१८७॥

वैक्रिय शरीर की जघन्य स्थिति जन्म से लेकर दस हजार वर्ष की होती है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की होती है । (१८७)

वैक्रियस्य कृतस्यापि जघन्यान्तर्मुहूर्त्तकी ।

ज्येष्ठा तु जीवाभिगमे गदिता गाथया नया ॥१८८॥

कृत्रिम वैक्रिय शरीर की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है व उत्कृष्ट स्थिति जीवाभिगम सूत्र में इस तरह गाथा कही है । (१८८)

अंतं मुहूर्त्तं नरएसु होइ चत्तारि तिरियमणुए सु ।

देवेसु अद्दमासो उक्कोस धिउवणा कालो ॥१८९॥

कृत्रिम वैक्रिय का उत्कृष्ट काल नारकियों में अन्तर्मुहूर्त्त का, तिर्यच और मनुष्यों में चार अन्तर्मुहूर्त्त का और देवों में अर्धमास (पखवारा) का होता है ।

(१८९)

पंचमांगे तु वायूनां संज्ञि तिर्यग्नृणामपि ।

ज्येष्ठाप्येकान्तर्मुहूर्त्ता प्रोक्ता वैकुर्विक स्थितिः ॥१९०॥

पांचवें अंग में तो वायु की तथा संज्ञितिर्यच और मनुष्य की भी कृत्रिम वैक्रिय स्थिति उत्कृष्ट रूप में एक अन्तर्मुहूर्त का कही है । (१६०)

श्री सूत्र कृतांगे तु -

वेयालिए नाम महभियावे एगायए पव्वतमंतरिख्खे ।

हम्मंति तत्था बहुकूर कम्मा पर सहस्सा उ मुहुत्त याणं ॥१६१॥

आकाश में शिला का बनाया जो वैक्रिय पर्वत होता है, वहां बहुत क्रूरता पूर्वक नारकी को हजारों मुहूर्त के बहुत समय तक मारने में आता है । (१६१)

ऐसा सूत्र कृतांग (सूयगडांग) सूत्र में कहा है ।

“नामेति संभावने । एतन्नरकेषु यथान्तरिक्षे महाभितापे महादुःखे एक शिलाघटितः दीर्घ वेयालिए ति वैक्रिय परमाधामिक निष्पादितः पर्वतः । तत्र हस्त स्पर्शि कथा समारूहन्तो नारक बहु क्रुरकर्माणो हन्यन्ते पीडयन्ते । सहस्रसंख्यानां मुहूर्तानां पर प्रकृष्टं प्रभूतं कालं हन्यन्ते । इत्यर्थः ।”

यहां नाम शब्द संभव के अर्थ में है । इन नरकों में अन्तरिक्ष के समान महादुःखदायक एक शिला का बनाया हुआ लम्बा वैक्रिय द्वारा परमाधामियों द्वारा तैयार पर्वत है, उसके ऊपर हाथ के सहारे से चढ़ते नरक के हजारों जीवों को अतीव क्रूरतापूर्वक मारा जाता है ।

“अत्र परमाधार्मिक देवविकुर्वितस्य पर्वतस्य अर्धमासाधि कापि स्थितिरुक्ता इति ज्ञेयम् । तत्त्वं तु जिनो जानीते ॥”

यहां परमाधामियों द्वारा बनाये पर्वत की आधे महीने से अधिक स्थिति भी कही । वास्तविकता क्या है वह जिनेश्वर भगवान् जानें ।

अंतर्मुहूर्तं द्वेधापि स्थितिराहारकस्य च ।

अनादिके प्रवाहेण सर्वतैजस कार्मणे ॥१६२॥

सावसाने तु भव्यानां सिद्धत्वे तद् भावतः ।

अभव्यानां निरन्ते च पंगूनां मुक्ति वत्सर्नि ॥१६३॥

इति स्थितिकृतः विशेषः ।

आहारक शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों स्थिति अन्तर्मुहूर्त की हैं । तेजस और कार्मण शरीर प्रवाह से अनादि है । भव्य जनों को तो सिद्धावस्था में इन दोनों का अभाव होने से सान्त-नाशवान् है जबकि मोक्ष मार्ग में जाने में अशक्त अभव्य जीवों को ये दोनों अनन्त हैं । (१६२-१६३)

इस तरह से स्थिति सम्बन्धी विशेष कहा है।

आहारकं सर्वतोऽल्पं यत्कदाचिद्भवेदिदम् ।

भवेद्यदि तदाप्येतदेकं द्वे वा जघन्यतः ॥१६४॥

सहस्राणि नवोत्कर्षाद सत्तास्य जघन्यतः ।

एकं समयमुत्कृष्टा षण्मासावधि विष्टये ॥१६५॥ युग्मं।

आहारक शरीर सर्व से अल्प है क्योंकि यह कदाचित ही होता है और जब होता है तब भी जघन्य से एक अथवा दो होता है और उत्कृष्ट नौ हजार होता है। इसकी जगत् के विषय में असत्ता जघन्य एक समय तक है और उत्कृष्ट से छः महीने तक की है । (१६४-१६५)

उक्तच- आहार गाड़ लोगे छम्मासा जा न होति विक्रयाड्।

उक्कोसेणं नियमा एक्कं समयं जहन्नेणं ॥१६६॥

कहा है कि- इस लोक में निश्चय से आहारक शरीर उत्कृष्ट छः महीने तक नाश नहीं होता और जघन्य से एक समय तक इसका अभाव रहता है । (१६६)

आहारकादसंख्येय गुणानि वैक्रियाणि च ।

तत्स्वामिनाम संख्यत्वान्नारकाणि सुपर्वणाम् ॥१६७॥

आहारक शरीर से असंख्यात गुणा वैक्रिय शरीर होता है क्योंकि वैक्रिय शरीर के धारण करने वाले नारकी जीव मनुष्य और देव असंख्य हैं । (१६७)

अप्यौदारिक देहाः स्युस्तदसंख्य गुणाधिकाः ।

आनन्त्येऽपि तदीशानाम संख्या एव ते यतः ॥१६८॥

प्रत्यंगं प्राणिनो यत्स्युः साधारण वनस्पतौ ।

अनन्तास्तानि चासंख्यान्यैवांगानि भविन्त हि ॥१६९॥

तेभ्योऽनन्त गुणास्तुल्या मिथस्तैजस कार्मणाः ।

यत्प्रत्येकमिमे स्यातां द्वे देहे सर्वदेहिनाम् ॥२००॥

इति अल्पबहुत्व कृतो विशेषः॥

औदारिक शरीर भी वैक्रिय से असंख्यात गुणा हैं तथा औदारिक शरीर वाले जीव अनन्त हैं । फिर भी शरीर तो असंख्यात हैं क्योंकि उदाहरण के तौर पर साधारण वनस्पति में प्रत्येक अंग में जीव अनन्त है परन्तु शरीर असंख्यात ही होता है । औदारिक से अनन्त गुणा तैजस और कार्मण शरीर होते हैं । इन दोनों की संख्या समान है क्योंकि दोनों प्रत्येक प्राणी को होते हैं । (१६८ से २००) इस तरह अल्प बहुत्व कृत विशेष कहा है ।

एक जीवापेक्षया स्याज्जयेष्टमौदारि कान्तरम् ।

अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिका स्वयस्त्रियंशत्ययोधयः ॥२०१॥

एक जीव की अपेक्षा से औदारिक शरीर का अन्तर उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम और एक अन्तर्मुहूर्त्त का होता है । (२०१)

तथोक्तं जीवाभिगम वृत्तौ

उत्कर्षतस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि ॥

तानि चैवम् । कश्चिच्चारित्री वैक्रिय शरीरं कृत्वान्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा स्थिति क्षयादविग्रहेणानुत्तर सुरेषु जायत इति ॥

जीवाभिगम सूत्र की वृत्ति में कहा है कि औदारिक शरीर का अन्तर उत्कृष्ट तैतीस सागरोपम और एक अन्तर्मुहूर्त्त का है । इसी तरह से जैसे कि-कोई चारित्रवंत जीव वैक्रिय शरीर कर स्थिति क्षय के कारण केवल अन्तर्मुहूर्त्त जी कर, वहां से बिना शरीर अनुत्तर विमान के देवों में उत्पन्न होता है ।

वैक्रियस्यान्तरं कायस्थिति कालो वनस्पतेः ।

अर्धस्य पुद्गल परावर्त्तं आहारकान्तरम् ॥२०२॥

वैक्रिय शरीर का उत्कृष्ट अंतर वनस्पति काय की स्थिति काल के समान है और आहारक शरीर का उत्कृष्ट अर्धपुद्गल परावर्त्तन के समान है । (२०२)

लघु चाद्यस्स समायोऽन्तर्मुहूर्त्तं तदन्ययोः ।

न सम्भवत्यन्तरं च देहयोरुक्त शेषयोः ॥२०३॥

इत्यन्तरं कृतो विशेषः । इति देह स्वरूपम् ॥६॥

प्रथम औदारिक शरीर का अन्तर जघन्य से एक समय का है । बाद के दो वैक्रिय और आहारक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है । शेष दो कार्मण और तेजस का अन्तर संभव नहीं होता। इस तरह अन्तर सम्बन्धी भेद प्रभेद का अन्तर समझाया । (२०३) इस तरह देह नामक नौवें द्वार का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

संदं सल्लक्षणोपेतं प्रतीकं सन्निवेशजम् ।

शुभाशुभाकार रूपं षोढा संस्थानमंगिनाम् ॥२०४॥

शुभ-अशुभ लक्षण वाले, अच्छे खराब आकृति रूप प्राणी का संस्थान इसके अवयवों के सन्निवेश को लेकर छः प्रकार का होता है । (२०४)

वह इस प्रकार-

समचतुरस्रं न्यग्रोध सादि वामनक कुब्ज हुंडानि ।

संस्थानान्यंगेस्युः प्राक्कर्म विपाकतोऽसुमताम् ॥२०५॥

पूर्व कर्म के विपाक से जीव को १- समचतुरस्र, २- न्यग्रोध, ३- सादि, ४- वामन, ५- कुब्ज और ६- हुडक ये छः प्रकार का शरीर संस्थान होता है । (२०५)

तत्र चाद्यं चतुरस्रं संस्थानं सर्वतः शुभम् ।

न्यग्रोधमूर्ध्वं नाभेः सत् सादि नाभेरथः शुभम् ॥२०६॥

प्रथम समचतुरस्र संस्थान सर्व प्रकार से शुभ होता है । दूसरा न्यग्रोध संस्थान नाभि से ऊपर के भाग में शुभ होता है और तीसरा सादि संस्थान नाभि से नीचे के भाग में शुभ होता है । (२०६)

इदं साचीति केऽप्याहुः साचीति शाल्मली तरुः ।

मूले स्याद् वृत्त पुष्टोऽसौ न च शाखासु तादृशः ॥२०७॥

इस सादि संस्थान को कई साचि कहते हैं, साचि अर्थात् शाल्मली नाम का वृक्ष है । वह मूल में गोलाकार और पुष्ट होता है, परन्तु उसकी शाखा ऐसी नहीं होती । (२०७)

तथोक्तं पंच संग्रह वृत्तौ

अपरे तु साचीति पठन्ति तत्र साचीति प्रवचन वेदिनः
शाल्मलीतरुमाचक्षते । ततः साचीव यत्संस्थानं तत्साचीति। एवं च
न्यग्रोध साचिनोरन्वि तार्थता भवतीति ज्ञेयम् ॥

पंच संग्रह की टीका में कहा है कि अन्य सादि के स्थान पर साचि कहते हैं । सिद्धान्त के ज्ञान वाले साचि का शाल्मली वृक्ष अर्थ कहते हैं इसलिए साचि वृक्ष के समान जो संस्थान है वह साचि संस्थान है । इस तरह साचि और न्यग्रोध इन शब्दों के अर्थ का यथायोग्यत्व कहलाता है ।

मौलि ग्रीवा पाणि पादे कमनीयं च वामनम् ।

लक्षितं लक्षणैर्दुष्टैः शेषेष्ववयवेषु च ॥२०८॥

मस्तक गर्दन, हाथ और पैर सुन्दर-मनोहर हों और शेष अवयवों के खराब लक्षण हों, वह संस्थान वामन संस्थान कहलाता है । (२०८)

रम्यं शेष प्रतीकेषु कुब्ज संस्थानमिष्यते ।

दुष्टं किन्तु शिरोग्रीवा पाणि पादे भवेदिदम् ॥२०९॥

मस्तक, गर्दन, हाथ और पैर- ये चार खराब लक्षण वाले हों और शेष अवयव सुन्दर हों वह कुब्ज (कुबड़ा) संस्थान कहलाता है । (२०६)

हुंडं तु सर्वतो दुष्टं केचिद्दामन कुब्जयोः ।
विपर्यासमाम नन्ति लक्षणे कृत लक्षणाः ॥२१०॥

इति संस्थान स्वरूपम् ॥१०॥

सब अवयव मात्र खराब हों ऐसा हुंडक संस्थान कहलाता है । कई लक्षण शास्त्रियों ने वामन और कुब्ज संस्थानों के पूर्व से विपरीत लक्षण कहे हैं । (२१०)

इस तरह दसवां द्वार संस्थान का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

अंगमानं तु तुंगत्वमानमंगस्य देहिनाम् ।
स्थूलता पृथुताद्यंतु ज्ञेय मौचित्यतः स्वयम् ॥२११॥

इति अंगमान स्वरूपम् ॥११॥

अंगमान अर्थात् जीव के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण, इसकी मोटाई और चौड़ाई आदि तो उसकी योग्यता अनुसार स्वयमेव समझ लेना । (२११)

इस तरह ग्यारहवां द्वार अंगमान का स्वरूप कहा है।

समित्येकी भाव योगाद्वेदनादिभिरात्मनः ।
उत्प्राबल्येन कर्माश घातो यः स तथोच्यते ॥२१२॥

सम अर्थात् एकीभाव या समान भाव के योग से वेदना आदि भोगकर आत्म के कर्मों का उद्घात-उसका नाश करना, उसका नाम समुद्घात कहलाता है । (२१२)

यतः समुद्घातगतो जीवः प्रसह्य कर्म पुद्गलान् ।
कालान्तरानुभवाहानपि क्षपयति द्रुतम् ॥२१३॥

क्योंकि समुद्घातगत जीव जो बहुत काल के बाद भोगने को होते हैं ऐसे कर्मपुद्गलों को, तुरन्त बल का उपयोग कर खत्म कर देते हैं । (२१३)

तच्चैत्रम्- कालान्तरवे द्यानयमाकृष्योदीरणेन कर्माशान् ।
उदयावलि कार्या च प्रवेश्य परिभुज्य शतयति ॥२१४॥

वह इस तरह-आत्मा कालान्तर में वेदने लायक कर्म पुद्गलों को उदीरणा द्वारा आकर्षण कर उदय में लाकर भोगता है और उसे खत्म करता है । (२१४)

ते चैवन्-वेदनोत्थः कषायोत्थो मरणान्तिक वैक्रियौ ।

आहारकस्तैजसश्च छद्मस्थानां षड्प्यर्मा ॥२१५॥

स्यात्केवलि समुद्घातः सप्तमः सर्ववेदिनाम् ।

अष्ट सामायिकश्चायमान्तर्मुहूर्त्तिकाः परे । ॥२१६॥

सात में से छः प्रकार के समुद्घात १- वेदना से, २- कषाय से, ३- मरणान्तिक, ४- वैक्रिय, ५- आहारक और ६- तैजसते ये छद्मस्थ जीव को होते हैं । सातवां केवलि समुद्घात सर्वज्ञ को होता है और वह आठ समय का होता है जबकि पहले वाले छः एक अंतर्मुहूर्त्त के होते हैं । (२१५-२१६)

तथाहि- करालितो वेदनाभिरात्मा स्वीय प्रदेशकान् ।

विक्षिप्यानन्तर परमाणु वेष्टतान् देहतो बहिः ॥२१७॥

आपूर्यासाधन्तराणि शुधिराणि च ।

विस्ताराया मतः क्षेत्रं व्याप्य देह प्रमाणकम् ॥२१८॥

तेष्टे दन्तर्मुहूर्त्तं च तत्र चान्तर्मुहूर्त्तके ।

आसातवेदनीयांशान् शातयत्येव भूरिशः ॥२१९॥

वह इस तरह- वेदना से दुःखित हुआ आत्मा, अनन्त कर्म परमाणुओं द्वारा घिरा हुआ, अपने आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर कंधा आदि के अन्तरो को तथा मुख आदि खाली विभागों को पूरकर लम्बाई, चौड़ाई से शरीर प्रमाण क्षेत्र में फैलाकर अन्तर्मुहूर्त्त तक रहे और उस अन्तर्मुहूर्त्त में यह आत्मा अशाता वेदनीय कर्म के बहुत अंशों को खत्म कर देता है । (२१७-२१९)

इति वेदना समुद्घातः ॥ अर्थात् इसका नाम वेदना समुद्घात है ।

समाकुलः कषायेन जीवः स्वीय प्रदेशकैः ।

मुखादि रंध्राण्यापूर्यतान् विक्षिप्य च पूर्ववत् ॥२२०॥

विस्तारायामतः क्षेत्रं व्याप्य देह प्रमाणकम् ।

कषाय मोहनीयाख्य कर्माशान् शातयेद्बहून् ॥२२१॥ युग्मं ।

शातयंश्चापरान् भूरीन् समादत्ते स्वहेतुभिः ।

ज्ञेयं सर्वत्र नैवं चेदस्मात् मुक्तिः प्रसज्यते ॥२२२॥

कषायस्य समुद्घातश्चतुर्द्वायं प्रकीर्तिनः ।

क्रोध मान माया लोभैर्हेतुभिः परमार्थतः ॥२२३॥

इति कषाय समुद्घातः ॥

दूसरा कषाय से व्याकुल प्राणी आत्म प्रदेशों द्वारा मुख आदि खाली विभागों को पूर्ण कर और उन्हें पूर्व के समान विक्षेप कर लम्बाई, चौड़ाई में शरीर प्रमाण क्षेत्र में व्याप कर कषाय मोहनीय नामक कर्म के बहुत अंशों को खत्म करता है और खत्म करने हेतु अन्य अनेक अंशों को ग्रहण करता है (इस तरह सर्वत्र समझना) । यदि इस तरह न हो तो फिर उसे मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग नहीं आता है। यह कषाय समुद्घात क्रोध, मान, माया और लोभरूप हेतुओं से चार प्रकार का कहा है । इसका नाम कषाय समुद्घात कहलाता है। (२२० से २२३)

अंतर्मुहूर्त्त शेषायुर्मरणान्त करालितः ।

मुखादिरन्धाण्यापूर्य शरीरी स्वप्रदेशकैः ॥२२४॥

स्वांगविष्कम्भ वाहल्यं स्व शरीरातिरे कतः ।

जघन्यतोऽंगुलासंख्येयांशमुत्कर्षतः पुनः ॥२२५॥

असंख्य योजनान्येकदिश्युत्पत्ति स्थलावधि ।

आयामतोऽपि व्याप्यान्तर्मुहूर्त्तान्ध्रियते ततः ॥२२६॥

मरणान्त समुद्घातं गतो जीवश्च शान्तयेत् ।

आयुषः पुद्गलान् भूरीनादत्ते च नवान्नतान् ॥२२७॥

तीसरा- मरणान्त से दुःखित बने जीव का जब अन्तर्मुहूर्त्त आयुष्य शेष रहता है तब वह जीव आत्म प्रदेशों से मुखादि छिद्र विभाग को पूर्ण कर मोटाई-चौड़ाई में शरीर प्रमाण तथा लम्बाई में जघन्यतः अंगुल के असंख्यात विभाग जितना और उत्कृष्ट रूप में एक दिशा में आखिर उत्पत्ति स्थान तक असंख्यात योजन समान व्याप कर अन्तर्मुहूर्त्त में मृत्यु प्राप्त करता है । यह जीव बहुत आयुष्य पुद्गलों को खतम कर देता है परन्तु नये को ग्रहण नहीं करता । (२२४ से २२७)

“अत्रायं विशेषः। कश्चिज्जीवः एकेनैव मरणान्तिक समुद्घातेन नरकादिभूत्पद्यते तत्राहारं करोति शरीरं च बध्नान्ति कश्चित्तु समुद्घातान्निवृत्य स्व शरीर मागत्य पुनः समुद्घातं कृत्वा तत्रोपपद्यते । अयमर्थो भगवती षष्ठ शत कषष्टोद्देशके नरकादिषु अनुत्तरान्तेषु सर्व स्थानेषु भावतोऽस्तीति ज्ञेयम् ॥”

इति मरणान्तिक समुद्घातः ।

इस विषय में इस तरह विशिष्टता है- कोई जीव एक ही मरणान्तिक समुद्घात करके नरकादि में उत्पन्न होता है । वहां आहार करता है और शरीर भी

बांधता है और कोई समुद्घात से निवृत्त होकर वापिस अपने शरीर में आकर पुनः समुद्घात कर वहां उत्पन्न होता है । यह अर्थ भगवती सूत्र के छठे शतक के छठे उद्देश में नरकादि से अनुत्तर के अन्तभाग तक के सभी स्थानों में कहा है । इस तरह मरणान्तिक समुद्घात है ।

वैकुर्विक समुद्घातं प्राप्तो वैक्रिय शक्तिमान् ।

कर्मावृता नामात्मात्मीय प्रदेशानां तनोर्बहिः ॥२२८॥

निमृज्य दंडं विष्कम्भ बाहल्याभ्यां तनुप्रमम् ।

आयामतस्तु संख्यात योजन प्रमितं ततः ॥२२९॥

वैक्रियांगाभिधनाम् कर्मांशान् पूर्वमर्जितान् ।

शातयन् वैक्रियांगार्हान् स्कन्धांल्लात्वा करोति तत् ॥२३०॥ विशेषकम् ।

इति वैक्रिय समुद्घातः।

चौथे वैक्रिय समुद्घात को प्राप्त करने वाला वैक्रिय शक्ति वाला जीव कर्मों से घिरा हुआ आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल कर मोटाई, चौड़ाई में अपने शरीर के अनुसार तथा लम्बाई में संख्यात योजन समान दंडाकार बनाकर फिर पूर्व उपार्जित वैक्रिय शरीर नामकर्म के अंशों को शान्त करता है और वैक्रिय शरीर के योग्य स्कन्धों को लेते हुए समुद्घात करता है । इसका नाम वैक्रिय समुद्घात कहलाता है । (२२८ से २३०),

समुद्भूतस्तैजसेन तेजो लेश्याख्य शक्तिमान् ।

कर्मावृतात्म प्रदेशराशे वैक्रियवद् बहिः ॥२३१॥

देह विस्तार बाहल्यं संख्येय योजनायतम् ।

निमृज्य दंडं प्राग्बद्धान् शातयेत्तैजसाणुकान् ॥२३२॥ (युग्म १)

अन्यानादाय तद्योग्यान् तेजोलेश्यां विमुंचति ।

तैजसोऽयं समुद्घातः प्रज्ञप्तस्तत्त्व पारगैः ॥२३३॥

इति तैजस समुद्घातः।

पांचवे तैजस समुद्घात को प्राप्त करने वाला तेजोलेश्या नाम की शक्ति वाला जीव वैक्रिय के समान कर्मों से घिरा हुआ आत्म प्रदेशों को बाहर निकालकर उनको अपने शरीर के अनुसार मोटा, चौड़ा और संख्यात योजन लम्बा दण्डाकार करके पूर्वबद्ध तैजस अंशों को खत्म करता है और योग्य अंशों को लेकर तेजोलेश्या छोड़ता है । इसका नाम तैजस समुद्घात है । (२३१ से २३३)

चतुर्दशानां पूर्वाणं धर्ताहारकलब्धिमान् ।

जिनर्द्धिं दर्शनादीनां मध्ये केनापि हेतुना ॥२३४॥

आहारक समुद्घातं कुर्वन्नात्म प्रदेशकैः ।

दंडं स्वांगं प्रथु स्थूलं संख्येय योजनायतम् ॥२३५॥

निसृज्य पुद्गलानाहारकनाम्नः पुरातनान् ।

विकीर्यादाय तद्योग्यान् देहमाहारकं सृजेत ॥२३६॥ विशेषकम् ।

इति आहारक समुद्घातः ।

छठे आहारक लब्धि वाले चौदह पूर्वधारी जिनेश्वर भगवन्त की समृद्धि देखने आदि किसी हेतु से आत्म प्रदेश द्वारा शरीर प्रमाण मोटा, चौड़ा और संख्यात योजन लम्बा दण्ड करके पुरातन (प्राचीन) आहारक पुद्गलों को बिखेरकर तथा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके आहारक शरीर का सृजन करना उसका नाम आहारक समुद्घात है । (२३४ से २३६)

यस्यायुषोऽतिरिक्तानि कर्माणि सर्वं वेदिनः ।

वेद्याख्यनाम गोत्राणि समुद्घातं करोति, सः ॥२३७॥

अब सातवें व अन्तिम केवल समुद्घात के विषय में कहते हैं कि- जिस सर्वज्ञ केवल ज्ञानी को आयु से अधिक स्थिति वाले वेदनीय नाम और गोत्र कर्म होते हैं वे केवली भगवन्त समुद्घात करते हैं । (२३७)

आन्तर्मुहूर्तिकं पूर्वभावर्जीकरणं सृजेत् ।

अन्तर्मुहूर्तं शेषायुः समुद्घातं ततो व्रजेत् ॥२३८॥

प्रथम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त आवर्जीकरण करते हैं और फिर जब आयुष्य अन्तर्मुहूर्त शेष रहे उस समय समुद्घात करते हैं । (२३८)

आवर्जीकरणं शस्तयोग व्यापारणं मतम् ।

इदं त्ववश्यं कर्त्तव्यं सर्वेषां मुक्तिगामिनाम् ॥२३९॥

आवर्जीकरण अर्थात् शुभ योगों का व्यापार । वह सर्व मोक्ष मार्गों को अवश्य करना पड़ता है । (२३९)

आत्म प्रदेशैर्लोकान्तं स्पृशामूर्ध्वमधोऽपि च ।

कुर्यादाद्यक्षणे दण्डं स्वदेहं स्थूलं विस्तृतम् ॥२४०॥

प्रथम समय में वे केवली भगवन्त आत्म प्रदेश द्वारा स्व शरीर के अनुसार

मोटा, चौड़ा, ऊँचा, नीचा सुद्धा लोकान्त को स्पर्श करने वाले दण्ड सृजन करते हैं । (२४०)

द्वितीये समये तस्य कूर्यात्पूर्वापरायतम् ।

कपाटं पाटवोपेतः समयेऽथ तृतीयके ॥२४१॥

ततो विस्तार्य प्रदेशानुदीची दक्षिणा यतम् ।

मंथानं कुरुते तुर्ये ततोऽन्तराणि पूरयेत् ॥२४२॥ युग्मं ।

दूसरे समय में ये केवली भगवन्त चातुर्य पूर्वक इस दण्ड को पूर्व-पश्चिम लम्बा कपाट के आकार का बनाते हैं । फिर तीसरे समय में इसमें से प्रदेशों के उत्तर-दक्षिण लम्बे विस्तार को मंथानी रूप में करते हैं और चौथे समय में सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं, उसके अन्तर को भर लेते हैं । (२४१-२४२)

स्वप्रदेशैस्तदा सर्वान् लोकाकाश प्रदेशकान् ।

स व्याप्नोति समाहृते लोकाकाशैक जीवयोः ॥२४३॥

उस समय उन आत्म प्रदेशों द्वारा लोकाकाश-चौदह राजलोक के सर्व प्रदेशों में व्याप्त हो जाते हैं अतः जहाँ खाली जगह रह जाती है उसको भरकर आत्मा लोकाकाश और एक जीव के समान प्रदेश हो जाते हैं । उस समय आत्मा का विराट् स्वरूप बनता है । (२४३)

संहरेत् पंचमे चासौ समयेऽन्तर पूरणम् ।

षष्ठे संहृत्य मन्थानं संहरेत्सप्तमेऽररिम् ॥२४४॥

संहरेदष्टमे दण्डं शरीरस्थस्ततो भवेत् ।

अन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा योगरोधाच्छिवं व्रजेत् ॥२४५॥

उसके बाद पांचवें समय में अन्तराल को सिकोड़ते हैं, तत्पश्चात् छठे समय में मंथानी को सिकोड़ते (समेटते) हैं और सातवें समय में कपाट को सिकोड़ते हैं । आठवें समय में दण्ड को समेट कर पहले की तरह अपने मूल शरीर में ही स्थित हो जाते हैं । फिर अन्तर्मुहूर्त्त जीकर योगरोधन कर मोक्ष जाते हैं । (२४४-२४५)

यदाहुः- यस्य पुनः केवलिनः कर्म भगत्या युषोऽतिरिक्त तरम् ।

स समुद्घातं भगवानुपगच्छति तत्समी कर्तुम् ॥२४६॥

कहा है कि- अगर किसी केवल ज्ञानी भगवन्त के, आयुष्य कर्म-वेदनीय

आदि कर्म अधिकतर रह गये हों तो उन्हें बराबर करने के लिए केवली समुद्घात करते हैं । (२४६)

यह प्रशमरति की २७३वीं गाथा है ।

दंडं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।

मन्थानमथ तृतीये विश्वव्यापी चतुर्थे तु ॥२४७॥

संहरति पंचमेत्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।

सप्तमेके तु कपाटं सहरति ततोऽष्टमे दंडम् ॥२४८॥

केवल ज्ञानी समुद्घात करते समय प्रथम समय में दण्ड के आकार से आत्म प्रदेश को नीचे से ऊपर लोक के अन्त तक फैलाते हैं । दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्म प्रदेश बनाकर फैलाते हैं अर्थात् दक्षिण-उत्तर दिशा में लोक के अन्त तक आत्म प्रदेशों को फैलाते हैं । तीसरे समय में उस कपाट को मथानी के आकार का बनाते हैं अर्थात् पूर्व-पश्चिम में लोक के अन्त तक आत्म प्रदेशों को मथानी के आकार का बनाकर फैलाते हैं और चौथे समय में मथानी से अन्तराल-जहां खाली जगह रह जाती है उसको भरकर आत्मा चौदह राजलोक विश्वव्यापी हो जाता है। उस समय आत्मा का विराट स्वरूप होता है । इस तरह चार समय में अघाती कर्म सम स्थिति वाले बनाकर वे आत्मप्रदेशों का उपसंहार कर (समेट) लेते हैं अर्थात् पांचवे समय में अन्तराल के प्रदेशों को समेट लेते हैं । छठे समय में मथानी को समेटते हैं, सातवें समय में कपाट को सिकोड़ते हैं और आठवें में दण्ड को समेट कर पहले की तरह अपने मूलरूप शरीर में स्थिर हो जाते हैं ।

(२४७-२४८)

ये प्रशमरति में २७३ और २७४ वीं गाथाएं आई हैं ।

औदारिक प्रयोक्ता प्रथमाष्टमसयोरसाविष्टः ।

मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तमषष्ठ द्वितीयेषु ॥२४९॥

कार्मण शरीरयोक्ता चतुर्थके पंचमे तृतीय च ।

समयत्रयेपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२५०॥

पहले और आठवें समय में औदारिक शरीर का योग होता है क्योंकि उस समय केवली भगवान् अपने मूल शरीर में ही स्थिर होते हैं । कपाट का उपसंहार सातवें में होता है, मथानी का उपसंहार छठे समय में होता है और कपाट का

आकार द्वितीय समय में होता है । इन तीनों समय में कार्मण युक्त औदारिक शरीर का योग होता है । चौथे समय में मथानी के अन्तरालों को भरा जाता है तब वे चौदह राजलोक व्यापी बन जाते हैं । पंचवें समय में मथानी के अन्तराल का उपसंहार करते हैं और तीसरे समय में मथानी का आकार होता है । इन तीनों ही समयों में कार्मण शरीर योग होता है व उसमें जीव नियम से अनाहारक होते हैं ।
(२४६-२५०)

ये प्रशमरति की २७५-२७६ वीं गाथाएं हैं ।

किं च- समुद्घातानिवृत्यासौत्रिधा योगान् भुनक्त्यपि ।

सत्यासत्यामृषामिच्छ्यौ योगौ मानस वाचिकौ ॥२५१॥

तथा समुद्घात से निवृत्त होकर ये केवली भगवंत मन-वचन-काया इन तीन प्रकार के योग से युक्त होते हैं । उसमें सत्य और असत्य या नहीं असत्य अर्थात् व्यवहार इन नाम के दो योग, वह मनयोग और वचन योग हैं, से युक्त होते हैं । (२५१)

पृष्ठेषु मन सार्थेषु तत्रानुत्तर नाकिभिः ।

दातुं तदुत्तरं चेतोयोग युग्मं युनक्ति सः ॥२५२॥

तथा मनुष्यादिना च पृष्ठोऽपृष्ठोऽपि स प्रभुः ।

प्रयोजन विशेषेण युनक्त्येतो च वाचिकौ ॥२५३॥

काययोग प्रयुजानो गमनागमनादिषु ।

चेष्टे त पीठ पट्टाद्यमर्पयेत्प्रातिहारिकम् ॥२५४॥

अनुत्तर विमान के देव मन द्वारा कोई भी प्रश्न करे और उनको केवली भगवन्त मन से ही उत्तर दें, वह प्रथम मनोयोग है तथा मनुष्य आदि के प्रश्न-संशय-शंका को निवारण करने के लिए केवली का विशिष्ट प्रयोजन होने से बोलना ही पड़ता है, वह दूसरा वचन योग है और गमन आगमन आदि करने में तथा पीठ पट्ट आदि वापिस सौंपना हो तब तीसरा काय योग होता है । (२५२ से २५४)

एवं च- कैश्चिदित्युच्यते यत्तु शेष षण्मास जीवितः ।

जिनः कुर्यात्समुद्घातं तद सद्यत्तथा सति ॥२५५॥

प्रातिहारिक पीठ देरा दानमपि सम्भवेत् ।

श्रुते तु केवलं प्रोक्तं तत्प्रत्यर्पणमेव हि ॥२५६॥ (युग्मं)

इत्याद्यधिकं प्रज्ञापनान्तिम वृत्तितोऽव से यम् ॥

इस तरह होने से जब छः मास आयु शेष रह जाती है तब केवली भगवान् समुद्घात करते हैं । इस प्रकार जो कई कहते हैं वह असत्य है क्योंकि यदि ऐसा हो तो सौंपे पीठ पट्ट का पुनः ग्रहण भी करना का संभव होता है । परन्तु सिद्धान्त में तो केवल उनको सौंपने की ही बात की है । (२५५-२५६)

यह कहा है, इससे विशेष विस्तार जानना हो तो 'पन्नवणा' सूत्र के अन्तिम पद की टीका में कहा है, वहां से जान लेना चाहिए ।

ततश्च पर्याप्त संज्ञि पंचाक्ष मनोयोगाज्जघन्यतः ।

असंख्य गुणहीनं त निरून्धानः क्षणे क्षणे ॥२५७॥

असंख्यैवै क्षणैरेवं साकल्येन रुणाद्धि तम् ।

ततः पर्याप्त कद्वयक्ष वचोयोगज्ज घन्यतः ॥२५८॥

असंख्य गुणहीनं तं निरून्धानः क्षणे-क्षणे ।

एवं क्षणैरसंख्यैवैः साकल्येन रुणाद्धि स ॥२५९॥ विशेषकम्।

उसके बाद पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोयोग से असंख्य गुण कम होते मनोयोग को क्षण क्षण में रून्धते असंख्यात् क्षणों में सर्व मनोयोग का रून्धन होता है । फिर जघन्य से पर्याप्त दो इन्द्रिय के वचन योग से असंख्य गुण कम होते वचन योग का क्षण क्षण रून्धते असंख्यात् क्षणों में सर्व वचन योग का रून्धन होता है । (२५७ से २५९)

ततः पर्याप्त सूक्ष्मस्य काय योगाज्जघन्यतः ।

असंख्य गुणहीनं तं निरून्धानः क्षणे क्षणे ॥२६०॥

असंख्यैः समयैरेवं साकल्येन रुणाद्धि सः ।

योगान् रून्धश्च स ध्यायेत् शुक्लध्यान तृतीयकम् ॥२६१॥ (युग्मं।)

फिर सूक्ष्म पर्याप्त के कार्य से जघन्यतः असंख्य गुण कम हीन उस कार्य योग को-क्षण-क्षण में रोकते हुए असंख्यात् क्षणों में सर्व काय योग का निरोध होता है । इस तरह योगों का रोकना शुक्ल ध्यान के तीसरे स्थान में ध्यान होता है । (२६०-२६१)

एतेन स उपायेन सर्वं योग निरोधतः ।

अयोगतां समासाद्य शैलेशी प्रतिपद्यते ॥२६२॥

इस तरह के उपाय से सर्व योगों का निरोध करने से अयोगी बनता है। इससे वह शैलेशी अवस्था प्राप्त करता है। (२६२)

पंचानाह्रस्व वर्णानामुच्चार प्रमितां च ताम् ।

प्राप्तः शैलेश निष्कम्पः स्वीकृतोत्कृष्ट संवरः ॥२६३॥

शुक्ल ध्यानं चतुर्थं च ध्यायन् युगपदं जसा ।

वेद्यायुर्नाम गोत्राणि क्षपयित्वा स सिद्ध्यति ॥२६४॥ (युगं।)

अ, इ, उ, ऋ और लृ- इन पांच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने ही समय में वह शैलेशी अवस्था को प्राप्त करने लगता है। शैल का अर्थ पहाड़-पर्वत और ईश का अर्थ स्वामी, अर्थात् पर्वतों का स्वामी सुमेरु है, मेरुपर्वत की अवस्था निश्चल होती है वैसे ही आत्मा की अवस्था मेरुपर्वत की तरह निष्कंप होती है। इसलिए उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। उत्कृष्ट संवर तत्त्व स्वीकार करके शुक्ल ध्यान का चौथा स्थान होता है। इससे एक साथ वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों को खत्म कर वह सिद्ध स्थान प्राप्त करता है। (२६३-२६४)

अगत्वापि समुद्घातमनन्ता निर्वृता जिनाः ।

अवाप्यापि समुद्घातमनन्ता निवृता जिनाः ॥२६५॥

अनन्त केवली समुद्घात किए बिना भी मोक्ष गये हैं और अनन्त समुद्घात के द्वारा भी मोक्ष गये हैं। (२६५)

अत्रायं विशेषः

यः षण्मासाधिकायुष्को लभते केवलोद्गमम् ।

करोत्यसौ समुद्घातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥

इति गुण स्थानक्रमारोहे ॥

यहां विशेष इतना है कि 'जब छः महीने आयुष्य शेष रहा हो तभी जिसने केवल ज्ञान प्राप्त किया हो वही समुद्घात करते हैं, अन्य करें अथवा नहीं भी करते हैं।' इस तरह 'गुण स्थान क्रमारोह' ग्रन्थ में कहा है।

छम्मासाऊ सेसे उंत्यणं जेसि केवलं नाणम् ।

ते निघमा समुद्घाइय सेसा समुधाय भइभव्वा ॥

(इत्यस्सवृतौ)

इति केवलि समुद्घातः॥

तथा इस ग्रन्थ की वृत्ति में इस प्रकार कहा है- छः मास आयुष्य शेष रह जाती है उस समय जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है वे निश्चय ही समुद्घात करते हैं। अन्य को समुद्घात करें अथवा न भी करें। इस प्रकार से सातवें 'केवली समुद्घात' के विषय में कहा है।

आद्याः पंच समुद्घाताः सर्वेषामपि देहिनाम् ।

अनुभूता अनन्ताः स्युर्यथास्वं सर्वः जातिषु ॥२६६॥

प्रथम पांच अर्थात् १- वेदना से, २- कषाय से, ३- मरणान्तिक, ४- वैक्रिय और ५- आहारक के द्वारा समुद्घात सर्व प्राणियों को सर्व जातियों में अनन्तबार अनुभव किए गये हैं। (२६६)

भावि नस्तु न सन्त्येव केषांचिल्लघु कर्मणाम् ।

केषां चित्त्वंगि नामे कद्भ्यादयः स्युनेकशः ॥२६७॥

यावद् गण्या अगण्या वा स्युः केषां चिदनन्तकाः ।

यथास्वं सर्वजातित्वे विज्ञेया बहुकर्मणाम् ॥२६८॥

कई लघु कर्मी जीवों का यह समुद्घात नहीं होता है, जबकि कईयों का यह एक-दो बार, इस तरह अनेक बार होता है और कई बहुकर्मी जीवों का संख्यात समुद्घात होता है, कई बहुकर्मी को असंख्य होता है और कईयों का तो अनन्त बार होता है। (२६७-२६८)

नवरम्- सूक्ष्मानादि निगोदैस्तु निगोदे त्रय एव ते ।

अनुभूता अनन्ताः स्युर्भाविनस्ते तु सर्ववत् ॥२६९॥

विशेष में इतना है कि- सूक्ष्म अनादिक निगोद के जीवों ने निगोद के अन्तर भूतकाल में दो, तीन ही समुद्घात अनन्त बार अनुभव किये होते हैं। भविष्य काल में तो सर्व के समान होगा। (२६९)

.आहारका नरान्येषां केषांचिन्तु भवे त्रयः ।

अतीताः स्युर्भाविनस्तु ते चत्वारो न चाधिकाः ॥२७०॥

सम्भवेयुश्चत्वारोऽभूता नृभवे नृणाम् ।

भविष्यन्तोऽपि विज्ञेया स्तावन्तो नृभवे नृणाम् ॥२७१॥

चत्वारोऽपि व्यतीतास्तु नान्येषां नृन् यतः ।

आहारकं तुर्यं वारं कृत्वा सिध्यति तद् भवे ॥२७२॥

मनुष्य के सिवाय कई अन्य जीवों को मनुष्य जन्म में तीन आहारक समुद्घात होते हैं और होने वाले चार ही होते हैं अधिक नहीं होते । मनुष्य को मनुष्य जन्म में अनुभव किये आहारक समुद्घात चार ही संभव होते हैं । मनुष्य जीवन में होने वाले भी उतने ही होते हैं क्योंकि मनुष्य के बिना दूसरों को चार आहारक समुद्घात व्यतीत नहीं होते हैं । कारण यह है कि यह चौथा आहारक समुद्घात अधिकतः उसी जन्म में सिद्ध होता है। (२७० से २७२)

तथोक्तप्रज्ञापनावृत्तौ- 'इह यश्चतुर्थवेलमाहरकं करोति स नियमात्तदभव एव मुक्तिमासा दयति न गत्यन्तरमिति।'

प्रज्ञास सूत्र में भी कहा है कि- 'यहां जो चौथी बार आहारक समुद्घात करता है वह उसी जन्म में मोक्ष जाता है। अन्य गति में इसको जाने का नहीं होता। केवल मोक्ष पद प्राप्ति होती है।'

सप्तमस्तु न कस्यापि स्याद् तीतो नर बिना ।

भाव्यप्येकोऽन्य जन्तूनां केषांचिन्नृत्व एवं स ॥२७३॥

सातवां समुद्घात मनुष्य जन्म बिना अतीत काल में नहीं होता । जो किसी प्राणी को समुद्घात होने का होता है वह मनुष्य जन्म में ही होता है और वह भी एक बार ही होता है । (२७३)

समुद्घातोत्तीर्णजिनं प्रतीत्यैको निषेवितः ।

मनुष्यस्य मनुष्यत्वेऽनागतोऽप्येक एव सः ॥२७४॥

समुद्घात से पार उतरने वाले केवली ने तो एक सातवां ही सेवन किया होता है, और मनुष्य जीवन में मनुष्य को अनागत समुद्घात भी एक ही बार होता है। (२७४)

असद्वेद्यादि त्रितश्चाद्यो मोहनीयाश्रितः परः ।

अन्तर्मुहूर्त्त शेषायुः संश्रितः स्यात्तृतीयकः ॥२७५॥

तर्यु पंचमषष्ठाश्च नाम कर्म समाश्रिताः ।

नाम गोत्र वेद्यकर्म संश्रितः सप्तमो भवेत् ॥२७६॥

प्रथम समुद्घात आशाता वेदनीय कर्म के आश्रय वाला होता है, दूसरा समुद्घात मोहनीय कर्म के आश्रय वाला होता है और तीसरा अन्तर्मुहूर्त्त शेष आयु कर्म के आश्रय वाला होता है । चौथा, पांचवां और छठा ये तीनों समुद्घात नाम कर्म

के आश्रय वाले होते हैं और सातवां नाम कर्म, गोत्र कर्म और वेदनीय - इन तीनों के आश्रय वाला होता है। (२७५-२७६)

इति जीव समुद्घाताः ॥ इस तरह जीवों के समुद्घात का सम्बन्ध जानना।

योऽप्यचित्त महास्कन्धः समुद्घातोऽस्त्यजीवजः।

अष्ट सामायिकः सोऽपि ज्ञेयः सप्तभवत्सदा ॥२७७॥

तथा अचित्त महास्कंध रूप अजीव से उत्पन्न हुआ जो समुद्घात है उसका काल सातवें समुद्घात के समान आठवें समय का है। (२७७)

पुद्गलानां परीणामाद्विश्रसोत्थात्स जायते ।

अष्टभिः समवैर्जात समाप्तो जिनसत्कवत् ॥२७८॥

स्वभाव से उत्पन्न हुए पुद्गलों के परिणाम से वह केवली समुद्घात के समान समय में समाप्त होता है। (२७८)

‘इति समुद्घात’ इस तरह से समुद्घात नामक बारहवां द्वार सम्पूर्ण हुआ।

विवक्षित भवादन्व भवे गमनर्योग्यता ।

या भवेद्देहिनां सात्र गतिर्गतं च कथ्यते ॥२७९॥

इति गति स्वरूपम् ॥१३॥

विवक्षित जन्मों से अन्य जन्म में जाने की योग्यता प्राणियों में आती है, वह गति (चेष्टा) अथवा गत कहलाती है। (२७९)

यह गति नामक तेरहवां द्वार का स्वरूप कहा है।

विविक्षते भवेऽन्येभ्यो भवेभ्यो या च देहिनाम् ।

उत्पत्तौ योग्यता सात्रागतिरित्युपदर्शिता ॥२८०॥

एक सामयिकी संख्या मृत्युत्पत्त्योस्तथान्तरम् ।

द्वारेऽस्मिन्नेव वक्ष्यन्ते तद् द्वाराणि पृथग् न तत् ॥२८१॥

इति आगति स्वरूपम् ॥१४॥

अन्य जन्मों से विवक्षित जन्मों में आने की योग्यता प्राणियों में आती है, वह आगति कहलाती है। एक समय वाली संख्या तथा मृत्यु और उत्पत्ति का अन्तर, यह सब इसी ही द्वार में कहा है। इसके अलग-अलग द्वार नहीं कहे। (२८०-२८१)

इस तरह से आगति नामक चौदहवां द्वार का स्वरूप है।

विवक्षितभवान्मृत्योत्पद्य चानन्तरे भवे ।

यत्सम्यक्त्वाद्यश्रुतेऽङ्गी सानन्तराप्ति रुच्यते ॥२८२॥

विवक्षित जन्म से मृत्यु प्राप्त कर और दूसरे जन्म में उत्पन्न होकर प्राणी समकित आदि को स्पर्श करते हैं, इसे 'अनन्तराप्ति कहते हैं' (२८२)

इस तरह पंद्रहवां द्वार सम्पूर्ण हुआ ।

लब्ध्वा नृत्वादि सामग्री यावन्तोऽधिकृतांगिनः ।

सिद्धयन्त्येकक्षणे सैक समये सिद्धि रुच्यते ॥२८३॥

मनुष्य पने आदि की सामग्री प्राप्त कर योग्यता वाला बना प्राणी जितना एक समय में सिद्ध होता है उसे एक समय सिद्ध कहते हैं । (२८३)

इति एक समय सिद्धि स्वरूपम् ॥१६॥ यह सोलहवां द्वार है ।

कृष्णादि द्रव्य साचिध्यात्परिणामो य आत्मनः ।

स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रवर्तते ॥२८४॥

अब लेश्या नाम के सत्तरहवें द्वार का स्वरूप कहते हैं- कृष्ण आदि द्रव्य के संयोग से स्फटिक रत्न का जैसी अन्य नया परिणाम-स्वरूप होता है वैसे ही कर्मों के संयोग से आत्मा का परिणाम होता है, उसे लेश्या कहते हैं । (२८४)

द्रव्याण्येतानि योगान्तर्गतानीति विचित्यताम् ।

संयोगत्वेन लेश्यानामन्वय व्यतिरेकतः ॥२८५॥

अन्वय- परस्पर सबन्ध और व्यतिरेक- उसके अभाव से लेश्या के संयोग रूप के कारण इस द्रव्य योग के विषय अन्तर्गत समझना । (२८५)

यावत्कषाय सद्भावस्तावत्तेषामपि स्फुटम् ।

अमून्युयं वृहकाणि स्युः साहायक कृत्तया ॥२८६॥

जितने प्रमाण में कषाय का सद्भाव होता है उतने प्रमाण में कषायों का वह द्रव्य सहायक कारण होकर प्रगट होता है । (२८६)

दृष्टं योगान्तरगतेषु द्रव्येषु च परेष्वपि ।

उपबृंहण सामर्थ्यं कषायोदय गोचरम् ॥२८७॥

क्योंकि योगान्तर्गत अन्य द्रव्यों में भी कषाय के उदय में जो प्रगट सामर्थ्य होता है वह सामर्थ्य दिखाई देता है । (२८७)

यथा योगान्तर्गतस्य पित्त द्रव्यस्य लक्ष्यते ।

क्रोधोदयो हीप कर्त्वं स्याद्यच्चंडोऽति पित्तकः ॥२८८॥

द्रव्येषु बाह्येष्वप्येवं कर्मणामुदयादिषु ।

सामर्थ्यं दृश्यते तत्किं न योगान्तरर्गतेषु तत् ॥२८६॥

जिस तरह योगान्तरगत पित्तद्रव्य में क्रोध के उदय को उत्तेजित करने का गुण दिखता है क्योंकि क्रोधातुर मनुष्य की अति पित्त प्रकृति होती है । इसी तरह से कर्म के उदयादिक बाह्य द्रव्यों में भी जब ऐसा सामर्थ्य दृष्टिगोचर होता है तब योग्य के अन्तर्गत द्रव्यों में यह सामर्थ्य अवश्यमेव होता है। (२८८-२८६)

सूरादध्यादिकं ज्ञान दर्शनावरणोदये ।

तत्क्षयोपशमे हेतुर्भवेद् ब्राह्मी वचादिकम् ॥२६०॥

जैसे मदिरा, दही आदि पदार्थ ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणोपशम के उदय के हेतु रूप हैं और ब्राह्मी, वच आदि औषधि उसके क्षयोपशम का हेतुभूत हैं। (२६०)

एवं च- कषायोद्दीपकत्वेऽपिलेश्यानां च तदात्मता ।

तथात्वेह्यकषायाणां लेश्याभावः प्रसज्यते ॥२६१॥

और इसी तरह कषायों की उत्तेजकता होने पर भी लेश्याओं की तदात्मकता-उसी के सदृश नहीं होती क्योंकि-यदि इस तरह हो जाये, ऐसा कहें तो अकषायों की लेश्या के अभाव का प्रसंग आयेगा। (२६१)

लेश्याः स्युः कर्मनिष्यन्द इति यत्कैश्चिदुच्यते ।

तदप्यसारं निष्यन्दो यदि तत्कस्य कर्मणः ॥२६२॥

तथा लेश्या कर्म का निष्यन्द है - इस तरह कई कहते हैं, वह भी योग्य नहीं क्योंकि निष्यन्द हो तो कौन से कर्म का निष्यन्द होता है ? वह कहते हैं। (२६२)

चेद्यथा योगमष्टानामप्यसौ कर्मणामिति ।

तच्चतुः कर्मणामेताः प्रसज्यन्तेऽय्ययोगिनाम् ॥२६३॥

न यद्ययोगिनामेता घातिकर्म क्षयान्मता ।

तत एवं तदा न स्युर्योगि केवलिनामपि ॥२६४॥

यदि इस तरह कहते हैं कि वह आठों कर्मों का निष्यन्द है तो चार कर्मों वाले अयोगियों को भी वैसा ही प्रसंग आयेगा, परन्तु घाती कर्मों के क्षय होने के कारण वह लेश्या अयोगी को नहीं होती और इससे सयोगी केवली को भी नहीं होती। (२६३-२६४)

ननु च --- योगस्य परिणामत्वे लेश्यानां हेतुता भवेत्।
प्रदेशबन्धं प्रत्येव न पुनः कर्मणां स्थितौ ॥२६५॥

“जोगा पयडिपएसं। ठिड आणु भागं कसायओ कुणइ” इति वचनात् ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि-योग के परिणाम भाव स्वीकार करते हैं तो लेश्या प्रदेश बन्ध का ही हेतुभूत होता है परन्तु कर्म की स्थिति का हेतुभूत नहीं होता है। क्योंकि आगम वचन यह है कि 'योग प्रकृति प्रदेश बंध और कषायों की स्थिति अनुभाग बंधन करती है।' (२६५)

अत्रोच्यते - न कर्म स्थिति हेतुत्वं लेश्याना कोऽपि मन्यते ।

कषाया एव निर्दिष्टा यत्कर्मस्थिति हेतवः ॥२६६॥

लेश्याः पुनः कषायान्तर्गतास्तत्पुष्टि कृत्या ।

तत्स्वरूपा एव सत्योऽनुभागं प्रति हेतवः ॥२६८॥

इसका समाधान इस तरह करते हैं कि- लेश्या कर्म स्थिति का कारण है, इस तरह किसी को भी मानना नहीं चाहिए । कर्म स्थिति का कारणभूत तो कषाय ही है । लेश्या तो कषायों में अन्तर्गत होकर, इसकी पुष्टि करने वाली होकर, तत्स्वरूप होकर अनुभागबंध का हेतुभूत होती है । (२६६-२६७)

“एतेन। यत्क्वचिल्लेश्या नामनुभाग हेतुत्वमुच्यते शिवशर्माचार्य कृत शतक ग्रन्थे च कषायाणामनुभाग हेतुत्वमुक्तम् तदुभयमपि उपपन्नम्। कषायोदयोप-बृहिकाणां लेश्यानामपि उपचार नयेन कषाय स्वरूपत्वात् इत्याद्यधिक प्रज्ञापना लेश्या पदवृत्तितः अवज्ञेयम्॥”

'अर्थात्- इस प्रकार होने से क्वचित् लेश्या अनुभाग का हेतु रूप कहा है- यह बात और शिवशर्मा आचार्य श्री ने अपने 'शतक' नामक ग्रन्थ में कषायों को अनुभाग हेतु रूप कहा है, ये बात दोनों योग्य ही हैं। क्योंकि कषायों के उदय में सहायता करने वाली लेश्याएं उपचार नय से कषाय स्वरूप ही कही हैं । इसका विशेष वर्णन 'प्रज्ञापना सूत्र' में लेश्यापद के ऊपर वृत्ति-टीका दी है, उसके आधार से जान लेना।'

सा च षोढा कृष्ण नील कापोत संज्ञितास्तथा ।

तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ल लेश्येति नामतः ॥२६८॥

लेश्या छः प्रकार की है । उसके नाम इस प्रकार हैं - १- कृष्ण लेश्या, २- नील लेश्या, ३- कपोत लेश्या, ४- तेजो लेश्या, ५- पद्म लेश्या और ६- शुक्ल लेश्या । (२६८)

खंजनांजन जीमूत भ्रमद् भ्रमर सन्निभा ।

कोकिला केलभी कल्पा कृष्ण लेश्या स्ववर्णतः ॥२६६॥

१- कृष्ण लेश्या खंजन- एक पक्षी, अंजन, काले बादल, काला भ्रमर कोकिल और हाथी के रंग के समान काली श्याम होती है। (२६६)

पिच्छतः शुकचाषानां केकि कापोत कंठतः ।

नीलाब्जवनतो नीला नील लेश्या स्ववर्णतः ॥३००॥

२- नील लेश्या तोता, चाषपक्षी- नीलकंठ, पक्षी, मयूर पूंछ और कबूतर के गले तथा नील कमल के वन सदृश होती है। (३००)

जैत्रा खदिरसाराणाम तसी पुष्प सोदरा ।

कापोत लेश्या वर्णेन वृन्ताक कुसुमौघजित् ॥३०१॥

३- कपोत लेश्या- खादिर वृक्ष का सार, शण के पुष्प और वृन्ताक के पुष्प के रंग के समान होती है। (३०१)

पद्मरागनवादित्य संध्यागुंजार्धतोऽधिका ।

तेजोलेश्या स्ववर्णेन विद्रुमांकर जित्वरी ॥३०२॥

४- तेजोलेश्या पद्मरागमणि, उदय होते सूर्य, संध्या, चनोटी के आधे भाग और परवाल के रंग के समान होती है। (३०२)

सुवर्ण यूथिका स्वर्ण कर्णिका सैध चम्पकान् ।

पराभवन्ती वर्णेन पद्मलेश्या प्रकीर्तिता ॥३०३॥

५- पद्मलेश्या सुवर्ण, यूथिका पुष्प, करेण के पुष्प और चम्पा के पुष्प के समान रंग होता है। (३०३)

गोक्षीर दधिडिंडौर पिंडादधिक पांडुरा ।

वर्णतः शरदभ्राणां शुक्ल लेश्याभि भाविनी ॥३०४॥

६- शुक्ल लेश्या गाय के दूध के समान, दही, समुद्र के फीन-झाग तथा शरद ऋतु के बादल के समान वर्ण वाली होती है। (३०४)

अब इन छहों लेश्याओं का रस कैसा होता है। उसे कहते हैं-

किराततिक्तप्रपुषी कटुतुम्बीफलानि च ।

त्वचः फलानि निम्बानां कृष्ण लेश्या रसैर्जयेत् ॥३०५॥

१- कृष्ण लेश्या को रस (स्वभाव) में नीम, कड़वा त्रुषी, कड़वी तुम्बिका, और नीम की छाल तथा निबोली के समान होता है । (३०५)

पिप्पली शृंग-वेराणि मरीचानि च राजिकाम् ।

हस्ति पिप्पलिका जेतुं नील लेश्या रसैः प्रभुः ॥३०६॥

२- नील लेश्या के रस में पीपल, अदरक, मिर्च, राजिका तथा गज पीपल आदि के समान होता है । (३०६)

आमानि मातुलिंगानि कपित्थ बदराणि च ।

फणसामलकानीष्टे रसैर्जेतुं तृतीयिका ॥३०७॥

३- कापोत लेश्या के रस में कच्चे बीजोरा, कपित्थ, बेर, कट हल और आंवले के समान होता है । (३०७)

वर्णं गन्ध रसापन्नं पक्वाम्नादि समुद्भवान् ।

रसानधिकं माधुर्यां तुर्याधिकं कुरुते रसैः ॥३०८॥

४- तेजो लेश्या रस में वर्ण-गंध-रसयुक्त आम फल आदि के समान मधुर और खट्टे के समान होता है । (३०८)

द्राक्षा खर्जूरमार्ध्वीक वारूणी नामनेकथा ।

चन्द्र प्रभादि सीधूनां जयिनी. पंचमी रसैः ॥३०९॥

५- पद्म लेश्या रस में द्राक्ष, खजूर, महुए आदि के आसव तथा चन्द्रप्रभा आदि मदिरा के समान होती है । (३०९)

शर्करा गुडमत्स्यन्डी खन्डा खन्डादि कानि च ।

माधुर्मधुर्यं वस्तुनि शुक्लाविजयते रसैः ॥३१०॥

६- शुक्ल लेश्या रस में शक्कर, गुड़, खांड, मिसरी, गन्ना आदि अति मधुर वस्तुओं के समान है और सब रसों को विजय करने वाली है । (३१०)

अब इन छहों के गन्ध और स्पर्श का वर्णन करते हैं -

आद्यस्तिस्त्रोऽति दुर्गन्धा अप्रशस्ता मलीमसाः ।

स्पर्शतः शीत रुक्षाश्च संक्लिष्टा दुर्गति प्रदाः ॥३११॥

अन्यास्तिस्त्रोऽति सौगन्ध्याः प्रशस्ता अति निर्मला ।

स्निग्धोष्णाः स्पर्शं गुणतोऽसंक्लिष्टाः सुगति प्रदाः ॥३१२॥

प्रथम तीन लेश्या अति दुर्गन्ध से भरी हुई, अप्रशस्त एवं मलिन हैं । इनका स्पर्श शीत और ऋक्ष (कोढ़) है तथा क्लेश करने कराने वाली व दुर्गति में ले जाने

वाली हैं । तथा अन्तिम तीन लेश्या अत्यन्त सुवासित, प्रशस्त और निर्मल हैं । इनका स्पर्श स्निग्ध और उष्ण-गरम है और ये शान्ति देने वाली तथा सद्गति में ले जाने वाली हैं । (३१२)

परस्परमिमाः प्राप्य यान्ति तद्दुपतामपि ।

वैदूर्यं रक्तपटयोज्ञेये तत्र निदर्शने ॥३१३॥

ये लेश्याएं परस्पर एक दूसरे में मिल जाती हैं तब तद्रूप भी हो जाती हैं । इनके ऊपर वैदूर्य रत्न का और लाल वस्त्र का - इस तरह दो दृष्टान्त कहे हैं । (३१३)

तत्रापि- देवनारक लेश्यासु वैदूर्यस्य निदर्शनम् ।

तिर्यग्मनुज लेश्यासु रक्तवस्त्र निदर्शनम् ॥३१४॥

इसमें भी देवों की और नारकी की लेश्या में वैदूर्यमणि का तथा मनुष्य और तिर्यचों की लेश्या में रक्तवस्त्र का दृष्टान्त है । (३१४)

तथाहि -- देवनारकयोर्लेश्या आभवान्त भवस्थिताः ।

नानाकृतिं यान्ति किन्तु द्रव्यान्तरोपधानतः ॥३१५॥

वह इस तरह- देवता और नारकी के जीवों की लेश्या अन्तिम जन्म के अन्त तक अवस्थित रहती है, केवल अन्य द्रव्यों के उपधान संसर्ग से नाना प्रकार की आकृति धारण करती है । (३१५)

न तु सर्वात्मना स्वीयं स्वरूपं संत्यजन्ति ताः ।

सद्वैदूर्यं मणिर्यद्वन्नाना सूत्र प्रयोगतः ॥३१६॥

जैसे उत्तम स्फटिक रत्न विविध सूत्र के संसर्ग से भी अपना स्वरूप नहीं बदलता है वैसे ही ये दोनों जीव, देव व नरक की लेश्या अपने स्वरूप नहीं बदलता हैं । (३१६)

जपा पुष्पादि सानिध्याद्यथा बादर्शं मंडलम् ।

नाना वर्णान् दद्यदपि स्वरूपं नोज्झति स्वकम् ॥३१७॥

जैसे अड़हुल के वृक्षपुष्प- जवा कुसुम आदि के सान्निध्य से दर्पण विविध वर्णों को धारण करता हुआ भी अपने मूल स्वरूप का त्याग नहीं करता है वैसे ही लेश्या भी अपना मूल स्वरूप नहीं छोड़ती । (३१७)

अतएव भावपरावृत्त्या नारक नाकि नोः ।

भवन्ति लेश्याः षडपि तदुक्तं पूर्व सूरिभिः ॥३१८॥

इसी प्रकार है, इसीलिए ही भावना परिवर्तन होने के कारण देवता और नारकी के जीवों को छः लेश्या होती हैं । ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है । (३१८)

सुरनारयाणताओ दव्व लेसा अवट्टिया भणिया ।

भावपरावत्तीए पुण एस्सु हुन्ति छल्लेसा ॥३१६॥

देव और नारक जीवों को द्रव्य लेश्या ही कही है, परन्तु भावना अध्यवसाय परिवर्तन होने से छः लेश्या होती हैं । (३१६)

दुष्ट लेश्या वतां नारकाणमप्यत एव च ।

सम्यकत्व लाभो घटते तेजो लेश्यादि सम्भवी ॥३२०॥

इस तरह होने से ही दुष्ट लेश्या वाले नरक जीवों को तेजो लेश्या आदि उत्पन्न होने से समकित की प्राप्ति घट सकती है । (३२०)

यदाहुः - सम्मत्तस्स य तिसु उवरिमासु पडिक्क माणओ होइ ।

पुव्वपडि वन्नओ पुण अन्न यरीए उ लेसाए ॥

कहा है कि- उपली अर्थात् प्रथम तीन लेश्याओं में सम्यकत्व की प्रति-पत्ति-प्रतिपादन होता है, और पूर्व में जिनमें इस सम्यकत्व की प्रतिपत्ति हुई हो, वे शेष की तीन लेश्याओं में होते हैं ।

तथैव तेजो लेश्यादये घटते संगमामरे ।

वीरोपसर्गकर्तृत्वं कृष्ण लेश्यादि सम्भवि ॥३२१॥

इसी प्रकार तेजो लेश्या वाले संगमदेव ने वीर परमात्मा को उपसर्ग किया था, वह कृष्ण आदि लेश्या की संभावना के कारण समझना । (३२१)

स्वरूपत्यागतः सर्वात्मना तिर्यग्मनुष्ययोः ।

लेश्यास्तद्रूपता यान्ति रागक्षिप्तपटादि वत् ॥३२२॥

मनुष्य और तिर्यच की लेश्याएं स्वरूप से सर्वतः त्याग होने के कारण रंग में डुबाये हुए वस्त्र के समान तद्रूप हो जाती हैं । (३२२)

अतः एवोत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमवस्थिताः ।

तिर्यग् नृणां परावर्त्तं यान्ति लेश्यास्ततः परम् ॥३२३॥

इसी कारण से ही तिर्यच और मनुष्य की लेश्या उत्कृष्ट रूप में अन्तर्मुहूर्त्त तक रहती है, और उसके बाद उसके भाव बदल जाते हैं । (३२३)

बहुधासां परीणामस्त्रिधा वा नवधा भवेत् ।

सप्तविंशतिधा चैकाशीतिधा त्रिगुणस्तथा ॥३२४॥

इन लेश्याओं के परिणाम अधिकतः तीन प्रकार से, नौ प्रकार से सत्ताईस प्रकार से, एक्यासी प्रकार से, इस तरह तीन-तीन गुना होते जाते हैं । (३२४)

जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदतास्त्रिविधो भवेत् ।

प्रत्येकमेषा स्वस्थान तारतम्य विचिन्तया ॥३२५॥

भवेन्नवविधस्तेषामपि भेद विवक्षया ।

सप्तविंशतिधा मुख्योऽप्येवं भेदौस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥३२६॥ (युग्मं)

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट - इस तरह तीन भेद हैं । इन प्रत्येक के निज स्थान के तारतम्य-क्रम बेशी के हिसाब की अपेक्षा से नौ भेद होते हैं और इसके भी तीन-तीन गुण करते सत्ताईस, एक्यासी, दो सौ तैंतालीस इत्यादि बहुत भेद होते हैं । (३२५-३२६)

तथाहुः प्रज्ञापनायाम्- "कणहले साणं भंते कति विहं परिणामं परिणमति? गोतम तिविहं वा णव विहं वा सत्ता विसति विहं वा एक्यासीति विहं वा तेआल दुसय विहं वा बहुविहं वा परिणामं परिणमति ॥"

इस विषय में प्रज्ञापना सूत्र के अन्दर कहा है कि- गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं - हे भगवन्त! कृष्ण लेश्या से कितने प्रकार से अध्यवसाय होते हैं । इसका उत्तर श्रमण भगवान् महावीर प्रभु देते हैं कि- हे गौतम! कृष्ण लेश्या तीन प्रकार से होती है, नौ प्रकार से, सत्ताईस प्रकार से, एक्यासी प्रकार से एवं दो सौ तैंतालीस प्रकार से अध्यवसाय होते हैं । इस तरह तीन-तीन गुना करते बहुत प्रकार से अध्यवसाय होते हैं ।

लेश्या परिणामस्यादि मान्ययोर्नांगिनां मृतिः क्षणयोः ।

अन्तर्मुहूर्तकेऽन्त्ये शेषे वाद्ये गते सा स्यात् ॥

तत्राप्यन्तर्मुहूर्तैर्न्ये शेषे नारक नाकिनः ।

म्रियन्ते नरतिर्यचश्चाद्येऽतीत इति स्थितिः ॥

लेश्या के परिणाम के पहले और अन्तिम क्षण में प्राणी की मृत्यु नहीं होती है, अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहा हो उस समय अथवा प्रथम अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो गया हो तब होती है। इसमें भी अन्तिम अन्तर्मुहूर्त शेष रहा हो तब नारकी और देवता

की मृत्यु होती है और प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत होते मनुष्य और तिर्यच की मृत्यु होती है ।

कृष्णायाः स्थितिरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत् पयोधयः ।

प्राच्याग्र्य भव सम्बन्ध्यान्तर्मुहूर्त्त द्वयाधिका ॥३२७॥

कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम और दो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है । एक अन्तर्मुहूर्त्त पूर्व के जन्म सम्बन्धी होती है और एक अन्तर्मुहूर्त्त अगले जन्म सम्बन्धी होता है । शेष तैंतीस सागरोपम नरक में होती हैं । (३२७)

पल्यासंख्येय भागाद्द्या नीलायाः सा दशाब्धयः ।

पल्यासंख्यांश संयुक्ता कापोत्यास्तु त्रयोऽब्धयः ॥३२८॥

नील लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम और उसके ऊपर एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है । कापोत लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम और उसके ऊपर एक पल्योपम के असंख्यातवां भाग की होती है । (३२८)

प्राच्याग्र्य भवसत्कान्तर्मुहूर्त्त द्वयमेतयोः ।

पल्यासंख्यांश एवान्तर्भूतं नेत्युच्यते पृथक् ॥३२९॥

एवं तैजस्यामपि भाव्यम् ॥

पूर्व की दोनों नील और कापोत लेश्याओं के पूर्व और आगे जन्म सम्बन्धी दोनों अन्तर्मुहूर्त्त पल्योपम के असंख्यातवें भाग के अन्तर्गत हो जाने से अलग-अलग नहीं कहे । (३२९)

इसी तरह से तैजस लेश्या में भी समझ लेना ।

तैजसस्या द्वौ पयोराशी पल्यासंख्यलवाधिकौ ।

द्वयन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकाः पद्माया दशवार्धय ॥३३०॥

द्वयन्तर्मुहूर्त्ताः शुक्ला यास्त्रिंशत्पयोधयः ।

अन्तर्मुहूर्त्त सवासा जघन्यतः स्थितिर्भवेत् ॥३३१॥

तैजस लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम और पल्योपम का असंख्यातवां भाग जितनी जानना और पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम और अन्तर्-मुहूर्त्त की समझना । शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम और अन्तर्मुहूर्त्त की जानना तथा सारी छः लेश्याओं की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त समझना । (३३०-३३१)

आद्यात्र सप्तम महीगरिष्ठ स्थित्यपेक्षया ।

धूमप्रभाद्य प्रतरोत्कृष्टायुश्चिन्तया परा ॥३३२॥

प्रथम लेश्या की स्थिति सातवीं नरक की उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा से कही है, और दूसरी लेश्या की स्थिति धूमप्रभा नामक नारकी के प्रथम प्रस्तर की उत्कृष्ट आयुष्य की अपेक्षा से कही है । (३३२)

शैलाद्यप्रतरे ज्येष्ठमपेक्षायुस्तृतीयिका ।

तुर्या चैशान देवानामुत्कृष्ट स्थित्यपेक्षया ॥३३३॥

तीसरी लेश्या की स्थिति शैला के प्रथम प्रस्तर के उत्कृष्ट आयुष्य की अपेक्षा से कही है और चौथी लेश्या की स्थिति इशान देवलोक के देवों के उत्कृष्ट आयुष्य की अपेक्षा से कही है । (३३३)

पंचमी ब्रह्मलोकस्य गरिष्ठायुरपेक्षया ।

षष्ठी चानुत्तर सुरपरमायुरपेक्षया ॥३३४॥

पांचवीं लेश्या की स्थिति ब्रह्म देवलोक के उत्कृष्ट आयुष्य की अपेक्षा से तथा छठी लेश्या की स्थिति अनुत्तर विभाग के देवों के उत्कृष्ट आयुष्य की अपेक्षा से कही हैं । (३३४)

“अत्र यद्यपि पंक प्रभा शैलाद्य प्रस्तरयोः पूर्वोक्ता दधिकापि स्थितिरस्ति परं प्रस्तुत लेश्यावतामियमेवोत्कृष्टा स्थितिरिति ज्ञेयम् । यत्तु प्रज्ञापनोत्तराध्ययन सूत्रादौ कृष्णादीनामन्तर्मुहूर्त्ताभ्याधिकत्वमुच्यते तत् प्राच्याग्रभव सत्कान्तार्मुहूर्त्तयोरे कम्मिन्नन्तर्मुहूर्त्त समावेशात् । इत्थं च एतत् अन्तर्मुहूर्त्तस्य असंख्यातभेदत्वात् उपपद्यते इत्यादि प्रज्ञापना वृत्तौ ॥” इति सामान्यतः लेश्या स्थितिः ॥

यहां यद्यपि पंक प्रभा और शैल के पहले प्रस्तरों की पूर्वोक्त से अधिक भी स्थिति है, फिर भी इस प्रस्तुत लेश्या वालों की तो इतनी ही उत्कृष्ट स्थिति समझना। पन्नवणा और उत्तराध्ययन सूत्रों में कृष्ण लेश्या आदि का एक अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक रूप कहा है । वह पूर्व के तथा आगे के जन्म के इस तरह दोनों अन्तर्मुहूर्त्तों का एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में समावेश करने को कहा है। तथा अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्य भेद होने से यह घट सकता है। इस प्रकार पन्नवणा सूत्र की वृत्ति में कहा है । इस तरह लेश्याओं की सामान्य स्थिति का वर्णन किया है ।

अब स्थिति काल कहते हैं

स्थितिं वक्ष्येऽथ लेश्यानां नारक स्वर्गिणोर्नृणाम् ।

तिरश्चां च जघन्येनोत्कर्षेण च यथागमम् ॥३३५॥

अब नारकी, देवता मनुष्य और तिर्यच की लेश्याओं की आगम में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति के विषय में जो कहा है उसे कहते हैं। (३३५)

अब १- नारकी की लेश्या की स्थिति के विषय में कहते हैं-

दश वर्ष सहस्राणि कापोत्याः स्याल्लघुः स्थितिः ।

उत्कृष्टा त्रीण्यतराणि पल्यासंख्यलवस्तथा ॥३३६॥

कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम और पल्योपम के असंख्यातवें भाग के सदृश है। (३३६)

जघन्या तत्र धर्माद्य प्रस्तरापेक्षया भवेत् ।

उत्कृष्टा च तृतीयाद्य प्रस्तरापेक्षयोदिता ॥३३७॥

इसमें भी जघन्य स्थिति प्रथम नारकी के पहले प्रस्तर की अपेक्षा से और उत्कृष्ट तीसरे नरक के प्रथम प्रस्तर की अपेक्षा से समझना। (३३७)

नीलाया लघुरेषैवोत्कृष्टा च दश वार्धयः ।

पल्यासंख्येय भागाद्याः कृष्णायाः स्यादसौ लघुः ॥३३८॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति पूर्व में कही है- उतनी ही समझना और उत्कृष्ट दस सागरोपम और पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है। उतनी ही कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति होती है। (३३८)

स्थितिर्जघन्या नीलायाः शैलाद्यप्रस्तरे भवेत् ।

रिष्टाद्यप्रस्तरे स्वस्या ज्येष्ठा कृष्णास्थितिलघुः ॥३३९॥

कृष्णायाः पुनरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ।

इयं माघवतीवर्ति ज्येष्ठायुष्कव्यपेक्षया ॥३४०॥

नील लेश्या की जघन्य स्थिति 'शैला नारकी के प्रथम प्रस्तर में होती है और उत्कृष्ट रिष्टा नारकी के प्रथम प्रस्तर में होती है। यही कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति होती है। कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति तैत्तीस सागरोपम की होती है और वह स्थिति 'माघवती' नामक नारकी की उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा से होती है।

इत्थं नारक लेश्यानां स्थितिः प्रकटिता मया ।

अथ निर्जर लेश्यानां स्थितिं वक्ष्ये यथाश्रुतम् ॥३४१॥

इस प्रकार नारक लेश्या की स्थिति मैंने कही है । वही स्थिति देवों की है । वह आगम शास्त्र में कहा है । अब उसके विषय में कहता हूँ । (३४१)

दश वर्ष सहस्राणि कृष्णायाः स्याल्लघुः स्थितिः ।

एतस्याः पुनरुत्कृष्टा पल्यासंख्यांश संमिता ॥३४२॥

कृष्ण लेश्या की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष की होती है और अधिक से अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग की होती है । (३४२)

इयमेवैक समयाधिका नीलास्थितिलघुः ।

पल्यासंख्येय भागश्च नीलोत्कृष्ट स्थितिर्भवेत् ॥३४३॥

नील लेश्या की स्थिति कम से कम पूर्व कहे अनुसार से एक समय अधिक होती है और उत्कृष्ट रूप में पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी होती है । (३४३)

पल्यासंख्येय भागोऽयं पूर्वोक्तासंख्य भागतः ।

बृहत्तरो भवेदेवं ज्ञेयमग्रेऽपि धीधनैः ॥३४४॥

पल्योपम का जो यह असंख्यातवां भाग कहा है वह पूर्वोक्त असंख्यातवें भाग से बड़ा होता है । इसी ही तरह आगे भी जानना । (३४४)

या नीलायाः स्थितिर्ज्येष्ठा समयाभ्यधिका च सा ।

कापोत्या लघुरस्याः स्यात्पल्यासंख्यलवो गुरुः ॥३४५॥

नील लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति से एक समय अधिक कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग के समान होती है । (३४५)

लेश्यानां तिसृणा मासां स्थितिर्याऽदर्शि सा भवेत् ।

भवनेश व्यन्तरेषु नान्येषु तदसम्भवात् ॥३४६॥

तीन लेश्याओं की यह स्थिति कही है, यह भवनपति और व्यन्तर के सम्बन्ध में समझना । अन्य देवों में ये लेश्यायें संभव ही नहीं होतीं, फिर स्थिति ही किसकी है । (३४६)

एवं वक्ष्यमाण तेजो लेश्याया अप्ययौ स्थितिः ।

भवनव्यन्तर ज्योतिराद्य कल्पद्वावाधि ॥३४७॥

जिसके विषय में अब कहा जाता है उस तेजो लेश्या की स्थिति भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा प्रथम दो देवलोक सम्बन्धी ही समझना। (३४७)

पद्मायाश्च स्थितिर्ब्रह्मावधीशानादनन्तरम् ।

लान्तकात्परतः शुक्ललेश्याया भाव्यतामिति ॥३४८॥

पद्म लेश्या की स्थिति इशान देवलोक से लेकर ब्रह्मलोक तक की जानना और लान्तक देवलोक से अनन्तर शुक्ल लेश्या की स्थिति जानना । (३४८)

अथप्रकृतम्- दशवर्ष सहस्राणि तेजोलेश्या लघु स्थितिः ।

भवनेश व्यन्तराणां प्रज्ञप्ता ज्ञान भानुभिः ॥३४९॥

उत्कृष्टा भवनेशानां साधिकं सागरोपमम् ।

व्यन्तराणां समुत्कृष्टा पल्योपममुदीरिता ॥३५०॥

अब फिर प्रस्तुत विषय पर कहते हैं कि- भवनपति और व्यन्तर देवों की तेजो लेश्या की स्थिति कम से कम दस हजार वर्ष की कही है। भवनपति की स्थिति अधिक से अधिक एक सागरोपम से कुछ अधिक होती है, व्यन्तरों की उत्कृष्ट रूप एक पल्योपम की होती है । (३४९-३५०)

स्यात्पल्यस्याष्टमो भागो ज्योतिषां सा लघीयसी ।

उत्कृष्टा वर्ष लक्षणाधिकं पल्योपमं भवेत् ॥३५१॥

ज्योतिषी देवों की तेजो लेश्या की स्थिति जघन्य पल्योपम के अष्टमांश (आठवें भाग) के समान होती है और उत्कृष्टतः एक पल्योपम ऊपर एक लाख वर्ष की स्थिति होती है । (३५१)

सा लघु वैमानिका नामेकं पल्योपमं मता ।

उत्कृष्टा द्वौ पयोराशी पल्यासंख्य लवाधिकौ ॥३५२॥

वैमानिक देवों की तेजो लेश्या की स्थिति जघन्य रूप में पल्योपम की कही है और उत्कृष्टतः दो सागरोपम और पल्योपम के असंख्यातवें भाग होता है । (३५२)

समयाभ्यधिकैषैव पद्मायाः स्यात्लघुः स्थितिः ।

उत्कृष्टा पुनरेतस्या स्थितिर्दश पयोधयः ॥३५३॥

पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति पूर्व कहे अनुसार से एक समय अधिक होती है और उत्कृष्ट दस सागरोपम की होती है । (३५३)

इयमेव च शुक्लायाः स्थितिर्लघ्वी क्षणाधिका ।

उत्कृष्टा पुनरेतस्यास्त्रयस्त्रिंशत्पयोधयः ॥३५४॥

इस तरह करते एक समय अधिक शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की होती है । (३५४)

इत्थं नारक देवानां लेश्या स्थितिरुदीरिता ।

अथ तिर्यग्मनुष्याणां लेश्या स्थितिरुदीर्यते ॥३५५॥

इस प्रकार नारकी और देव सम्बन्धी लेश्याओं की स्थिति के विषय में कहा। अब मनुष्य की और तिर्यच की लेश्या के विषय में कहते हैं । (३५५)

या या लेश्या येषु येषु नृषु तिर्यक्षु वक्ष्यते ।

आन्तर्मुहूर्त्तिकी सा सा शुक्ल लेश्यां विना नृषु ॥३५६॥

मनुष्य के विषय में रही शुक्ल लेश्या के सिवाय, जिस मनुष्य की अथवा तिर्यच की लेश्या की बात कहेंगे उन सब लेश्या की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त जानना । (३५६)

शुक्ल लेश्यास्थितिर्नृणां जघन्यान्तर्मुहूर्त्तिकी ।

उत्कृष्टा नव वर्षानां पूर्वं कोटी प्रकीर्तिता ॥३५७॥

मनुष्य की शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की जानना और उत्कृष्ट स्थिति करोड़ पूर्व वर्ष से नौ वर्ष कम कही है । (३५७)

यद्यप्यष्ट वर्षं वयाः कश्चिद्दीक्षामवाप्नुयात् ।

तथापि तादृग्वयसः पर्यायं वार्षिकं विना ॥३५८॥

नोदेति केवल ज्ञानमतो युक्त मुदीरिता ।

पूर्वं कोटी नवाब्दोना शुक्ल लेश्या गुरु स्थितिः ॥३५९॥ (युग्मं)

आठ वर्ष की उम्र वाला कोई मनुष्य दीक्षा ले, फिर भी दीक्षा लेने का एक वर्ष न जाता हो तब तक इतनी छोटी सी उम्र में केवल ज्ञान नहीं होता है। इसलिए शुक्ल लेश्या की स्थिति उत्कृष्ट रूप में करोड़ पूर्व से नौ वर्ष कम होने का कही है वह युक्त ही है । (३५८-३५९)

इति उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति प्रज्ञापना वृत्त्यभिप्रायः ॥

इस प्रकार से उत्तराध्ययन सूत्र की वृत्ति का तथा पत्रवना सूत्र की वृत्ति का अभिप्राय है।

“तथैव संग्रहण्यामपि उक्तम्-चरमा नराण पुण नव वासूणा पुक्व कोडीवि इति॥ संग्रहणी वृत्तौ प्रवचन सारो द्वार वृत्तौ च नाराणां पुनश्च रमा शुक्ल लेश्या उत्कर्षतः किञ्चिन्यूनववर्षो न पूर्व कोटी प्रमाणापि॥ इयं च पूर्व कोटे रुध्व संयमावाप्तेर भावात्पूर्व कोटयायुषः किञ्चित् समाधिक वर्षाष्टकादूर्ध्वमुत्पादित केवल ज्ञानस्य केवलिनोऽवसेया इत्युक्तम् ॥ अत्र च पूर्व कोटया नववर्षो नत्व किञ्चिन्यून नववर्षो नत्व किञ्चित्समाधिकाष्टवर्षो नत्यं इति त्रय मिथोयथा न विरुध्यते तथा बहुश्रुतोभ्यो भावनीयम् ॥”

इस प्रकार संग्रहणी में भी चरम शरीर मनुष्यों की शुक्ल लेश्या की स्थिति करोड़ पूर्व वर्ष में से नौ वर्ष कम मानी है । संग्रहणी की वृत्ति में और प्रवचन सारोद्वार की वृत्ति में कहा है कि- मनुष्य की अन्तिम शुक्ल लेश्या उत्कर्षतः पूर्व कोटि वर्ष से लगभग नौ वर्ष कम की होती है । इस तरह पूर्व करोड़ के बाद संयम प्राप्ति न होने से पूर्व कोटि के आयुष्य वाला और आठ वर्ष से कुछ अधिक काल व्यतीत होने के बाद केवल ज्ञान उपार्जन किया, इस प्रकार केवली ज्ञान सम्बन्धी है तथा यहां पूर्व करोड़ में १- नौ वर्ष-कम, २- लगभग नौ वर्ष कम तथा ३- आठ उपरांत वर्ष इस तरह तीन बात कही है। परस्पर विरोध न आए, इस प्रकार बहुश्रुत शास्त्रज्ञ के पास समझ लेना ।

प्रत्येकं सर्वलेश्यानामनन्ता वर्गणाः स्मृताः ।

प्रत्येकं निखिला लेश्यास्तथान्त प्रदेशिकाः ॥३६०॥

सर्व लेश्याओं में प्रत्येक की अनन्त वर्गना कही हैं तथा प्रत्येक लेश्या के अनन्त प्रदेश कहे हैं । (३६०)

असंख्यात प्रदेशावगाहाः सर्वा उदाहृताः ।

स्थानान्यध्यवसायस्य तासां संख्याति गानि च ॥३६१॥

तथा सर्व लेश्याओं के अवगाह के प्रदेश अनन्त कहे हैं और इसके अध्यवसाय के असंख्य स्थान असंख्य प्रदेशावगाह कहे हैं । (३६१)

क्षेत्रतस्तान्यसंख्येय लोकाभ्रांश समानि वै ।

कालतोऽसंख्येय काल चक्र क्षणमितानि च ॥३६२॥

यह स्थान क्षेत्र की अपेक्षा से असंख्यात लोकाकाश के प्रदेश कहे हैं और काल की अपेक्षा से असंख्य काल चक्र जितना समय होता है । (३६२)

यदुक्तम्

असंखेज्जाण उस्सपिणीण ओसपिणीण जे समया ।

संखाइया लगेगा लेस्साणं हुंति ठाणाई ॥१॥

कहा है कि असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी का जितना समय होता है उतना समय और असंख्यात लोकाकाश जितने प्रदेश होते हैं उतने लेश्या के स्थान हैं ।

अभिप्रायोयादशः स्यात् सतीध्वेतासु देहिनाम् ।

स मया समयोक्ताभ्यां दृष्टान्ताभ्यां प्रदेश्यते ॥३६३॥

प्राणियों में इन लेश्याओं के सद्भाव से किस प्रकार का अभिप्राय होता है? इस विषय में सिद्धांत में जो दो दृष्टान्त दिये हैं वह मैं समझता हूँ । (३६३)

यथा पथः परिभ्रष्टाः पुरुषाः षण्महाटवीम् ।

प्राप्ताः समन्तादैक्षन्त भक्ष्यं दिक्षु विभुक्षिताः ॥३६४॥

जम्बूद्वीपं क्वचित्तत्र ददशुः फल भंगुरम् ।

आह्वयन्तमिवाध्वन्यान् मरूच्चपल पल्लवैः ॥३६५॥

एकस्तत्राह वृक्षोऽयं मूलादुन्मूल्यते ततः ।

सुखासीनाः फलास्वादं कुर्मः श्रमविवर्जिताः ॥३६६॥

अन्यः प्राह किमेतावान् पात्यते प्रौढपादपः ।

शाखा महत्वशिच्छन्ते सन्ति तासु फलानि यत् ॥३६७॥

तृतीयोऽथा वदत् शाखा भविष्यन्ति कदेदशः ।

प्रशाखा एव प्रात्यन्ते यत एताः फलैर्भृताः ॥३६८॥

उवाच वाचं तुर्योऽथ तिष्ठन्वेता वराकिकाः ।

यथेच्छं गुच्छ संदोहं छिद्यो येषु फलोद्गमः ॥३६९॥

न नः प्रयोजनं गुच्छैः फलैः किन्तु प्रयोजनम् ।

तान्येव भुवि कीर्यन्ते पंचमः प्रोचिवाविति ॥३७०॥

षष्टेन शिष्टमतिना समादिष्टमिदं ततः ।

पतितानि फलान्यद्यो माभूत्यातन पातकम् ॥३७१॥

१- जम्बू वृक्ष का दृष्टान्त

कोई छः मनुष्य रास्ता भूल गये अतः जंगल में पहुँच गये। वहाँ भूख से व्याकुल होकर चारों दिशाओं में खाने की खोज करते हुए एक स्थान पर पक्के और रस वाले जामुन का एक पेड़ देखा। उसे देखकर सब हर्षित होकर कहने लगे - हमारे भाग्य से हमें यह पेड़ दिखाई दिया है इसलिए अब इसके फल खाकर अपनी भूख मिटानी चाहिए। उसमें से एक क्लिष्ट परिणाम मनुष्य ने कहा कि- इस पेड़ पर चढ़ना तो मुश्किल है, जान का खतरा है। अतः तीखे कुल्हाड़े से इसे जड़ से काट कर नीचे गिरा देना चाहिए और फिर निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक इसके सारे फल खाने चाहिए। दूसरा उससे कुछ कोमल हृदय वाला था। वह कहने लगा- इस तरह पेड़ को काटने से हमें क्या लाभ है? हमें फल खाने हैं तो सिर्फ इसकी एक बड़ी शाखा (डाली) काटकर नीचे गिरा देनी चाहिए और उसमें लगे फलों को खाकर संतोष मानना चाहिए। तभी तीसरे ने कहा- इतनी बड़ी शाखा के तोड़ने से क्या लाभ? सिर्फ उसकी एक प्रशाखा (टहनी) को ही काट डालना चाहिए। यह सुनकर चौथा बोला- छोटी प्रशाखा को भी काटने से क्या लाभ? सिर्फ उसके गुच्छे तोड़ लेने से अपना काम हो सकता है। उसी समय पांचवें ने कहा- अजी गुच्छे तोड़ने से क्या फायदा? सिर्फ पके हुए और खाने योग्य फलों को ही हमें अपनी जरूरत के अनुसार तोड़ लेना चाहिए। अब छठे से न रहा गया। उसने कहा- फल तोड़ने की भी क्या आवश्यकता है? जितने फलों की हमें आवश्यकता है उतने पके फल तो इस वृक्ष के नीचे गिरे हुए मिल जायेंगे तो फिर उन्हीं से भूख मिटाकर प्राणों का निर्वाह करना अच्छा है। पाप का सेवन क्यों करना चाहिए? (३६४ से ३७१)

भाव्याः पणामप्यमीषां लेश्याः कृष्णादिकाः क्रमात् ।

दश्यन्तेऽन्तोऽपि दृष्टान्तो दृष्टः श्री श्रुतसागरे ॥३७२॥

इस दृष्टान्त में छः मनुष्यों की बात कही है। उसमें छहों की अलग-अलग लेश्या होती है, प्रथम के दुष्परिणाम होने से कृष्ण लेश्या वाला था। दूसरा हल्के भाव होने से दूसरी नील लेश्या वाला है। तीसरे पुरुष के भाव कापोत लेश्या है। चौथे के परिणाम तेजो लेश्या है, पांचवें पुरुष के भाव पद्म लेश्या वाले हैं और छठे पुरुष के परिणाम शुक्ल लेश्या के भाव जानना। (३७२)

केचन ग्रामघाताय चौराः कूर पराक्रमाः ।
 क्रामन्तो मार्गमन्थोऽन्यं विचारमिति चकिरे ॥३७३॥
 एकस्तत्राह दुष्टात्मायः कश्चिद् दृष्टिमेति नः ।
 हन्तव्यः सोऽद्य सर्वेऽपि द्विपदो वा चतुष्पदः ॥३७४॥
 अन्यः प्राह चतुष्पाद्भिरपराद्धं न किंचन ।
 मनुष्या एव हन्तव्या विरोधो यैः सहात्मनाम् ॥३७५॥
 तृतीयः प्राह न स्त्रीणां हत्या कार्याति निन्दिता ।
 पुरुषा एव हन्तव्या यतस्ते कूर चेतसः ॥३७६॥
 निरायुधैर्वराकैस्तेर्हतैः किं नः प्रयोजनम् ।
 घात्याः सशस्त्रा एवेति तुर्यश्चातुर्यवान् जगौ ॥३७७॥
 स शस्त्रैरपि नश्यद्भिर्हतैः किं नः फलं भवेत् ।
 सायुधो युध्यते यः स वध्य इत्याह पंचमः ॥३७८॥
 पर द्रव्यापहरणामेक पापमिदं महत् ।
 प्राणापहरणं चान्यच्चेत्कुर्मस्तर्हि का गतिः ॥३७९॥
 धनमेव तदादेयं मारणीयो न कश्चन ।
 षष्ठः स्पष्टमभाषिष्ट प्राग्वदत्रापि भावना ॥३८०॥

अब २- दृष्टान्त छः चोर का कहते हैं -

एक समय छः दुष्ट परिणाम वाले मनुष्य किसी गांव को लूटने के लिए चले। रास्ते में एक गांव आया। इतने में एक दुष्टात्मा चोर बोला- आज जो भी कोई प्राणी मिले उसे मार देना चाहिए। उसमें चाहे दो पैर वाला हो या चार पैर वाला हो, सब को खत्म कर देना। जरा दयालु दूसरा बोला- चार पैर वालों ने अपना क्या अपराध किया है ? उसे क्यों मारना चाहिए ? इसलिए हमें तो जो मनुष्य हो उसी को मारना चाहिए। तब तीसरा बोला- इस तरह योग्य नहीं कहलाता। सभी मनुष्यों में से हमें स्त्रियों को अलग रखना चाहिए क्योंकि स्त्री हत्या करना निंदनीय माना गया है। तब चौथा विशेष चतुर था, वह बोला- जिसके पास में शस्त्र न हों ऐसे बिचारे रंक को नहीं मारना चाहिए, परन्तु जो शस्त्र वाला हो उसे ही मारना चाहिए। उस समय पांचवें ने अपनी सलाह दी कि- शस्त्र से युक्त हो परन्तु यदि वह भाग जाता हो तो नहीं मारना चाहिए, किन्तु जो हमारे सामने युद्ध करने आए उसे ही मारना चाहिए। आखिर बुद्धिमान छठा चोर बोल उठा- हम लोगों का धन उठा लेते

हैं, यह एक पाप तो सदा करते रहते हैं । उसमें भी पर के प्राण नाश करने के लिए विचार क्यों करना चाहिए? ऐसा करने से हमारी फिर गति क्या होगी ? इसलिए हमें केवल धन लेना है, किसी के प्राण नहीं लेना । (३७३ से ३८०)

जम्बू वृक्ष के उदाहरण के समान छः व्यक्तियों की कृष्ण लेश्या आदि लेश्या कही हैं वैसे ही इस उदाहरण में भी छः चोरों की छः प्रकार की लेश्या अलग-अलग पूर्व के समान समझना ।

सर्वस्तोकाः शुक्ललेश्या जीवास्तेभ्यो यथोत्तरम् ।

पद्मलेश्यास्तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः क्रमात् ॥३८१॥

अनन्ताघ्नास्ततो लेश्याः कापोत्याद्यास्ततस्तथा ।

तेभ्यो नील कृष्णलेश्याः क्रमाद्विशेषतोऽधिकाः ॥३८२॥

इति लेश्यास्वरूपम् ।

शुक्ल लेश्या वाले प्राणी सब से कम हैं इससे उत्तरोत्तर असंख्य गुना अनुक्रम से पद्म लेश्या वाले और तेजो लेश्या वाले जीव होते हैं । इससे अनन्त गुना कापोत लेश्या वाले जीव होते हैं और इससे भी विशेषतः अधिक अनुक्रम से नील लेश्या वाले और कृष्ण लेश्या वाले जीव होते हैं । (३८१-३८२)

इस तरह लेश्या नामक सत्तरहवें द्वार का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

निर्व्याघातं प्रतीत्य स्यादाहारः षड्दिग्दभवः ।

व्याघाते त्वेष जीवानां त्रिचतुर्ष्वचदिग्भवः ॥३८३॥

अलोक वियताहार द्रव्याणां स्वलनं हि यत् ।

स व्याघातस्तदभावो निर्व्याघातमिहोच्यते ॥३८४॥

अब अठारहवें द्वार आहार की दिशा के विषय में कहते हैं- किसी भी प्रकार का व्याघात (विघ्न) न हो तो सर्व जीवों को छः दिशा का आहार होता है और व्याघात हो जाये तो तीन, चार या पांच दिशा का आहार होता है । अलोकाकाश से आहार की द्रव्य-वस्तुओं की स्वलना में रुकावट हो उसका नाम व्याघात है । ऐसी किसी प्रकार की स्वलना का अभाव हो वह निर्व्याघात अर्थात् व्याघात नहीं होने का भाव कहलाता है । (३८३-३८४)

भावात्वेवम्-

सर्वाधस्तादधोलोक निष्कटूस्याग्नि कोणके ।

स्थितो भवेद्यदैकाक्षस्तदासौ त्रिदिगुद्भवः ॥३८५॥

उसकी भावना इस प्रकार है - सब से नीचे अधोलोक आया है । उसके निष्कूट के अग्नि कोने में जो कोई एकेन्द्रिय जीव रहता हो वह तीन दिशाओं से आहार लेता है । (३८५)

पूर्वस्यां च दक्षिणस्यामधस्तादिति दिक् त्रये ।

संस्थितत्त्वादलोकस्य ततो नाहार सम्भवः ॥३८६॥

अपरस्या उत्तरस्या ऊर्ध्वतश्चेति दिक् त्रयात् ।

पुद्गला नाहरत्येवं सूक्ष्माः पंचानिलोऽनणुः ॥३८७॥

क्योंकि पूर्व दिशा में, दक्षिण दिशा में और अधः अर्थात् नीचे- इस तरह तीन दिशाओं में अलोक होने से वहां से उसे आहार मिलना सम्भव नहीं होता अर्थात् पश्चिम दिशा में से, उत्तर दिशा में से और उर्ध्व अर्थात् ऊँचे से सूक्ष्म पांच एकेन्द्रिय और बादर वायु पुद्गलों का आहार करते हैं । (३८६-३८७)

तथोक्तम् - इह लोकचरमान्ते बादर पृथिवी कायिका कायिक तेजोवनस्पतयो न सन्ति । सूक्ष्मास्तु पंचापि सन्ति बादरावायुकायिकाश्चेति । पर्याप्तापर्याप्तक भेदेन द्वादश स्थानान्यनुसर्त्तव्यानीति भगवती सूत्र शतक ३४ उद्देश १ वृत्तौ ॥

तथा कहा है कि- इस लोक के अन्तिम भाग में बादर पृथ्वी काय, अप्य काय, तेज काय, और वनस्पति काय नहीं होता है । सूक्ष्म अस्ति काय पांचों होती हैं और बादर वायु काय है । इन छः के पर्याप्त और अपर्याप्त - इस तरह दो भेद करते बारह स्थानक होते हैं । ऐसा भगवती सूत्र शतक ३४ उद्देश प्रथम में कहा है ।

द्वयोर्दिशोस्तथैकस्या अलोक व्याहतौ बुधैः ।

चतुः पंचदिगुत्पन्नोऽप्येषामेव विभाव्यताम् ॥३८८॥

और उनको भी यदि दो दिशाओं में अलोक का व्याघात हो तो शेष चार दिशाओं में से आहार होता है और एक दिशा में अलोक का व्याघात होता हो तो शेष पांच दिशाओं में से आहार होता है । (३८८)

तथापि- सर्वाधस्तादधोलोक एव चेत्पश्चिमादिशम् ।

स्थितोऽनुसृत्यैकाक्षः स्यात् प्राच्यां न व्याहतिस्तदा ॥३८९॥

अधस्तनी दक्षिणा च द्वे एव व्याहते इति ।

दिग्भ्योऽन्याभ्यश्चत सृभ्यः पुद्गलानाहरत्यसौ ॥३६०॥ (युग्मं)

वह इस तरह से- यदि एकेन्द्रिय जीव अचानक नीचे अधोलोक में ही पश्चिम दिशा के अनुसार रहा हो तो फिर उसे पूर्व दिशा में व्याघात नहीं होता । इससे केवल अधोदिशा और दक्षिण दिशा दो दिशा से ही व्याघात होते हैं । इससे शेष चार दिशाओं में से उसे पुद्गल का आहार मिलता रहता है । (३६६-३६०)

द्वितीयादि प्रतरेषु यदोर्ध्वं पश्चिमां दिशाम् ।

स्थितोऽनुसृत्यैकाक्षः स्यात्र व्याहतिरथोऽपि तत् ॥३६१॥

व्याहता दक्षिणैवैका ततः पंच दिगागतान् ।

पुद्गलानाहरत्यैष एवं सर्वत्र भावना ॥३६२॥ (युग्मं)

और जब एकेन्द्रिय जीव दूसरे, तीसरे आदि प्रस्तर में ऊर्ध्व दिशा अथवा पश्चिम दिशा के अनुसार रहा हो तब उसे अधोदिशा में से भी व्याघात नहीं होता अर्थात् केवल दक्षिण दिशा का ही व्याघात रहता है, इससे शेष पांच दिशाओं में से आए हुए पुद्गलों का आहार उसे होता है । इस तरह सर्वत्र समझना । (३६१-३६२)

द्रव्यतश्च स आहारः स्यादनन्त प्रदेशकः ।

संख्यासंख्यप्रदेशो हि नात्मग्रहण गोचरः ॥३६३॥

यह आहार द्रव्य की अपेक्षा से अनंत प्रदेश वाला होता है क्योंकि आत्मा को संख्य-असंख्य प्रदेश ग्रहण गोचर नहीं है । (३६३)

असंख्याभ्रप्रदेशानां क्षेत्रतः सोऽवगाहकः ।

जघन्यमध्यमोत्कृष्ट स्थितिकः कालतः पुनः ॥३६४॥

और क्षेत्र की अपेक्षा यह आहार असंख्य आकाश प्रदेश का अवगाह स्वीकार करने वाला है और काल की अपेक्षा से इसकी स्थिति जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट हैं । (३६४)

भावतः पंचधा वर्णरसैर्गन्धैर्द्विधाष्टधा ।

स्पर्शैरेक गुणात्वादि भेदैः पुनरनेकधा ॥३६५॥

अन्तिम भाव की अपेक्षा से इस आहार के पांच वर्ण और रस हैं, दो प्रकार की गंध हैं और आठ प्रकार के स्पर्श हैं तथा एक गुणा, दो गुणा, तीन गुणा इस तरह भेद करते हैं तो इसके अनेक भेद होते हैं । (३६५)

किंच -- अनन्तरावगाढानि स्वगोचर गतानि च ।

द्रव्याण्यभ्यवहायाण्यणूनि वा बादराणि च ॥३६६॥

आहरन्ति वर्णागन्धरसस्पर्शान्पुरातनान् ।

विनाश्यान्यांस्तथोत्पाद्या पूर्वान्जीवाः स्वभावतः ॥३६७॥ (युग्मं)

इत्याहारादिक् । प्रसंगात् किंचिदाहारस्वरूपं च ॥१८॥

यह जीव अल्प भी अनन्त बिना अवगाही रहे आहार के योग्य, सूक्ष्म या स्थूल स्वगोचर पदार्थों को इसके पुरातन वर्ण, रस, गंध और स्पर्श दूर करके इसके स्थान पर अपूर्व अन्य वर्ण, रस, स्पर्श और गंध उत्पन्न करके आहार करता है ।
(३६६-३६७)

इस तरह अठारहवां द्वार आहार की दिशा का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

अस्थि सम्बन्ध रूपाणि तत्र संहननानि तु ।

षोढा खलु विभिद्यन्ते दाढर्यादि तारतम्यतः ॥३६८॥

अब उन्नीसवें द्वार संहनन के विषय में कहते हैं- संहनन (संघयन) अर्थात् अस्थियों के सम्बन्ध से संयुक्त अंग-शरीर का होता है। कम, ज्यादा दृढ़ता आदि विशिष्टता को लेकर संहनन छः प्रकार का कहलाता है । (३६८)

तथा हुः - वज्ररिसह नारायं पढमं बीयं च सिंहनारायं ।

नारायामद्धनाराय कीलिया तहय छेवट्टं ॥१॥

संघयन छः प्रकार का होता है- १- वज्रऋषभ नाराच, २- ऋषभ नाराच, ३- नाराच, ४- अर्ध नाराच, ५- कालिका और ६- सेवार्त ।

कीलिका वज्रमृषभः पट्टोऽस्थिहय वेष्टकः ।

अस्थोर्मर्कट बन्धो यः स नाराच इति स्मृतिः ॥३६९॥

वज्र अर्थात् किल, ऋषभ अर्थात् दो अस्थि-हड्डी पर लिपटा हुआ पट्टा, नाराच अर्थात् अस्थियों का मर्कटबन्ध होता है । (३६९)

ततश्च - बद्धे मर्कटबन्धेन सन्धौ सन्धौ यदस्थिनी ।

अस्थना च पट्टाकृतिना भवतः परिवेष्टिते ॥४००॥

तदस्थित्रयमाविद्धय स्थिते नास्थना दूर्ढीकृतम् ।

कीलिका कृतिना वज्रर्षभ नाराचकं स्मृतम् ॥४०१॥

इस तरह से १- सन्धि के स्थान-स्थान पर मर्कट बन्ध से बन्धन की हुई

हड्डी पर एक तीसरी पट्टी के आकार की हड्डी लिपटी हो और ये तीनों हड्डी एक कोील के आकार वाली हड्डी से बिंधकर दृढ़ बनी हों, ऐसा संघयन शरीर का अंग वज्र ऋषभ नाराच कहलाता है । (४००-४०१)

अन्यदुषभनाराचं किलिका रहितं हि तत् ।

केचित्तु वज्र नाराचं पट्टोच्छ्रितमिदं जगुः ॥४०२॥

२- जो पूर्व में कहा है, उसमें से कील न हो तो वह ऋषभ नाराच है । जिसे कई वज्र ऋषभ नहीं परन्तु वज्र नाराच कहते हैं, वहां वज्र नाराच अर्थात् पूर्व कहे अनुसार से पट्टी कम होती है । (४०२)

अस्थोर्मर्कट बन्धेन केवलेन दृढी कृतम् ।

आहुः संहननं पूज्या नाराचाख्यं तृतीयकम् ॥४०३॥

३- दो हड्डी परस्पर मर्कट बन्धन से दृढ़ की हों, परन्तु उसमें कील या पट्टा कुछ भी न हो। वह संहनन नाराच कहलाता है । (४०३)

बद्ध मर्कट बन्धेन यद्भवेदेकपार्श्वतः ।

अन्यतः कीलिकानद्धमर्धं नाराचकं हि तत् ॥४०४॥

४- एक ओर मर्कट-बंध हो और दूसरी ओर से कील हो, इस तरह हड्डी वाला संहनन अर्ध नाराच कहलाता है । (४०४)

तत्कीलिताख्यं यत्रास्थानां केवलं कीलिका बलम् ।

अस्थानां पर्यन्तसम्बन्धरूपं सेवार्त्तमुच्यते ॥४०५॥

५- जिस संघयण में केवल कील से हड्डी के साथ जोड़ हो वह संहनन कीलिका कहलाता है । तथा ६- जिसमें हड्डियों का परस्पर अन्तिम छेड़ा केवल मिला हो उसे सेवार्त्त संहनन कहते हैं । (४०५)

सेवयाभ्यंगाद्यया वा रूतं व्याप्तं ततस्तथा ।

छेदः खंडैमिथः स्पृष्टं छेद स्पृष्ट मतोऽथवा ॥४०६॥

सेवा अर्थात् लेप आदि द्वारा हड्डी का जोड़, आर्त्त अर्थात् व्याप्त- मिला हो इससे सेवार्त्त कहलाता है यानि जिसमें हड्डी का केवल जोड़ हो वह सेवार्त्त है । उसे स्थान छेद स्पृष्ट भी कहते हैं। उस समय इसका अर्थ होता है - छेद अर्थात् खंड एक दूसरे से परस्पर स्पर्श करके-केवल स्पर्श जिसमें रहा हो वह यह संघयन कहलाता है । (४०६)

यद्यपि स्युरन स्थीनामेतान्य स्थ्यात्मकानि न ।

तद्गत शक्ति विशेषस्तथाप्येषूपचर्यते ॥४०७॥

एकेन्द्रियाणां सेवार्त्तं तमपेक्षयैव कथ्यते ।

जीवाभिगमानुसृतैः कैश्चिच्याद्यं सुधा भुजाम् ॥४०८॥

अस्थि रहित जीव के शरीर में अस्थि नहीं होती फिर भी इसमें रही अमुक प्रकार की विशिष्ट शक्ति के कारण उपचार से हड्डियां होती है, ऐसा कहलाता है और इस अपेक्षा से ही एकेन्द्रिय जीवों का संघयन सेवार्त्तं कहलाता है। कईयों ने जीवाभिगम सूत्र के आधार पर देवों को भी पहले प्रकार का संघयन कहा है। वह भी इसी ही अपेक्षा से कहा जाता है। (४०७-४०८)

संग्रहणीकारैस्तु-

छः गम्भतिरिनराणं समुच्छिमपणिदिविगलछेवद्वम् ।

सुरनेरइया एगिन्द्रियाय सव्वे असंघयणा ॥१॥

इत्युक्तम् ॥ इति संहननानि ॥१६॥

संग्रहणी ग्रन्थ के रचयिता ने तो इस तरह कहा है कि गर्भज, तिर्यज और मनुष्य को छः संघयण होते हैं, समूर्छित पंचेन्द्रिय और विकेन्द्रिय को सेवार्त्तं संघयन होता है तथा देव और नारकी जीव व एकेन्द्रिय इनको तो संघयन ही नहीं होता। (१)

इस तरह उन्नीसवें द्वार संघयन का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

कषं संसार कान्तारमयन्ते यान्तिवैर्जनाः ।

ते कषायाः क्रोधमान माया लोभा इति श्रुताः ॥४०९॥

अब बीसवें द्वार कषाय के विषय में कहते हैं- जिसके कारण मनुष्य को 'कष' अर्थात् संसार रूपी अटवी- जंगल में आय अर्थात् आवागमन करना पड़े, परिभ्रमण करना पड़े, जन्म मृत्यु के फेरे करने पड़ें उसका नाम कष + आय = कषाय है। इस कषाय के चार भेद हैं- १- क्रोध, २- मान, ३- माया और ४- लोभ। (४०९)

तत्र च - क्रोधोऽप्रीत्यात्मको मानोऽन्येऽर्ष्या स्वोत्कर्षलक्षणाः।

मायान्यवंचनारूपा लोभस्तृष्णाभिगृध्नुता ॥४१०॥

और इसमें क्रोध निःस्नेहात्मक है अर्थात् जहां क्रोध होता है वहां से स्नेह-प्रेम चला जाता है। अन्य की ईर्ष्या करना और अपनी बड़ाई-उत्कर्ष बताना, यह मान

का लक्षण है । अन्य जन को ठगना, उसका नाम माया है और तृष्णा का अतिशय होना लोभ कहलाता है । (४१०)

चत्वारोऽन्तर्भवन्त्येते उभयोर्द्वे परागयोः ।

आदिमौ द्वौ भवेद् द्वेषो रागः स्यादन्तिमौ च तौ ॥४११॥

इन चार कषायों का द्वेष और राग दो कषायों में समावेश होता है। प्रथम दो- क्रोध और मान का द्वेष के अन्दर और अन्तिम दो- माया और लोभ का राग के अन्दर समावेश होता है । (४११)

केचिच्च- स्वपक्षपातरूपत्वात्मानोऽपि राग एव यत् ।

ततस्त्रयात्मको रागो द्वेषः क्रोधस्तु केवलम् ॥४१२॥

और कितने ही आचार्य अपने विषय में पक्षपात करना ही मान कहा है और मान को भी राग के अन्तर्गत करते हैं । इस कारण से मान, माया और लोभ की त्रिपुटी को राग कहते हैं तथा केवल एक क्रोध को ही द्वेष रूप में गिना है । (४१२)

चत्वारोऽपि चतुर्भेदाः स्युस्तेऽनन्तानुबन्धिनः ।

अप्रत्याख्यानकाः प्रत्याख्यानाः संज्वलना इति ॥४१३॥

इन चार कषायों के भी चार-चार भेद होते हैं - १- अनन्तानुबन्धी, २- अप्रत्याख्यानी, ३- प्रत्याख्यानी, ४- संज्वलन । (४१३)

एतल्लक्षणानि च श्री हेमचन्द्र सूरिभिरित्थमूचिरे :-

पक्षं संज्वलनः प्रत्याख्यानो मास चतुष्टयम् ।

अप्रत्याख्यानको वर्षं जन्मानन्तानुबन्धिकः ॥४१४॥

वीतरागयति श्राद्ध सम्यग्दृष्टित्वं घातकाः ।

ते देवत्व मनुष्यत्व तिर्यकत्व नरक प्रदाः ॥४१५॥

इसके लक्षण आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरेश्वर जी ने योगशास्त्र के चौथे प्रकाश, ७ - ८ वीं गाथा में कहे हैं कि- संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ की काल मर्यादा पंद्रह दिन तक की रहती है । कषाय का प्रत्याख्यान चार मास तक है । कषाय का अप्रत्याख्यान एक वर्ष तक रहता है और अनन्तानुबन्धी कषाय जन्मपर्यन्त तक रहता है । ये संज्वलनादि चार कषाय क्रमशः प्रथम वीतरागत्व, दूसरे में साधुत्व, तीसरे में श्रावकत्व और चौथे में सम्यकत्व का घात करते हैं तथा ये चारों अनुक्रम से देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यकत्व और नरकत्व प्राप्त कराते हैं । (४१४-४१५)

अनन्तान्यनुबन्धन्ति यतो जन्मनि भूत्रये ।
तेनान्तानुबन्ध्याख्या क्रोधद्येषु नियोजिता ॥४१६॥

एषां संयोजना इति द्वितीयमपिनाम ॥

संयोजयन्ति यत्ररमनन्तसंख्यैर्भवैः कषायास्ते ।
संयोजनतानन्तानु बन्धिता वाप्यतस्तेषाम् ॥४१७॥

१- प्रज्ञापना- पत्रवणा सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- क्रोधादि चार कषाय प्राणी को अनन्त जन्म एक के बाद एक बंधन करवाते हैं, इसलिए अनन्त- अनुबन्धि = अनन्तानुबंधि नाम कहलाता है। इस अनन्तानुबन्धि के स्थान पर संयोजन दूसरा नाम भी है। क्योंकि यह मनुष्य को अनन्त जन्मों के साथ में संयोजक होता है, इसलिए इसका नाम संयोजन है अथवा अनन्तानुबन्धिता भी है। (४१६-४१७)

नाल्पमप्युल्लसेदेषां प्रत्याख्यानमिहो दयात् ।
अप्रत्याख्यानं संज्ञातो द्वितीयेषु नियोजिता ॥४१८॥

२- दूसरे प्रकार से अप्रत्याख्यानी नाम इस कारण से कहलाया कि इसके उदय से इस जगत में अल्प की प्रत्याख्यान से रुकता नहीं है। (४१८)

सर्वं सावध विरतिः प्रत्याख्यानमिहोदितम् ।
तदावरणतः संज्ञा सा तृतीयेषु योजिता ॥४१९॥

३- सर्व प्रकार के अनिष्ट-पापमय कार्यों से रुक जाना उसका नाम प्रत्याख्यान कहलाता है, वह प्रत्याख्यान करवाता है। यह तृतीय प्रकार का प्रत्याख्यानी है। (४१९)

समञ्चलयन्ति यतिं यत्संविग्नं सर्वपाप विरतमपि ।
तस्मात् संञ्चलना इत्य प्रशमकरा निरुच्यन्ते ॥४२०॥

कोई कषाय सर्वपाप कार्यों से विरक्त संविग्न मुनिराज को भी सम अर्थात् अच्छी तरह से जलाता है - या उत्तेजित करता है। वह कषाय चौथा संञ्चलन कहलाता है। (४२०)

अन्यत्रापि उक्तम्

शब्दादीन् विषयान्प्राप्य संञ्चलन्ति यतोमुहुः ।
ततः संञ्चलना ह्यानं चतुर्थानामिहोच्यते ॥४२१॥

अन्य स्थान पर भी कहा है कि- शब्द आदि विषयों को लेकर जो बारम्बार संज्वलित-उद्दीप्त होते हैं ऐसे चारों प्रकार के कषायों को संज्वलन कहते हैं। (४२१)

स्युः प्रत्येकं चतुर्भेदाः संज्वलनादयः ।

एवं षोडशद्वैकैकशतुः षष्टिर्विधा इति ॥४२२॥

इन चार भेद के प्रत्येक के और चार-चार उपभेद होते हैं अर्थात् चार के सोलह उपभेद होते हैं और चारों कषायों के कुल मिलाकर चौंसठ भेद होते हैं। (४२२)

यथा कदाचिच्छिष्टोऽपि क्रोधदेर्याति दुष्टताम् ।

एवं संज्वलनोऽप्येति क्वाप्यनन्तानुबन्धिताम् ॥४२३॥

जिस प्रकार कोई सज्जन पुरुष भी कभी क्रोध के कारण दुष्ट, उपद्रवी या पापिष्ठ हो जाता है- इसी तरह संज्वलन कषाय भी किसी समय में अनन्तानुबन्धी हो जाता है। (४२३)

“एवं सर्वेष्वपि भाव्यं” अर्थात् 'इसी तरह सर्व कषायों के विषय में समझना चाहिए।'

तत एवोपपद्येतानन्तानुबन्धिभाविनी ।

कृष्णादे दुर्गतिर्नूनं क्षीणानन्तानुबन्धिनः ॥४२४॥

और इस तरह होने से ही और अनन्तानुबन्ध क्षीण हो जाने से उसके कृष्ण लेश्या आदि की अनन्तानुबन्ध से होने वाली दुर्गति घट जाती है। (४२४)

एवं च -वर्षावस्थाधिमानस्य श्री बाहुबलिनो मुनेः ।

कैवल्य हेतुश्चारित्रं ज्ञेयं संज्वलनोचितम् ॥४२५॥

इस प्रकार श्री बाहुबलि मुनि को एक वर्ष तक मान रहा था, फिर भी आखिर में उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था। यह भी संज्वलन की ऐसी योग्यता का कारण समझना चाहिए। (४२५)

कर्मग्रन्थ कारैश्च सदृष्टान्ता एवमेते जगदिरे-

जलरेणु पुढवीपत्वय राई सरिसो चउव्विहो कोहो ।

तिणि सलया कट्टुठियसेलत्थं भोवामो माणो ॥४२६॥

माया वलेहिगोमुत्तिमिंढ सिंगघणवंसि मूलसमा ।

लोहो हलिद्द खंजण क्हमकिमिराग सारित्थो ॥४२७॥

कर्म ग्रन्थ के कर्ता ने इन कषायों को उदाहरण देकर समझाया है। वह इस

तरह-क्रोध के क्रमशः चार भेद होते हैं- १- जल में रेखा समान, २- रेत धूल में रेखा समान, ३- पृथ्वी-मिट्टी पर रेखा समान और ४- पर्वत (पत्थर) पर रेखा समान तथा चार प्रकार का मान- १- बेंत की छड़ी के समान, २- काष्ठ की लकड़ी के समान, ३- हड्डी के समान और ४- पत्थर के स्तम्भ के समान होता है। इस तरह उत्तरोत्तर विशेष से विशेषतर दृढ़ होता है । चार प्रकार की माया भी पूर्वापर विशेष से विशेषतः वक्र होती है- १- बांस की छाल के समान, २- लकड़ी की छाल के समान, ३- मेंढे के सींग समान और ४- बांस की जड़ के समान तथा चार प्रकार का लोभ- १- हल्दी के रंग समान, २- सकोरे में लगे मैल समान, ३- गाड़ी के पहिये के कीट समान तथा ४- किरमिची रंग के समान होता है । ये रंग समान होते हैं, ये पूर्वापर विशेष से विशेषतः पक्के दृढ़ता वाले रंग होते हैं । (४२६-४२७)

तथा - प्रज्ञापनायां प्रज्ञप्ताः स्वान्योभयप्रतिष्ठिता ।

अप्रतिष्ठितकाश्चैवं चत्वारोऽपि चतुर्विधाः ॥४२८॥

और प्रज्ञापना सूत्र में इन चार कषायों के अन्य प्रकार से चार भेद कहे हैं- १- स्वप्रतिष्ठित, २- अन्यप्रतिष्ठित, ३- उभय प्रतिष्ठित और ४- अप्रतिष्ठित । (४२८)

तथाहि- स्वदुश्चेष्टितः कश्चित् प्रत्यापायमवेक्ष्य यत् ।

कुर्यादात्मोपरि क्रोधं स एषः स्वप्रतिष्ठितः ॥४२९॥

चार कषाय में से एक क्रोध के विषय कहते हैं कि- १- एक मनुष्य अपने दोष जानकर दुःखी होता है और अपने आप पर जो क्रोध करता है वह स्वप्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है । (४२९)

उदीरयेद्यदा क्रोधं परः सन्तर्जनादिभिः ।

तदा तद्विषय क्रोधो भवेदन्य प्रतिष्ठितः ॥४३०॥

२- कोई अन्य मनुष्य अपना तिरस्कार-अपमान आदि करता है, इससे स्वयं को जो क्रोध आता है वह अन्य प्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है । (४३०)

एतच्चा नैगम नय दर्शनं चिन्त्यतां यतः ।

स तद्विषयतामात्रान्मन्यते तत्प्रतिष्ठितम् ॥४३१॥

यह विचार नैगम नय की अपेक्षा से कहा है क्योंकि क्रोध तो हमें हुआ है, परन्तु इसका कारण अन्य जन है। इसलिए केवल अन्य विषयता के कारण से इसे अन्य प्रतिष्ठित क्रोध कहा है । (४३१)

यश्चात्य परयोस्तादृगपराध कृतो भवेत् ।

क्रोधः परस्मिन् स्वस्मिंश्च स स्यादुभयसंश्रितः ॥४३२॥

३- इसी प्रकार दोष के सम्बन्ध में मनुष्य को अन्य के प्रति तथा स्वयं के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है । वह उभय प्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है । (४३२)

बिना पराक्रोशनादि बिना च स्वकुचेष्टितम् ।

निरालम्बन एव स्यात् केवलं क्रोध मोहतः ॥४३३॥

स चा प्रतिष्ठितः क्रोधो दृश्यतेऽयं च कस्यचित् ।

क्रोध मोहोदयात्क्रोधः कर्हिचित्कारणं बिना ॥४३४॥ युग्म्।

४- अन्य व्यक्ति के आक्रोश किए बिना तथा स्वयं का भी कोई दोष न होने पर भी- इस तरह आलम्बन बिना ही- किसी को क्रोध चढ़ जाये तो वह अप्रतिष्ठित क्रोध कहलाता है। ऐसा क्रोध किसी को उत्पन्न होता है । वह क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से और किसी को बिना कारण से भी होता है। (४३३-४३४)

अत एवोक्त पूर्वमहर्षिभिः-

सापेक्षाणि च निरपेक्षाणि च कर्माणि फलविपाकेषु ।

सोपक्रमं च निरुपक्रमं च दृष्टं यथायुष्कम् ॥४३५॥

इत्यादि अर्थतः प्रज्ञापना तृतीय पदे ।

एवमन्येऽपि त्रयः कषाया भाव्याः ॥

इस तरह होने से ही पूर्वाचार्यों ने प्रज्ञापना सूत्र में तीसरे पद में कहा है कि- आयुष्य जैसे सोपक्रमी और निरुपक्रमी है वैसे ही कर्म फल विपाक भी सापेक्ष तथा निरपेक्ष है । (४३५)

इस क्रोध के विषय में चार भेद समझाये हैं अन्य तीन कषायों के सम्बन्ध में इसी तरह चार प्रकार समझ लेना ।

चतुर्भिः कारणैरेते प्रायः प्रादुर्भवन्ति च ।

क्षेत्रं वास्तु शरीरं च प्रतीत्योपधिमंगिनाम् ॥४३६॥

मनुष्यों को ये चारों कषाय प्रायः क्षेत्र, मकान, शरीर और मालिक की वस्तुएं- इन चार कारणों से ही उत्पन्न होते हैं । (४३६)

सर्वस्तोका निष्कषाया मानिनोऽनन्तकास्ततः ।

कुद्म भाया विलुब्धाश्च स्युर्विशेषाधिकाः क्रमात् ॥४३७॥

सब से कम कषाय रहित प्राणी हैं, इससे अनन्त गुना मानी हैं, इससे बहुत अधिक क्रोधी हैं, इससे विशेष अधिक माया कपटी हैं और इससे भी अधिक लोभी होते हैं । (४३७)

एकेन्द्रियाणां चत्वारोऽप्यनाभोगाद् भवन्त्यमी ।

अदर्शित बहिर्देह विकारा अस्फूटात्मकाः ॥४३८॥

एकेन्द्रिय जीवों को ये चार कषाय अनाभोगे होते हैं और इससे बाहर से इनके शरीर का विकार नहीं दिखता, अप्रगट रूप में रहता है । (४३८)

सर्वदा सहचारित्वात्कषायाऽध्यभिचारिणः ।

नो कषाया नव प्रोक्ताः स्तवनीय क्रमाम्बुजैः ॥४३९॥

कषायों के साथ सर्वदा अव्यभिचारी रूप में सहयोगी अनुकूल सम्बन्ध से रहने वाले नौ

तदुक्तं प्रज्ञापना वृत्तौः -

कषाय सहवर्त्तित्वात्कषाय प्रेरणादपि ।

हास्यादि नव कस्योक्ता नो कषाय कषायता ॥४४०॥

हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ।

पुंस्त्री क्लीवाभिधा वेदाः नो कषाया अमीमता ॥४४१॥

इति कषाया ॥२०॥

इस सम्बन्ध में प्रज्ञापना वृत्ति में कहा है कि- कषायों के साथ रहने वाले तथा उसकी प्रेरणा के कारण हास्य आदि नौ कौ नौ कषाय ऐसा नाम दिया है वह इस प्रकार १- हास्य, २- रति, ३- अरति, ४- भय, ५- जुगुप्सा, ६- शोक, ७- पुंवेद, ८- स्त्रीवेद और ९- नपुंसक वेद- ये नौ प्रकार के नौ कषाय होते हैं । (४४०-४४१)

इस तरह बीसवां द्वार कषाय का स्वरूप कहा ।

संज्ञां स्यात् ज्ञान रूपैका द्वितीयानुभवात्मिका ।

तत्राद्या पंचथा ज्ञानमन्या च स्यात् स्वरूपतः ॥४४२॥

असात् वेदनीयादि कर्मोदय समुद्भवा ।

आहारादि परीणाम भेदात्सा च चतुर्विधा ॥४४३॥ युग्मं ।

अब इक्कीसवें द्वार संज्ञा के विषय में कहते हैं- १- ज्ञान रूप और २- अनुभव रूप दो प्रकार की संज्ञा है । प्रथम ज्ञान रूप संज्ञा के पांच प्रकार हैं और दूसरी

अनुभव रूप संज्ञा असात वेदनीय आदि कर्मों के उदय से उत्पन्न होती है और आहार आदि भिन्न-भिन्न रूप परिणामस्वरूप होने के कारण इसके चार भेद होते हैं । (४४२-४४३)

तथाहुः । चत्वारि सणाओ पणत्ते । आहार सणा, भय सणा, मेहु सणा, परिग्गह सणा । इति स्थानांगे ।

तथा स्थानांग- ठाणांगसूत्र में कहा है कि १- आहार संज्ञा, २- भय संज्ञा, ३- मैथुन संज्ञा और ४- परिग्रह संज्ञा- इस तरह चार संज्ञा प्राणीमात्र की होती हैं।

आहारे योभिलाषः स्याज्जन्तो क्षुद्वेद नीयतः ।

आहार संज्ञा सा ज्ञेया शेषाः स्युर्मोहनीयजाः ॥४४४॥

१- क्षुधा-भूख लगने से जीव को आहार की इच्छा होती है, वह आहार संज्ञा कहलाती है। शेष संज्ञाएं मोहनीय कर्म उत्पन्न होने से होती हैं । (४४४)

भय संज्ञा भयत्रासरूपं यदनुभयते ।

मैथुनेच्छात्मिका वेदोदयजा मैथुनाभिधा ॥४४५॥

२- त्रास-डर रूप भय का अनुभव होना भय संज्ञा है और ३- वेदोदय के कारण प्राणीमात्र को स्वाभाविक रूप में हवस के कारण मैथुन की इच्छा जागृत होना मैथुन संज्ञा है । (४४५)

स्यात्परिग्रह संज्ञा च लोभोदय समुद्भवा ।

अनाभोगाव्यक्त रूपा एताश्चैकेन्द्रियांगिनाम् ॥४४६॥

४- जो लोभ के उदय से उत्पन्न हो वह परिग्रह संज्ञा है । यह संज्ञा एकेन्द्रिय प्राणियों में उपयोग-रहित रूप में और अप्रकट रूप में होती है । (४४६)

भगवती सप्तम शतकाष्टमोदेशकेतुः-

आहार भय परिग्गह मेहुण तह कोह माण माया च ।

लोभो लोगो ओहो सन्न दस सव्व जीवाणं ॥४४७॥ इति।

एताश्च वृक्षोपलक्षणेन सर्वैकेन्द्रियाणां साक्षादेवं दर्शिताः तद्यथा-

श्री भगवती सूत्र के अन्दर सातवें शतक आठवें उद्देश में कहा है- सर्व जीवों को १- आहार, २- भय, ३- परिग्रह, ४- मैथुन, ५- क्रोध, ६- मान, ७- माया, ८- लोभ, ९- लोक और १०- ओघ- इस तरह दस संज्ञा होती है। (४४७)

और एकेन्द्रिय जीवों में भी यह होता है, इस तरह वृक्ष के दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है । वह इस प्रकार से-

रूकृखाण जलाहारो संको अणिआ भयेण संकुडयं ।
 निअतन्तु एहिं वेढइ वल्ली रूख्खे परिगहेइ ॥४४८॥
 इत्थि परिरंभणेणं कुरुबगरूपो फलंति मेहुणे ।
 तह कोनदस्स कंदे हुंकारे मुअइ कोहेणं ॥४४९॥
 माणे झरइ रूअंती छायइ वल्ली फलाइं मायाए ।
 लोभे विल्ल पलासा खिवंति मूले निहाणु वरि ॥४५०॥
 रयणीए संकोओ कमलाणं होइ लोगसन्नाए ।
 ओहे चइत्तु मगं चडंति रूख्खेसु वल्लीओ ॥४५१॥

१- वृक्षों को जलाहार होता है, २- वृक्षों को भय भी होता है क्योंकि उनका भी संकोच होता है, ये भय बिना नहीं होते । ३- लताएं तंतुओं द्वारा वृक्षों को लपेट कर मुड़ती हैं । यह परिग्रह संज्ञा नहीं तो और क्या है ? ४- स्त्री आलिंगन देती है तब कुरबक वृक्ष फूलता है अर्थात् वृक्ष में मैथुन संज्ञा भी सिद्ध होती है । ५- कोकनंद अर्थात् रक्त जल कमल हुंकार शब्द करता है, यह इसमें क्रोध संज्ञा है- यह सिद्ध होता है । ६- रूदंती नाम की लता झरती है, यह मान का सूचक है । ७- लताएं अपने फलों को ढक कर रखती हैं, यह उनकी माया ही है । ८- पृथ्वी में किसी स्थान पर खजाना होता है, इसे ऊपर से बिल पलाश वृक्ष अपनी जड़-मूलों से छिपा देता है यह इसमें लोभ प्रकृति है ऐसा दिखाई देता है । ९- रात्रि हो जाती है तब सारे कमल पुष्प संकोच युक्त हो जाते हैं इसका कारण लोक संज्ञा का सद्भाव है और १०- लता सर्व मार्ग शोधते वृक्ष पर चढ़ जाती है। इस तरह उसमें ओघ संज्ञा दिखती है । (४४८ से ४५१)

अन्यैरपि वृक्षाणां मैथुन संज्ञाभिधीयते। तथोक्तं शृंगार तिलके ।

सुभग कुरुबकस्त्वं नो किमालिंगनोत्कः ।

किमु मुखयदिरेच्छुः केसरो नो हृदिस्थः ॥

त्वयि नियतमशोके युज्यते पादघातः ।

प्रियमिति परिहासात्पेशलं काचि इचे ॥४५२॥

तथा पारदोऽपि स्फार शृंगारया स्त्रियावलोकितः कूपादुल्ल लतीति लोके श्रुयते । इति ॥

शृंगार तिलक नामक ग्रन्थ के आधार पर वृक्षों में मैथुन संज्ञा होती है- इस तरह अन्यजन (दर्शनकार) भी कहते हैं । वह इस प्रकार-

कोई स्त्री अपने पति से हास्यपूर्वक वचन कहती है कि- हे सुन्दर ! तुम तो मेरे कुरबक हो, फिर मुझे क्यों आलिंगन नहीं करते ? तुम मेरे हृदस्थ केशर (वृक्ष) हो, तो भी मेरा मन मदिरा की इच्छा क्यों नहीं करता ? तुम मेरे मन के अशोक वृक्ष हो तो तुम्हें तो मैं पाद प्रहार ही करूंगी । (४५२)

तथा सुन्दर शृंगार में तैयार हुई स्त्री दृष्टि करे तो कुएं में से पारा भी उछलता रहता है, इस तरह भी लोकोक्ति है।

स्तोका मैथुन संज्ञोपयुक्ता नैरयिकाः क्रमात् ।

संख्येयघ्ना जग्धि परिग्रह त्रासोपयुक्त का ॥४५३॥

नारकी जीवों में मैथुन संज्ञा वाले सर्व से कम होते हैं, इससे आहार संज्ञा वाले, परिग्रह संज्ञा वाले और भय संज्ञा वाले अनुक्रम से एक के बाद संख्यात-संख्यात गुणा हैं । (४५३)

स्यु परिग्रह संज्ञाद्दयास्तिर्यचोऽल्पास्ततः क्रमात् ।

ते मैथुन भयाहार संज्ञाः संख्यगुणाधिकाः ॥४५४॥

तिर्यच जीवों में परिग्रह संज्ञा वाले सर्व से कम होते हैं, इससे मैथुन संज्ञा वाले, भय संज्ञा वाले और आहार संज्ञा वाले अनुक्रम से पूर्वापर संख्यात-संख्यात गुणा होते हैं । (४५४)

भय संज्ञान्विताः स्तोका मनुष्या स्युर्यथाक्रमम् ।

संख्येयघ्ना भुक्ति परिग्रह मैथुन संज्ञकाः ॥४५५॥

मनुष्यों में भय संज्ञा वाले सब से कम होते हैं, इससे आहार संज्ञा वाले, परिग्रह संज्ञा वाले और मैथुन संज्ञा वाले अनुक्रम से पूर्वापर संख्यात-संख्यात गुणा होते हैं । (४५५)

आहार संज्ञाः स्युः स्तौका देवाः संख्यगुणाधिकाः ।

संत्रास मैथुन परिग्रह संज्ञा यथाक्रमम् ॥४५६॥

देवताओं में आहार संज्ञा वाले सबसे कम होते हैं, इससे भय संज्ञा वाले, मैथुन संज्ञा वाले और परिग्रह संज्ञा वाले अनुक्रम से पूर्वापर एक के बाद दूसरा संख्यात-संख्यात गुणा होते हैं । (४५६)

“प्रवचन सारोद्धार वृत्तौ तु एवं लिखितम् । तथा मति ज्ञानावरण कर्मक्षयो-पशमात् शब्दार्थ गोचरा सामान्यावबोध क्रिया ओघ संज्ञा । तद्विशेषावबोध क्रिया लोक संज्ञा । एवं चेदमापतितम् दर्शनोपयोगः ओघ संज्ञा ज्ञानोपयोगः लोक संज्ञा । एषः स्थानांग टीकाभिप्रायः ॥”

अर्थात्- प्रवचन सारोद्धार ग्रंथ में इस तरह लिखा है कि मति ज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम से शब्द और अर्थ का गोचर सामान्य अवबोध क्रिया है, उसका नाम ओघ संज्ञा है । इससे सविशेष अवबोध हो उस क्रिया को लोक संज्ञा कहते हैं । इसके आधार पर यह सार निकलता है कि दर्शन का उपयोग वह ओघ संज्ञा है और ज्ञान का उपयोग वह लोक संज्ञा है । ऐसा ही स्थानांग सूत्र पर टीका का अभिप्राय है ।

आचारांग टीकायां पुनरभिहितं ओघ संज्ञा तु अव्यक्तोपयोग रूपा वल्लीवितानारोहणादि संज्ञा । लोक संज्ञा स्वच्छन्द घटित विकल्प रूपा लोकोप- चरित्रता । यथा न सन्ति अनपत्यस्य लोकाः श्वानो यक्षाः विप्रः देवाः काकाः पितामहाः बर्हिणां पक्षवातेन गर्भ इत्यादिका । इति ॥ आचारांगे तुः -

आचारांग सूत्र की टीका में इस तरह कहा है कि- लताओं की आरोहणादि संज्ञा के समान उसका उपयोग अव्यक्त-अप्रकट होता है । ऐसी जात की जो संज्ञा है वह ओघ संज्ञा है और लोगों ने अपने अपने छंद अनुसार विकल्प बनाये हों वह लोक संज्ञा कहलाती है जैसे कि अपुत्रवान की सद्गति नहीं होती, धान (कुत्ता) यक्ष रूप है, विप्र सर्व देव समान है, काक (कौए) सर्व पितृ सदृश है, मयूर में पंख की वायु से गर्भ रहता है, यह सब लोक संज्ञा के दृष्टान्त हैं । आचारांग सूत्र में और भी कहा है :-

मोह धर्म सुख दुःख जुगुप्सा शोक नामभिः ।

दशता षड्भिरेताभिः सह षोडश वर्णिताः ॥४५७॥

पूर्व में हमने जो दस संज्ञा कही हैं, वे तथा अन्य और छह मिलाने से सोलह संज्ञा मानी गई हैं । अन्य जो संज्ञा हैं वह इस प्रकार से- १- मोह, २- धर्म, ३- सुख, ४- दुःख, ५- शोक और ६- जुगुप्सा । (४५७)

अथवा त्रिविधाः संज्ञाः प्रथमा दीर्घ कालिकी ।

द्वितीया हेतुपादाख्या, दृष्टिवादाभिधा परा ॥४५८॥

अथवा तीन प्रकार की संज्ञा होती हैं, वह इस प्रकार- प्रथम दीर्घ कालिकी, दूसरी हेतुवाद और तीसरी दृष्टिवाद है । (४५८)

सुदीर्घमप्यतीतार्थ स्मरत्यथ विचिन्तयेत् ।

कथं तु नाम कर्त्तव्यमित्यागाभिनमाद्यथा ॥४५९॥

इसमें प्रथम दीर्घ कालिकी संज्ञा से मनुष्य को बहुत लम्बे समय पहले जो हुआ हो उसका स्मरण आता है और भविष्य में क्या करना है उस बात का चिन्तन आता है । (४५९)

तथा विचिन्त्येष्टानिष्टच्छायातपादि वस्तुषु ।

द्वितीयया स्व सौख्यार्थं स्यात्प्रवृत्ति निवृत्तिमान् ॥४६०॥

इस तरह चिन्तन करने के बाद दूसरी हेतुवाद संज्ञा से मनुष्य अपने सुख के लिए धूप, छाया आदि पदार्थों में से स्वयं को जो इष्ट-इष्ट हो उसमें प्रवृत्त होता है और जो अनिष्ट हो उससे निवृत्त रहता है । (४६०)

भवेत्सम्यग्दृशामेव दृष्टिवादोपदेशिकी ।

एतामपेक्ष्य सर्वेऽपि मिथ्यादृशो ह्यसंज्ञिनः ॥४६१॥

तीसरी उपदेश देने वाली दृष्टिवाद संज्ञा सम्यक् दृष्टि जीवों को ही होती है। इस संज्ञा के कारण ही सर्व मिथ्यादृष्टि जीवों को असंज्ञी कहा है । (४६१)

सुरनारकगर्भोत्थ जीवानां दीर्घ कालिकी ।

संमूर्च्छिमान्तद्वयक्षादि जीवानां हेतु वादिकी ॥४६२॥

देवता, नारकी जीवों को और गर्भज जीवों को दीर्घ कालिकी नामक संज्ञा होती है । और दो इन्द्रिय से लेकर संमूर्च्छिम तक के जीवों को हेतुवाद नाम की संज्ञा होती है । (४६२)

छद्वास्थ सम्यग् दृष्टीनां श्रुतज्ञानात्मिकान्तिमा ।

मति व्यापार निर्मुक्ताः संज्ञातीता जिनाः समे ॥४६३॥

इति संज्ञाः ॥२१॥

छद्वास्थ सम्यक् दृष्टि जीवों को श्रुतज्ञान रूप तीसरी दृष्टिवाद संज्ञा होती है । मति ज्ञान के व्यापार से आगे बढ़ने वाले सर्व श्री जिनेश्वर भगवन्त तो संज्ञातीत होते हैं । (४६३)

इस तरह इक्कीसवां द्वार संज्ञा विषयक सम्पूर्ण हुआ ।

इंदुः स्यात् परमैश्वर्ये धातोरस्य प्रयोगतः ।

इन्दनात्परमैश्वर्यादिन्द्र आत्माभिधीयते ॥४६४॥

अब बाईसवां द्वार 'इन्द्रिय' का स्वरूप कहते हैं । यह इन्द्र धातु से बना है। इसका अर्थ ऐश्वर्यवान में उपयोग होता है । इस धातु का प्रयोग करके इन्दन अर्थात् 'ऐश्वर्य लेते' ऐश्वर्यवान के लिए इन्द्र शब्द उपयोग होता है। आत्मा ऐश्वर्यवान है इसलिए आत्मा भी इन्द्र कहलाती है । (४६४)

तस्यलिंग तेन सृष्टमितीन्द्रियमुदीर्यते ।

श्रोत्रादि पंचधा तच्च तथाद्युवाच भाष्यकृत् ॥४६५॥

इस कारण से आत्मा के बनाये अपने लिंग-चिन्ह इन्द्रिय कहलाती हैं । ये इन्द्रिय श्रोत्र आदि पांच अर्थात् श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन- ये पांच इन्द्रिय होती हैं । भाष्यकार कहते हैं कि (४६५)

ईदो जीवों सव्वोबलद्धि भोग पर मेसरत्तणओ ।

सोत्ताइ भेयमिन्द्रियमिहतल्लिंगाइ भावाओ ॥४६६॥

इन्द्र अर्थात् जीवात्मा, क्योंकि सर्व प्रकार की उपलब्धि या रसों भोगों का ऐश्वर्य होता है और श्रोत्र आदि भेद वाली जो इन्द्रियां हैं वे जीव के भाव लिंग-चिह्न होते हैं । (४६६)

श्रोत्राक्षि घ्राण रसन स्पर्शना नीति पंचधा ।

तान्येकैकं द्विभेदं तद् द्रव्य भावविभेदतः ॥४६७॥

तत्र निवृत्ति रूपं स्यात्तथोपकरणात्मकम् ।

द्रव्येन्द्रियमिति द्वेधा तत्र निर्वृत्तिराकृतिः ॥४६८॥

१- श्रोत्र, २- अक्षि, ३- घ्राण, ४- रसना, ५- स्पर्शन- ये पांच इन्द्रियां हैं। इनसे प्रत्येक के द्रव्य और भाव रूप दो भेद हैं और इसमें द्रव्येन्द्रिय के फिर दो भेद हैं । प्रथम निवृत्ति रूप और दूसरा प्रवृत्ति रूप है । निवृत्ति अर्थात् आकृति रूप समझना । (४६७-४६८)

सापि बाह्यान्तरंगा च बाह्या तु स्फुटमीक्ष्यते ।

प्रति जाति पृथग्रूपा श्रोत्र पर्पटिकादिका ॥४६९॥

नानात्वान्नोपदेष्टुं सा शक्या नियत रूपतः ।

नाना कृतीनीन्द्रियाणि यतो वाजि नरादिषु ॥४७०॥

निवृत्ति रूप जो आकृति है उसके भी १- बाह्य और २- अन्तरंग दो भेद होते हैं । बाह्य आकृति में तो प्रत्येक जाति में कर्ण-कान आदि भिन्न-भिन्न रूप में स्पष्ट

दिखते हैं । परन्तु इस तरह विविध रूप होने से इसका एक निश्चय रूप नहीं कर सकते हैं । उदाहरण के तौर पर देखा जाये तो ज्ञात होता है कि मनुष्य और घोड़े की इन्द्रियों का आकार अलग-अलग है । (४६६-४७०)

अभ्यन्तरा तु निवृत्तिः सयाना सर्वजातिषु ।

उक्तं संस्थान नैयत्यमेनामेवाधिकृत्य च ॥४७१॥

अन्तरंग आकृति तो सर्व जातियों की समान ही होती है । यह अन्तरंग आकृति से ही इनके संस्थान निश्चयपूर्वक कह सकते हैं । वह आगे कहते हैं । (४७१)

तथाहि- श्रोत्रं कदम्ब पुष्पाभ्यां सैक गोलकात्म्यम् ।

मसूरधान्यतुल्या स्याच्चक्षुषोऽन्तर्गताकृतिः ॥४७२॥

अति मुक्तक पुष्पाभं घ्राणं च काहलाकृति ।

जिह्वा क्षुर प्राकारा स्यात् स्पर्शनं विविधाकृति ॥४७३॥

कर्णेन्द्रिय कदम्ब के पुष्प समान मास का एक गोलाकार रूप है । चक्षुरिन्द्रिय मसूर नामक अनाज समान है । नासिका अति मुक्तक पुष्प समान और काहल नामक बाजे के आकार वाली होती है । जीभ क्षुर-अस्त्र के आकार की है और स्पर्शेन्द्रिय अनेक आकार वाली होती है । (४७२-४७३)

स्पर्शनेन्द्रिय निवृत्तौ बाह्याभ्यन्तरयोर्नधित् ।

तथैव प्रतिपतव्यमुक्तत्वात्पूर्वं सूरिभिः ॥४७४॥

स्पर्शेन्द्रिय के बाह्य और अभ्यन्तर आकार में कोई अन्तर नहीं होता है । पूर्वाचार्यों ने भी इसी तरह कहा है। इसलिए ऐसा ही अंगीकार करना चाहिए । (४७४)

बाह्य निवृत्तीन्द्रियस्य खड्गेनोपमितस्य या ।

धारोपमान्त निवृत्तिरत्वच्छ पुद्गलात्मिका ॥४७५॥

इन्द्रियों की बाह्य आकृति को खड्ग (तलवार) की उपमा दी है और अन्दर की आकृति को खड्ग की धार की उपमा दी है। तथा यह अभ्यन्तर आकृति अत्यन्त निर्मल पुद्गल रूप है । (४७५)

तस्याः शक्ति विशेषो यः स्वीय स्वीयार्थं बोधकः ।

उक्तं तरेवोप करणेन्द्रियं तीर्थं पार्थिवैः ॥४७६॥

इन्द्रियों को अपना अपना कार्य क्षेत्र बताने वाली जो विशिष्ट शक्ति है उसे ही श्री तीर्थकर परमात्मा ने उपकरण-इन्द्रिय कहा है । (४७६)

तदुक्तं प्रज्ञापनावृत्तौ- “उपकरणम्। खड्ग स्थानीयायाः बाह्य निर्वृत्तेः या खड्गधारा समाना स्वच्छतर पुद्गल समूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः तस्याः शक्ति विशेष इति ॥”

प्रज्ञापना सूत्र में ‘उपकरण’ का अर्थ इस तरह कहा है- ‘खड्ग समान बाह्य आकृति वाली इन्द्रिय है, खड्ग-धारा समान और अत्यन्त निर्मल पुद्गल समूह रूप अभ्यन्तर आकृति की विशिष्ट शक्ति को उपकरणेन्द्रिय कहा है ।’

आचारांग वृत्तौ तु- “निर्वृत्यते इति निर्वृत्तिः । केन निर्वृत्यते? कर्मणा। तत्र उत्सेधांगुलासंख्येय भाग प्रमितानां शुद्धानां आत्म प्रदेशानां प्रति नियत चक्षुरादीन्द्रिय संस्थानेनाव स्थितानां या वृत्तिः अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः ॥ तेष्वेवात्म प्रदेशेष्विन्द्रिय व्यपदेश भाग यः प्रति नियत संस्थानः निर्माणानाम्ना पुद्गल विपाकिना बद्धकी संस्थानीयेन आरचितः कर्ण शष्कुल्यादि विशेषः अंगीपांग नाम्ना तु निष्पादितः इति बाह्य निर्वृत्तिः ॥ तस्या एव निर्वृत्तेः द्वि रूपायाः येनोपकारः क्रियते तद् उपकरणम् ॥ तच्च इन्द्रिय कार्यं सत्यामपि निर्वृत्तौ अनुपहतायामपि मसूराद्याकृतिरूपायां निर्वृत्तौ तस्योपधातात् न पश्यति ॥ तदपि निर्वृत्तिवत् द्विधा इति ॥”

आचारांग सूत्र की वृत्ति में इस तरह कहा है- ‘इन्द्रिय की आकृति कर्म बनाता है । इसमें उत्सेधांगुल के असंख्यवें विभाग समान निश्चय आकृति वाली चक्षु आदि इन्द्रिय रूप रही हैं, शुद्ध आत्म प्रदेशों की वृत्ति यह अभ्यन्तर निर्वृत्ति है । यही आत्म प्रदेशों में इन्द्रिय नामाभिधान वाली पुद्गल विपाकी कर्ण छिद्र आदि निश्चय आकार की रचना है । यह सूत्रधार के समान निर्माण नामकर्म से रचना होती है और जो अंगोपांग नाम कर्म द्वारा रचना हुई आकृति है, वह बाह्य निर्वृत्ति समझना। इस तरह बाह्य और अभ्यन्तर- इस तरह दो प्रकार की निर्वृत्ति रूप उपकार को करने वाला उपकरण कहलाता है । वह इन्द्रियों का कार्य है । मसूरादि रूप वाली निर्वृत्तीन्द्रिय स्वयं अनुपहत होने पर भी इसका उपघात करके देख नहीं सकता है। इस इन्द्रिय का कार्य भी निर्वृत्ति के समान दो प्रकार का है ।’

“एवं च प्रज्ञापना वृत्त्यभिप्रायेण स्वच्छतर पुद्गलात्मिका अभ्यन्तर निर्वृत्तिः। प्रथमांगवृत्त्यभिप्रायेण तु शुद्धात्म प्रदेश रूपा अभ्यन्तर निर्वृत्तिः। इति ध्येयम् ॥”

‘इस तरह अन्तरंग आकृति पत्रवणा सूत्र के अभिप्राय से अत्यंत स्वच्छ पुद्गल रूप है और आचारांग सूत्र की वृत्ति के अभिप्राय से शुद्ध आत्म प्रदेश रूप है ।’

इदमान्तर निर्वृत्तेर्न तूपकरणेन्द्रियम् ।

अर्थान्तरं शक्ति शक्तिमतोर्भेदात् कथंचन ॥४७७॥

जिस तरह शक्ति और शक्तिमान अलग नहीं होता, वैसे ही यह उपकरणेन्द्रिय अन्तरंग वृत्ति से किसी तरह अलग नहीं है । (४७७)

कथंचित भेदश्च:

तस्यामान्तर निर्वृत्तौ सत्यामपि पराहते ।

द्रव्यादिनोपकरणेन्द्रियेऽर्थाज्ञान दर्शनात् ॥४७८॥

इति द्रव्येन्द्रियम् ॥

कुछ भेद कहते हैं - वस्तुतः अभ्यन्तर निर्वृत्ति का सद्भाव होता है फिर भी उपकरणेन्द्रिय द्रव्यादि द्वारा पराघात होता है तो अर्थ का ज्ञान नहीं होता है । (४७८)

इस तरह द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप कहा ।

द्विधा भावेन्द्रियमपि लब्धितश्चोपयोगतः ।

यथाश्रुतमथो वच्मि स्वरूपमुभयोरपि ॥४७९॥

अब भावेन्द्रिय का स्वरूप कहते हैं ।: यह दो प्रकार की है- १- लब्धि रूप और २- उपयोग रूप । ये दोनों भेद आगम सिद्धान्त में कहे हैं । उन्हें मैं कहता हूँ । (४७९)

जन्तोः श्रोत्रादि विषयस्तत्तदावरणस्य यः ।

स्यात् क्षयोपशमोलब्धि रूपं भावेन्द्रियं हि तत् ॥४८०॥

स्व स्व लब्ध्यनुसारेण विषयेषु य आत्मनः ।

व्यापार उपयोगाख्यं भवेद् भावेन्द्रियं च तत् ॥४८१॥

जीव को कर्णादि विषय वाले उस आवरण का यदि क्षयोपशम हो जाये तो वह लब्धि रूप भावेन्द्रिय कहलाती है और स्वयं अपनी लब्धि के अनुसार विषयों में जो आत्मा का व्यापार हो वह उपयोग रूप भावेन्द्रिय कहलाता है ।

(४८०-४८१)

उपयोगेन्द्रियं चैकमेकधा नाधिकं भवेत् ।

एकधा ह्युपयोगः स्यादेक एव यदंगिनाम् ॥४८२॥

उपयोग इन्द्रिय एक समय में एक ही होती है, अधिक नहीं होती क्योंकि जीवों को एक समय में एक ही उपयोग होता है । (४८२)

तथाहि— इन्द्रियेणेह येनैव मनः संयुज्यतेऽग्निः ।

तदेवैकं स्व विषय ग्रहणाय प्रवर्तते ॥४८३॥

तथा प्राणी का मन जिस इन्द्रिय द्वारा जुड़ता है वही एक इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में प्रवृत्तिमान होती है । (४८३)

सशब्दां सुरभिं मृद्वीं खादतो दीर्घं शष्कुलीम् ।

पंचानामुपयोगानां यौग पद्यस्य यो भ्रमः ॥४८४॥

स चेन्द्रियेषु सर्वेषु मनसः शीघ्रयोगतः ।

सम्भवेद्युगपत्पत्र शतवेधाभिमानवत् ॥४८५॥ (युग्मं।)

शब्दायमान, सुगंधिमय, मृदु और दीर्घ चोलाफली या ग्वार फली खाते समय एक साथ पांचों इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं - इस तरह लगता है, परन्तु वह सर्व इन्द्रियों के विषय में मन का शीघ्र योग होने से जैसे मनुष्य एक साथ सभी पत्रों को भेदन करने का अभिमान करता है उसके समान एक भ्रम ही है । (४८४-४८५)

अन्यथा तूपयोगौ द्वौ युगपन्नाहंतोऽपि चेत् ।

छद्म स्थानां पंच तर्हि सम्भवेयुः कथं सह ॥४८६॥

एक साथ में दो उपयोग श्री अरिहंत परमात्मा को भी नहीं होता है तो फिर छद्मस्थ मनुष्य को एक ही समय में पांच उपयोग किस तरह हो सकते हैं ? (४८६)

तदुक्तं प्रथमांग वृत्तौ

आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण ।

स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रमएष शीघ्रः ।

योग्योऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति ।

यस्मिन्मनो व्रजति तत्रगतोऽयमात्मा ॥१॥

प्रथम अंग श्री आचारांग सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- 'आत्मा' मन के साथ

में जाता है, मन इन्द्रिय के साथ में जाता है और इन्द्रिय अपने अर्थ-विषय के साथ में जाती है- इस तरह शीघ्र क्रम है और यही क्रम योग्य है, क्योंकि मन को कुछ भी अगम्य नहीं है। जहां मन जाता है वहां आत्मा भी जाती है ।'

किंच - एकाक्षादि व्यवहारो भवेत् द्रव्योन्द्रियैः किल ।

अन्यथा बकुलः पंचाक्षः स्यात् पंचोपयोगतः ॥४८७॥

तथा ऐकेन्द्रिय आदि व्यवहार भी द्रव्येन्द्रियों के द्वारा ही होता है । अन्यथा बकुल वृक्ष भी पांच उपयोगों के कारण पंचेन्द्रिय हो जाता है । (४८७)

यदुक्तम् - पंचिन्द्रिओ उवउलो नरोत्व सव्वोवल द्विभावाओ ।

तहवि न भणइ पंचिन्दि ओत्ति दव्विन्दिया भावा ॥४८८॥

कहा है कि- बकुल वृक्ष भी मनुष्य के समान सर्व उपयोग को लेकर पंचेन्द्रिय के समान वर्तन करता है, परन्तु उसे द्रव्येन्द्रिय का अभाव होता है, इसलिए वह पंचेन्द्रिय नहीं कहलाता है । (४८८)

रणन्नुपुर शृंगार चारू लोलेक्षणा मुखात् ।

निर्यत्सुगन्धिमदि शगंडुषादेश पुष्यति ॥४८९॥

ततः पंचाष्युपयोगा भाष्या इति ॥

यह बकुल, वृक्ष रणकार करते नूपुर वाली चपल नयना सुन्दरी के मुख सुगंधी मदिरा के कुल्ले से पुष्पित होता है। (४८९)

इसी तरह से पांचों उपयोग जान लेना ॥

अंगुलाः संख्येय भाग बाहल्यानि जिनेश्वराः ।

ऊचुः पंचापीन्द्रियाणि बाहल्यं स्थूलता किल ॥४९०॥

नन्वंगुला संख्य भाग बहले स्पर्शनेन्द्रिये ।

खड्गादि घाते देहान्तर्वेदनानुभवः कथम् ॥४९१॥

पांचों इन्द्रिया एक अंगुल के असंख्यातवें भाग समान बहुल अर्थात् स्थूल हैं । इस तरह श्री जिनेश्वर भगवन्त के वचन हैं । यहां कोई शंका करता है कि- यदि एक अंगुल के असंख्यातवें भाग समान में इन्द्रिय की स्थूलता होती है तो स्पर्शेन्द्रिय पर तलवार या किसी वस्तु का प्रहार होता है, उस समय शरीर में वेदना का अनुभव कहां से होता है ? (४९०-४९१)

अत्रोच्यते- त्वगिन्द्रियस्य विषयः स्पर्शाः शीतादयो यथा ।

चक्षुषो रूपमेवं तु विषयो नास्य वेदना ॥४६२॥

दुःखानुभवरूपा सा तां त्वात्मानुभवत्ययम् ।

सकलेनापि देहेन ज्वरादि वेदनामिव ॥४६३॥

इस शंका का समाधान इस तरह करते हैं कि- जैसे चक्षु का विषय रूप है वैसे ही स्पर्शेन्द्रिय का विषय शीत उष्ण आदि स्पर्श है, उसका विषय वेदना नहीं है। वेदना तो दुःख का अनुभव रूप है और इस वेदना को यह आत्मा ज्वर आदि व्याधि की वेदना के समान अखिल स्वरूप में अनुभव करता है । (४६२-४६३)

अथ शीतल पानीय पानेऽन्तर्वेद्यते कथम् ।

शीत स्पर्शोऽन्तरा कौतस्कुतं स्यात्स्पर्शेन्द्रियम् ॥४६४॥

अत्रोच्यते- सर्वत्रांग प्रदेशान्तर्वर्ति त्वगिन्द्रियं किंल ।

भवेदेवेति मन्तव्यं पूर्वधिं सम्प्रदायतः ॥४६५॥

अब यहां ऐसी शंका करते हैं कि- शीतल जल पीने के समय अन्दर शीतल स्पर्श कहां से होता है ? वहां क्या बीच में स्पर्शेन्द्रिय आकर खड़ी रहती है ? इस शंका का समाधान पूर्वाचार्य इस तरह कह गये हैं कि शरीर प्रदेश के अन्दर सर्वत्र स्पर्शेन्द्रिय रहती है इस कारण से शीतलता का अनुभव होता है । (४६४-४६५)

यदाह प्रज्ञापना मूल टीकाकारः - "सर्वप्रदेशं पर्यन्त वर्तित्वात्ततोऽभ्यन्तरतोऽपि शुषिरस्योपरि त्वगिन्द्रियस्स भावादुपपद्यतेऽन्तरपि शीत स्पर्श वेदनानुभव इति ॥"

"प्रज्ञापना सूत्र के मूल टीकाकार ने इस सम्बन्ध में कहा है कि- स्पर्शेन्द्रिय सर्व प्रदेशों के पर्यन्त तक रहने से शरीर के अन्दर के खाली विभाग में भी इसका सद्भाव होता है, इसलिए अन्दर भी शीत स्पर्श का अनुभव होना ही चाहिए ।"

ततोऽन्तरेऽपि शुषिरपर्यन्तेऽस्ति त्वगिन्द्रियम् ।

अतः संवेद्यते शैत्यं कर्णादि शुषिरष्विव ॥४६६॥

और जब अन्दर भी खाली विभाग में सर्वतः स्पर्शेन्द्रिय है तब जैसे कान आदि खाली वस्तुओं में दिखता है वैसे ही वहां भी शैत्य दिखता है । (४६६)

प्रशुत्वमंगुलासंख्य भागोऽतीन्द्रिय वेदिभिः ।

त्रयाणामपि निर्दिष्टः श्रवण घ्राण चक्षुषाम् ॥४६७॥

अंगुलानां पृथक्त्वं च पृथुत्वं रसनेन्द्रिये ।

स्व स्व देह प्रमाणं च भवति स्पर्शनेन्द्रियम् ॥४६८॥

अब पाँचों इन्द्रिय में कान, नासिका और चक्षु- इन तीन की चौड़ाई एक अंगुल के असंख्यातवें भाग की कही है, जीभ की चौड़ाई पृथक्त्वं अंगुल अर्थात् दो से नौ अंगुल की कही है जबकि स्पर्शनेन्द्रिय अपने-अपने शरीर के समान होती है । (४६७-४६८)

त्वगिन्द्रियं विनाऽन्येषां चतुर्णां पृथुता भवेत् ।

आत्मांगुलेन सोत्सेधांगुलेन स्पर्शनस्य तु ॥४६९॥

एक स्पर्शनेन्द्रिय को छोड़कर शेष चार की चौड़ाई का आत्मांगुल द्वारा मान करना और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्सेधांगुल से करना । (४६९)

ननूत्सेधांगुले नैव धितो देहो भवेत्ततः ।

भातु ते नैव युज्यन्ते तद्गतानीन्द्रियाण्यपि ॥५००॥

आत्मांगुलेन चत्वार्योत्सेधिके नैकमिन्द्रियम् ।

तानीत्थं मीय मानानि कथमौचित्यमियति ॥५०१॥ (युग्मं)

यहां शंका उठाते हैं कि- जब शरीर का मान उत्सेधांगुल द्वारा होता है तब इसी शरीर में रही इन्द्रियों का मान भी इसी तरह अंगुल के द्वारा करना चाहिए । इसके स्थान पर चार का आत्मांगुल द्वारा और एक का उत्सेधांगुल द्वारा माप करते हों, यह किस प्रकार की समझदारी है ? (५००-५०१)

अत्रोच्यते- जिह्वादीनां पृथुलत्वे औत्सेधेनोररी कृते ।

त्रि गव्यूत नरादीनां न स्याद्विषय वेदिता ॥५०२॥

इस विषय में उत्तर देते हैं कि- यदि जीभादि की चौड़ाई का माप तुम्हारे कहे अनुसार उत्सेध-अंगुल से निकालें तो तीन कोश का मनुष्यों का विषय ज्ञान होता है । (५०२)

तथाहि- त्रि गव्यूतादि मनुजाः षट् गव्यूतादि कुंजराः ।

स्व स्व देहानुसारात्स्युः विस्तीर्णं रसनेन्द्रियाः ॥५०३॥

तेषामान्तर निर्वृत्ति रूपं चेद्रसनेन्द्रियम् ।

उत्सेधांगुल पृथक्त्वमितं स्यादल्पकं हि तत् ॥५०४॥

क्योंकि तीन कोश का मनुष्य और छह कोश का हाथी होते हैं । उनके

अपने-अपने शरीर के विस्तार अनुसार जीभ इन्द्रिय होती है । उनकी अन्तरंग निर्वृत्ति रूप जीभ इन्द्रिय की चौड़ाई मान उत्सेध-अंगुल प्रमाण से निकालें आए तो वह चौड़ाई बहुत अल्प आती है । (५०३-५०४)

न व्याप्नुयात्सर्वं जिह्वां ततोऽति विदितोऽनया ।

सर्वात्मना रसज्ञान व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥५०५॥

इसलिए इसी प्रकार से रस ज्ञान व्यवहार सब प्राणियों को जीभ का नहीं होता और इसलिए ही यह सर्व अंश से सिद्ध नहीं होता है । (५०५)

गन्धादि व्यवहारोऽपि भावनीयो दिशा नया ।

तत आत्मांगुलेनैव पृथुत्वं रसनादिषु ॥५०६॥

गंध आदि के ज्ञान का व्यवहार भी इसी तरह से भाव-वाला है । इसलिए सिद्ध होता है कि जीभ आदि इन्द्रियों की चौड़ाई आत्मांगुल के सिवाय अन्य किसी माप से नहीं होती है । (५०६)

जघन्यतोऽक्षिवर्जाण्यंगुलासंख्येय भागतः ।

गृह्णन्ति विषयं चक्षुस्त्वंगुल संख्य भागतः ॥५०७॥

चक्षु के अलावा शेष इन्द्रिय जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी दूर से अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं । चक्षु स्वयं अंगुल के संख्यातवें भाग जितनी दूर से अपना विषय ग्रहण करता है । (५०७)

अयं भावः

प्राप्यार्थावच्छेदकत्वात् श्रवणादीनि जानते ।

अंगुला संख्येय भागदपि शब्दादिमागतम् ॥५०८॥

इसका भावार्थ इस तरह है- श्रवण आदि इन्द्रियां अपने प्राप्त अर्थ की जानकारी होने से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी दूर से भी आए हुए शब्द आदि को जान सकती हैं । (५०८)

चतुर्णामित एवैषां व्यंजनावग्रहो भवेत् ।

दृष्टान्तान्नव्यमृत्यात्रशयितोत्बोधनात्मकात् ॥५०९॥

इसी तरह ही चार इन्द्रियों को व्यंजना अवग्रह का ज्ञान होता है । इसके ऊपर दो दृष्टान्त देते हैं- १- नया कोरा मृत्तिका पात्र, २- निद्रित को जागृत करने का (जिससे बात की सत्यता का निश्चय होता है) । (५०९)

यथा शरावकं नख्यं नैवकेनोद बिन्दुना ।

क्लिद्यते किन्तु भूयोभिः पतद्भिस्तैर्निरन्तरम् ॥५१०॥

एवं सुप्तोऽपि नैकेन शब्देन प्रतिबुध्यते ।

किन्तु तैः पंचषैः कर्णो शब्दं द्रव्यैर्भूते सति ॥५११॥

जिस तरह मृत्तिका का एक नया कोरा पात्र हो वह जल के एक बिन्दु से भीगा नहीं हो सकता है, परन्तु इसके ऊपर बहुत जल गिराने से ही भीग सकता है तथा जैसे सोये मनुष्य को जागृत करने के लिए एक शब्द पर्याप्त नहीं होता परन्तु इसके कान के विषय में पांच - छह अर्थात् कई बार शब्द उच्चारण करने से ही जागता है । (५१०-५११)

एवं व्यंजनावग्रह भावना नन्दी सूत्रे ॥

चतुस्त्व प्राप्त कारित्वादंगुलं संख्य भागतः ।

अर्थ जघन्याद् गृह्णाति ततोऽप्यवक्तिरं न तु ॥५१२॥

तत एवाति पार्श्वस्थं नैवांजनमलादिकम् ।

चक्षुः परिच्छिनत्तीति प्रतीतं सर्वं देहिनाम् ॥५१३॥

व्यंजनावग्रह इस तरह ही ज्ञात होता है वह नन्दी सूत्र में भी कहा है । अब चक्षु इन्द्रिय के सम्बन्ध में कहना है कि इसे अप्राप्त पदार्थ की जानकारी है । इससे यह जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें विभाग जितनी दूर से पदार्थ को ग्रहण करता है, इससे अधिक नजदीक के किसी पदार्थ को ग्रहण नहीं कर सकता है । उदाहरण के तौर पर देखो कि अत्यंत नजदीक रहे अंजन अथवा मैल आदि को यह चक्षु देख नहीं सकती । यह हम सब जानते हैं । (५१२-५१३)

तथा— श्रुतिर्द्वादश योजन्याः शृणोति शब्दमागतम् ।

रूपं पश्यति चक्षुः साधिकं योजन लक्षतः ॥५१४॥

तथा उत्कृष्ट रूप में श्रोत्र इन्द्रिय बारह योजन दूर से आये शब्द को सुनती है, जबकि चक्षु तो एक लाख योजन से कुछ अधिक दूर रहे पदार्थ का स्वरूप भी देख सकती है । (५१४)

आगतं नव योजन्याः शेषाणि त्रीणि गृह्णते ।

गन्धं रसमथ स्पर्शमुत्कृष्टो विषयो ह्ययम् ॥५१५॥

शेष तीन इन्द्रिय नासिका, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय उत्कृष्टतः नौ योजन दूर से आयी गंध, रस और स्पर्श के विषय में ग्रहण करती हैं । (५१५)

ननु च प्राप्त कारीणि श्रोतादीनीन्द्रिय याणि चेत ।

परतोऽप्यागतान् शब्दादीन् गृह्णन्ति कथं न तत् ॥५१६॥

द्वादशयोजनादिर्यो नियमः सोऽपि निष्फलः ।

गृह्णति प्राप्त सम्बन्धं सर्वमित्येव यौक्तिकम् ॥५१७॥

यहां कोई शंका करता है कि- जब कर्ण आदि इन्द्रिय प्राप्त पदार्थ को ग्रहण करने वाली है तब वह इससे भी दूर से आए शब्द आदि विषयों को क्यों नहीं ग्रहण करता है ? उसके लिए बारह योजन का नियम कहा है, वह भी निष्फल है । इसके लिए तो यह कहना युक्त है कि इन्हें जितना जैसा सम्बन्ध प्राप्त होता है, उन सब को ग्रहण करता है । (५१६-५१७)

अत्रोच्यते- शब्दादीनां पुद्गला ये परतः स्युः समागताः ।

तथा मन्द परिणामास्ते जायन्ते स्वभावतः ॥५१८॥

यथा स्वविषयं ज्ञानं नोत्पादयितुमीशते ।

स्वभावान्नास्ति शक्तिश्चेन्द्रियणामपि तद्ग्रहे ॥५१९॥ (युग्मं)

ततो विषय नियमो युक्तोऽयं दर्शितः श्रुते ।

प्राप्य कारित्वे चतुर्णाभिन्द्रियाणां स्थितेऽपि हि ॥५२०॥

इस शंका का निवारण करते हैं कि शब्द आदि के पुद्गल जो दूर से आते हैं उनके स्वभाविक रूप में परिणाम इतने मंद हो जाते हैं कि इससे इसके विषय का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, स्वभावतः इन्द्रियों में भी इसको ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती है । इसलिए इन चार इन्द्रियों में प्राप्त पदार्थ को ग्रहण करने का गुण होने पर भी इसके विषय परत्व में जो यह नियम शास्त्र में कहा है वह युक्ति युक्त ही है । (५१८-५२०)

किं च - नास्ति शक्तिश्चक्षुषोऽपि विषयात्परतः स्थितम् ।

परिच्छेत्तु द्रव्यजातं युक्तस्तस्याप्यसौ ततः ॥५२१॥

और चक्षु में भी अपने विषय से अन्य एक भी पदार्थ को बताने की शक्ति नहीं होती, अतः इसका परत्व का नियम भी युक्त ही है । (५२१)

जिह्वा घ्राण स्पर्शनानि त्रीण्यप्येतानि गृह्णते ।

बद्ध स्पृष्टं द्रव्यजातं स्पृष्टमेव परं श्रुतिः ॥५२२॥

जीभ, घ्राण (नाक) और स्पर्श- ये तीनों इन्द्रिय बद्धस्पृष्टा पदार्थ को ग्रहण करती हैं । कर्ण केवल स्पृष्ट पदार्थ को ग्रहण करते हैं । (५२२)

यदुक्तम्— पुट्टं सुणेइ सहं रूवं पुण पासइ अपुट्टं तु ।

गंधं रस च फासं च बद्ध पुट्टं वियागरे ॥५२३॥

कहा है कि-शब्द सुना जाता है वह स्पर्श होने से, रूप दिखता है वह स्पर्श बिना होता है । और गंध रस तथा स्पर्श का अनुभव होता है वह बद्ध स्पृष्टता के कारण से होता है । (५२३)

बद्ध तत्रात्म प्रदेशैरात्मीकृतमिहोच्यते ।

स्पृष्टमालिंगित मात्रं ज्ञेयं वपुषि रेणुवत् ॥५२४॥

बद्ध का अर्थ होता है आत्म प्रदेश से आत्मरूप करना वह 'बद्ध' कहलाता है, स्पृष्टा अर्थात् शरीर पर केवल रज के समान चिपट जाना वह बद्ध स्पृष्ट है । (५२४)

“बद्धमप्यी कयं पएसेहिं। पुट्टं रेणुं व तणुमि । इति वचनात् ।”

‘अर्थात् शास्त्र का भी यही वचन है कि आत्म प्रदेश रूप हो गया हो वह बद्ध है और शरीर पर रज के समान चिपट जाना स्पृष्ट है ।’

समेऽपि प्राप्य कारेत्वे चतुर्णामपि नन्वयम् ।

को विशेषः स्पृष्टबद्ध स्पृष्टार्थं ग्रहणात्मकः ॥५२५॥

यहां कोई यह शंका करते हैं कि- जब प्राप्त अर्थ को ग्रहण करने की योग्यता चारों इन्द्रियों में समान है तो फिर अमुक इन्द्रिय स्पृष्ट पदार्थ को ग्रहण करती है और अमुक बद्ध स्पृष्ट को ग्रहण करती है, ऐसा भेद किसलिए है ? (५२५)

अत्रोच्यते— स्पर्शगन्ध रस द्रव्यौघानां शब्दव्यपेक्षया ।

अल्पत्वात् बादरत्वाच्चाभावकत्वाच्च सत्वरम् ॥५२६॥

स्पर्शन घ्राणजिह्वानां मन्दशक्ति तयापि च ।

बद्ध स्पृष्टं वस्तुजातं गृह्णन्त्येतानि निश्चितम् ॥५२७॥ (युग्मं ।)

इसका उत्तर देते हैं कि- स्पर्शात्मक, गंधात्मक और रसात्मक पदार्थ शब्दात्मक पदार्थ से अल्प है, बादर है और जल्दी अभावक होता है तथा स्पर्शेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और रसेन्द्रिय- इन तीनों की कर्णेन्द्रिय से मंद शक्ति है इसलिए वह बद्ध स्पृष्ट पदार्थ को ही ग्रहण करती हैं । (५२६-५२७)

स्पर्शादि द्रव्य संघातापेक्षया शब्द संहतिः ।

बह्वी सूक्ष्मासन्न शब्द योग्य द्रव्याभिवासिका ॥५२८॥

तन्निर्वृत्तीन्द्रियस्यान्तर्गतोपकरणोन्द्रियम् ।

स्पृष्टापि सद्यः कुरुतेऽभिव्यक्तिं सा स्व गोचराम् ॥५२९॥

तथा स्पर्शादि द्रव्य समूह की अपेक्षा से शब्द समूह बहुत सूक्ष्म है और आसन्न शब्द योग्य पदार्थों में ही अभिवासित करता है इसलिए यह निर्वृत्ति इन्द्रिय के अन्दर प्रवेश कर उपकरण इन्द्रिय को केवल स्पर्श कर जल्दी स्वगोचर ज्ञान करता है। (५२८-५२९)

अन्येन्द्रियापेक्षया च श्रवणं षट्शक्तिकम् ।

ततः स्पृष्टानेव शब्दान् गृह्णातीत्युचितं जगुः ॥५३०॥

और अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा से कर्णेन्द्रिय में विशेष सामर्थ्य शक्ति रही है। इसलिए शब्द का स्पर्श होते ही उस शब्द को ग्रहण कर लेता है। इस तरह जो कहा है वह युक्त ही कहा है। (५३०)

श्रुतेर्यत्प्राप्य कारित्वे बौधोक्तं स्पर्शदूषणम् ।

चंडाल शब्द श्रवणादिष्व यौक्तिकमेव तत् ॥१॥

स्पृष्ट्यास्पृष्ट्य विचारो हि स्याल्लोक व्यवहारतः ।

नेन्द्रियाणां च विषयेऽवसौ कस्यापि सम्मतः ॥२॥

श्रोत्रेन्द्रिय का 'प्राप्य कारित्व' स्थापना में बौद्ध लोग 'चंडाल शब्द' श्रवण करते स्पर्श का दोष लगता है- मानते हैं। वह केवल अयोग्य है, क्योंकि-स्पर्शास्पर्श का विचार लोक व्यवहार को लेकर है, परन्तु इन्द्रिय के विषयों में इस विचार से कोई भी सम्मत नहीं होता है। (१-२)

स्पृष्टार्थं ग्राहकत्वं यत् परैरक्षणेऽपि कथ्यते ।

तद्युक्तं तथात्वे हि दाहः स्याद्वन्हावेक्षणात् ॥५३१॥

तथा-- काचपात्राद्यन्तरस्थं दूरादेवेक्ष्यते जलम् ।

तदिभत्वान्तः प्रवेशे तु जलश्रावः प्रसन्ध्यते ॥५३२॥

अन्य मत वालों ने चक्षु इन्द्रिय को भी स्पृष्ट पदार्थ को ग्रहण करने वाली कहा है- वह युक्त नहीं है क्योंकि यदि इस तरह हो तो अग्नि को देखते ही चक्षु जल जानी चाहिए। तथा कांच-शीशे के पात्र में रखा जल हम लोग देख सकते हैं, वह भी दूर से ही देख सकते हैं। यह किसी पात्र का भेदन कर बाहर आकर चक्षु में

प्रवेश नहीं करता । यदि इस तरह होता हो वह बह ही जाय परन्तु ऐसा नहीं होता । इसलिए उनका मत अयुक्त है । (५३१-५३२)

‘इत्याद्यधिकं रत्नावतारिकादिभ्योऽवसेयम् । विस्तार भयान्नेह प्रतन्यते॥’
अर्थात् ‘इस विषय में अधिक विस्तार पूर्वक ‘रत्नावतारिका’ में कहा गया है, वहां से जान लेना चाहिये ।’

“यच्च सिद्धान्ते चख्खु फासं हव्वमागच्छइ इति श्रूयते तत्र स्पर्श शब्देन इन्द्रियार्थं सन्निकर्षं उच्यते । तथाहुः । सूरिए चख्खु फासं हव्वमागच्छइ इत्येतज्जम्बू-
द्वीप प्रज्ञप्ति प्रतीक वृत्तौ । अत्र च स्पर्श शब्द इन्द्रियार्थं सन्निकर्षं परश्चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन तद सम्भवादिति ॥”

और सिद्धान्त में ‘चख्खु फासं हव्वं आगच्छइ’ ऐसा पाठ सुनते हैं । वहां फास अर्थात् स्पर्श- यह शब्द इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) का वाचक है । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की प्रतीक वृत्ति टीका में ‘सूरिए चख्खु फासं हव्वमागच्छइ’ इस तरह एक उल्लेख मिलता है । वहां भी ‘फासं’ अर्थात् स्पर्श शब्द का पूर्व के समान ही अर्थ किया है । स्पर्श अर्थात् सन्निकर्ष यानि निकटता । क्योंकि चक्षु का स्पर्श तो असंभव है क्योंकि वह प्राप्य कारित्व है । इसलिए ही कहा है ।’

मेया आत्मांगुलैरे व प्रागुक्तेन्द्रिय गोचराः ।

प्रमाणांगुलमाने स्युर्महीयांसोऽधुना हिते ॥५३३॥

अब पूर्वोक्त इन्द्रिय गोचर विषयों को किस प्रकार के मान से मापना चाहिए ? इस विषय में कहते हैं- इसको आत्मांगुल द्वारा ही मापना चाहिए, क्योंकि अन्य तरह से प्रमाणांगुल रूप में माप लिया जाय तो वह इस समय में बहुत ही लम्बा हो जायेगा । (५३३)

उत्सेधांगुल माने तु कथं भरत चक्रिणः ।

पुर्यादौ स्वांगुलमित नवद्वादश योजने ॥५३४॥

एकत्र वादिता भम्भा सर्वत्र श्रूयते जनैः ।

तस्मादात्मांगुलोन्वेया विषया इति युक्तिमत् ॥५३५॥ (युग्मं ।)

यदि उत्सेधांगुल से माप किया जाये तो इसमें भी मुश्किल आती है । इस तरह का माप लेने से भरत चक्रवर्ती की अपनी उत्सेध अंगुल द्वारा माप करने पर नौ योजन चौड़ा और बारह योजन लम्बा होता है । ऐसी नगरी आदि में एक

स्थान पर भंभा बजाने से सब स्थलों के लोग किस तरह सुन सकते हैं ? इसलिए इस विषय में आत्मांगुल का माप मानना ही युक्ति युक्त है । (५३४-५३५)

आह- प्रमाणांगुल जानेकलक्षयोजन सम्मिते ।

स्वर्किमाने कथं घंटा सर्वतः श्रूयते सुरैः ॥५३६॥

प्रमाणांगुल के मान से मापने पर अनेक लाख योजन होते हैं । इस तरह देव विमान में जो घंटानाद करने में आता है वह नाद देव सर्वत्र किस तरह सुनते हैं ? (५३६)

त्रेधैरप्यंगुलैर्नेष विषयो घटते श्रुतेः ।

द्वितीयोपांग टीकायामस्योत्तरमवेक्ष्यताम् ॥५३७॥

प्रमाण अंगुल, उत्सेध अंगुल और आत्मांगुल- इन तीनों प्रकार के अंगुल का मान से माप करने इस कर्ण के विषय में किसी तरह नहीं घट सकता । इसका उत्तर दूसरे उपांग की टीका में कहा है । (५३७)

वह इस प्रकार :-

“तथाहि। तस्यां मेघौघट सित गम्भीर मधुर शब्दायां योजन परिमंडलायां सुस्वराभिधानायां घटायां त्रिस्ताडि तायां, सत्यां यत्सूर्याभं विमानं, तत्रासाद निष्कृटेषु ये आपतिताः शब्द वर्गणाः पुद्गलास्तेभ्यः समुच्छलितानि यानि घंटा प्रति श्रुति शत सहस्राणि घंटा प्रति शब्द लक्षास्तैः संकुलमपि जातमभूत् ॥ किमुक्तं भवति ? घंटाया महता प्रयत्नेन ताडितायां ये विनिर्गताः शब्द पुद्गलास्तत् प्रतिघाततः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च दिव्यानुभावतः समुच्छलितैः प्रति शब्देः सकलमपि विमानमनेक योजन लक्षमानमपि बधिरितमुपजायते इति॥ एतेन द्वादशभ्यो योजनेभ्यः समागतः शब्द श्रोत ग्राह्यो भवति न परतः । ततः कथमेकत्र ताडितायां घंटयां सर्वत्र तच्छब्द श्रुतिरूप जायते इति यदुच्यते तदपाकृतमवसेयम् । सर्वत्र दिव्यानुभावस्तथा रूप प्रतिशब्दोच्छलने यथोक्त दोषा सम्भवात् ॥”

‘अनेक मेघ की गर्जना समान मधुर ध्वनि करते एक योजन विस्तृत ‘सुस्वर’ नामक घंटे को तीन बार बजाने पर सूर्याभ नामक विमान में रहे महलों के शिखर पर पड़े शब्द वर्गण के पुद्गलों में से उछली लक्षबद्ध प्रतिध्वनि से वह विमान भर जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि घंटा बहुत जोर से बजने पर इसमें से जो शब्द पुद्गल निकले उनकी प्रतिध्वनि से सर्व दिशाओं और विदिशाओं में

दिव्य प्रभाव द्वारा वह अनेक लाख योजन के माप वाला विमान सम्पूर्ण बहरा हो जाता है ।'

इस उल्लेख से 'बारह योजन दूर से आया शब्द किसी को सुनने में आ सकता है। परन्तु विशेष दूर का शब्द नहीं सुना जाता है । तो फिर एक स्थान पर बजा हुआ घंटे का शब्द सर्वत्र किस तरह सुना जाता है ? इस शंका का समाधान हो गया कि सर्वत्र दिव्य प्रभाव के कारण तथा विशेष प्रकार की प्रतिध्वनि होने के कारण इसमें पूर्वोक्त दोष संभव नहीं रहता ।'

अब चक्षु इन्द्रिय के विषय में कहते हैं -

अपरं च-इगवीसं खलु लखा चउत्तीसं एव तह सहस्साइं ।
तह पंचसया भणिया सत्तत्तीसाय अइरित्ता ॥
इति नयण विसयमाणं प्रखरदीवट्ट वासिमणु आणं ।
पुब्बेण य अवरेण य पिहं पिहं होइ नायव्वं ॥५३८॥

पुष्करावर्त द्वीप में रहने वाले मनुष्यों की दृष्टि का विषय मान इक्कीस लाख चौतीस हजार पांच सौ सैंतीस (२१३४५३७) योजन होता है । इसलिए आगे से आगे पूर्व पश्चिम द्वीपों में पूर्व से पूर्व के द्वीप से अधिक होता है । (५३८)

एव च - सप्रागुक्तोऽक्षिविषयो न विसंवदते कथम् ।
अत्रे तत्सूत्रं तात्पर्यं व्याचक्षे बुधैरिदम् ॥५३९॥

परन्तु जो कथन पूर्व में कह गये हैं, इसके साथ में उसका भाव मिलता नहीं है, इसलिये ज्ञानी पुरुष विसंवाद दूर करने के लिए सूत्र भावार्थ समझाते हैं । (५३९)

लक्षयोजनमानो दृग्विषयः परमस्तुयः ।
अभास्वरं पर्वतादिवस्त्वपेक्ष्य स निश्चितः ॥५४०॥
स्याद्भास्वरं तु सूर्यादिवस्त्वपेक्ष्याधिकोऽपि यः ।
व्याख्यानतो विशेषार्थं प्रतिपत्तिरियं किल ॥५४१॥

इदं विशेषावश्यकैर्ऽर्थतः ॥

चक्षु के उत्कृष्ट विषय का माप जो पूर्व में एक लाख योजन कहा है, वह पर्वत आदि तेज रहित वस्तु की अपेक्षा से कहा है। परन्तु सूर्य आदि तेजस्वी वस्तु की अपेक्षा से तो इस विषय का मान अधिक भी हो सकता है। विशेषावश्यक सूत्र में भी इस भावार्थ का कथन किया है । (५४०-५४१)

अनन्ताणुद्भवान्चेतानीन्द्रियाण्यखिलान्यपि ।

असंख्येय प्रदेशवगाढानि निखिलानि च ॥५४२॥

ये सर्व इन्द्रियां अनन्त परमाणुओं की बनी हैं और वह असंख्यात प्रदेशों को अवगाही रहती है । (५४२)

स्तोकावगाहा दक् श्रोत घ्राणे संख्य गुणे क्रमात् ।

ततोऽसंख्य गुणा जिह्वा संख्यघ्नं स्पर्शनं ततः ॥५४३॥

चक्षु इन्द्रिय सर्व में कम अवगाहना वाली है और कर्ण तथा नासिका अनुक्रम से संख्यात संख्यात गुणा अवगाह वाली हैं । इससे असंख्यात् गुणा अवगाहना वाली जीभ है और इससे संख्यात् गुणा अवगाहना वाली स्पर्श इन्द्रिय है । (५४३)

स्तोक प्रदेशं नयनं श्रोत्रं संख्य गुणाधिकम् ।

ततोऽसंख्य गुणं घ्राणं जिह्वाऽसंख्य गुणा ततः ॥५४४॥

ततोऽप्यसंख्य गुणित प्रदेशं स्पर्शनेन्द्रियम् ।

इत्यल्प बहुतैषां स्यादवगाह प्रदेशयोः ॥५४५॥

प्रदेश भी चक्षु के सबसे कम है । कर्ण इन्द्रिय के इससे संख्य गुणा हैं, नासिका के इससे असंख्य गुणा हैं, नासिका से जीभ के असंख्यात् गुणा हैं और जीभ से स्पर्शेन्द्रिय के असंख्य गुणा हैं। इस तरह सर्व इन्द्रियों के अवगाह और प्रदेश कम ज्यादा हैं । (५४४-५४५)

तुर्योपांगे तु-

श्रोत्राक्षि नासिकं द्वे द्वे जिह्वैका स्पर्शनं तथा ।

एव द्रव्येन्द्रियाण्यष्टौ भावेन्द्रियाणि पंच च ॥५४६॥

चौथे उपांग में तो इस तरह कहा है कि- दो कर्ण, दो चक्षु, दो नासिका, एक जीभ इन्द्रिय और एक स्पर्श इन्द्रिय- इस तरह कुल आठ द्रव्य इन्द्रिय हैं, भाव से यद्यपि पांच इन्द्रिय हैं । (५४६)

सर्वेषां सर्व जातित्वे द्रव्यतो भावतोऽपि च ।

अतीतानीन्द्रियाणि स्युरनन्तान्येव देहिनाम् ॥५४७॥

सर्व प्राणियों के सर्व जातियों में अनन्त द्रव्य इन्द्रिय हैं और भाव इन्द्रिय भी अतीत रूप में हुई हैं । (५४७)

विनानादि निगोदिभ्योज्ञेयमेतत्तु कोविदैः ।

स्वजातावेव तेषां तु तान्यतीतान्यनन्तशः ॥५४८॥

परन्तु इसमें अनादि निगोद जाति अपवाद रूप में गिनना क्योंकि इन जीवों की अनन्त इन्द्रिय अतीत हो गयी हैं । ये अपनी ही जाति में- सर्व जाति में नहीं हैं । (५४८)

किंच -- येषामनन्तः कालोऽभूत्त्रिगतानां निगोदतः ।

तेषामपेक्षया ज्ञेयमेतच्छ्रुत विशारदैः ॥५४९॥

एवमन्यत्रापि यथा सम्भवं भाव्यम् ॥

तथा यह भी जिन जीवों को निगोद में से निकले अनन्त काल हुआ हो उनके ही विषय में श्रुत विशारद को समझना चाहिए । (५४९)

इसी तरह अन्यत्र भी यथायोग्य समझ लेना चाहिये ।

एकादीनि सन्ति पंचान्तानि भावेन्द्रियाणि च ।

एक द्वि त्रि चतुः पंचेन्द्रिययाणां स्युः यथा क्रमम् ॥५५०॥

तथा भाव इन्द्रिय एकेन्द्रिय जीव को एक, दो इन्द्रिय को दो, तेइन्द्रिय को तीन, चौइन्द्रिय को चार और पंचेन्द्रिय जीव को पांच होती हैं । (५५०)

भावीनि नैव केषांचिद्वर्तन्ते मुक्तियाधिनाम् ।

केषांचित् पंच षट् सप्त संख्यासंख्यान्यनन्तशः ॥५५१॥

कितने ही मोक्षगामी जीवों को ये इन्द्रियां भविष्य काल में नहीं होने वाली हैं जबकि कईयों को तो पांच, छह, सात संख्या, असंख्य और अनन्त भी होने वाली हैं । (५५१)

सिद्धयतां भाविनि भवे नरनारक नाकिनाम् ।

पंचाक्ष तिर्यक् पृथ्व्यम्बुद्रुणां जघन्यतः ॥५५२॥

भविष्य में होने वाले संसार जन्म में जिसका मोक्ष होने वाला हो ऐसा मनुष्य, नरक का जीव, देवता, पंचेन्द्रि तिर्यक्, पृथ्वीकाय, अप्सकाय तथा वनस्पतिकाय की जघन्यतः पांच इन्द्रिय होती हैं । (५५२)

पृथ्व्यादि जन्मान्तरित मुक्तीनां तु मनीषिभिः ।

षट् सप्त प्रभुखाप्येवं भाव्यानि प्रोक्त देहिनाम् ॥५५३॥

जो पहले गिनाये हैं उनमें से पृथ्वीकाय आदि में जन्म लेने के बाद

ही मुक्त होना होता है । इनको जघन्यतः छह, सात आदि इन्द्रियां होती हैं- ऐसा जानना । (५५३)

संख्येयानि च तानि स्युः संख्यात भवकारिणाम् ।

असंख्येयान्यनन्तान्य संख्येयानन्त जन्मनाम् ॥५५४॥

संख्यात भव करने वाले को यह इन्द्रिय संख्यात होती है तथा संख्यात भव जन्म लेने वाले को असंख्यात और अनन्त जन्म लेने वाले को अनन्त इन्द्रिय होती है । (५५४)

रिष्टामघामाघवती नारकाणां च युग्मिनाम् ।

नृणां तिरश्चां भावीनि दश तानि जघन्यतः ॥५५५॥

रिष्टा, मघा तथा माघवती नारकी के जीव, युगल जन्म लेने वाले मनुष्य और तिर्यचों को जघन्यतः दस इन्द्रियां होने वाली होती है । (५५५)

पंचाक्षेभ्योऽन्यत्र नैषामुत्पत्तिर्नाप्यनन्तरे ।

भवे मुक्तिस्तत एषां दशोक्तानि जघन्यतः ॥५५६॥

इन सर्व जीवों को तथा पंचेन्द्रिय बिना अन्य गति में उत्पन्न होना सम्भव नहीं होता, तथा इनको अनन्तर जन्म में मोक्ष प्राप्ति भी नहीं है । इसलिए इनकी जघन्य दस इन्द्रिय कही हैं । (५५६)

वाध्वग्नि विकलाक्षाणां जघन्यतो भवन्ति षट् ।

क्षमादि जन्मन्तरि तैषां मुक्तिर्नानन्तरं यतः ॥५५७॥

वायुकाय, अग्निकाय और दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय; चौइन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवों को जघन्य छः इन्द्रिय होती है । क्योंकि इनकी पृथ्वीकाय आदि में जन्म लेने के बाद ही मोक्ष प्राप्ति कही है। आंतरा बिना इनको मुक्ति प्राप्ति नहीं होती है । (५५७)

एक द्वि त्रि चतुः पंचेन्द्रियाणां स्युरनुक्रमात् ।

द्रव्येन्द्रियाणि सन्त्येकं द्वे चत्वारि षडष्ट च ॥५५८॥

एकेन्द्रिय, दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय में पांच प्रकार के जीवों को अनुक्रम से एक, दो, चार, छह और आठ द्रव्येन्द्रिय होती हैं । (५५८)

भविष्यन्ति न केषांचित्केषांचिदष्ट वा नव ।

दश षोडश केषां चित्संख्यासंख्यान्यनन्तशः ॥५५९॥

भावना प्राग्वत् ॥

और कईयों को तो ये इन्द्रियां नहीं होती हैं जबकि कई को आठ, नौ, दस अथवा सोलह और बहुतों को तो संख्यात, असंख्यात या अनन्त भी होने वाली

होती है । (५५६)

इसमें भावना पूर्व के समान समझना ।

नारकस्य नारकत्वे भावतो द्रव्यतोऽपि च ।

तान्यतीतान्यनन्तानि सन्ति पंचाष्ट च स्फुटम् ॥५६०॥

भविष्यन्ति न केषांचित्केषांचित्यंच चाष्ट च ।

ज्ञेयानि तान्येक वारं नरकं यास्यतीगिनः ॥५६१॥

नारकी के जीवों के नारकी रूप में पांच भावेन्द्रिय और आठ द्रव्येन्द्रिय होती हैं और कई को अनन्त बार अतीत में होती हैं । जबकि अब के बाद नरक में नहीं जाने वाले कितने ही प्राणियों को ये इन्द्रियां नहीं होती हैं और जो अभी एक बार नरक में जाने वाला है उसे भाव से पांच और द्रव्य से आठ होने वाली हैं ।

(५६०-५६१)

संख्येयान्येतानि संख्यवारं नरक याचिनः ।

असंख्येयान्यप्यनन्तान्येवं भाव्यानि धीधनैः ॥५६२॥

नरक में संख्यात् बार जाने वालों को वह संख्यात् बार होने वाली हैं, असंख्यात् बार जाने वाले को असंख्यात् बार और अनन्त बार जाने वाले को अनन्त बार होने वाली हैं । इस तरह समझना । (५६२)

अति क्रान्तान्यनन्तानि सुरत्वे नारकस्य च ।

वर्त्तमानानि नैव स्युर्भावीनि पुनरुक्त वत् ॥५६३॥

और नरक के जीव को तथा देव के जन्म में अनन्त इन्द्रिय अतीत काल में होती हैं, वर्तमान काल में नहीं होती एवं भविष्य काल में अनन्त बार होती हैं ।

(५६३)

विजयादि विमानित्वे यदि स्युः नारकागिनाम् ।

चातीतानि भविष्यन्ति पंचाष्ट दश षोडश ॥५६४॥

विजय विमान आदि के देव जन्म में नारकी जीवों को इन्द्रिय अतीत में नहीं भविष्य काल में पांच, आठ, दस अथवा सोलह होती हैं । (५६४)

एवं सर्व गतित्वेन सर्वेषामपि देहिनाम् ।

भावनीयान्यतीतानि सन्ति भावीनि च स्वयम् ॥५६५॥

इस तरह सर्व जीवों की सर्व जन्म की अतीत, वर्तमान और भविष्य काल की इन्द्रिय स्वयमेव जान लेना । (५६५)

नृत्वे नृणामतीतान्यनन्तान्यष्ट च पंच च ।

सन्ति तद्भव मुक्तीनां तानि भावीनि नैव च ॥५६६॥

मनुष्य को मनुष्य जन्म में अतीत काल में हो गयी इन्द्रिय अनन्त होती है, वर्तमान काल में आठ या पांच होती हैं और तद् जन्म में मोक्षगामी मनुष्य को भावी अर्थात् भविष्य काल में नहीं होने वाली हैं । (५६६)

अन्येषां तु मनुष्यत्वे भावीनि पंच चाष्ट च ।

जघन्यतोऽपि स्युः मुक्तिर्यत्र मानुष्यमन्तरा ॥५६७॥

अन्य जीवों को मनुष्य जन्म में जघन्यतः रूप में पांच और अष्ट इन्द्रिय होने वाली होती हैं, क्योंकि मनुष्य जन्म में आए बिना उनकी मुक्ति नहीं होती है । (५६७)

अनुत्तरामराणां च स्वत्वे सन्त्यष्ट पंच च ।

यदि स्युर्भूत भावीनि तावन्त्येष तदा खलु ॥५६८॥

विजयादि विमानेषु द्विरुत्पन्नो ह्यनन्तरे ।

भवे विमुक्तिमाप्नोति ततो युक्तं यथोदितम् ॥५६९॥

तथा अनुत्तर विमान के देवों को अपने जन्म में वर्तमान काल में आठ और पांच इन्द्रियां होती हैं और अतीत काल और भविष्य काल यदि हो तो ये भी इतनी ही होती हैं क्योंकि जिसने विजय आदि विमान में दो बार जन्म लिया हो वह प्राणी बाद के जन्म में ही मोक्षगामी होता है । (५६८-५६९)

अन्य जातित्वेत्वनन्तान्यतीतान्यथ सन्ति न ।

भावीनि संख्यान्येवैषां नृत्व वैमानिकत्वयोः ॥५७०॥

उस अनुत्तर विमान के देवों को अन्य जन्म में अतीत इन्द्रिय अनन्त होती है, वर्तमान काल में सर्वथा नहीं होती और मनुष्य जन्म तथा वैमानिक देव के जन्म में भविष्य में होने वाली इन्द्रिय संख्याती होती है । (५७०)

तथोक्तं प्रज्ञापना वृत्तौ: "इह विजयादिषु चतुर्षु गतो जीवो नियमात् ततः उद्धृतो न जातु चिदपि नैरयिकादिषु पंचैर्द्रि तिर्यक् पर्यवसानेषु तथा व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च मध्ये समागमिष्यति। मनुष्येषु सौधर्मादिषु वा गमिष्यति ॥इति॥"

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- 'विजय आदि चार अनुत्तर विमानों में रहा जीव वहां से निकलने के बाद निश्चय से किसी भी समय नारक आदि में या

पंचेन्द्रिय तिर्यच तक में अथवा व्यन्तर या ज्योतिषी में नहीं आता है, या तो मनुष्य जन्म में आता है या तो सौधर्म आदि देवलोक में उत्पन्न होता है ।'

सर्वार्थ सिद्ध देवत्वे सर्वार्थ सिद्ध नाकिनाम् ।

न स्युः भूतभविष्यन्ति सन्ति पंचाष्ट च स्फुटम् ॥५७१॥

सर्वार्थ सिद्ध के देवों को सर्वार्थ सिद्ध के जन्म में इन्द्रिय अतीत काल में नहीं होती तथा भविष्य काल में भी नहीं होने वाली हैं । केवल पांच और आठ वर्तमान काल में होती हैं । (५७१)

तेषामन्य गतित्वे चातीतानि स्युरनन्तशः ।

नैव सन्ति भविष्यन्ति नृगतावष्ट पंच च ॥५७२॥

वे अन्य जन्म लेते हैं तब अनन्त इन्द्रियां अतीत काल में हो जाती हैं, परन्तु वर्तमान काल में सर्वथा नहीं होती, केवल भावी मनुष्य गति के अन्दर आठ और पांच होने वाली होती हैं । (५७२)

संज्ञि पंचेन्द्रियाणां यत् स्मृत्यादि ज्ञान साधनम् ।

मनो नोइन्द्रियं तच्च द्विविधं द्रव्य भावतः ॥५७३॥

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की स्मृति आदि ज्ञान का साधन रूप जो मन है वह नो इन्द्रिय कहलाता है । उसके १- द्रव्य से और २- भाव से दो भेद हैं । (५७३)

तत्र च -- मनः पर्याप्त्यभिधाननाम कर्मोदयादिह ।

मनो योग्य वर्गणा नामादाय दलिकान्यलम् ॥५७४॥

मनस्त्वेनापादितानि जन्तुना द्रव्य मानसम् ।

जिनैरुचे तथा चाह नन्दाध्ययन चूर्णि कृत् ॥५७५॥ युग्मं ।

मन पर्याप्ति नामक नाम कर्म के उदय होने से मनोयोग्य वर्गणा के दल-समुदाय लेकर परिणाम वाला जो मन है वह द्रव्य मन है । ऐसा सर्वज्ञ जिन देव ने कहा है तथा नंदी सूत्र की चूर्णि में कहा है । (५७४-५७५)

"मण पज्जत्ति नाम कर्मोदयतो जोग्गे मणोदब्बेधेत्तुं मणत्तेण परिणमि वा द्रव्वा द्रव्यमणो भन्नइ । इत्ति॥"

अर्थात् मन पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से योग्य मनो द्रव्य लेकर जो मन रूप परिणाम आता है वह द्रव्यमन कहलाता है । तथा

मनो द्रव्यावलम्बेन मनः परिणतिस्तु या ।

जन्तोः भावमनस्तस्यात्तथोक्तं पूर्व सूरिभिः ॥५७६॥

मनोद्रव्य के आवलम्बन से मन के जो परिणाम आते हैं उन्हें भावमन कहा है । ऐसा पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही कहा है । (५७६)

“जीवो पुण मण परिणाम किरियावंतो भावमणो ॥ कि भणियं होई मण द्रव्वालंबणो जीवस्स भणण यावारो भावमणो भन्नइ । इति नन्द्यध्ययन चूर्णो ॥”

‘जीव का क्रियावंत मन परिणाम है, भावमन है । वह कैसा होता है ? जीव के मनद्रव्य के अवलंबन वाला मनन रूप व्यापार - वह भाव मन कहलाता है । नंदी अध्ययन चूर्ण में यह कहा है ।’

अत एव च -- द्रव्यचित्तं विना भावचित्तं न स्याद संज्ञिवत् ।

विनापि भाव चित्तं तु द्रव्यतो जिनवद्भवेत् ॥५७७॥

असंज्ञी के समान द्रव्यचित्त के बिना भावचित्त होता है परन्तु जिनेश्वर भगवन्त के समान भाव मन बिना द्रव्य चित्त (मन) तो होता ही है । (५७७)

तथोक्तं प्रज्ञापना वृत्तौ- भावमनो विनापि च द्रव्ययनो भवति यथा भवस्थ केवलिनः । इति॥

पत्रावणा सूत्र की वृत्ति में भी कहा है कि भवस्थ केवली के समान भावमन बिना भी द्रव्यमन होता है ।

स्तोका मनस्थिनोऽसंख्य गुणाः श्रोत्रान्वितास्ततः ।

चक्षुर्घ्राणरस संज्ञाद्याः स्यु क्रमेणाधिकाधिकाः ॥५७८॥

अनिन्द्रियाश्च निर्दिष्टा एभ्योऽनन्त गुणाधिकाः ।

स्पर्शनेन्द्रियवन्तस्तु तेभ्योऽनन्त गुणाधिकाः ॥५७९॥

अब उन इन्द्रिय वालों की संख्या कितनी है ? वह कहते हैं- मन इन्द्रिय वाले सबसे अल्प हैं, इससे असंख्य गुणा कर्ण इन्द्रिय वाले हैं । इससे चक्षु इन्द्रिय वाले, घ्राण इन्द्रिय वाले और रसेन्द्रिय वाले अनुक्रम से अधिक से अधिक हैं । इससे भी अनन्तगुण अनिन्द्रिय-इन्द्रिय रहित सिद्ध के जीव हैं और इससे अनन्त गुणा स्पर्शेन्द्रिय वाले जीव हैं । (५७८-५७९)

लोकैश्च- “चक्षु श्रोत्र घ्राणरसनत्वक्मनोवाक्याणिपाद पायूपस्थलक्षणानि एकादश इन्द्रियाणि सुश्रुतादौ उक्तानि ।”

तथा लोकों में तो कहा है- ‘चक्षु, कर्ण, नासिका, जीभ, त्वचा, मन, वाणी हाथ, पैर, गुदा और लिंग- इस तरह से ग्यारह इन्द्रिय सुश्रुत आदि कही गई हैं ।’

नाममालायामपि "बुद्धीन्द्रियं स्पर्शनादि पाण्यादि तु क्रियेन्द्रियम् । इति अभिहितम् इति इन्द्रियाणि ॥२२॥

नामा माला में भी कहा है कि - 'स्पर्श इन्द्रिय आदि बुद्धि इन्द्रिय हैं और हाथ पैर आदि क्रिया इन्द्रिय हैं ।' इस तरह बाईसवां द्वार जो इन्द्रिय है, उसका स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

संज्ञा येषां सन्ति ते स्युः संज्ञिनोऽन्येत्वसंज्ञिनः ।

संज्ञिनस्ते च पंचाक्षा मनः पर्याप्ति शालिनः ॥५८०॥

अब 'संज्ञित' नामक तेइसवें द्वार के विषय में कहते हैं- जिसको संज्ञा है वह संज्ञित-संज्ञी (संज्ञा वाला) कहलाता है और शेष सर्व असंज्ञी कहलाते हैं । मन पर्याप्ति और पांच इन्द्रिय- इन छः का सद्भाव, इसका नाम संज्ञा है। इसलिए ये छः बात जिसमें हों वही संज्ञी कहलाता है' । (५८०)

ननु संमूर्च्छिम पंचाक्षान्तेष्वेकेन्द्रियादिषु ।

आहाराद्याः सन्ति संज्ञास्ततस्ते किं न संज्ञिनः ॥५८१॥

यहां कोई प्रश्न करते हैं कि- एकेन्द्रिय आदि से संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीवों को आहार आदि संज्ञा तो होती है, तब वह भी संज्ञी कहलाना चाहिये। फिर भी क्यों नहीं कहलाता है ? (५८१)

अत्रोच्चते-- ओघरूपा दशाप्येतास्तीव्र मोहोदयेन च ।

अशोभना अव्यक्ताश्चतत्राभिः संज्ञिता मताः ॥५८२॥

इसका उत्तर देते हैं कि-जिसकी ये दस संज्ञाएं ओघरूप हैं और तीव्र मोह के उदय के कारण अशोभन और अव्यक्त हैं, ऐसी संज्ञाओं को संज्ञा नहीं माना है, अतः उसको संज्ञी में नहीं गिना जाता है । (५८२)

निद्रा व्याप्तोऽसुमान कंडूयनादि कुरुते यथा ।

मोहाच्छादित चैतन्यास्तथाहाराद्यमी अपि ॥५८३॥

संज्ञा सम्बन्ध मात्रेण न संज्ञित्वमुरीकृतम् ।

न ह्येकेनैव निष्केण धनवानुच्यते जनैः ॥५८४॥

अताद् गूष युक्तोऽपि रूपवान्नाभिधीयते ।

धनी किन्तु बहुद्रव्यै रूपवान् रम्य रूपतः ॥५८५॥

महत्या व्यक्तया कर्मक्षयोपशम जातया ।

संज्ञयाशास्तयैवांग लभते संज्ञितौ तथा ॥५८६॥

विशेषकम् ॥

इदमर्थतो विशेषावश्यके ॥

जिस तरह मनुष्य निद्रावश अवस्था में खुजली आदि करता है उसी तरह यह प्राणी मोहवश और अप्रगट चैतन्यावस्था में आहारादि करता है । इस तरह इसका संज्ञा का सम्बन्ध मात्र होता है, इतने से ही उसको संज्ञी रूप नहीं कहा जाता । जैसे एक ही सोने की मोहर वाले को धनवान नहीं कहते और उत्तम रूप के बिना रूपवान नहीं कहलाता परन्तु विशाल मात्रा में सोने की मोहर वाले को ही धनवान और उत्तम- सुन्दर रूप वाले ही रूपवान कहलाते हैं, इसी तरह जो बड़ी, व्यक्त और कर्मों के क्षय-उपशम के होने से सर्व प्रकार से प्रसस्त होती है ऐसी संज्ञा से ही जीव संज्ञावान्-संज्ञी कहलाता है । (५८३ से ५८६)

इस तरह विशेषावश्यक सूत्र में कहा है ।'

ततश्च..... येषामाहारादि संज्ञा व्यक्त चैतन्य लक्षणाः।

कर्मक्षयोपशमजा संज्ञिनस्ते परेऽन्यथा ॥५८७॥

इस कारण से ऐसा समझना है कि-प्रकट, चैतन्य लक्षण वाली और कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई आहार आदि संज्ञा जिस जीव को होती हैं वही संज्ञी कहलाता है और शेष सर्व असंज्ञी कहलाते हैं । (५८७)

दीर्घ कालिक्यादिका वा संज्ञा येषां भवन्ति ते।

संज्ञिनः स्युर्यथा योगमसंज्ञिनस्तदुज्झिताः ॥५८८॥

इति संज्ञितादि ॥२३॥

अथवा जिसको दीर्घ कालिका आदि संज्ञायें होती हैं वही वास्तव में संज्ञी कहलाता है । इसके बिना सर्व को असंज्ञी समझना । (५८८)

इस तरह तेईसवां द्वार संज्ञित-संज्ञी का स्वरूप कहा है ।

वेदस्त्रिधा स्यात्पुंवेदः स्त्रीवेदश्च तथापरः ।

क्लीब वेदश्च तेषास्युर्लक्षणानि यथाक्रमम् ॥५८९॥

अब चौबीसवें द्वार वेद के विषय में कहते हैं- वेद तीन प्रकार के हैं- पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद । इनके लक्षण अनुक्रम से कहते हैं । (५८९)

पुंसा यतो योषिदिच्छा स पुंवेदोऽभिधीयते ।

पुरुषेच्छा यतः स्त्रीणां स स्त्रीवेद इति स्मृतः ॥५६०॥

यतो द्वयाभिलाषः स्यात् क्लीब वेदः स उच्यते ।

तृण फुं फम कद्रंग ज्वलनोपमिता इमे ॥५६१॥

जिसके कारण पुरुष को स्त्री की इच्छा हो वह १- पुरुष वेद है, जिसके कारण स्त्री को पुरुष की इच्छा हो वह २- स्त्री वेद है और जिसके कारण से पुरुष और स्त्री-दोनों की इच्छा हो वह ३- नपुंसक वेद कहलाता है । पुरुष वेद तृण की अग्नि समान, स्त्री वेद गोबर की अग्नि समान और नपुंसक वेद नगर दाह की अग्नि समान कहलाता है । (५६०-५६१)

पुरुषादि लक्षणानि चैवं प्रज्ञापना वृत्तौ स्थानांगवृत्तौ च ॥

अर्थात् पत्रवणा सूत्र की और स्थानांग सूत्र की वृत्तियों में पुरुष, स्त्री और नपुंसक के लक्षण इस प्रकार कहे हैं -

योनि मृदुत्वमस्थैर्यं मुग्धता क्लीबता स्तनौ ।

पुंस्कामितेति लिंगानि सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥५६२॥

योनि, कोमलता, अस्थिरता, मुग्धता, कायरता, स्तन और पुरुष की इच्छा - ये सात स्त्रीत्व के लक्षण हैं । (५६२)

मेहनं खरता दाढ्यं शौण्डीर्यं श्मश्रु धृष्टता ।

स्त्री कामितेति लिंगानि सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥५६३॥

मेहन (पुरुष चिह्न), कठोरता, दृढ़ता, पराक्रम, धृष्टता, श्मश्रु और स्त्री की इच्छा- ये सात पुरुषत्व के लक्षण हैं । (५६३)

स्तनादि श्मश्रु केशादि भावाभाव समन्वितम् ।

नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानल सुदीपितम् ॥५६४॥

स्तन आदि का सद्भाव हो, श्मश्रु आदि का अभाव हो तथा मोहाग्नि का प्रदीप्त में सद्भाव हो यह नपुंसकत्व के लक्षण हैं । (५६४)

अभिलाषात्मकं देहाकारात्मकं यथापरम् ।

नेपथ्यात्मकमेकैकमिति लिंग त्रिधा विदुः ॥५६५॥

और प्रत्येक लिंग १- अभिलाषा रूप, २- देहाकार रूप और ३- केवल वेश रूप- इस तरह तीन-तीन प्रकार के हैं । (५६५)

पुमांसोऽल्पाः स्त्रियः संख्यगुणाः क्रमादनन्तकाः ।

अवेदाः क्लीव वेदाश्च सवेदा अधिकास्ततः ॥५६६॥

संख्या की अपेक्षा से पुरुष सबसे थोड़े हैं, स्त्रियां पुरुष से संख्याता गुना हैं, इससे अनन्त गुना अवेदी सिद्ध के जीव हैं, इससे भी अनन्त गुना नपुंसक हैं और नपुंसक से भी अधिक सवेदी हैं । (५६६)

पुंस्त्वसंज्ञित्वयोः कायं स्थितिरान्तर्मुहूर्तिका ।

लध्वी गुर्वी चाब्धि शतपृथक्त्वं किंचनाधिकम् ॥१॥

स्त्रीत्व कायस्थितिः प्रज्ञापनायां समयो लघुः ।

उक्ताथास्यां गरीयस्यामादेशाः पंच दर्शिताः ॥२॥

चतुर्दशाष्टदश वा शतं वाथ दशोत्तरम् ।

पूर्णं शतं वा पल्यानि पल्यानां वा पृथक्त्वकम् ॥३॥

पूर्व कोटि पृथक्त्वाद्याः पंचाप्येते विकल्पकाः ।

पंच संग्रह वृत्त्यादेर्ज्ञैषु तेषां च विस्तृतिः ॥४॥

आद्य द्वितीये स्वर्गे द्विः पूर्व कोदयायुषः स्त्रियाः ।

सभर्तृकान्य देवीत्वेनोत्पत्त्यैषां च भावना ॥५॥

इति वेदः ॥२४॥

पुरुष रूप की और संज्ञी रूप की काय स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति दो सौ सागरोपम से लेकर नौ सौ उपरान्त तक की है । स्त्रीत्व की काय स्थिति अलग रूप से पत्रवना सूत्र में इस तरह कही है कि जघन्यतः एक समय की है और उत्कृष्ट रूप में १- चौदह पल्योपम है अथवा २- अठारह पल्योपम अथवा ३- एक सौ दस पल्योपम अथवा ४- एक सौ पल्योपम अथवा ५- दो से लेकर नौ पल्योपम तक है । इन पांचों विकल्प में पल्योपम की संख्या अलग-अलग है । इसके सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताने के लिए पंच संग्रह नामक ग्रन्थ की टीका में कहा है- प्रथम और दूसरे स्वर्ग में दो करोड़ पूर्व की आयुष्य वाली स्त्री पति वाली और भर्तार बिना देवी रूप उत्पन्न होती है- इसके कारण से इस विकल्प की भावना कही है। (१-५) इस तरह चौबीसवां द्वार वेद का स्वरूप कहा है ।

जिनोक्ताद विपर्यस्ता सम्यग्दृष्टिर्निगद्यते ।

सम्यक्त्वशालिनां सा स्यात्तच्चैवं जायतेगिनाम् ॥५६७॥

अब पच्चीसवें द्वार में दृष्टि के विषय में कहते हैं - श्री जिनेश्वर भगवंत के वचन के अनुसार ही, उनसे जरा भी विपरीत नहीं, वर्तन-आचरण करना; उसका नाम सम्यक् दृष्टि है। यह सम्यक् दृष्टि सम्यकत्व धारी प्राणियों को होती है और यह सम्यकत्व किस तरह होता है- वह आगे समझाया है। (५६७)

चतुर्थतिक संसारे पर्यटन्ति शरीरिणः ।

वशीकृता विपाकेन गुरु स्थितिक कर्मणाम् ॥५६८॥

अथैतेषु कश्चिदंगी कर्माणि निखिलान्यपि ।

कुर्याद्यथा प्रवृत्ताख्य करणेन स्वभावतः ॥५६९॥

पल्यासंख्य लवोनैक कोटयब्धिस्थितिकानि वै ।

परिणाम विशेषोऽत्र करणं प्राणिनां मतम् ॥६००॥ युग्मम् ।

इस चार गति वाले संसार में जीवात्मा उग्र कर्म विपाक के वश होकर चिरकाल तक परिभ्रमण किया करता है। इसमें कोई जीव स्वभाव से यथाप्रवृत्त नामक करण के द्वारा सर्व कर्मों को एक कोटा कोटी सगरोपम पल्योपम के असंख्य भाग से कुछ कम स्थिति वाला करता है। यहां करण अर्थात् प्राणी के मन के परिणाम समझना। (५६८-६००)

तत्रिधा तत्र चाद्यं स्याद्यथाप्रवृत्त नामकम् ।

अपूर्वकरणं नामानिवृत्तिकरणं तथा ॥६०१॥

वह करण तीन प्रकार का होता है- १- यथाप्रवृत्त, २- अपूर्वकरण और ३- अनिवृत्तिकरण। (६०१)

वक्ष्यमाण ग्रन्थि देशावधि प्रथममीरितम् ।

द्वितीयं भिद्यमानेऽस्मिन् भिन्ने ग्रन्थौ तृतीयकम् ॥६०२॥

इन तीन प्रकार में से प्रथम ग्रन्थिदेश तक होता है, दूसरा जब ग्रन्थि भेदन होते हैं उस समय होता है और तीसरा ग्रन्थि के भेदन होने के बाद में होता है। (६०२)

ग्रन्थि भेद क्या है वह आगे कहते हैं -

त्रीण्यप्यमूनि भव्यानां करणानि यथोचितम् ।

सम्भवन्त्येकमेवाद्यभव्यानां तु सम्भवेत् ॥६०३॥

भव्य जीवों में ये तीनों करण अर्थात् मनः परिणाम यथोचित संभव होते हैं

जबकि अभव्य जीव में एक पहला ही करण होता है । (६०३)

आद्येन करणेनांगी करोतिकर्म लाघवम् ।

धान्यपल्यगिरि सरिद् दूषदादि निदर्शनेः ॥६०४॥

प्रथम प्रकार का मनः परिणाम हो तो प्राणी के कर्म अनाज के प्याले के दृष्टान्त से अथवा पर्वत-नदी-पाषाण न्याय से लघु-लघु होते जाते हैं । (६०४)

यथा धान्यं भूरि-भूरि कश्चिद् गृह्णाति पल्यतः।

क्षिपत्यत्राल्पमल्पं व कालेन कियताप्यथ ॥६०५॥

धान्यपल्यः सोऽल्प धान्यशेष एवावतिष्ठते।

एवं बहूनि कर्माणि जरयन्नसुमानपि ॥६०६॥

वधांश्चाल्पानि तानि कालेन कियतापि हि ।

स्यादल्प कर्माना भोगात्मकाद्य करणेन सः ॥६०७॥

विशेषकं -।

जैसे कोई मनुष्य एक अनाज के ढेर में से बहुत लेता है और थोड़ा वापिस डालता जाता है, इससे कुछ काल में यह अनाज का ढेर प्रायः अल्प हो जाता है उसी तरह प्राणी के कर्म भी अधिक छोड़ते और अल्पबंधन करते, आखिर में अनाभोग रूपी पहले भेद के मनः परिणाम से लघु होते जाते हैं - क्षीण होते जाते हैं । (६०५ से ६०७)

यथा प्रवृत्त करणं नन्वनाभोग रूपकं ।

भवत्यना भोगतश्च कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥६०८॥

यहां कोई ऐसी शंका करते हैं कि- जब यथा प्रवृत्त करण तो अनाभोग रूप है तो इससे प्राणियों के कर्मों का किस तरह क्षय होता है ? (६०८)

अत्रोच्यते..... यथामिथो घर्षणेन गावाणोऽद्विनदीगताः ।

स्युश्चित्रा कृतयो ज्ञान शून्या अपि स्वभावतः ॥६०९॥

तथा यथा प्रवृत्तात्स्युरप्यनाभोग लक्षणात् ।

लघुस्थितिक कर्माणो जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥६१०॥ युग्मं।

इसका समाधान करते हैं कि- स्वभाव से भाव शून्य होने पर भी पर्वत-नदी के पाषाण (पत्थर) एक दूसरे के घर्षण द्वारा नाना प्रकार की आकृतियां धारण करते हैं वैसे ही अनाभोग लक्षण वाले यथा प्रवृत्त करण (जैसी प्रवृत्ति

चाहिए वैसी प्रवृत्ति करने) से प्राणी के कर्म लघु-हलके होते हैं- पतले होते हैं ।
(६०६-६१०)

रागद्वेष परिणाम रूपोऽस्ति ग्रन्थिरुत्कटः ।

दुर्भेदो दृढकाष्ठादि ग्रन्थिवद् गाढ चिक्रणः ॥६११॥

फिर भी उसके बाद बीच में राग द्वेष के परिणाम रूप एक कठिन ग्रन्थि (गांठ) आती है, वह दुर्भेद्य है तथा दृढ़ लकड़ी आदि की गांठ के समान अति चिकनी होती है । (६११)

मिथ्यात्वं नौ कषायाश्च कषायाश्चेति कीर्तितः ।

जिनैश्चतुर्दशविधोऽभ्यन्तर ग्रन्थिरागमे ॥

एक मिथ्यात्व, नौ कषाय तथा चार मूल कषाय- इस तरह चौदह प्रकार की अभ्यन्तर ग्रन्थि जिनेश्वर देव ने आगम में कही हैं ।

प्रागुक्त रूप पस्थितिक कर्माणः केऽपि देहिनः ।

यथा प्रवृत्त करणाद् ग्रन्थेरभ्यर्णमिथ्यति ॥६१२॥

एतावच्च प्राप्त पूर्वा अभव्या अप्यनन्तराः ।

न त्वीशान्ते ग्रन्थिमेनमेते भेत्तुं कदापि हि ॥६१३॥

इस ग्रन्थि के पास पूर्वोक्त स्थिति के कर्म वाले कई जीवात्मा यथा प्रवृत्त-
मनः परिणाम के द्वारा आते हैं तथा अभव्य जीव भी वहां अनन्त बार आते हैं परन्तु
कोई अभव्य जीव इस ग्रन्थि का भेदन नहीं कर सकता है । (६१२-६१३)

श्रुत सामायिकस्य स्याल्लाभः केषांचिदत्र च ।

शेषाणां सामायिकानां लाभस्तेषां न सम्भवेत् ॥६१४॥

वहां किसी को श्रुत सामायिक की प्राप्ति होती है और शेष को सामायिक
का लाभ नहीं होता है । (६१४)

तथोक्तम्..... तित्थं कराइ पूअं ददुणाणेण वा वि कज्जेण ।

सुअ सामाइ लाभो होइ अभव्यस्स गंठिभि ॥६१५॥

इस विषय पर आगम में कहा है कि ग्रन्थि भेद तक पहुँचे अभव्य
जीव को तीर्थकर आदि की पूजा होती देखकर तथा किसी अन्य कारण से श्रुत
सामायिक का लाभ होता है । (६१५)

"अर्हदादि विभूतिं अतिशयवतीं दृष्ट्वा धर्मादेवं विधः सत्कारः देवत्वराज्यादयः

वा प्राप्यन्ते इत्येवमुत्पन्न बुद्धेः अभव्यस्य अपि ग्रन्थि स्थानं प्राप्तस्य तद्विभूति निमित्तमिति शेषः देवत्व नरेन्द्रत्व सो भाग्यबलादि लक्षणोऽन्येन वा प्रयोजनेन सर्वथा निर्वाण श्रद्धानरहितस्य अभव्यस्यापि कष्टानुष्ठानं किञ्चित् अंगीकुर्वतः अज्ञान रूपस्य श्रुत सामायिक मात्रस्य लाभो भवेत्। तस्यापि एका दशांग पाठा नु ज्ञानात् ॥ इति विशेषावश्यक सूत्र वृत्तौ ॥”

विशेषावश्यक सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- “जिनेश्वर भगवन्त आदि-की असामान्य समृद्धि को देखकर-‘धर्म के कारण इस प्रकार का आदर-सत्कार तथा देवत्व राज्य आदि प्राप्त होता है।’ इस तरह समझने से ग्रन्थि के पास पहुँचा हुआ अभव्य भी देवत्व, नृपत्व, सौभाग्य, बल आदि की प्राप्ति के लिए अथवा किसी अन्य हेतु के लिए कष्टकारी अनुष्ठान करता है, परन्तु उसमें मोक्ष की श्रद्धा अल्पमात्र भी नहीं होती फिर भी अज्ञान रूप श्रुत सामायिक प्राप्त होता है क्योंकि ऐसों को भी ग्यारह अंग के पाठ की अनुज्ञा है।”

भव्या अपि बलन्तेऽत्रागत्य रागादिभिर्जिताः।

केचित्कर्माणि बध्नन्ति प्राग्वद्दीर्घस्थितीनि ज्ञे ॥६१६॥

भव्य जीव भी यहां तक पहुँच जाता है परन्तु राग आदि से पराजित हो कर वापिस गिरता है, और कोई तो पूर्व के समान उत्कृष्ट स्थिति कर्मों का बंधन बांधता है। (६१६)

केचित्तत्रैव तिष्ठन्ति तत्परीणाम शालिनः।

न स्थितीः कर्मणामेते वर्धयन्त्यल्पयन्ति वा ॥६१७॥

कई तो ऐसे मन परिणाम होने के बाद वहीं स्थिर रहते हैं, न कर्म स्थिति को बढ़ाते हैं और न ही कम करते हैं। (६१७)

चतुर्गति भवा भव्या संज्ञि पर्यास पंचखाः ।

अपाद्धं पुद्गल परावर्तान्तर्भावि मुक्तयः ॥६१८॥

तीव्रधारपर्शु कल्यापूर्वाख्य करणेन हि ।

आविष्कृत्यं परं वीर्यं ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन ॥६१९॥ (युग्मं ।)

चार गति में रहे भव्य जीव तथा पर्यास संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तथा अर्ध पुद्गल परावर्तन के अन्दर जिसका मोक्ष होने वाला है, इस तरह के कई जीव अपना प्रबल वीर्य प्रकट करके तीक्ष्ण परशु-कुल्हाड़े के समान अपूर्व करण मनः परिणाम द्वारा ग्रन्थि का भेदन करते हैं। (६१८-६१९)

यथा जनास्त्रयं केऽपि महापुरं वियासवः ।

प्राप्ताः क्वचन कान्तारे स्थानं चौरभयंकरम् ॥६२०॥

तत्र द्रुतः द्रुतं यान्तो दरशुस्तस्करद्वयम् ।

तद्दृष्ट्वा त्वरितं पश्चादेको भीतः पलायितः ॥६२१॥

गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्त्यस्त्ववगणय्य तौ ।

भय स्थानमतिक्रम्य पुरं प्राप पराक्रमी ॥६२२॥

इसके ऊपर एक दृष्टान्त देते हैं - किसी महान् नगर में जाने के लिए तीन मनुष्य चले। रास्ते में चोरों से भयवाला एक जंगल आया। वहाँ उनको दो चोर मिले। उन्हें देखकर उन तीन मनुष्यों में से एक तो भयभीत होकर भाग गया। दूसरा चोरों के हाथ पकड़ा गया, परन्तु तीसरा पराक्रमी था- दोनों चोरों को पराजित कर वह भयस्थान को पार करके इच्छित स्थान महान् नगर में पहुँच गया। (६२० से ६२२)

दृष्टान्तोपनयश्चात्र जनाजीवा भवोऽटवी ।

पन्थाः कर्मस्थितिर्ग्रन्थिदेशस्त्विह भयास्पदम् ॥६२३॥

रागद्वेषौ तस्करौ द्वौ तद्भीतो बलितस्तु सः ।

ग्रन्थिं प्राप्यापि दुर्भावाद्यो ज्येष्ठ स्थितिबन्धकः ॥६२४॥

चौररुद्धस्तु स ज्ञेयस्तादृगागादि बाधितः ।

ग्रन्थिं भिनति यो नैव न चापि वलते ततः ॥६२५॥

सत्वभीष्टपुरं प्राप्तो योऽपूर्वं करणाद् द्रुतम् ।

रागद्वेषावपाकृत्य सम्यग् दर्शनमाप्तवान् ॥६२६॥

इस दृष्टान्त का उपनय इस तरह से-तीन मनुष्य वह संसारी जीव समझना । अटवी यह संसार समझना । मार्ग अर्थात् कर्म की स्थिति और भय स्थान यह ग्रन्थि प्रदेश समझना । दो चोर यह राग तथा द्वेष हैं । भयभीत होकर वापिस भाग जाना वह ग्रन्थि प्रदेश तक आकर वापिस आ जाना । ऐसा उत्कृष्ट स्थिति बंध वाला दुर्लभ्य जीव समझना । चोर ने पकड़कर रोक रखा यह राग द्वेष से पराजित प्राणी समझना कि जिससे ग्रन्थि को भेदन नहीं कर सकता या वापिस नहीं जा सकता है । जो तीसरा अपने इष्ट स्थान पर पहुँच गया वह अपूर्वकरण के द्वारा राग द्वेष दूर करके सम्यक्दर्शन को प्राप्त करने वाला जीव समझना । (६२३ से ६२६)

सम्यकत्वमौपशमिकं ग्रन्थिं भित्वाश्रुतेऽसुमान् ।

महानंद भट इव जित दुर्जय शात्रवः ॥६२७॥

दुर्जय शत्रु का पराभव करके जैसे कोई सुभट हर्ष प्राप्त करता है, वैसे ही ग्रन्थि का भेदन करके प्राणी औपशमिक सम्यकत्व का महान आनंद प्राप्त करता है । (६२७)

तच्चैवम्..... अथा निवृत्ति करणेनाति स्वच्छाशयात्मना ।

करोत्यन्तर करणमन्त मुहूर्त्तं सम्मितम् ॥६२८॥

वह इस तरह से-प्राणी आरंभ में निर्मल आशय रूप अनिवृत्ति करण द्वारा अन्तर्मुहूर्त्त के प्रमाण वाला अन्तर करण करता है । (६२८)

कृते च तस्मिन्मिथ्यात्व मोह स्थितिर्द्विधाभवेत् ।

तत्राद्यान्तर करणादधस्तन्य परोर्ध्वगा ॥६२९॥

उसके बाद दो प्रकार की मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की स्थिति होती है । उसमें पहली अन्तर करण से नीचे और दूसरी उससे ऊपर की स्थिति रहती है । (६२९)

तत्राद्यायां स्थितौ मिथ्यादृक् स तद्वल वेदनात् ।

अतीतायामथैतस्यां स्थितावन्तर्मुहूर्त्तः ॥६३०॥

प्राप्नोत्यन्तर करणं तस्याद्यक्षण एव सः ।

सम्यकत्वमौपशमिकम् पौदगलिकमाप्नुयात् ॥६३१॥ युग्मं ।

उसमें भी थम स्थिति में रहने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व के समूह को भेदन करता है और फिर अन्तर्मुहूर्त्त बाद यह स्थिति अतीत होने के बाद अन्तर करण को प्राप्त करता है और इसके प्रथम क्षण में ही अपुदगलिक औपशमिक सम्यकत्व प्राप्त करता है । (६३०-६३१)

यथा वनद्रवो दग्धेन्धनः प्राप्यातृणं स्थलम् ।

स्वयं विध्यायति तथा मिथ्यात्वोग्र दवानलः ॥६३२॥

अवाप्यान्तरकरणं क्षिप्रं विध्यायति स्वयम् ।

तदौपशमिकं नाम सम्यकत्वं लभतेऽसुमान् ॥६३३॥ (युग्मं)

जिस तरह दावानल ईन्धन को जला देता है, फिर तृण-घास रहित स्थान पर पहुँच कर अपने आप शान्त हो जाता है, उसी तरह मिथ्यात्व रूपी भयंकर दावानल

भी अन्तर करण को प्राप्त कर स्वयमेव नष्ट हो जाता है। उसी समय से प्राणी औपशमिक सम्यकत्व प्राप्त करता है । (६३२-६३३)

• अत्रायमौपशमिक सम्यकत्वेन सहाप्नुयात् ।

देशतो विरतिं सर्वं विरतिं वापि कश्चन् ॥६३४॥

तथा यहां कोई प्राणी इस औपशमिक सम्यकत्व की प्राप्ति के साथ-साथ विरति रूप और कोई सर्व विरति रूप भी प्राप्त करता है । (६३४)

तथोक्तं शतक चूर्णो- "उव सम सम्मदिद्वी अन्तर करणे ठिओ कोइ देस विरइयं पि लभेइ कोइ पमत्त अपमत्त भावं पि । सासायणो पुण न किंपि लभे इत्ति ॥"

शतक-चूर्ण में कहा है कि- 'कोई उपशम सम्यकत्ववान् जीव अन्तर करण में स्थिर होकर देश विरति को प्राप्त करता है और कोई कभी प्रमत्त-अप्रमत्त भाव को भी प्राप्त करता है और किसी को केवल सास्वादन सम्यकत्व भी नहीं प्राप्त होता है ।'

कर्म प्रकृति वृत्तावपि इत्यर्थतः॥

किं च..... बद्धयतेत्यक्तं सम्यकत्वैरुत्कृष्टा कर्मणां स्थितिः।

•भिन्न ग्रन्थिमिरप्युगो नानु भागस्तु तादृशः ॥१॥

इत्येतत्कार्मग्रन्थिकमतम् ॥

कर्म प्रकृति की वृत्ति में भी यही अर्थ कहा है । तथा सम्यकत्व को छोड़कर बैठा, ग्रन्थि भेद करके रहने वाला प्राणी भी कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंधन करता है परन्तु कोई उग्र अनुभाग नहीं बंधन करता है । (१)

कर्म ग्रन्थकार का भी यह अभिप्राय है ।

भवेद्भिन्नग्रन्थिकस्य मिथ्यादृष्टेरपि स्फूटम् ।

सैद्धान्तिकमते ज्येष्ठः स्थिति बन्धो न कर्मणाम् ॥२॥

सिद्धान्त वादियों का ऐसा मत है कि- जिसने ग्रन्थि भेद किया हो वह मिथ्या दृष्टि हो फिर भी प्रकट रूप में कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्धन नहीं होता है । (२)

अथ प्रकृतम्-

इदं चोपशम श्रेण्यामपि दर्शनं सप्तके ।

उपशान्ते भवेच्छ्रेणि पर्यन्तावधि देहिनाम् ॥६३५॥

अब प्रस्तुत विषय कहते हैं- दर्शन मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम भाव को प्राप्त करता है । उपशम श्रेणि में भी अन्तिम श्रेणि पर्यन्त तक प्राणियों को यह उपशम समकित होता है । (६३५)

तथा..... यथोषध विशेषेण जनैर्मदन कोद्रवाः ।

त्रिधा क्रियन्ते शुद्धार्थविशुद्धाशुद्ध भेदतः ॥६३६॥

तथानेनौपशमिक सम्यक्त्वेन पटीयसा ।

विशोध्य क्रियते त्रेधा मिथ्यात्व मोहनीयकम् ॥६३७॥ युग्मं ।

तथा जैसे कोर ऐसी औषध द्वारा मनुष्य कोदरा (हलका अनाज) को १- शुद्ध, २- आधा शुद्ध और ३- अशुद्ध- इस तरह तीन विभागों में ढेर करता है। वैसे इस तरह उत्तम उपशम सम्यकत्व से शोधन कर मिथ्यात्व मोहनीय के तीन प्रकार होते हैं । (६३६-६३७)

तत्राशुद्धस्य पुंजस्योदये मिथ्यात्ववान् भवेत् ।

पुंजस्यार्थविशुद्धस्योदये भवति मिश्रदंष्ट्र ॥६३८॥

उदये शुद्धपुंजस्य क्षायोपशमिकं भवेत् ।

मिथ्यात्वस्योदितस्यान्तादन्यस्योपशमाच्च तत् ॥६३९॥

वह इस तरह-अशुद्ध पुंज (समूह) उदय में होता है तो जीव मिथ्यात्वी होता है, आधा शुद्ध पुंज उदय में होता है तो वह मिश्र दृष्टि होता है और शुद्ध पुंज का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यकत्व वाला होता है और यह समकित उदय में आये मिथ्यात्व के अन्त से और अनुदित मिथ्यात्व के उपशम से होता है। (६३८-६३९)

आरब्धक्षय श्रेणोः प्रक्षीणे सप्तके भवेत् ।

क्षायिकं तद्भव सिद्धेस्त्रि चतुर्जन्मनोऽथवा ॥६४०॥

दर्शन मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियां क्षीण होती हैं तब आरंभी होता है- क्षयक श्रेणि जो तद् जन्म मोक्षगामी जीव हो अथवा तीन चार जन्म होने के बाद मोक्ष में जाने वाला हो, ऐसे प्राणियों को क्षायिक सम्यकत्व होता है । (६४०)

तत्त्वार्थ भाष्ये चैतेषां स्वरूपमेवमुक्तम्- "क्षयादि त्रिविधं सम्यग्दर्शनम् तदावरणीयस्य कर्मणो दर्शनं मोहस्य च क्षयादिभ्य इति ॥" अस्य वृत्तिः-

तत्त्वार्थ भाष्य में इसका स्वरूप इस तरह कहते हैं - 'क्षय आदि तीन

प्रकार का सम्यकत्व है। यह इसके आवरण कर्म के क्षय आदि से तथा दर्शन मोहनीय के क्षय आदि से होता है ।' इसका विवेचन इस तरह:-

“मत्याद्यावरणमैय दर्शनमोहसप्त कक्षयात् उपजातं क्षय सम्यग् दर्शनमभिधीयते । तेषामेवोपशमाज्जातं उपशम सम्यग् दर्शनमुच्यते। तेषामेव क्षयोपशमाभ्यां जातं क्षयोपशम सम्यग् दर्शनमिदधति प्रवचनाभि साः ॥”

जहां तक मिथ्यात्व हो वहां तक मति ज्ञानादि भी नहीं होता है, मति अज्ञानादि होता है । इससे दर्शन मोहनीय कर्म को मति आदि ज्ञान का आवरण भी कहा है। मति आदि का आवरण दर्शन मोहनीय कर्म की सात प्रकृति के क्षय से उत्पन्न होता है । यह क्षायिक सम्यग् दर्शन है । जो इनके उपशम से होता है वह उपशम सम्यक् दर्शन है और जिसमें इसके क्षय और उपशम ये दोनों होते हैं वह क्षयोपशम सम्यग् दर्शन कहलाता है । यह तत्त्वार्थ के प्रथम अध्ययन में कहा है ।

ननु च तत्त्वश्रद्धान जनकं क्षयोपशमिकं यदि ।

सम्यकत्वस्य क्षायिकस्य कथमावारकं तदा ॥६४१॥

यदि मिथ्यात्व जातीय तथा तदपवारकम् ।

तदात्मधर्मश्रद्धानं कथमस्मात् प्रवर्त्तते ॥६४२॥

यहां कोई शंका करता है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जब तत्त्व श्रद्धा को उत्पन्न करने वाला है तब क्षायिक सम्यकत्व को यह क्यों रोकता है ? यदि आप ऐसा कहोगे कि- यह एक जात का मिथ्यात्व होने से इसे रोकता है तो इससे आत्म धर्म रूप तत्त्व श्रद्धा कैसे प्रकट होती है ? (६४१-६४२)

अत्रोच्यते यथाश्लक्षणाभ्र कान्तः स्था दीपादेद्योतते द्युतिः।

तस्मिन् दूरी कृते सर्वात्मना संजृम्भतेऽधिकम् ॥६४३॥

यथा वा मलिनं वस्त्रं भवत्या वारकं मणोः।

निर्णिज्योज्वलिते तस्मिन् भाति काचन तत्रभा ॥६४४॥

मूलादूरी कृते चास्मिन् सा स्फूटा स्यात्स्वरूपतः।

मिथ्यात्व पुद्गलेष्वेवं रसापवर्त्तनादिभिः ॥६४५॥

क्षायोपशमिकत्वं द्राक् प्रापेषु प्रकटी भवेत् ।

आत्माधर्मात्मकं तत्त्व श्रद्धानं किञ्चिदस्फूटम् ॥६४६॥ युग्मं।

यहां शंका का समाधान करते हैं कि - जिस तरह बहुत सूक्ष्म अभ्रक के अन्दर रही दीपक की कान्ति चमकती है और अभ्रक दूर करने से और विशेष

चमकती है अथवा जैसे मलिन वस्त्र मणि को रोकता है उज्ज्वल वस्त्र में से इसकी कान्ति कुछ चमकती है और वस्त्र सर्वथा हटा लेने से इसकी स्वरूपवान कान्ति पूर्णरूप में प्रकट होती है इसी ही तरह से रस के अम्यवर्तन आदि मिथ्यात्व के पुद्गल क्षायोप-शमिक रूप को तुरंत प्राप्त होने से कुछ अस्फुट आत्म धर्म रूप श्रद्धा प्रकट होता है । (६४३ से ६४६)

क्षायोपशमिके क्षीणे स्फूटं सर्वात्मना भवेत् ।

आत्मस्वरूपं सम्यकत्वं तच्च क्षायिकमुच्यते ॥६४७॥

क्षायोपशमिक भी जब क्षीण होता है तब आत्मस्वरूप पूर्णरूप में स्फुट होता है । यह क्षायिक सम्यकत्व कहलाता है । (६४७)

एवं च तत्त्व श्रद्धान जनक सम्यकत्व पुद्गल क्षये ।

कथं श्रद्धा भवेत्तच्चे शकैषापि निराकृता ॥६४८॥

और इसी तरह तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न कराने वाले सम्यकत्व के पुद्गल क्षय होते ही तत्त्व में किस तरह श्रद्धा होती है उस शंका का समाधान हो गया । (६४८)

तथाहुर्भाष्यकारः-

सो तस्स विसुद्धयरो जायइ सम्मत पोग्ग लख्खयओ ।

दिट्ठिच्चसणा सुद्धस्स पडलविगये मणूसस्स ॥६४९॥

इदं कर्मग्रन्थ मतम् ॥ सिद्धान्त मते पुनः

'अपूर्व करणे नैव मिथ्यात्वं कुरुते त्रिधा ॥'

भाष्यकार भी कहते हैं कि- 'परदा निकल जाने से जैसे मनुष्य की दृष्टि विशुद्ध होती है वैसे ही सम्यकत्व के पुद्गलों का क्षय होने से सम्यकत्व अत्यन्त शुद्ध होते हैं।' (६४९)

यह कर्मग्रन्थ का अभिप्राय है।

सिद्धान्त के मत अनुसार तो 'अपूर्व करण से ही तीन प्रकार का मिथ्यात्व होता है ।'

सम्यकत्वावारकरसं क्षपयित्वा विशोधिताः ।

मिथ्यात्व पुद्गलास्ते स्युः सम्यकत्वमुपचारतः ॥६५०॥

सम्यकत्व का आवरण रस को खत्म करके शुद्ध बना । मिथ्यात्व के पुद्गलों को यहां उपचार से सम्यकत्व के पुद्गल कहा है । (६५०)

अर्धशुद्धा अशुद्धाश्च मिश्र मिथ्यात्व संज्ञकाः ।

एवं कोद्रवदृष्टान्तात् त्रिषु पुंजेषु सत्स्वपि ॥६५१॥

यदा निवृत्ति करणात् सम्यकत्वमेव गच्छति ।

मिश्र मिथ्यात्व पुंजौ तु तदा जीवो न गच्छति ॥६५२॥

तथा इस तरह आधा शुद्ध हुए को मिश्र और सर्वथा अशुद्ध रहे को मिथ्यात्व नाम से जाना जाता है । इसी तरह कोद्रव के दृष्टान्त के अनुसार यहां शुद्ध, अर्ध शुद्ध और अशुद्ध- इस प्रकार तीन भेद होते हैं। जब अनिवृत्ति करण से जीव सम्यकत्व प्राप्त करता है तब वह मिश्र और मिथ्यात्व इन दो से प्राप्त नहीं करता है । (६५१-६५२)

पुनः पतित सम्यकत्वो यदा सम्यकत्वश्नुते ।

तदाध्यपूर्वं करणेनैव पुंजत्रयं सृजन् ॥६५३॥

करणेनानिवृत्ताख्ये नैव प्राप्नोति पूर्ववत् ।

नन्वत्रापूर्वं करणे प्राग्लब्धेऽन्यर्थता कथम् ॥६५४॥ (युग्मं।)

और एक बार सम्यकत्व प्राप्त कर भ्रष्ट होने के बाद फिर उसे प्राप्त हो, तब भी जीव अपूर्व करण से ही तीन पुंज (ढेर) भेद (पार) करके अनिवृत्त करण द्वारा ही पूर्व के समान वह सम्यकत्व प्राप्त करता है । यहां ऐसी शंका करते हैं कि- अपूर्व करण तो पूर्व में हो गया था तो फिर दूसरी बार अपूर्व करण का क्या लाभ है ? (६५३-६५४)

अत्रोच्यते.....अपूर्ववदपूर्वं स्यात् स्तोक वारोपलम्भतः।

अपूर्वत्व व्यपदेशो भवेल्लोकेऽपि दुर्लभे ॥६५५॥

यहां शंका का निवारण करते हैं- अपूर्व करण अल्प समय को मिलता है इससे यह अपूर्व कहलाता है, इस जगत में दुर्लभ वस्तु 'अपूर्व' नाम से पहचानी जाती है। यह कारण है । (६५५)

इदमर्थतो विशेषावश्यक वृत्तौ ॥

सम्यग्दृष्टि व्यपदेश निबन्धनमितीरितम् ।

सम्यकत्वं त्रिविधं शुद्ध श्रद्धां रूपं मनीषिभिः ॥६५६॥

इसका भावार्थ विशेषावश्यक सूत्र की वृत्ति में कहा है- जिस तरह सम्यक् दृष्टि के नामक, निबन्ध रूप और शुद्ध श्रद्धारूप हैं उसी तरह सम्यकत्व के तीन भेद बुद्धिमानों ने कहे हैं। (६५६)

यदि वैकट्टिचि चतुः पंचभेदं भवेदिदम् ।

जिनोक्त तत्त्वश्रद्धान रूपमेकविधं भवेत् ॥६५७॥

अथवा तो सम्यकत्व एक प्रकार का, दो प्रकार, तीन प्रकार, चार प्रकार का और पांच प्रकार का भी है। उसमें १- जिनेश्वर द्वारा कहे तत्त्वों पर श्रद्धा रखना वह एक प्रकार सम्यकत्व है। (६५७)

द्विधा नैसर्गिक चौपदेशिकं चेति भेदतः ।

भवेन्नैश्चयिकं व्यावहारिकं चेति वा द्विधा ॥६५८॥

द्रव्यतो भावतश्चेति द्विधा वा परिकीर्तितम् ।

तत्र नैसर्गिकं स्वभाविकमन्यद् गुरोर्गिरा ॥६५९॥

२- नैसर्गिक और उपदेशक- इस तरह दो प्रकार का है अथवा नैश्चयिक और व्यवहारिक- ये दो प्रकार का अथवा द्रव्य से और भाव से- इस तरह भी दो प्रकार का होता है। इसमें नैसर्गिक अर्थात् स्वभाव से और उपदेशिक अर्थात् गुरु महाराज के उपदेश से सम्यकत्व होता है। (६५८-६५९)

यथा पथश्च्युतः कश्चिदुपदेशं विना भ्रमन् ।

मार्गं प्राप्नोति कश्चित्तु मार्गं विज्ञोपदेशतः ॥६६०॥

यथा वा कोद्रवाः केचित्त्युः काल परिपाकतः ।

स्वयं निमर्दनाः केचित् गोमयादि प्रयत्नतः ॥६६१॥

कश्चिज्वरो यथा दोष परिपाकाद् व्रजेत् स्वयम् ।

कश्चित्पुनर्भेषजादि प्रयत्ने नोपशाम्यति ॥६६२॥

स्वभावादथवोपाया याद्यथा शुद्धं भवेत्पयः ।

यथोष्णं स्याद्वस्त्रं वा स्वभावाद्यत्नतोऽपि वा ॥६६३॥

सम्यकत्वमेवं केषांचिदङ्गिनां स्यान्निसर्गतः ।

गुरुणामुपदेशेन केषांचित्तु भवेदिदम् ॥६६४॥

इन दो प्रकार को यथार्थ समझाने के लिए कुछ दृष्टान्त देते हैं- जैसे मार्ग में भूल जाने से कोई मनुष्य भ्रमण करते-करते अपने आप ही मार्ग पर आ जाता है और कोई मार्गदर्शक के बताने से शुद्ध मार्ग पर आ जाता है अथवा कोद्रवा में कितने ही काल के परिपाक से छिलके निकल जाते हैं और कितने के गाय के गोबर के प्रयोग से छिलके निकालने में आते हैं। अथवा किसी प्रकार का बुखार दोषों के परिपाक से अपने आप उतर जाता है और कोई व्यक्ति औषधि आदि के

प्रयोग से शान्त होता है अथवा जल कभी स्वभाव से कुदरती शुद्ध होता है और कभी उपाय करने से शुद्ध होता है अथवा वस्त्र में भी कोई स्वभाव से और कोई प्रयत्न से उज्ज्वल होता है। इस तरह भी कोई जीव स्वभाव से सम्यकत्व प्राप्त करता है और किसी को गुरु के उपदेश से होता है । (६६० से ६६४)

नेश्चयिकं सम्यकत्वं ज्ञानादिमयात्मशुद्ध परिणामः ।

स्याद्वावहारिकं तद्धेतु समुत्थं च सम्यकत्वम् ॥६६५॥

आत्म का ज्ञानादिमय शुद्ध परिणाम वह नैश्चयिक सम्यकत्व है और इसके हेतु से उत्पन्न हुआ यह व्यावहारिक सम्यकत्व कहलाता है । (६६५)

जिन वचनं तत्त्वमिति श्रद्धतोऽकलयतश्च परमार्थम् ।

तद् द्रव्यतो भवेद्भावतस्तु परमार्थं विज्ञस्य ॥६६६॥

अमुक बात श्री जिनेश्वर भगवंत ने कही है इसलिए यह सत्य है- इस प्रकार मानता है परन्तु परमार्थ नहीं जानता- ऐसे मनुष्य का सम्यकत्व द्रव्य से कहलाता है, और जो परमार्थ को जाने उसका सम्यकत्व भाव से कहते हैं। (६६६)

क्षायोपशमिकमुत पौद्गलिकतथा द्रव्यतस्तदुपदिष्टम् ।

आत्म परिणाम रूपे त्र भावतः क्षायिकोपशमिके ते ॥६६७॥

क्षायोपशमिक सम्यकत्व पुद्गलिक होने से द्रव्य समकित कहलाता है और क्षायिक तथा उपशमिक ये दोनों आत्म परिणाम रूप होने से भाव सम्यकत्व कहलाते हैं । (६६७)

कारक रोचक दीपक भेदादेतत् त्रिधाथवा त्रिविधम् ।

ख्यातं क्षायोपशमिकमुपशमजं क्षायिकं चेति ॥६६८॥

३- कारक, रोचक और दीपक- इस तरह तीन प्रकार का अथवा क्षायोपशमिक, उपशमिक और क्षायिक इन तीन भेद से समकित होता है । (६६८)

जिन प्रणीताचारस्य करणे कारकं भवेत् ।

रुचि मात्र करं तस्य रोचकं परिकीर्तितम् ॥६६९॥

स्वयं मिथ्या दृष्टिरपि परस्य देशनादिभिः ।

यः सम्यकत्वं दीपयति सम्यकत्वं तस्य दीपकम् ॥६७०॥

जिनेश्वर प्रभु द्वारा उपदेश अनुसार आचरण करना, वह कारक

समकित कहलाता है । ऐसे आचार के प्रति केवल रुचि ही रखना वह रोचक समकित कहलाता है और स्वयं मिथ्यादृष्टि होने पर भी अन्य को उपदेश आदि देकर समकित देवे वह समकित दीपक कहलाता है । (६६६-६७०)

क्षायोपशमिकादीनां स्वरूपं तूदितं पुरा ।

सास्वादनयुते तस्मिंस्त्रये तत्स्याच्चतुर्विधम् ॥६७१॥

४- क्षायोपशमिक आदि तीन प्रकार का स्वरूप पहले कहा गया है । इन तीन प्रकार में चौथा सास्वादन प्रकार का मिलाने से सम्यकत्व चार प्रकार का कहलाता है । (६७१)

वेदकेनान्विते तस्मिंश्चतुष्के पंचधापि तत् ।

सास्वादनं च स्यादौपशमिकं वमतोऽङ्गिनः ॥६७२॥

५- पूर्व कहे वे चार भेद और एक पाचवां वेदक भेद मिलाने से समकित के पांच भेद होते हैं । प्राणी उपशम समकित का वमन करता है तब उसे सास्वादन समकित होना कहलाता है । (६७२)

त्रयाणामुक्तं पुंजानां मध्ये प्रक्षीणयोर्द्वयोः ।

शुद्धस्य पुंजस्यान्त्याणु वेदने वेदकं भवेत् ॥६७३॥

पूर्ण शुद्ध, आधा शुद्ध और अशुद्ध- इस तरह तीन पुंज-ढेर कहे हैं, उनमें से दो पुंज खत्म होने से शुद्ध पुंज के आखिर का परमाणु वेदन करते प्राणी को वेदक समकित होता है । (६७३)

षट्षष्टिः साधिकाब्धीनां क्षायोपशमिक स्थितिः ।

उत्कृष्टा सा जघन्या चान्तर्मुहूर्त्तमिता मता ॥६७४॥

अब उस प्रकार के समकित की स्थिति के विषय में कहते हैं : क्षायोपशम समकित की उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागरोपम से कुछ विशेष होती है और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त की कही है । (६७४)

ज्येष्ठान्या चौपशमिक स्थितिरान्तर्मुहूर्त्तकी ।

क्षायिकस्य स्थितिः सादिरनन्ता वस्तुतः स्मृता ॥६७५॥

उपशम समकित की स्थिति उत्कृष्ट अथवा जघन्य दोनों अन्तर्मुहूर्त्त की है- क्षायिक समकित मुख्य रूप में सादि अनन्त है । (६७५)

साधिकाः स्युर्भवस्थत्वे सा त्रयस्त्रिंशद्बन्धयः ।

उत्कर्षतो जघन्य च सा स्यादान्तर्मुहूर्त्तकी ॥६७६॥

भवस्थ रूप में उसकी स्थिति उत्कृष्टतः तैंतीस सागरोपम से अधिक होती है और जघन्य रूप में अन्तर्मुहूर्त्त की है । (६७६)

सास्वादनस्यावल्यः षट् ज्येष्ठा लध्वी क्षणात्मिका ।

एकः क्षणो वेदकस्योत्कर्षाज्जघन्यतोऽपि च ॥६७७॥

सास्वादन समकित की उत्कृष्ट स्थिति छह आवली की है और जघन्य एक समय की है । वेद समकित की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों की स्थिति एक-एक क्षण है । (६७७)

उत्कर्षाक्षैपशमिकं सास्वादनं च पंचशः ।

वेदकं क्षायिकं चैकवारं जीवस्य सम्भवेत् ॥६७८॥

वारान् भवत्य संख्येयान् क्षायोपशमिकं पुनः ।

अथैतेषां गुण स्थान नियमः प्रतिपाद्यते ॥६७९॥

जीव को उपशम और सास्वादन समकित उत्कृष्टतः पांच बार ही होता है, वेदक समकित जीवन में एक ही बार होता है और क्षायोपशम समकित असंख्यात बार होता है। अब इसके गुण स्थान के नियम के विषय में कहते हैं। (६७८-६७९)

सास्वादनं स्यात्सम्यकत्वं गुण स्थाने द्वितीयके ।

तुर्यादिषु चतुर्थेषु क्षायोपशमिकं भवेत् ॥६८०॥

अष्टासु तुर्यादिष्वौपशमिकं परिकीर्तितम् ।

तुर्यादिष्वेका दशसु सम्यकत्वं क्षायिकं भवेत् ॥६८१॥

तुर्याषु चतुर्ष्वेषु वेदकं कीर्तितं जिनैः ।

गुणस्थान प्रकरणाद्विशेषः शेष उह्यताम् ॥६८२॥

सास्वादन समकित दूसरे गुण स्थान में होता है, क्षायोपशमिक चौवों आदि चार में अर्थात् चार, पांच, छह और सातवें गुण स्थान में होता है । चार से लेकर ग्यारहवें तक उपशम समकित होता है और चार से चौदहवें तक क्षायिक समकित होता है। चार से सातवें गुण स्थान तक वेदक समकित होता है । इस सम्बन्धी विशेष विवरण गुण स्थानक प्रकरण में से जान लेना चाहिए । (६८० से ६८२)

सम्यकत्वं लभते जीवो यावत्यां कर्मणां स्थितौ ।

क्षपितायां ततः पल्पपृथकत्व प्रमित स्थितौ ॥६८३॥

लभेत देश विरतिं क्षपितेषु ततोऽपि च ।

संख्येयेषु सागरेषु चारित्रं लभतेऽसुभान् ॥६८४॥ (युग्मं।)

कर्मों की इतनी स्थिति खत्म करने के बाद प्राणी ने समकित प्राप्त किया, फिर इससे पृथकत्व पत्योपम जितनी स्थिति कम हुई हो वह श्रावक रूप देश विरति प्राप्त करता है और इसमें से भी संख्यात् सागरोपम कम होने पर सर्व विरति अर्थात् चारित्र प्राप्त करता है । (६८३-६८४)

एवं चोपशम श्रेणिं क्षपक श्रेणिमप्यथ ।

क्रमात्संख्येय पाथोधिस्थिति ह्यसादवाप्नुयात् ॥६८५॥

एतानभ्रष्ट सम्यकत्वोऽन्वान्यदेवजन्मसु ।

लभेततान्यतर श्रेणि वर्जान कोऽप्येक जन्मनि ॥६८६॥

इसमें से भी संख्यात् सागरोपम के जितनी स्थिति कम हो तब प्राणी अनुक्रम से उपश्रेणि और क्षपक श्रेणि में पहुँचता है । यदि प्राणी का समकित भ्रष्ट न हुआ हो तो वह प्राणी तो, अन्य देव और मनुष्य के जन्मों में यह सब भाव प्राप्त करता है और कोई जीव एक जन्म में भी दो श्रेणियों में से एक को छोड़ शेष सब भाव प्राप्त करता है । क्योंकि सिद्धान्त के मतानुसार एक जन्म में दो श्रेणि नहीं होती हैं । (६८५-६८६)

श्रेणि द्वयं चैकभवे सिद्धान्ताभि प्रायेणं न स्यादेव ॥आहुश्च॥

सम्पत्तमि उ लद्धे पलि अपुहत्तेण सावओ हुज्जा ।

चरणोवसमखयाणं सागर संखंतरा हुंति ॥१॥

इस सम्बन्ध में ऐसा वचन है कि समकित प्राप्त करने के बाद पृथकत्व पत्योपम जितनी स्थिति कम होती है तब प्राणी श्रावक अर्थात् देश विरति प्राप्त करता है और उसमें से चारित्र अनुक्रम से उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि प्राप्त करता है । इस अनुक्रम से संख्यात् सागरोपम की स्थिति कम होती है तब सर्व विरति प्राप्त करता है । (१)

एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणु अजम्पेसु ।

अन्नयर सेडिवज्जं एग भवेणं च सव्वाइ ॥६८७॥

इति महाभाष्य सूत्र वृत्त्यादिषु ॥

इस प्रकार देव और मनुष्य के जन्मों में सम्यकत्व से जीव भ्रष्ट न हुआ हो तो दोनों-में से एक श्रेणि के अलावा एक जन्म में सर्व प्राप्त करता है । (६८७)

इस तरह महाभाष्य सूत्र की वृत्ति आदि में उल्लेख है ।

सम्यकत्वं च श्रुतं चेति देशतः सर्वतोऽपि च ।

विरतीति निर्दिष्टं सामायिक चतुष्टयम् ॥१॥

अब सम्यकत्व सामायिक आदि के विषय में कुछ कहते हैं— सम्यकत्व सामायिक, श्रुत सामायिक, देश विरति सामायिक और सर्व विरति सामायिक इस तरह चार प्रकार का सामायिक कहा है । (१)

चारित्रस्याष्ट समयान् प्रतिपत्तिर्निरन्तरम् ।

शेषत्रयस्य चावस्य संख्येयांशमितान् क्षणान् ॥२॥

उत्कर्षेण प्रतिपत्ति काल एष निरन्तरः ।

जघन्यतो द्वौ समयौ चतुर्णामपि कीर्तितः ॥३॥

चारित्र अर्थात् सर्व विरति सामायिक का निरन्तर प्रतिपत्ति काल आठ समय का है। शेष तीन सामायिक का एक आवली के असंख्यातवें भाग का है । वह काल उत्कृष्ट रूप में जानना। जघन्य रूप में तो चारों सामायिक का प्रतिपत्ति काल-दो समय का कहा है । (२-३)

द्वादश पंचदशाहोरात्रास्तृतीय तुर्ययोः ।

आद्ययोः सप्त विरहो ज्येष्ठोऽन्यश्च क्षणत्रयम् ॥४॥

तीसरी और चौथी सामायिक का विरह काल उत्कृष्ट रूप में बारह और पंद्रह अहोरात्रि का है, और पहले दो सामायिक का सात अहोरात्रि है। जघन्य तीन समय का है । (४)

सम्यकत्वं देशविरतिं चाप्नोत्युत्कर्षतोऽसुमान् ।

क्षेत्र पत्योपमासंख्य भाग क्षणमितान् भवान् ॥५॥

चारित्रं च भवानष्टौ श्रुत सामायिकं पुनः ।

भवाननन्तान् सर्वाणि भवमेकं जघन्यतः ॥६॥

प्राणी उत्कृष्ट रूप में सम्यकत्व सामायिक और देश विरति सामायिक क्षेत्र पत्योपम के असंख्यातवें भाग के समय जितने जन्म तक प्राप्त करता है । सर्व विरति सामायिक अर्थात् चारित्र आठ भव तक प्राप्त करता है और श्रुत

सामायिक अनन्त जन्म तक प्राप्त करता है। जबकि जड़न्य रूप में सर्व सामायिक एक ही जन्म में प्राप्त करता है। (५-६)

आकर्षाणां खलु शतपृथकत्वं सर्व संवरे।

स्यात्सहस्र पृथकत्वं च त्रयाणामेक जन्मनि ॥७॥

एक जन्म में सर्व संवर के विषय में अर्थात् सर्व विरति सामायिक के विषय में दो सौ से नौ सौ तक आकर्ष होता है और शेष तीन सामायिक के विषय में दो हजार से लेकर नौ हजार तक होता है। (७)

नानाभवेषु चाकर्षा असंख्येयाः सहस्रकाः ।

आद्यत्रये तुरीये च स्यात्सहस्र पृथकत्वकम् ॥८॥

यत् त्रयाणां प्रतिभवं स्युः सहस्रपृथकत्वकम् ।

असंख्येया भवाश्चेति युक्तास्तेऽमी यथोदिताः ॥९॥

चारित्रे यत्प्रति भवं तेषां शतपृथकत्वकम् ।

भवाश्चाष्टौ ततौ युक्तं तत्सहस्र पृथकत्वकम् ॥१०॥

अनेक नाना प्रकार के जन्मों में प्रथम के तीन सामायिक के विषय में असंख्य हजार आकर्षण होते हैं और अन्तिम यानि चौथे सामायिक में दो हजार से लेकर नौ हजार तक होते हैं। क्योंकि तीन सामायिक के विषय में प्रत्येक जन्म में दो हजार से नौ हजार तक आकर्षण होते हैं तब असंख्य जन्म के विषय में असंख्य सहस्र कहे हैं- यह युक्त ही है और सर्व विरति सामायिक के विषय में प्रत्येक जन्म के अन्दर दो सौ से लेकर नौ सौ तक आकर्षण कहे हैं। इस कारण से आठ जन्म में दो हजार से लेकर नौ हजार तक कहे हैं, वह भी युक्त ही हैं। (८ से १०)

“आकर्षः प्रथमतया ग्रहणं मुक्तस्य वा ग्रहणम् इति ॥ इदमर्थतः आवश्यक सूत्र वृत्त्यादिषु ॥”

‘आकर्षण = प्रथम ग्रहण करना अथवा एक बार छोड़कर पुनः ग्रहण करना- यह अर्थ आवश्यक सूत्र की वृत्ति आदि में कहा है।’

मिथ्यादृष्टिर्विपर्यस्ता जिनोक्ताद्वस्तु तत्त्वतः।

सा स्यान्मिथ्यात्विनां तच्च मिथ्यात्वं पंचधा मतम् ॥६८८॥

अब कुछ मिथ्या दृष्टि के विषय में कहते हैं :- जिन प्रभु द्वारा कथित

वस्तु स्वरूप से विपरीत रूप में आचरण करना, इसका नाम मिथ्यादृष्टि है । ऐसी दृष्टि मिथ्यात्वी की होती है । (६८८)

अभिग्रहिकमाद्यं स्यादनाभिग्रहिकं परम् ।

तृतीयं किल मिथ्यात्व मुक्तमाभिनवेशिकम् ॥६८९॥

तुर्यं सांशयिकाख्यं स्यादनाभोगिकमन्तमम् ।

अभिग्रहेण निर्वृत्तं तत्राभिग्रहिकं स्मृतम् ॥६९०॥

इस मिथ्या दृष्टि अथवा मिथ्यात्व के पांच भेद हैं । उसमें प्रथम अभिग्रहिक, दूसरा अनाभिग्रहिक, तीसरा आभिनवेशिक, चौथा सांशयिक और पांचवां अनाभोगिक है । उसमें १- अभिग्रह से जो निर्वृत्त हुआ हो वह अभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है । (६८९-६९०)

नाना कुं दर्शनेष्वेकमस्यात्प्राणी कु दर्शनम् ।

इदमेव शुभं नान्यदित्येवं प्रतिपद्यते ॥६९१॥

ऐसे मिथ्यात्व वाला प्राणी अनेक कुदर्शनों में से यह एक कुदर्शन अच्छा है, अन्य कोई नहीं है । इस तरह उसे मानकर स्वीकार करता है । (६९१)

मन्यतेऽङ्गी दर्शनानि यद्वशादखिलान्यपि ।

शुभानि माध्यस्थ्य हेतुरनाभिग्रहिकं हि तत् ॥६९२॥

२- जिसके कारण से प्राणी सर्व दर्शनों का सार मानता है और इसके कारण से अपनी मध्यस्थता दिखाता है वह अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है । (६९२)

यतो गोष्ठा माहिलादि वदात्मीय कु दर्शने ।

भवत्यभिनिवेशस्तं प्रोक्तमाभिनवेशिकम् ॥६९३॥

३- गोष्ठा माहिलादिक के समान जिससे अपने ही दर्शन (कुदर्शन) में अभिनवेश-आसक्ति हो वह आभिनवेशिक मिथ्यात्व है । (६९३)

यतो जिन प्रणीतेषु देशतः सर्वतोऽपि वा ।

पदार्थेषु संशयः स्यात्तत्सांशयिकभीरितम् ॥६९४॥

४- जिसके कारण जिनेश्वर प्रणीत तत्त्वों में अल्प अथवा पूर्ण रूप में संशय-शंका उत्पन्न हो, वह सांशयिक मिथ्यात्व है । (६९४)

अनाभोगेन निर्वृत्तमनाभोगिक संज्ञिकम् ।

यत्स्यादेकेन्द्रियादीनां मिथ्यात्वं पंचमं तु तत् ॥६९५॥

५- अनाभोग से अर्थात् उपयोग बिना जो हुआ हो उसका नाम अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है । यह मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि जीव को होता है । (६६५)

यस्यां जिनोक्त तत्त्वेषु न रागो नापि मत्सरः ।

सम्यगिमिथ्यात्व संज्ञा सा मिश्र दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥६६६॥

धान्येष्विव नरा नालिकेर द्वीपनिवासितः ।

जिनोक्तेषु मिश्रदृशौ न द्विष्टा नापि रागिणः ॥६६७॥

तथा जिनोक्त तत्त्वों में राग भी न हो एवं द्वेष भी न हो- यह सम्यकत्व मिथ्यात्व नाम की मिश्रदृष्टि कहलाती है। ऐसी मिश्र दृष्टि वाला श्री जिनेश्वर भगवान् के वचन पर राग-द्वेष नहीं रखता है । जैसे नारियल द्वीप में रहने वाले को अनाज के प्रति राग अथवा द्वेष नहीं होता, वैसे उसका होता है । (६६६-६६७)

यदाहुः कर्मग्रन्थकाराः-

जिअ अजि अपुणा पावा सवसंवर बंध मुरूख निजरणा ।

जिणं सहहइ तं सम्मं खइगाइ बहु भेयं ॥६६८॥

मीसा न राग दोषो जिण धम्म अन्तमुहुत्त जहा अत्रे ।

नालीअरदीव मणुणो मिच्छंजिण धम्म विवरीयं ॥६६९॥

इस विषय में कर्म ग्रन्थ के कर्ता ने इस प्रकार कहा है कि- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, बन्ध, मोक्ष और निर्जरा- इन नौ तत्त्वों पर श्रद्धा होनी- इसका नाम सम्यक्दृष्टि है, जिसके क्षायिक आदि अन्य भेद हैं । नारियल द्वीप के मनुष्य को अनाज पर राग अथवा द्वेष नहीं होता, इसी तरह जिन धर्म के विषय में अंतर्मुहूर्त तक राग भी नहीं होता इसी प्रकार द्वेष भी नहीं होता । इसका नाम मिश्र दृष्टि और जिन धर्म से विपरीत आचार मिथ्या दृष्टि है । (६६८-६६९)

गुणस्थान क्रमारोहेत्वेवमुक्तम्-

ज्यात्यन्तर समुद्रभूतिर्वडवाखरयोयेथा ।

गुडदघ्नोः समायोगे रस भेदान्तरं यथा ॥१॥

तथा धर्म द्वये श्रद्धा जायते सम बुद्धितः ।

मिश्रोऽसौ जायते तस्माद्भावो जात्यन्तरात्मकः ॥२॥

गुण स्थानक क्रमारोह में इस तरह कहा है कि- जैसे वडवा अर्थात् घोड़ी का खर-गधे के साथ में संयोग होने से एक अन्य तीसरी ही जाति की उत्पत्ति होती

है, तथा गुड़ और दही के संयोग से और एक अन्य रस की उत्पत्ति होती है। वैसे ही दो धर्मों पर समान श्रद्धा होने से इसमें से एक अन्य जाति रूप मिश्रभाव उत्पन्न होता है । (१-२)

सम्यग्मिथ्यादशः स्तोकास्तौभ्योऽनन्त गुणाधिकाः ।

सम्यग्दशस्ततो मिथ्यादशोऽनन्त गुणाधिकाः ॥७००॥

इति दृष्टि ॥२४॥

सम्यक् मिथ्या दृष्टि वाले जीवों की संख्या सबसे कम है । सम्यक् दृष्टि वालों की संख्या इससे अनन्त गुना है । इससे भी अनन्ता गुना और मिथ्या दृष्टि जीवों की संख्या है । (७००)

इस तरह पच्चीसवां द्वार दृष्टि का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

मति श्रुतावधिमनः पर्यायाण्यथ केवलम् ।

ज्ञाननिर्पंच तत्राद्यमष्टा विंशतिधा स्मृतम् ॥७०१॥

ज्ञान के, पांच भेद हैं- १- मति ज्ञान, २- श्रुत ज्ञान, ३- अवधि ज्ञान, ४- मनः पर्यव ज्ञान और ५- केवल ज्ञान । उसमें प्रथम मति ज्ञान के अट्ठाईस भेद हैं। (७०१)

तथाहि..... अवग्रहेहावायाख्या धारणा चेति तीर्थ पैः ।

मति ज्ञानस्य चत्वारो मूलभेदाः प्रकीर्तिता ॥७०२॥

इसमें प्रथम मति ज्ञान के मूल चार भेद कहे हैं। वें १- अवग्रह, २- इहा, ३- अवाय और ४- धारणा हैं । (७०२)

शब्दादीनां पदार्थानां प्रथम ग्रहणं हि तत् ।

अवग्रहः स्यात्स द्वेषा व्यंजनार्थं विभेदतः ॥७०३॥

शब्दादि पदार्थ का जो प्रथम ग्रहण करना उसका नाम अवग्रह है । वह अवग्रह दो प्रकार का है- व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह (७०३)

व्यज्यते येन सद्भावा दीपेनेव घटादयः।

व्यंजनं ज्ञान जनकं तच्चौपकरणेन्द्रियम् ॥७०४॥

शब्दादि भावमापन्नो द्रव्य संघात एव वा।

व्यज्यते यद् व्यंजनं तदिति व्युत्पत्त्यपेक्षया ॥७०५॥

ततश्च..... व्यंजनैर्व्यंजनानां चः सम्बन्धः प्रथमः स हि ।

व्यंजनावग्रहोऽस्पष्टतरावबोध लक्षणः ॥७०६॥

दीपक जैसे घटादि को, वैसे ही जो होने पर पदार्थ को प्रकट करता है वह व्यंजन है । यह व्यंजन उपकरणेन्द्रिय के साथ में जोड़ने का ज्ञान उत्पन्न करता है। अथवा शब्दादि पुद्गलों का जो समूह हो उसका नाम व्यंजन कहा है क्योंकि 'व्यज्यते तद् व्यंजनम्' ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है और इस तरह होने के कारण व्यंजनों का व्यंजन के साथ प्रथम सम्बन्ध- इसका नाम व्यंजनावग्रह है । अत्यन्त अस्फुट ज्ञान यह इसका लक्षण-व्याख्या है । (७०४ से ७०६)

अस्य च स्वरूपमेवं तत्त्वार्थ वृत्तौ-

"यदोपकरणेन्द्रियस्य स्पर्शनादि पुद्गलैः स्पर्शाद्याकार परिणतैः सम्बन्ध उपजातो भवति तदा किमप्येतदिति गृह्णाति । किन्त्वव्यक्त ज्ञानोऽसौसुक्ष्मत्वादि सूक्ष्माव- बोध सहित पुरुष वदिति । तदा तैः स्पर्शाद्युपकरणेन्द्रिय संश्लिष्टैः या च यावती च विज्ञान शक्तिः आविरस्ति सा एव विधा ज्ञान शक्तिः अवग्रहाख्या ॥ तस्य स्पर्शनाद्यप- करणेन्द्रिय संश्लिष्ट स्पर्शाद्याकार परिणत पुद्गल राशेः व्यंजनावग्रहस्य ग्राहिका अवग्रह इति भण्यते ॥ तेनैतदुक्तं भवति । स्पर्शाद्युपकरणेन्द्रिय संश्लिष्टैः स्पर्शाद्याकार परिणतैः पुद्गलाः भण्यन्ते व्यंजनम् । विशिष्टार्थावग्रह कारित्वात्तस्य व्यंजनस्य परिच्छेदकोव्यक्तोऽवग्रहो भण्यते अपरोऽपि । तस्मान्मानाग् निश्चिततरः किमप्येतदित्येवं विध सामान्य परिच्छेदोऽवग्रहो भण्यते । ततः परमीहादयः प्रवर्तन्ते इति ॥"

इसका स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति में इस तरह कहा है-जब उपकरण इन्द्रिय का स्पर्शादि आकार प्राप्त करते स्पर्शन आदि पुद्गलों के साथ में सम्बन्ध होता है तब कुछ है ऐसा ज्ञान होता है, परन्तु वह ज्ञान निद्रा में पड़े हुए और मद पीये पुरुष को होता है, ऐसा सूक्ष्म-अव्यक्त होता है। स्पर्शन आदि पुद्गलों का स्पर्श आदि उपकरण इन्द्रियों के साथ में इस तरह संश्लेष होने से जो और जितनी ज्ञान शक्ति आविर्भाव प्राप्त करता है यह ज्ञान शक्ति उस अवग्रह अथवा स्पर्श आदि उपकरण इन्द्रियों के साथ में संश्लेष होने से उसका स्पर्श आदि आकार होता है। इस तरह व्यंजन नामक पुद्गल समूह को ग्रहण करने वाली जो शक्ति है उसका नाम अवग्रह है । भावार्थ यह है कि इस प्रकार स्पर्शन आदि उपकरण इन्द्रियों के साथ में संश्लिष्ट होकर परिणाम से स्पर्श आदि आकार प्राप्त करता है, उन पुद्गलों का नाम व्यंजन है तथा एक दूसरा अवग्रह है जो इस व्यंजन का परिच्छेदक है

अर्थात् इसकी सविशेष निश्चय व्याख्या-अर्थ समझाने वाला है । इसके आधार पर व्यक्त अवग्रह कहलाता है । उसके आधार पर 'यह कुछ है' इतना ही कह सकते हैं । ऐसा अल्प निश्चय वाला सामान्य रूप से ही पहिचान सकते हैं वह केवल अवग्रह कहलाता है । इतने अवग्रह के बाद ही इहा आदि प्रवृत्ति होती हैं ।

रत्नावकारिकायां च अवग्रह लक्षणमेवमुक्तम्-

“विषय विषयि सन्निपातनन्तर समुद्भूत सत्ता मात्र गोचर दर्शनात् जात आद्यम् अवान्तर सामान्याकार विशिष्ट वस्तु ग्रहणाम् अवग्रह इति॥ विषयः सामान्य विशेषात्मकः अर्थः। विषयी चक्षुरादिः। तयो समीचीनः भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातः योग्य देशाद्यवस्थानम्। तस्मादनन्तरं समुद्भूतम् उत्पन्नं यत्सत्तामात्र गोचरं निःशेष विशेष वैमुख्येन सन्मात्र विषय दर्शनं निराकारो बोधः तस्माज्जातम् आद्यम् सत्त्वसामान्यादंवातरैः सामान्याकारैः जाति विशेषैः विशिष्टस्य वस्तुनः यद्ग्रहणम् ज्ञानम् तद् अवग्रह इति नाम्ना अभिधीयते इति॥”

“अत्र च प्राच्ययते दर्शनस्य अवकाशं न पश्यामः । द्वितीय मते च व्यंजनाव-
ग्राहवकाशं न पश्यामः। तदत्र तत्त्वं बहुश्रुतेभ्यः अवसेयम् ॥”

“वक्ष्यमाणो वा महाभाष्याभिमतो व्यंजनावग्रहादीनां दर्शस्य वा भेदः
अनुकरणीयः। इत्यलं प्रसंगेन ॥”

रत्नावकारिका में अवग्रह का लक्षण इस प्रकार से कहा है- विषय और विषयी के योग से उत्पन्न हुए सत्ता मात्र गोचर दर्शन से होता है । अवान्तर अन्तर्गत सामान्याकार विशिष्ट वस्तु का प्रथम ग्रहण करना, वह अवग्रह है। विषय अर्थात् सामान्य विशेषात्मक पदार्थ और विषयी अर्थात् चक्षु आदि का है। इस उभय का अल्प मात्र भी संशय न रहे ऐसा अनुकूल सन्निपात अर्थात् योग्य देश में एक स्थान की प्राप्ति होना- उसके बाद उत्पन्न हुई सत्ता मात्र विचार दर्शन अर्थात् सर्व विषयों से पराङ्मुख होने से केवल सत्ता के लिए ही दर्शन अर्थात् बोध होना, इस बोध से उत्पन्न हुआ आद्य-प्रथम समान रूप के आकार वाली मनुष्यत्व आदि जाति से विशिष्ट वस्तु को ग्रहण करना अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना, इसका नाम अवग्रह है ।

यहां प्रथम मत स्वीकार करने से तो दर्शन का अवकाश नहीं दिखता, और दूसरा मत स्वीकार करें तो व्यंजनावग्रह का अवकाश नजर नहीं आता । इसलिए सत्य क्या है, यह बहुश्रुत ज्ञानी पुरुष से समझ लेना ।

अथवा व्यंजन, अवग्रह दर्शन आदि के विषय में महाभाष्य के अन्दर जो मत दिखाया है, उसके अनुसार मानना । यहां तो हमने प्रसंग लेकर इतना कहा है । अधिक कुछ भी नहीं कहना ।

आवर्त्यसंख्येय भागो व्यंजनावग्रहे भवेत् ।

कालमानं लघु ज्येष्ठमानं प्राणपृथक्त्वकम् ॥७०७॥

इस 'व्यंजनावग्रह' में जघन्य एक आवली के असंख्यवें भाग जितना काल होता है और उत्कृष्ट दो से नौ प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास तक काल लगता है । (७०७)

स चतुर्धा श्रोत्र जिह्वा घ्राण स्पर्शन सम्भवः ।

अप्राप्त कारि भावात्स्यात्र चक्षुर्मनसोरसौ ॥७०८॥

व्यंजनावग्रह चार प्रकार का होता है- १- श्रोत्र से, २- जीभ से, ३- घ्राण अर्थात् नासिका से और ४- स्पर्श से। चक्षु या मन से नहीं होता क्योंकि दोनों प्राप्तकारी नहीं हैं- अप्राप्तकारी हैं। (७०८)

शब्दादेर्यः परिच्छेदो मनाक्स्पष्टतरो भवेत् ।

किंचिदित्यात्मकः सोऽयमर्थावग्रह उच्यते ॥७०९॥

कालतोऽर्थावग्रहस्तु स्यादेकसमयात्मकः ।

निश्चयाद्वय वहारात् स स्यादान्तर्मुहूर्त्तिकः ॥७१०॥

यह कुछ है, इस प्रकार से शब्द आदि अधिक स्पष्टता से समझ में आता है वह अर्थावग्रह कहलाता है । इसका काल निश्चय नय से एक समय का है और व्यवहार नय से अन्तर्मुहूर्त्त का होता है । (७०९-७१०)

तस्यैवावगृहीतस्य धर्मान्वेषणरूपिका ।

इहाभवेत्काल मानमस्या अन्तर्मुहूर्त्तिकम् ॥७११॥

यह अवगृहीत हुआ कि तुरन्त ही इसके धर्म की खोज करना, उसका नाम 'इहा' है । इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है । (७११)

अथेहितस्य तस्येदमिदमेवेति निश्चयः ।

अवायो मानयस्यापि स्मृतमन्तर्मुहूर्त्तिकम् ॥७१२॥

इस इहा के बाद 'यह तो यही है' इनका निश्चय हो, उसका नाम अवाय है । इसका कालमान भी अन्तर्मुहूर्त्त का है । (७१२)

निर्णोतार्थस्य मनसा धरणं धारणा स्मृता ।

कालः संख्य उतासंख्यस्तस्या मान भवस्थिते ॥७१३॥

बाल्ये दृष्टं स्मरत्येव पर्यन्तेऽसंख्यजीविनः ।

ततः स्याद्धारणा मानमसंख्यकाल सम्मितम् ॥७१४॥

इस तरह निश्चित किए पदार्थ को अन्तकरण के विषय में धारण करना, उसका नाम धारणा है । इसका कालमान संख्यात् भी है और असंख्यात् भी है क्योंकि असंख्य आयुष्य वाले को बचपन के समय में देखी वस्तु अन्तकाल तक स्मृति में रहती है। इसलिए धारणा की स्थिति असंख्य काल तक रहती है । (७१३-७१४)

यथाहि सन्यते पूर्वं श्रोत्रे शब्द संहतिः ।

ततश्च किंचिद् श्रोषमित्यर्थावग्रहो भवेत् ॥७१५॥

इन सबके दृष्टान्त में इस तरह से कान द्वारा शब्दों का समूह ग्रहण किया जाता है और फिर मैंने कुछ सुना है, इस तरह का भान-चेतना आती है, वह अर्थावग्रह है। (७१५)

ततः स्त्र्यादि शब्द निष्ठं माधुर्यादि विचिन्तयेत् ।

इयमीहा ततोऽवायो, निश्चयात्मा धृतिस्ततः ॥७१६॥

उसके बाद स्त्री आदि के शब्द की और इसमें रही मधुरता आदि की चेतना आती है । वह 'इहा' के बाद निश्चय होता है । वह अवाय है और अन्तिम धारणा होती है । (७१६)

एवं गन्ध रस स्पर्शेष्वपि भाव्या मनीषिभिः ।

घ्राण जिह्वा स्पर्शनानां व्यंजनावग्रहादयः ॥७१७॥

इसी ही तरह घ्राण-नासिका, जीभ और त्वचा भी गंध, रस व स्पर्श विषय में व्यंजनावग्रह आदि भाव आते हैं। (७१७)

व्यंजनावग्रहा भावाच्चाक्षुर्मानसयोः पुनः ।

चत्वारोऽर्थावग्रहाद्या धारणान्ता भवन्ति हि ॥७१८॥

चक्षु और मन को व्यंजनावग्रह का भाव होता है । इससे इनको अर्थावग्रह से लेकर धारणा तक की चार बातें होती हैं। (७१८)

यथा प्रथमतो वृक्षे चक्षु गोचरमागते ।

किं चिदेतदिति ज्ञानं स्यादर्थावग्रहोहायम् ॥७१९॥

इसका दृष्टान्त इस तरह-कभी कोई वृक्ष नजर आ जाये तब प्रथम यह कुछ है ऐसा ज्ञान होता है, इसका नाम अर्थावग्रह है । (७१६)

ततस्तद्गत धर्माणां समीक्षेहा प्रजायते ।

निश्चयस्तरूरेवायमित्यवायस्ततो भवेत् ॥७२०॥

उसके बाद उस वृक्ष के धर्मों का चिन्तन होता है- इसका नाम इहा और फिर यह वृक्ष ही है- इस तरह निश्चय होता है । वह अवाय है । (७२०)

ततस्तया निश्चितस्य धारणं धारणा भवेत् ।

भाव्यते मनसोऽप्येवमथार्थावग्रहादयः ॥७२१॥

उसके बाद इसी तरह निश्चित हुए को धारण कर रखना, उसका नाम धारणा है तथा मन के अर्थावग्रह आदि का भी इसी ही तरह चिन्तन करना । (७२१)

यथाहि विस्मृतं वस्तु पूर्वं किञ्चिदिति स्मरेत् ।

ततश्च तद्गता धर्माः स्मर्यन्ते लीन चेतसा ॥७२२॥

ततश्च तत्तद्धर्माणां स्मरणान्तं हि निश्चयः ।

ततः स्मृत्यानिश्चितस्य पुनस्तस्यैव धारणाम् ॥७२३॥

जैसे कि कोई विस्मृत हुई वस्तु के विषय में 'कुछ था तो सही' इस तरह स्मरण होता है और उसके बाद चित्त की एकाग्रता से तद्गति धर्मों का स्मरण होता है। धर्मों के स्मरण से इसका निश्चय होता है और निश्चय होने के बाद वह निश्चय कायम होता है । (७२२-७२३)

अनिन्द्रियमि नित्तं च मति ज्ञानमिदं भवेत् ।

अतएव त्रिधैतत्स्यादाष्टमिन्द्रिय हेतुकम् ॥७२४॥

अनिन्द्रिय समुत्थं चेन्द्रियानिन्द्रिय हेतुकम् ।

तत्राद्यमेकाक्षादीनां मनोविरहिणां हि यत् ॥७२५॥

इस प्रकार का जो मति ज्ञान है वह इन्द्रिय निमित्त रूप है ही, ऐसा नहीं है इसीलिए उसके तीन भेद हैं । उसमें प्रथम भेद इन्द्रियों हेतु वाला है, दूसरे भेद इन्द्रियों हेतु बिना का है और तीसरा भेद मिश्र वाला है । (७२४-७२५)

केवलं हीन्द्रियनिमित्तकमेव भवेदिदम् ।

अभावान्मनसो नास्ति व्यापारोऽत्र मनागपि ॥७२६॥

इन तीन भेद में से प्रथम प्रकार का मन रहित एकेन्द्रिय आदि जीवों को

होता है क्योंकि उनको इन्द्रियां ही निमित्त रूप हैं । उनको मन का अभाव होता है इसलिए उनको मन का अल्प भी व्यापार नहीं होता । (७२६)

अनिन्द्रिय निमित्तं च स्मृति ज्ञानं निरूपितम् ।

व्यापाराभावतोऽक्षाणां तदक्ष निरपेक्षकम् ॥७२७॥

दूसरा इन्द्रिय जिसमें निमित्त रूप नहीं हैं ऐसा स्मृति ज्ञान हैं, उसमें इन्द्रियों के व्यापार का अभाव होता है । इससे उसे उसकी अपेक्षा नहीं है । (७२७)

ओघ ज्ञानमविभक्त रूपं मदपि लक्ष्यते ।

बल्ल्यादीनां वृत्ति नीत्वाद्यभिसर्पण लक्षणम् ॥७२८॥

तदप्यनिन्द्रिय निमित्तकमेव प्रकीर्त्यते ।

हेतुभावं भजन्तीह नाक्षाणि न मनोऽपि यत् ॥७२९॥ युग्मं।

लता आदि के विषय में यद्यपि लिपट जाना आदि अभिसर्पण लक्षण वाला और अविभक्त रूप वाला ओघज्ञान दिखता है, फिर भी इसमें कुछ भी इन्द्रिय रूप नहीं है। इसमें तो इन्द्रिय या मन का भी कोई हेतु रूप नहीं है। (७२८-७२९)

मत्यज्ञानावरणीयक्षयोपशम एव हि ।

केवलं हेतुतामोघ ज्ञानेऽस्मिन्नश्नुते च यत् ॥७३०॥

इस ओघ ज्ञान के अन्दर तो केवल मति ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम ही हेतु-भूत है। और कुछ नहीं है । (७३०)

यत् जगदवस्थायामुपयुक्तस्य चेतसा ।

स्पर्शादि ज्ञानमेतच्चोन्द्रियानिन्द्रिय हेतुकम् ॥७३१॥

इदमर्थं तत्त्वार्थं वृत्तौ ॥

तीसरा मिश्र, जाग्रत अवस्था में, उपयुक्त चित्त वाले को जो स्पर्श आदि का ज्ञान होता है उसमें इन्द्रिय और अनिन्द्रिय दोनों निमित्त रूप हैं इसलिए वह मिश्र कहलाता है। (७३१)

ये सब बात तत्त्वार्थ सूत्र की वृत्ति में कही हैं।

अथ प्रकृतम् ।

एवमर्थावग्रहेहे अवाय धारणे इह ।

स्युश्चतुर्विंशतिः षड्भिर्हता इन्द्रिय मानसैः ॥७३२॥

व्यंजनावग्रहेः पूर्वोदितैश्चतुर्भिरन्विताः ।

स्युस्तेऽष्टा विंशतिर्भेदा मति ज्ञानस्य निश्चिताः ॥७३३॥

अब मूल विषय में आते हैं- अर्थावग्रह, इहा, अवाय और धारणा को पांच इन्द्रिय और छठा मन- इन छह से गुणा करने से मति ज्ञान के चौबीस भेद होते हैं और इसमें पूर्वोक्त व्यंजनावग्रह के चार भेद मिलाने पर कुल अट्ठाईस भेद होते हैं। (७३२-७३३)

भगवती वृत्तौ तु:-

षोडश श्रोत्रादि भेदे नावायश्च धारणापि च ।

इत्येवं द्वादश विधं मति ज्ञानमुदाहृतम् ॥७३४॥

द्वादशोहावग्रहयोश्चत्वारो व्यंजनस्य च ।

उक्ता भेदाः षोडशैते दर्शने चक्षुरादिके ॥७३५॥

श्री भगवती सूत्र की वृत्ति में तो श्रोत्र आदि पांच इन्द्रिय और छठा मन इस तरह छह लेकर प्रत्येक के अवाय और धारणा ये दो भेद करने से बारह भेद होते हैं। ये बारह भेद मति ज्ञान के कहे हैं। और चक्षु आदि दर्शन के सोलह भेद कहे हैं। वह इहा और अर्थावग्रह को लेकर बारह भेद होते हैं और व्यंजनावग्रह आदि चार भेद से कुल सोलह भेद होते हैं। (७३४-७३५)

यदाह भाष्यकारः-“नाणाम् अवायधिद्वयो दंसणमिदं जहो ग्रहोहाओ॥”

अर्थात् भाष्यकार का भी कहना है कि-अवाय और धारणा ये ज्ञान हैं और अवग्रह तथा इहा ये दर्शन हैं।

नन्वष्टाविंशति विधं मति ज्ञानं यदागमे ।

जेगीयते तन्न कथमेवमुक्ते विरुध्यते ॥७३६॥

यहां शिष्य शंका करते हैं कि-शास्त्र में तो मति ज्ञान के अट्ठाईस भेद कहे हैं और आप तो इस तरह कहते हो, यह तो विरोधी बात कहलाती है। (७३६)

अत्रोच्यते..... मति ज्ञान चक्षुरादि दर्शनानां मिथो भिदम् ।

अविवक्षित्वैव मतिमष्टाविंशतिथा विदुः ॥७३७॥

इस शंका का समाधान करते हैं १- मति ज्ञान और २- चक्षु आदि दर्शन, इन दोनों के बीच भेद नहीं समझकर मति ज्ञान अट्ठाईस प्रकार का गिना है। (७३७)

किं च एकैकश्च प्रकारोयं द्वादशधा विभिद्यत ।

ज्ञानस्या ततो भेदाः स्युः षट्त्रिंशं शतत्रयम् ॥७३८॥

ये अट्ठाईस भेद कहे, उसके प्रत्येक के बारह-बारह उपभेद कहे हैं । इस गिनती से मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद भी कहे हैं । (७३८)

तथोक्तं तत्त्वार्थ भाष्ये- “एवमेतन्मति ज्ञानं द्विविधं चतुर्विधं अष्टाविंशति विधं अष्ट षष्ट युत्तरशतविधं षट्त्रिंश त्रिंशत्र विधं च भवति इति॥”

तत्त्वार्थ भाष्य में सुद्धा मति ज्ञान दो प्रकार का, चार प्रकार का, अट्ठाईस प्रकार का, एक सौ सड़सठ प्रकार का और तीन सौ छत्तीस प्रकार का कहा है।

ते चैवम् बहुबहु विधान्यक्षिप्राक्षिप्राख्यानिश्चिततदन्याः।

संदिग्धा संदिग्ध ध्रुवा ध्रुवाख्या मतेर्भेदाः ॥७३९॥

जो बारह उपभेद कहे हैं वह इस तरह- १- बहु, २- बहुविध, ३- अबहु, ४- अबहुविध, ५- क्षिप्र, ६- अक्षिप्र, ७- निश्चित, ८- अनिश्चित, ९- संदिग्ध, १०- असंदिग्ध, ११- ध्रुव और १२- अध्रुव हैं। (७३९)

तथाहि..... आस्फालिते तूर्य वृन्दे कश्चिद्यथैकहेलया ।

भेरी शब्दा इयन्तोऽथैतावन्तः शंख निःस्वनाः॥७४०॥

इत्थं पृथक्पृथक् गृह्णन् बहु ग्राही भवेदथ ।

ओघतोऽन्यस्तूर्य शब्दं गृह्णन्न बहुविद् भवेत् ॥७४१॥ (युग्म।)

दृष्टान्त रूप में अनेक बाजे बजते हों उस समय कोई मनुष्य 'इतने भेरी के शब्द हैं और इतने शंख के शब्द हैं' इस तरह अलग-अलग ग्रहण करके कहता है। यह 'बहुग्राही' ज्ञान कहलाता है। परन्तु कोई इस तरह नहीं कह सकता, परन्तु अधिकतः बाजों के शब्द ग्रहण करके इसकी संख्या कहे, वह अबहुग्राही ज्ञान कहलाता है । (७४०-७४१)

माधुर्यादि विविध बहु धर्म युक्तं वेत्ति यः स बहुविधचित् ।

अबहु विधचित्तु शब्दं वेच्ये कद्धयादि धर्म युतम् ॥७४२॥

तथा उन बाजों के शब्दों की मधुरता आदि नाना प्रकार के अनेक धर्मों को जानकर मनुष्य बहुविध ग्राही कहलाता है। परन्तु उस शब्द के अमुक एक या दो ही धर्म का जानकार हो वह अबहुविध ग्राही कहलाता है । (७४२)

वेत्ति कश्चिदचिरेण चिरेणान्यो विमृश्य च ।

क्षिप्राक्षिप्रग्राहिणो तौ निर्दिष्टव्यौ यथा क्रमम् ॥७४३॥

इसमें भी जो व्यक्ति इन सबको तुरन्त ही समझ जाये वह क्षिप्र ग्राही कहलाता है और जो बहुत समय विचार करे तब ही समझ सकता हो वह अक्षिप्र ग्राही कहलाता है। (७४३)

लिंगापेक्षं वेत्ति कश्चिद् ध्वजेनैव सुरालयम् ।

स भवेत्त्रिश्रित ग्राही परो लिंगानपेक्षया ॥७४४॥

तथा जो व्यक्ति ध्वजा या ऐसी किसी निशानी से ही 'यह मंदिर है' इस तरह समझ सकता है वह 'निश्रित ग्राही' कहलाता है और जो ऐसी किसी भी निशानी बिना ऐसी वस्तु अथवा स्थान को पहिचान ले वह 'अनिश्रित ग्राही' कहलाता है। (७४४)

निःसंशयं यस्तु वेत्ति सोऽसंदिग्ध विदाहितः।

ससंशयमस्तु वेत्ति संदिग्ध ग्राहको हि सः ॥७४५॥

और जो मनुष्य अमुक वस्तु को निः संशय अर्थात् अल्प भी संदेह बिना जानता है या समझता है वह असंदिग्ध ग्राही है और जो ससंशय अर्थात् अनिश्चय रूप में- संदेह रहे इस तरह जानता हो वह संदिग्ध ग्राही कहलाता है। (७४५)

ज्ञाते य एकदा भूयो नोपदेशमपेक्षते ।

ध्रुव ग्राही भवेदेष तदन्योऽध्रुव विद् भवेत् ॥७४६॥

अमुक वस्तु का एक बार ज्ञान मिलने के बाद उस विषय में पुनः पूछने की जिसको आवश्यकता नहीं रही वह ध्रुवग्राही कहलाता है और जिसे पुनः-पुनः उपदेश की आवश्यकता पड़े वह अध्रुवग्राही कहलाता है। (७४६)

नन्वेकसमय स्थायी प्रोक्तः पाच्यैरवग्रहः ।

संभवन्ति कथं तत्र प्रकारा बहुतादय ॥७४७॥

यहां यह प्रश्न उठता है कि पूर्व पुरुषों ने यह अवग्रह एक समय स्थायी कहा है तो फिर इसके बहुता आदि भेद किस तरह हो सकते हैं ? (७४७)

सत्यमेतन्मतः किन्तु द्विविधोऽवग्रहः श्रुते ।

निश्चयात्क्षणिको व्यावहारिकश्चामित क्षणः ॥७४८॥

अपेक्ष्यावग्रहं भाव्यास्ततश्च व्यावहारिकम् ।

भेदा यथोक्ता बहुतादयो नैश्रयिके तु न ॥७४९॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि-तुम्हारा प्रश्न योग्य है, परन्तु यह अवग्रह निश्चय नय से एक समय स्थायी है और व्यवहार की अपेक्षा से अनेक समय स्थायी कहा है। इस तरह इसके दो भेद हैं। अर्थात् दूसरे भेद के अनुसार अनेक समय स्थायी लेने से अर्थात् इसके बहुता आदि भेद संभव हैं। पहले निश्चय नय के भेद अनुसार तो नहीं होता। (७४८-७४९)

तथोक्तं तत्त्वार्थं वृत्तौ- "ननु च अवग्रह एक सामायिकः शास्त्रे निरूपितः । न च एकस्मिन् समये चैव एकोऽवग्रह एवं विधः युक्तः अल्प कालत्वात् इति ॥ उच्यते । सत्यमेव एतत् । किन्तु अवग्रहः द्विधा नैश्चयिकः व्यावहारिकश्च । तत्र नैश्चयिको नाम सामान्य परिच्छेदः स च एक सामायिकः शास्त्रेऽभिहितः । ततः नैश्चयिकादनन्तरं ईहा एवमात्मिका प्रवर्तते किमेषः स्पर्शः उत अस्पर्शः इति । ततश्च अनन्तरः अवायः स्पर्शोऽयमिति । अयं च अवायः अवग्रहः इति उपचर्यते ॥ यस्मात् एतेन आगामिनः भेदान् अंगीकृत्य सामान्यं अवच्छिद्यते । यतः पुनः एतस्मात् ईहा प्रवर्तिष्यते कस्यायं स्पर्शः ततश्च अवायो भविष्यति अस्यायमिति । अयमपि अवायः पुनः अवग्रह इति उपचर्यते ॥ अतः अन्तर वर्तिनीम् ईहाम् अवायं च आश्रित्य एवं यावत् अस्यान्ते निश्चयः उपजातः भवति (यत्र अपरं विशेषं न आकांक्षति इत्यर्थः) अवाय एव भवति न तत्र उपचारः इति । अतः एष औपचारिकः अवग्रहः तम अंगीकृत्य बहु अवग्रह्णाति इत्येत- दुच्यते । न तु एक समय वर्तिनं नैश्चयिकं (अंगीकृत्य) इति । एवं सर्वत्र औपचारिका- श्रयणात् व्याख्येयमिति ॥ "

इस संबन्ध में तत्त्वार्थ वृत्ति में इस तरह कहा है कि- "शास्त्र में अवग्रह को एक समय स्थायी कहा है तो इतने अल्पकाल में बहुता आदि गुण इसमें संभव होना अशक्य है। ऐसा प्रश्न कोई व्यक्ति करता है तो इसका उत्तर इस तरह देते हैं- तुम्हारा प्रश्न योग्य है। परन्तु अवग्रह के दो भेद हैं १- नैश्चयिक और २- व्यावहारिक- उसमें नैश्चयिक अर्थात् सामान्य परिच्छेद रूप है और वह एक समय स्थायी है। इस नैश्चयिक के बाद यह स्पर्श है या अस्पर्श है ऐसी ईहा होती है, फिर संदेह खत्म होता है 'यह तो स्पर्श ही है' इस तरह ज्ञान होता है। इसका नाम अवाय है, इस अवाय का उपचारिक नाम ही अवग्रह है क्योंकि इससे सामान्य का परिच्छेद आगामी भेद को स्वीकार करते हैं। क्योंकि स्पर्श का निश्चय होता है, फिर यह किसका स्पर्श है ऐसा जानना वह ईहा होगा। और उसके बाद ही यह अमुक प्रकार का स्पर्श है, ऐसा निश्चय अवाय होता है। यह अवाय भी उपचार से अवग्रह कहलाता है। इसलिए ही बीच में रहा ईहा

और अवाय के आश्रित को इस तरह अन्त में निश्चय होता है अर्थात् अन्य विशेष की जब आकांक्षा नहीं रहती और केवल अवाय ही रहता है, तब उपचार नहीं होता ! इस कारण से जो यह औपचारिक अवग्रह होता है उसे स्वीकार करते हैं तब बहु अवग्रह करता है- इस तरह कहलाता है, एक समय स्थायी नैश्चयिक के आश्रित को नहीं कहलाता है! इस तरह से सर्वत्र उपचार के आश्रय से समझना चाहिए ।

औत्पात्तिकी वैनयिकी कार्मिकी पारिणामिकी ।

आभिः सहामी भेदाः स्युः चत्वारिंशं शत त्रयम् ॥७५०॥

उत्पत्तिकी, विनयिकी, कार्मिकी और परिणामिकी- इन चार भेद को मिलाने से मति ज्ञान के तीन सौ चालीस भेद होते हैं । पूर्व में ७३६ वें श्लोक में तीन सौ छत्तीस भेद गिनाए हैं, उनमें ये चार मिलाने से होते हैं । (७५०)

न दृष्टो न श्रुतश्च प्राग मनसापि न चिन्तितः ।

यथार्थस्तक्षणादेव ययार्थो गृह्यते धिया ॥७५१॥

लोक द्वया विरुद्धा सा फलेनाव्यभिचारिणी ।

बुद्धिरीत्यत्तिकी नाम निर्दिष्टा रोहकादिवत् ॥७५२॥ (युग्मं।)

पूर्व में देखा अथवा सुना भी न हो, मन में चिन्तन किया भी न हो, ऐसा कोई भी पदार्थ हो- उसे जो बुद्धि से सहसा ग्रहण कर सके, उभय लोक की अविरोधी हो, निर्णीत फल देने वाली हो वह रोहक आदि के समान बुद्धि हो, वह उत्पत्तिकी बुद्धि कहलाती है। (७५१-७५२)

गुरुणां विनयात्प्राप्ता फलदात्र परत्र च ।

धर्मार्थं कामशास्त्रार्थं पटुः वैनयिकी मतिः ॥७५३॥

गुरु महाराज के विनय से उत्पन्न हुई उभय लोक को सफल करने वाली और धर्म, अर्थ, काम तथा शास्त्रार्थ के विषय में तीव्रता वाली बुद्धि 'विनयिकी' बुद्धि कहलाती है । (७५३)

निमित्तिकस्य शिष्येण विनीतेन यथोदितः ।

स्थविरायाः घटध्वंसे सद्यः सुतसमागमः ॥७५४॥

एक स्थविर-उम्र लायक वृद्ध का घड़ा फूट गया, उस पर एक निमित्त वाले विनय युक्त शिष्य ने कहा कि- जल्दी इसको पुत्र का मिलन होगा । यह विनयिकी बुद्धि का दृष्टान्त समझना । (७५४)

शिल्पमाचार्योपदेशाल्लब्धं स्यात्कर्म च स्वतः ।

नित्य व्यापारश्च शिल्पं कादाचित्कं तु कर्म वा ॥७५५॥

या कर्माभिनवेशोत्थ लब्धतत्परमार्थिका ।

कर्माभ्यास विचाराभ्यां विस्तीर्णा तद्यशः फला ॥७५६॥

तत्तत्कर्म विशेषेषु समर्था कार्मिकी मतिः।

केषुचिद् दृश्यते सा च चित्रकारादि कारूषु ॥७५७॥ (युग्मा)।

आचार्य के उपदेश से प्राप्त हुआ हो वह शिल्प और स्वतः प्राप्त किया हो वह कर्म अथवा नित्य का व्यापार आदि शिल्प, तथा किसी ही दिन करे वह कर्म, कर्म के विषय-अमुक कार्य के विषय में अत्यंत सावधानी रखने से उसमें उसका परम रहस्य प्राप्त कराने वाले अभ्यास और विचार से विस्तार प्राप्त करने वाली, इसका यश रूपी फल प्राप्त कराने वाली और अनेक नाना प्रकार के कार्यों को करने की सामर्थ्य प्राप्त कराने वाली बुद्धि कार्मिका बुद्धि कहलाती है और वह चित्रकार आदि कलाकारों में दिखती है । (७५५ से ७५७)

सुदीर्घ कालं यः पूर्वापरार्था लोचनादिजः।

आत्मधर्मः सोऽत्र परिणामस्तत्प्रभवा तु या ॥७५८॥

अनुमान हेतु मात्र दृष्टान्तैः साध्य साधिका।

वयो विपाकेन पुष्टीभूताभ्युदय मोक्षदा ॥७५९॥

अभयादेरिव ज्ञेया तुर्या सा परिणामिकी।

आभ्योऽधिका पंचमी तु नाहंताप्युपलभ्यते ॥७६०॥

विशेषकम्।

चिरकाल तक पदार्थों का ऊहापोह (तर्क-वितर्क या सोच विचार) करने से परिणाम रूप आत्म धर्म से उत्पन्न हुआ । केवल अनुमान हेतु रूप दृष्टान्तों से ही साध्य को सिद्ध करने वाली उम्र की वृद्धि के साथ-साथ में पुष्ट हो जाये और अभ्युदय होने से मोक्ष देने वाली अभयकुमार आदि के समान बुद्धि चौथी परिणामी की नाम की बुद्धि कहलाती है। इससे अधिक कोई और बुद्धि नहीं है । वह तीर्थंकर परमात्मा को भी उपलब्ध नहीं होती। (७५८ से ७६०)

यद् द्वैधैव मति लोके प्रथमा श्रुत निश्चिता।

शास्त्रं संस्कृत बुद्धेः सा शास्त्रार्था लोचनानोद्भवा ॥७६१॥

सर्वथा शास्त्र संस्पर्शरहितस्य तथाविधात् ।

क्षयोपशमतो जाता भवेदश्रुत निश्चिता ॥७६२॥

लोक में केवल दो प्रकार की बुद्धि कहलाती है १- श्रुत निश्चित और २- अश्रुत निश्चित। उसमें प्रथम शास्त्रार्थ विचार करने से उत्पन्न होती है और उस शास्त्र के संस्कार प्राप्त करने वालों में होती है। अन्य अश्रुत निश्चित नाम की है। यह शास्त्र का अल्प मात्र भी संस्कार जिसमें नहीं होता उसको होती है और वह किसी प्रकार के क्षयोपशम से होती है। (७६१-७६२)

सर्वाप्यन्तर्भवत्त्यस्मिन् मतिरश्रुत निश्चिता ।

यथोक्तधी चतुष्केऽतः पंचम्या नास्ति सम्भवः ॥७६३॥

इदमर्थतो नन्दी सूत्र वृत्ति स्थानांग सूत्र वृत्त्यादिषु ॥

सर्वश्रुत अश्रुत निश्चित बुद्धि के भेद जो ऊपर कहे गये हैं वह चार प्रकार की बुद्धि में समावेश हो जाते हैं। इसलिए इन चार के उपरांत कोई पांचवां भेद संभव नहीं होता है। (७६३)

नन्दी सूत्र की वृत्ति स्थानांग सूत्र की वृत्ति आदि में भी इसी प्रकार ही कहा है।

जाति स्मृतिष्यतीत संख्यात भवबोधिका ।

मति ज्ञानस्यैव भेदः स्मृतिरूप तथा किल ॥७६४॥

निर्गमन किए संख्यातवें जन्मों का स्मरण करने वाला जाति स्मरण ज्ञान है- वह स्मरण रूप होने के कारण मति ज्ञान का ही एक भेद है। (७६४)

यदाहाचारांगटीका- "जाति स्मरण तु आभिनि बोधिकाविशेष इति।

..... इति मति ज्ञानम् ॥"

आंचारांग सूत्र की टीका में कहा है कि- जाति स्मरण एक प्रकार का अभिनिबोधन अर्थात् मति ज्ञान है। इस तरह मति ज्ञान का स्वरूप समझना।

श्रूयते तत्श्रुतं शब्दः स श्रुतज्ञानमुच्यते।

भाव श्रुतस्य हेतुत्वा द्वेतौ कार्योपचारतः ॥७६५॥

श्रुताच्छब्दादुत ज्ञानं श्रुतज्ञानं तदुच्यते।

श्रुत ग्रंथानुसारी यो बोधः श्रोत्रमनः कृतः ॥७६६॥

अब पांच प्रकार के ज्ञान में से दूसरे प्रकार- श्रुत ज्ञान के विषय में कहते

हैं। श्रूयते तत् श्रुतम्- ऐसी श्रुत की व्युत्पत्ति है। श्रुत अर्थात् शब्द, यही शब्द ही श्रुत ज्ञान है अथवा यह श्रुत ज्ञान भाव श्रुत का हेतु है, इससे यदि हेतु के विषय काय का उपचार करे तो 'श्रुतात्-शब्दात् ज्ञानम् श्रुत ज्ञानम्' इस तरह भी अर्थ किया जाता है। श्रुत ग्रंथ अर्थात् शास्त्र के ग्रन्थ, इसके अनुसार जो बोध होता है वह श्रोत्र और मन उभय से होता है। (७६५-७६६)

ननु श्रुत ज्ञानमपि श्रोत्रेन्द्रिय निमित्तकम् ।

तन्मति ज्ञानतः कोऽस्य भेदो यत्कथ्यते पृथक् ॥७६७॥

यहां शंका करते हैं कि-श्रुत ज्ञान को भी जब कर्णेन्द्रिय निमित्त रूप है तो फिर इसका मति ज्ञान से पृथक् भेद करने का क्या कारण है ? (७६७)

अत्रोच्यते - वर्तमानार्थं विषयं मति ज्ञानं पर ततः।

गरीयो विषयं त्रैकालिकार्थं विषयं श्रुतम् ॥७६८॥

विशुद्धं च व्यवहितानेक सूक्ष्मार्थं दर्शनात् ।

छद्मस्थोऽपि श्रुत बलादुच्यते श्रुत केवली ॥७६९॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि- मति ज्ञान का विषय वर्तमान पदार्थ है, परन्तु श्रुत ज्ञान तो तीन काल के पदार्थों को बताने वाला है और इसका विषय अति विस्तार वाला है, तथा यह अनेक सूक्ष्म पदार्थों को दिखाने वाला होने से विशुद्ध है। श्रुत ज्ञान के बल से छद्मस्थ प्राणी भी श्रुत केवली कहलाते हैं। (७६८-७६९)

तदुक्तम् "नाणं अणाइ सेसी वियाणइ एस छउमत्थोत्ति॥"

अर्थात् कहा है कि मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान- ये अनतिशायी ज्ञान कहलाते हैं, शेष तीन अतिशायी कहलाते हैं। वह छद्मस्थ कहलाता है।

जीवस्य ज्ञ स्वभावत्वान्मतिज्ञानं हि शाश्वतम् ।

संसारे भ्रमतोऽनादौ पतितं न कदापि यत् ॥७७०॥

अक्षरस्यानन्त भागो, नित्योद्घाटित एव हि ।

निगोदिनामपि भवेदित्येतत्पारिणामिकम् ॥७७१॥

जानना यह जीव का स्वभाव है, इससे मति ज्ञान शाश्वत कहलाता है क्योंकि अनदि संसार में भ्रमण करते इस जीव का ज्ञान कभी भी नहीं जाता, अक्षर के अनंतवें भाग जितना तो सर्वदा खुला रहता है। अतः निगोद के जीव को भी वह परिणाम होता है। (७७०-७७१)

यदागमः- "सर्व्व जीवाणं पि अणं अख्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिद्दुइ । जइ सोपि आवेरज्जा ता जीवो अजीवत्तणं पावेज्जा ॥ इति ॥"

आगम में कहा है कि- 'सर्व्व जीवों के लिए अक्षर का अनन्तवां भाग नित्य ज्ञान रहता है । यह यदि आच्छादित हो जाये तो जीव में जीवत्व रहता नहीं है- वह अजीवत्व प्राप्त करता है।'

श्रुतज्ञानं पुननैवं भवेज्जीवस्य सर्व्वदा ।

आप्तोपदेशापेक्षं यत्स्यादेतन्मति पूर्व्वकम् ॥७७२॥

परन्तु यह श्रुतज्ञान जीव को सर्व्वदा नहीं होता क्योंकि वह तो बुद्धिपूर्व्वक आप्त पुरुष के उपदेश की अपेक्षा से रहता है। (७७२)

मतिज्ञानं स्पर्शनादीन्द्रियानिन्द्रिय हेतुकम् ।

श्रुतं तु स्याल्लब्धितोऽपि पदानुसारिणामिव ॥७७३॥

इत्यादि। अधिकं तत्त्वार्थं वृत्त्यादिभ्यः अवज्ञेयम् ॥

तथा मति ज्ञान को स्पर्शन आदि इन्द्रिय और मन ये दोनों कारण हेतु-भूत हैं और श्रुत ज्ञान तो पदानुसारी लब्धि वाले की लब्धि से ही संभव होता है । (७७३)

इन कारणों से मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान दोनों के दो अलग भेद गिने हैं वह युक्त है। इस विषय में विशेष जानने की इच्छा वाले को तत्त्वार्थ वृत्ति आदि ग्रन्थों में से जान लेना चाहिए ।

चतुर्दशविधं तच्च यद्वाविंशतिधा भवेत् ।

चतुर्दश विधत्वं तु तत्रैवं परिभाष्यते ॥७७४॥

यह श्रुत ज्ञान चौदह प्रकार का है अथवा इसके बीस भेद भी कहे हैं । जो चौदह भेद कहे जाते हैं, वे इस प्रकार से हैं । - (७७४)

अक्षरश्रुतमित्येकं स्याद् द्वितीयमक्षरम् ।

तार्त्तीयिकं संज्ञिश्रुतं तुर्यं श्रुतमसंज्ञिनः ॥७७५॥

सम्यक् श्रुतं पंचमं स्यात् षष्ठं मिथ्याश्रुतं भवेत् ।

सादिश्रुतं सप्तमं स्यादनादि श्रुतमष्टमम् ॥७७६॥

सान्तश्रुतं तु नवममनन्तं दशमं श्रुतम् ।

एकादशं गमरूपमगमं द्वादशं पुनः ॥७७७॥

त्रयोदशं त्वंगरूपमंगबाह्यं चतुर्दशम् ।

प्रायो व्यक्ता अमी भेदास्तथापि किञ्चिदुच्यते ॥७७८॥

१- अक्षर श्रुत, २- अनक्षर श्रुत, ३- संज्ञि श्रुत, ४- असंज्ञि श्रुत, ५- सम्यग् श्रुत, ६- मिथ्या श्रुत, ७- सादि श्रुत, ८- अनादि श्रुत, ९- सान्त श्रुत, १०- अनन्त श्रुत, ११- गम श्रुत, १२- अगम श्रुत, १३- अंगरूप श्रुत और १४- अंग बाह्य श्रुत, ये चौदह भेद प्रायः व्यक्त हैं तथापि इनके सम्बन्ध में कुछ कहते हैं । (७७५ से ७७८)

तत्राक्षरं त्रिधा संज्ञाव्यंजनलब्धि भेदतः।

तत्र संज्ञाक्षरमेता लिपयोऽष्टादशोदिताः ॥७७९॥

उसमें प्रथम अक्षर श्रुत तीन प्रकार का है- संज्ञा, व्यंजन और लब्धि इसमें संज्ञाक्षर है । वह अठारह प्रकार की लिपि रूप है । (७७९)

वह इस प्रकार-

तथापि..... हंस लिपी भूअ लिपी जख्खा तह रख्खसीय बोधव्वा।

उड्डी जवणी तुरक्की कीरा दधिडी य सिंधविआ ॥१॥

मालविणी नडि नागरी लाडलिपी पारसीय बोधव्वा ।

तह अनिभिन्तीअ लिपी चाणक्की मूलदेवी य ॥२॥

१- हंस लिपि, २- भूत लिपि, ३- यक्ष लिपि, ४- राक्षसी लिपि, ५- उड्डी लिपि, ६- यवनी लिपि, ७- तुर्की लिपि, ८- कीरा लिपि, ९- द्राविड लिपि, १०- सिंधी लिपि, ११- मालवी लिपि, १२- नडी लिपि, १३- नागरी लिपि, १४- लाट लिपि, १५- पारसी लिपि, १६- अनियमित लिपि, १७- चाणक्य लिपि, १८- मूलदेवी लिपि। अर्थात्; ये अठारह प्रकार की लिखावट हैं । (१-२)

अकारादिहकारान्तं भवति व्यंजनाक्षरम् ।

अज्ञानात्मकमप्येतद् द्वयं स्यात् श्रुत कारणम् ॥७८०॥

ततः श्रुतज्ञान तथा प्रज्ञप्तं परमर्षिभिः ।

लब्ध्यक्षरं त्वक्षरोपलब्धिरर्थावबोधिका ॥७८१॥

अकार से लेकर हकार तक व्यंजनाक्षर हैं । संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर दोनों ही अज्ञानात्मक हैं, फिर भी श्रुतज्ञान का कारण रूप हैं । तथा इसके लिए पूर्वाचार्यों ने इसको श्रुत ज्ञान रूप में प्रसिद्ध किया है । तथा अर्थ का ज्ञान

कराने वाले अक्षरों की जो उपलब्धि है वह तीसरा लब्धक्षर श्रुत ज्ञान कहलाता है । (७८०-७८१)

तच्च लब्धक्षरं षोढा यत् श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः ।

बोधोऽक्षरानुविद्धं स्याच्छब्दार्था लोचनात्मकः ॥७८२॥

यथा शब्द भ्रवणतो रूप दर्शनतोऽथवा ।

देवदत्तोयमित्येवं रूपो बोधो भवेदिह ॥७८३॥

एवं शेषेन्द्रियस्य भावना कार्या॥

यह लब्धि अक्षर श्रुत ज्ञान छह प्रकार का है, क्योंकि अक्षर को अनुबद्ध रूप में शब्दार्थ समझने रूप बोध श्रोत्र आदि पांच इन्द्रिय और छठा मन- इस तरह छह के द्वारा होता है। जैसे कि 'देवदत्त' का शब्द सुनने से अथवा उसका रूप देखने से 'यह देवदत्त है' इस प्रकार बोध-ज्ञान होता है। (७८२-७८३)

इसी तरह अन्य इन्द्रियों की भावना करना।

तैरक्षरैरभिलाष्य भावानां प्रतिपादकम् ।

अक्षर श्रुतमुद्दिष्टमनक्षरश्रुतं परम् ॥७८४॥

इस तरह संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर और लब्धि अक्षर- इन तीनों अक्षरों द्वारा वाणीगम्य पदार्थ का प्रतिपादन करने वाला जो ज्ञान है वह अक्षर श्रुत कहलाता है और शेष अनक्षर श्रुत कहलाता है। (७८४)

तथोक्तम्- ऊससिअं नीससिअं निच्छुरं खासिअं च छीअं च ।

निस्संधियमणुसारं अणख्खरं छेलिया इयं ॥७८५॥

इस विषय में यह कहा है कि- क्षास लेना, निःक्षास छोड़ना, खांसी आना, थूकना, नाक से छींकना, हुंकार करना, चपटी (ताली) बजाना इत्यादि अनक्षर श्रुत ज्ञान है। (७८५)

अर्थ भावः.... कामितक्ष्वेडिताद्यं यन्मामाह्वयति वक्ति वा ।

इत्याद्यन्याशय ग्राहि तत्स्यात् श्रुतमनक्षरम् ॥७८६॥

इसका भावार्थ इस तरह है- कोई व्यक्ति मुझे बुला रहा है अथवा मुझे कुछ कह रहा है इत्यादि अन्य का आशय समझने वाला कांखना, आवाज करना इत्यादि ज्ञान अनक्षर श्रुत ज्ञान कहलाता है । (७८६)

इह च शिरः कम्पनादि चेष्टानां पराभिप्रायज्ञान हेतुत्वे सत्यपि श्रवणाभावात् श्रुतत्वम् ॥

यहां मस्तक हिलाना आदि चेष्टाएं जो कि दूसरे के अभिप्राय को जानने में हेतुभूत हैं; फिर भी वे चेष्टाएं किसी को सुनाई नहीं देतीं इससे उनमें श्रुतत्व नहीं है ।

तदुक्तं विशेषावश्यक सूत्र वृत्तौ-

“रूटीइतं सुअं सुच्च इति। चेष्टा न सुच्चइ कया विति ॥”

विशेषावश्यक सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- रूटित अर्थात् शब्द-आवाज, वह श्रुतत्व का सूचक है, चेष्टा कभी भी यह सूचना नहीं करती है ।

“उक्त न्यायेन श्रुतत्व प्राप्तो समानीयतायामपि तदेवोच्छसितादि श्रुतं न शिरोधून नकर चलनादि चेष्टा। यतः शास्त्रज्ञ लोक प्रसिद्ध रूढिरियमिति॥”

उक्त न्याय से श्रुतत्व की प्राप्ति होने पर भी यही उच्छ्वास, निश्वास आदि श्रुत कहा जाता है । मस्तक हिलाना, हाथ हिलाना आदि चेष्टा को श्रुत कहा नहीं जाता । क्योंकि शास्त्रज्ञ जनों की यह प्रसिद्ध रूढ़ि है ।

“कर्मग्रन्थ वृत्तौ तु शिरः कम्पनादीनामपि अनक्षर श्रुतत्वमुक्तम्।” तथा च तद्ग्रन्थ अनक्षर श्रुतं क्ष्येडित शिरः कम्पनादिनिमित्तं मामाह्वयति वारयति वा इत्यादि रूपं अभिप्राय परिज्ञानमिति ॥

कर्म ग्रन्थ की वृत्ति में शिर हिलाना आदि भी अनक्षर श्रुत में गिना है। देखो वहां कहा है- ‘खंखारा करना, शिर हिलाना आदि निमित्त वाला अथवा मुझे बुला रहा है और निषेध कर रहा है इत्यादि रूप अभिप्राय का परिज्ञान-यह अनाक्षर श्रुत है ।’

स्याद्दीर्घ कालिकी संज्ञा येषां ते संज्ञिनोमताः ।

श्रुतं संज्ञि श्रुतं तेषां परं त्व संज्ञिक श्रुतम् ॥७८७॥

सम्यक् श्रुतं जिन प्रोक्तं भवेदावश्यककादिकम् ।

तथा मिथ्या श्रुतमपि स्यात्सम्यक् परिग्रहात् ॥७८८॥

आवश्यकं तदपरमिति सम्यक् श्रुतं द्विधा ।

षोढा चावश्यकं तत्र सामायिकादि भेदतः ॥७८९॥

जिसको दीर्घकाल की संज्ञा हो उसे संज्ञि कहते हैं और जिसको श्रुत

भी हो- वह संज्ञि श्रुत कहलाता है। इससे उलटा हो वह असंज्ञिश्रुत कहलाता है। जिनेश्वर भगवन्त भाषित आवश्यक आदि सम्यक्श्रुत कहलाता है और मिथ्यात्वी का शास्त्र भी यदि सम्यक् दृष्टि द्वारा ग्रहण किया हो वह भी सम्यक् श्रुत कहलाता है। इस तरह प्रथम आवश्यक और दूसरा आवश्यक से अपर- दूसरा इस प्रकार सम्यक् श्रुत दो प्रकार का है। इसमें आवश्यक के छह भेद होते हैं। (७८७-७८८)

तथाहि- "सामाङ्ग्यं चउवीसत्थओ पंदणयं पाडिक्कमणं काउससो पच्चख्खाणं इति ॥"

वे छः भेद इस प्रकार हैं- १- सामायिक, २- चउविसत्थो, ३- वंदण, ४- प्रतिक्रमण, ५- काउसस्य और ६- पच्चख्खाण।

आवश्यक्तेतरच्चांगानंगात्मकतया द्विधा ।

अंगान्येकादश दृष्टिवादश्चांगात्मकं भवेत् ॥७६०॥

सम्यग् श्रुत का दूसरा भेद 'आवश्यक से अपर' है। इसके १- अंग और २- अंग, ये दो भेद हैं, इसमें ग्यारह अंग और दृष्टिवाद अर्थात् अंगात्मक हैं। (७६०)

आचारांगं सूत्रकृतं स्थानांगं समवाय युग् ।

पंचमं भगवत्यंगं ज्ञाताधर्मकथापि च ॥७६१॥

उपासकान्त कदनुत्तरो पपाति का दशाः ।

प्रश्न व्याकरणं चैव विपाकश्रुतमेव च ॥७६२॥

१- आचारांग सूत्र, २- सूयगडांग, ३- ठाणांग, ४- समवायांग, ५- भगवती, ६- ज्ञाताधर्मकथा, ७- उपासक दशांग, ८- अन्तगडेंदशांग, ९- अनुत्तरोववार, १०- प्रश्न व्याकरण और ११- विपाक सूत्र। ये ग्यारह अंग कहलाते हैं। (७६१-७६२)

परिकर्म सूत्र पूर्वानुयोग पूर्वगत चूलिकाः पंच ।

स्युर्दृष्टिवाद भेदाः पूर्वाणि चतुर्दशापि पूर्वगते ॥७६३॥

१- परिकर्म, २- सूत्र, ३- पूर्वानुयोग, ४- पूर्वगत और ५- चूलिका; इस तरह पांच प्रकार का दृष्टिवाद है। पूर्वगत में पूर्वो का समावेश होता है। (७६३)

तानि चैवम्:-

उत्पादपूर्वमग्रायणीयमथ खीर्यतः प्रवादं स्यात् ।

अस्तेजानात्सत्त्वात्तदात्मनः कर्मणश्च परम् ॥७६४॥

प्रत्याख्यानं विधा प्रवाद कल्याण नामधेये च ।

प्राणावायं च क्रिया विशालमथ लोकबिन्दुसारमिति ॥७६५॥

यह चौदह पूर्व इस तरह है- १- उत्पाद प्रवाद, २- अग्रायणीय प्रवाद, ३- वीर्य प्रवाद, ४- अस्ति प्रवाद, ५- ज्ञान प्रवाद, ६- सत्य प्रवाद, ७- आत्म प्रवाद, ८- कर्म प्रवाद, ९- प्रत्याख्यान प्रवाद, १०- विधा प्रवाद, ११- कल्याण प्रवाद, १२- प्राणावाय प्रवाद, १३- क्रिया विशाल प्रवाद और १४- लोक बिन्दुसार प्रवाद। (७६४-७६५)

दृष्टिवादः पंचधायमंगं द्वादशमुच्यते ।

उपांग मूल सूत्रादि स्यादनंगात्मकं च तत् ॥७६६॥

इस तरह पांच प्रकार का दृष्टिवाद कहा है, वह बारहवां अंग कहा है। उपांग तथा मूल सूत्र आदि अनंगात्मक हैं । (७६६)

एवं च- यदुक्तमर्थतोऽर्हदभिः संदृब्धं सूत्रतश्च यत् ।

महाधीभिर्गणधैरस्तत्स्यादंगात्मकं श्रुतम् ॥७६७॥

ततो गणधराणां यत्पारं पर्याप्तं वाङ्मयैः ।

शिष्यप्रशिष्यैराचार्यैः प्रान्यवाङ्मयतिशक्तिभिः ॥७६८॥

कालं संहननायुर्दोषादल्पशक्तिं धीं स्पृशाम् ।

अनुग्रहाय संदृब्धं तदनंगात्मकं श्रुतम् ॥७६९॥ युग्मं ।

इस तरह श्री जिनेश्वर भगवन्त ने अर्थ से कहा था और बुद्धिशाली गणधरों ने सूत्र के द्वारा गूँथा है- यह प्रथम अंगात्मश्रुत है । उसके बाद परम्परा से वाङ्मय प्राप्तकर उत्कृष्ट वचन बुद्धि की शक्ति वाले गणधरों के शिष्य प्रशिष्य आचार्यों ने काल संघयण और आयुष्य की कमी के कारण बुद्धि में बैठ जाये, इसलिए जीवों के कल्याण के लिए जो रचना की है वह अनंगात्मक श्रुत अर्थात् अंगबाह्य श्रुत है । (७६७-७६९)

सृष्टान्यज्ञोपकाराय तेभ्योऽप्यर्वाक्तनर्षिभिः ।

शास्त्रैकदेशं संबद्धान्येवं प्रकरणान्यपि ॥८००॥

इसी ही प्रकार अज्ञानी जीवों के उपकारार्थ अर्वाचीन आचार्यों ने शास्त्रों के अमुक विभाग से ही सम्बन्धी ऐसे प्रकरणों की भी रचना की है ।

एतल्लक्षणं चैवम्-

शास्त्रैक देश सम्बद्धं, शास्त्र कार्यान्तरे स्थितम् ।

आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः ॥८०१॥

प्रकरण का लक्षण इस प्रकार कहते हैं -शास्त्र के अमुक एकाध विभाग की जिसमें चर्चा की गयी है और जो शास्त्र के कार्य में स्थित हो, ऐसे ग्रन्थ को 'प्रकरण' कहा है । (८०१)

तत्र च वक्तृवैशिष्ट्यादस्य द्वैविध्यमीरितम् ।

वस्तुतोऽर्हत्प्रणीतार्थमेकमेवाखिलं श्रुतम् ॥८०२॥

इसी तरह वक्ता की विशिष्टता के कारण इस श्रुत के दो भेद कहे हैं परन्तु वस्तुतः तो इस अर्थ से अर्हत भगवान् का रचा हुआ सार एक ही है । (८०२)

तथोक्तं तत्त्वार्थ भाष्ये "वक्तु विशेषात् द्वैविध्यमिति।"

इस विषय में तत्त्वार्थ भाष्य में सूत्र है कि- 'वक्ता अलग-अलग दो प्रकार के होते हैं।'

किंच व्याकरणच्छन्दोऽलंकृत काव्य नाट्य तर्क गणितादि ।

सम्यग् दृष्टि परिग्रहपूतं सम्यक् श्रुतं जयति ॥८०३॥

तथा व्याकरण शास्त्र, छंद शास्त्र, अलंकार शास्त्र, काव्य, नाटक, तर्कशास्त्र, गणित शास्त्र आदि जो सम्यग् दृष्टि के ग्रहण से शुद्ध हुआ है, वह सारा सम्यग् श्रुत है और वही विजयी बनता है । (८०३)

मिथ्याश्रुतं तु मिथ्यात्वि लोकैः स्वमति कल्पितम् ।

रामायण भारतादि वेद वेदांगकादि च ॥८०४॥

मिथ्याश्रुत लोगों ने अपनी मति अनुसार कल्पना की है वह मिथ्याश्रुत है जैसे कि रामायण, महाभारत, आदि तथा वेद-वेदांग आदि हैं । (८०४)

उक्तं च भाष्य कृता-

सदसद विसेसणाओ भवहेउ जहित्थि ओवलं भाओ ।

नाण फला भावओ मित्थदिट्टिस्य अन्नाणम् ॥१॥

पूर्वान्तर्गतैय गाथा ।

भाष्यकार ने भी इस सम्बन्ध में कहा है कि- सत् असत् का अन्तर

नहीं है इसलिए संसार का हेतु है । अतः यदृच्छा में कहा है- इस कारण से और ज्ञान के फल का अभाव है अतः मिथ्या दृष्टि का श्रुत सर्व अज्ञान रूप है। यह गाथा पूर्वान्तर्गत है ।

ऋग् यजुः सामाथर्वाणो वेदा अंगानि षट् पुनः।

शिक्षा कल्पौ व्याकरण छन्दो ज्योतिर्निरुक्तियः ॥८०५॥

ततश्च..... षडंगी वेदाश्चत्वारो मीमांसान्विक्रिकी यथा ।

धर्मशास्त्रं पुराणं च विधा एताश्चतुर्दश ॥८०६॥

तथा..... आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्व चार्थशास्त्रकम् ।

चतुर्भिरितैः संयुक्ताः स्युरष्टादश ताः पुनः ॥८०७॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, ये चार वेद हैं और छह अंग कहे हैं- १- शिक्षा, २- कल्प, ३- व्याकरण, ४- छंद, ५- ज्योति और ६- निरुक्ति। ये छः अंग, चार वेद, मीमांसा, आन्विक्रिकी धर्मशास्त्र तथा और पुराण मिलकर चौदह विद्या कहलाती हैं तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थशास्त्र इन चार को मिलाकर गिनें तो अठारह विद्या कहलाती हैं । (८०५ से ८०७)

अपूर्णदश पूर्वान्तमपि सम्यक् श्रुतं भवेत् ।

मिथ्यात्वभिः संगृहीतं मिथ्या श्रुतं विपर्ययात् ॥८०८॥

दश पूर्व सम्पूर्ण न किए हों ऐसा सम्यक् श्रुत भी यदि मिथ्या दृष्टि को हो तो वह विपर्यय करण मिथ्या श्रुत कहलाता है । (८०८)

द्रव्य क्षेत्र काल भावैः साद्यन्तं भवति श्रुतम् ।

अनाद्य पर्यवसितमपि ज्ञेयं तथैव च ॥८०९॥

एकं पुरुषमाश्रित्य साद्यन्तं भवति श्रुतम् ।

अनाद्यपर्यवसितं भूय सस्तान् प्रतीत्य च ॥८१०॥

श्रुत सादि सात् भी होता है वैसे अनादि अनंत भी होता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव एक पुरुष के आश्रित सादि सान्त (साद्यन्त) कहलाता है और अनेक के आश्रित को अनादि अन्त (अनाद्यन्त) होता है । (८०९-८१०)

भवान्तरं गतस्याशु पुंसो यत्रश्यति श्रुतम् ।

कस्यचित्तद् भव एव मिथ्यात्वगमनादिभिः ॥८११॥

इस कारण अथवा कोई पुरुष जब अन्य जन्म धारण करता है तब

इसका श्रुत नाश होता है अथवा मिथ्यात्व प्राप्ति आदि कारणों को लेकर उसी जन्म में भी नष्ट होता है । (८११)

तदुक्तं विशेषावश्यकैः-

चउदसपुष्वी मणुओ देवत्ते तं न संभरइ सख्वम् ।

देसंमि होइ भयणा सट्टाण भावे विभयणाओ ॥१॥

इस विषय में विशेष आवश्यक सूत्र में कहा है कि चौदह पूर्वधारी को देवता के जन्म में यह सर्व (चौदह पूर्व) स्मरण में नहीं रहता है- उसकी विस्मृति हो जाती है। अल्पभाग का स्वस्थान भाव में कुछ स्मरण रहे अथवा नहीं भी रहता है ।

देशे पुनरेकादशांग लक्षणे इति कल्पचूर्णिः ।

स्वस्थान भावे इति मनुष्य भवेऽपि तिष्ठतः भजना ॥

“अल्प भाग अर्थात् ग्यारह अंग ही, अन्य नहीं” इस तरह कल्पचूर्णि में कहा है । स्वस्थान भाग में अर्थात् मनुष्य जन्म में रहने पर। स्मरण रहता है या नहीं भी रहता है ।

तत्र श्रुत ज्ञान नाश कारणानिअमूनिमिच्छभवंतर केवलगेलन्नपमाम माइणा नासोत्ति ॥

श्रुतज्ञान का नाश होने के कारण मिथ्यात्व, भवान्तर, केवल ज्ञान, पाठ याद नहीं, व प्रमाद आदि हैं ।

“षष्ठांग चतुर्दशाध्ययने तु तेतलि मन्त्रिणा पूर्वधीत चतुर्दशपूर्व स्मरणमुक्त-मस्तीति ज्ञेयम् ॥”

छठे अंग के चौदहवें अध्ययन में तो इस तरह कहा है कि पूर्व में सीखा हुआ चौदह पूर्व का तेतली मन्त्रि का स्मरण रहा था।

साद्यन्तं क्षेत्रतो ज्ञेयं भरतैरवताश्रयात् ।

अनाद्यपर्यवसितं विदेहापेक्षया पुनः ॥८१२॥

यह श्रुत है, उस क्षेत्र से भरत और ऐरवत की अपेक्षा से साद्यन्त है और महाविदेह की अपेक्षा से अनादि अमंत है । (८१२)

कालतश्चावसर्पिण्युत्सर्पिण्योः सादि सान्तकम् ।

महाविदेह कालस्यापेक्षयाद्यन्त वर्जितम् ॥८१३॥

तथा काल से अवसर्पिणी काल और उत्सर्पिणी काल की अपेक्षा से श्रुत सादि सान्त है और महाविदेह के काल की अपेक्षा से अनादि अनन्त है । (८१३)

भवसिद्धिकमाश्रित्य साद्यन्तं भावतो भवेत् ।

छाद्यस्थिक ज्ञान नाशो यदस्य केवल क्षणे ॥८१४॥

भाव से (श्रुत) भवसिद्धिक जीव के आश्रित को सादि सान्त है क्योंकि जब केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तब छद्यस्थ ज्ञान नष्ट होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि- छद्यस्थ ज्ञान नष्ट होते ही केवल ज्ञान होता है। (८१४)

कहा है- "नदुमिए छाउमथिए नाणे इति वचनात्॥" यह शास्त्र वचन है।

अनाद्यनन्तं चाभव्यमाश्रित्य श्रुतमुच्यते ।

श्रुत ज्ञान श्रुताज्ञान भेदस्यात्रा विवक्षणात् ॥८१५॥

क्षायोपशमिक भावे यद्वानाद्यन्तमीहितम् ।

एवं साद्यनादि सान्तमनन्तं श्रुतमूह्यताम् ॥८१६॥

और अभवी जीव की अपेक्षा से श्रुत अनादि अनन्त है क्योंकि वहां श्रुत ज्ञान और श्रुत अज्ञान ऐसे भेद गिने नहीं हैं दुविधा में क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा से यह अनादि अनन्त है। इस तरह देखते श्रुत सादि है और अनादि भी है, सान्त है तथा अनन्त भी है । (८१५-८१६)

गमाः सदृश पाठाः स्युर्यत तद् गमिकं श्रुतम् ।

तत्रायो दृष्टि वादे स्यादन्यच्चा गमिकं भवेत् ॥८१७॥

अंगाविष्टं द्वादशांगान्यन्यदावश्यकदिकम् ।

इत्थं प्ररूपिताः प्राज्ञैः श्रुतभेदाश्चतुर्दश ॥८१८॥

जहां गम अर्थात् सदृश पाठ हो वह गमिक श्रुत कहलाता है । यह प्रायः दृष्टिवाद के विषय में होता है। गमिक सिवाय का सर्व अगमिक है । वह 'अंग प्रविष्ट' द्वादशांगी तथा 'अंग बाह्य' आवश्यकदि है । इस तरह प्राज्ञ पुरुषों ने श्रुत के चौदह भेद समझाये हैं। (८१७-८१८)

ये भेदा विंशतिस्तेऽपि कथ्यन्ते लेशमात्रतः ।

न ग्रन्थ विस्तर भयादिह सम्यक् प्रपंचिता ॥८१९॥

श्रुत के बीस भेद भी कहे जाते हैं और इस विषय में भी हम यहां कुछ कहेंगे । ग्रन्थ विस्तर का भय हो जाने के कारण विस्तर पूर्वक विवेचन नहीं किया है । (८१९)

तथाहुः-

पजय अखखर पय संघाया पडिवत्ति तह च अणुओगो ।

पाहुड पाहुडपाहुड वत्थु पुव्वा य ससमासा ॥८२०॥

वे बीस भेद इस तरह हैं - १- पर्याय, २- अक्षर, ३- पद, ४- संघात, ५- प्रतिपत्ति, ६- अनुयोग, ७- प्राभृत प्राभृत, ८- प्राभृत, ९- वस्तु और १०- पूर्व; ये दस और इन प्रत्येक के साथ में 'समान' इतना जोड़ने से अन्य दस होते हैं। इस तरह सब मिलाकर बीस भेद होते हैं। (८२०)

तत्र च.... अविभागः परिच्छेदो यो ज्ञानस्य प्रकल्पितः।

स पर्यायो द्वयादयस्ते स्यात्पर्याय समासकः ॥८२१॥

और यहां ज्ञान का अविभाज्य परिच्छेद इसका नाम पर्याय है और ऐसे दो या अधिक परिच्छेद (भाग) इसका नाम पर्याय समास है। (८२१)।

लब्धय पर्याप्तस्य सूक्ष्म निगोदस्थ शरीरिणः ।

यदाद्यक्षण जातस्य श्रुतं सत्रं जघन्यतः ॥८२२॥

तस्मादन्यत्र यो जीवान्तरे ज्ञानस्य वर्धते ।

अविभाग परिच्छेदः स पर्याय इति स्मृतः ॥८२३॥ युग्मं।

येऽविभाग परिच्छेदा द्वयादयोऽन्येषु देहिषु ।

वृद्धिगतास्ते पर्याय समास इति कीर्तिताः ॥८२४॥

उत्पत्ति के पहले ही क्षण में लब्धि अपर्याप्ता सूक्ष्मनिगोद के जीव को सर्व से जघन्य ज्ञान होता है, इससे अन्यत्र जीवान्तर में ज्ञान का जो अविभाज्य परिच्छेद वृद्धि प्राप्त करता है वह पर्याय कहलाता है, और अन्य जीवों में दो अथवा विशेष अविभाज्य परिच्छेदों की वृद्धि होती है इसे पर्याय समास कहते हैं। (८२२ से ८२४)

तथोक्तमाचारांग वृत्तौ :-

सर्वं निकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एव वीरिणं ।

सूक्ष्म निगोदा पर्याप्तानां स च भवति विज्ञेयः ॥८२५॥

तस्मात्प्रभृतिज्ञान विवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवनाम् ।

लब्धि निमित्तैः करणै कायेन्द्रिय वाङ्मनोदृग्भिः ॥८२६॥

श्री आचारांग सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- श्री वीर परमात्मा ने जीव को

सर्व से जघन्य उपयोग वाले देखा है और वह सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवों को होता है तथा इनको लब्धि के निमित्त रूप, काया, इन्द्रिय, वाचा, मन और दृष्टि रूपी करणों द्वारा इस तरह भी देखा है कि जीवों का ज्ञान वहीं से ही प्रारम्भ होकर वृद्धि होती है । (८२५-८२६)

मध्ये लब्ध्यक्षराणां स्याद्यदन्तरदक्षरम् ।
तदक्षरं तत्संदोहोऽक्षर समास इष्यते ॥८२७॥

प्रत्येक लब्ध्यक्षर के मध्य का प्रत्येक अक्षर, अक्षर कहलाता है और इन अक्षरों के समूह को अक्षर समास कहते हैं । (८२७)

पदानां यादृशानां स्यादाचारांगादिषु ध्रुवम् ।
अष्टादश सहस्रादि प्रमाणं तत्पदं भवेत् ॥८२८॥
द्वयादीनि तत्समासः स्यादेवं सर्वत्र भाव्यताम् ।
संघात प्रतिपत्त्यादौ समासो ह्यनया दिशा ॥८२९॥

आचारांग आदि सूत्रों में पदों का जैसे अठारह हजार आदि का प्रमाण दिया है उनमें से प्रत्येक पद कहलाता है और दो अथवा विशेष पदों का समाहार होता हो वह पद समास कहलाता है । संघात, प्रतिपत्ति आदि भेदों में समास का स्वरूप इसी तरह समझ लेना चाहिए । (८२८-८२९)

गतीन्द्रियादि द्वाराणां द्वाषष्टेक देशकः ।
गत्यादिरेक देशोऽस्याः स्वर्गतिस्तत्र मार्गणा ॥८३०॥
जीवादेः क्रियते सोऽयं संघात इति कीर्त्यते ।
गत्यादि द्वयाद्यवयव मार्गणा तत्समासकः ॥८३१॥

गति, इन्द्रिय आदि बासठ द्वारों के एक देश, रूप, गति आदि और इसकी एक प्रकार रूप देवगति है, उस देवगति में जीव आदि की मार्गणा करने में आता है उसका नाम संघात ज्ञान है और ऐसी ही गति आदि दो या विशेष द्वारादि अवयवों की मार्गणा यह संघात समास ज्ञान कहलाता है । (८३०-८३१)

सम्पूर्ण गत्यादि द्वारे जीवदे मार्गणा तु या ।
प्रतिपत्तिरियं जीवाभिगमे दृश्यतेऽधुना ॥८३२॥

तथा सम्पूर्ण गति आदि द्वारों के विषय में जीव आदि की जो मार्गणा है उसका नाम प्रतिपत्ति है । इस तरह जीवाभिगम सूत्र में कहा है । (८३२)

सत्पदप्ररूपणाद्यनुयोग द्वारमुच्यते ।
 प्राभूतान्तः स्थोऽधिकारः प्राभूत प्राभूतं भवेत् ॥८३३॥
 वस्त्वन्तर्वर्त्यधिकारः प्राभूतं परिकीर्तितम् ।
 पूर्वान्तर्वर्त्यधिकारो वस्तुनाम्ना प्रचक्षते ॥८३४॥
 पूर्वमुत्पाद पूर्वादि ससमासाः समेऽप्यमी ।
 श्रुतस्य विंशतिर्भेदा इत्थं संक्षेपतः स्मृताः ॥८३५॥

इति ज्ञानम् ।

सत्पदार्थों की प्ररूपणा आदि करना वह अनुयोग द्वार है और प्राभूत के अन्दर रहा अधिकार वह प्राभूत प्राभूत कहलाता है और वस्तु में रहा अधिकार है उसका नाम प्राभूत है और पूर्व में रहा अधिकार उस वस्तु के नाम से पहिचाना जाता है तथा उत्पाद पूर्व आदि पूर्व है। इस तरह से संक्षिप्त रूप में श्रुत ज्ञान के बीस भेद समझाये गये हैं । (८३३-८३५) *

इस तरह श्रुत ज्ञान का विवेचन सम्पूर्ण हुआ ।

अवधानं स्यादवधिः साक्षादर्थविनिश्चयः ।
 अवशब्दोऽव्ययं यद्वा सोऽधः शब्दार्थ वाचकः ॥८३६॥
 अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिबुध्यते ।
 अनेनेत्यवधिर्यद्वा मर्यादा वाचकोऽवधिः ॥८३७॥
 मर्यादा रूपि द्रव्येषु प्रवृत्तिर्नत्वरूपिषु ।
 तयोपलक्षितं ज्ञानमवधि ज्ञानमुच्यते ॥८३८॥

अब तीसरे अवधि ज्ञान के विषय में कहते हैं कि- अर्थ का साक्षात् निश्चय रूप अवधान, उसका नाम अवधि है अथवा दूसरे रूप में 'अव' शब्द नीचे के अर्थ में 'अव्यय' रूप में गिना जाये तो नीचे नीचे विस्तार पूर्वक वस्तु जिसके द्वारा दिखे उस ज्ञान का नाम अवधि है अथवा तीसरे रूप में 'अव' शब्द मर्यादा के अर्थ में लेना । मर्यादा अर्थात् रूपी पदार्थों के विषय में प्रवृत्ति-अरूपी पदार्थों में नहीं, परन्तु रूपी पदार्थ हो ऐसी प्रवृत्ति से जो ज्ञान होता है उसका नाम अवधि ज्ञान कहलाता है। (८३६-८३८)

अनुगाम्यननुगामी वर्धमानस्तथा क्षयी ।
 प्रतिपात्य प्रतिपातीत्यवधिः षड्विधो भवेत् ॥८३९॥

वह अवधि ज्ञान छः प्रकार का है- १- अनुगामी, २- अननुगामी, ३- वर्धमान, ४- क्षयी, ५- प्रतिपाती और ६- अप्रतिपाती। ॥८३६॥

यद्विदेशान्तरगतमप्यन्वेति स्व धारिणम् ।

अनुगाम्यवधिज्ञानं तच्छृंखलित दीपवत् ॥८४०॥

कोई अवधि ज्ञानी जीव यात्रा प्रवास में गया हो तब उसके नेत्र के समान जो ज्ञान उसके पीछे अनुगमन करे वह अनुगामी अवधि ज्ञान है। (८४०)

यत्र क्षेत्रे समुत्पन्नं यत्तत्रैवावबोध कृत् ।

द्वितीयमवधिज्ञानं तच्छृंखलित दीपवत् ॥८४१॥

जो ज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न हुआ हो वहीं शृंखला बद्ध-संकल के साथ में बंधे हुए दीपक के समान प्रकाश-बोध करे, वह अननुगामी नामक अवधि ज्ञान है। (८४१)

यदंगुलस्यासंख्ये भागादि विषयं पुरा ।

समुत्पद्धानु विषय विस्तारेण विवर्धते ॥८४२॥

अलोके लोक मात्राणि यावत्खंडान्यसंख्यशः ।

स्यात्प्रकाशयितुं शक्तं वर्धमानं तदीरितम् ॥८४३॥ युग्मं।

एक अंगुल का असंख्यातवां भाग ही जिसका विषय हो गया हो उसका जो ज्ञान उत्पन्न हो और फिर उस विषय के विस्तार से वृद्धि होती है और अलोक के विषय भी लोकाकाश के समान असंख्य गोलों को प्रकाशित करने की जिसमें शक्ति है वह ज्ञान वर्धमान अवधि ज्ञान कहलाता है। (८४२-८४३)

अप्रशस्ताद्द्वयवसायात् हीयते यत्प्रतिक्षणम् ।

आहूस्तदवधिज्ञानं हीनमानं मुनीश्वराः ॥८४४॥

अप्रशस्त व्यवसाय के कारण जो प्रति समय क्षीण होता जाता है उसे मुनीश्वर क्षीण अवधि ज्ञान कहते हैं। (८४४)

स्याद्बुद्धमानं शुष्कोपचीयमानेन्बधनाग्निवत् ।

हीयमानं परिमिता तादुग्निन्धनवह्निवत् ॥८४५॥

जिसमें बार-बार सूखे ईंधन एकत्रित किए हो उस अग्नि के समान वर्धमान अवधि ज्ञान है और जिसमें अल्प प्रमाण में और हरा काष्ठ डाला हो उस अग्नि के समान क्षीण अवधि ज्ञान है। (८४५)

योजनानां सहस्राणि संख्ये यान्यप्यसंख्यशः।

यावल्लोकमपि दृष्ट्वा पतति प्रतिपाति तत् ॥८४६॥

प्रमादेन पतत्येतद् भवान्तराश्रयेण वा ।

यथाश्रुत स्वरूपं च वक्ष्येऽथा प्रतिपातिनः ॥८४७॥

संख्य असंख्य सहस्र बद्ध योजन पर्यन्त और आखिर लोकाकाश तक भी देखकर जो पुनः वापिस गिरता है वह प्रतिपात अवधि ज्ञान है । यह प्रतिपात अवधि ज्ञान प्रमाद के कारण से अथवा अन्य जन्म धारण करने से गिरता है। (८४६-८४७)

यत्प्रदेशमलोकस्य दृष्टुमेकमपि क्षमम् ।

तत्स्याद् प्रतिपात्येव केवलं तदनन्तरम् ॥८४८॥

अब अप्रतिपात अवधि ज्ञान का शास्त्रोक्त स्वरूप कहते हैं । जिसमें अलोक का एक भी प्रदेश देखने की सामर्थ्य है वह अप्रतिपात अवधि ज्ञान है। वह ज्ञान विद्यमान होता है, इसमें ही केवल ज्ञान प्राप्त होता है। (८४८)

हीयमान प्रतिपातिनोश्च अयं विशेषः

प्रतिपाति हि निर्मूलं विध्यायत्ये कहेलया ।

हीयमानं पुनः हासमुपयाति शनैः-शनैः ॥८४९॥

हीयमान (क्षीण) और प्रतिपात के बीच में अन्तर है । वह इस प्रकार-प्रतिपात सर्वथा निर्मूल होकर शम हो जाता है जबकि हीयमान धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। (८४९)

“इदं कर्म ग्रन्थ वृत्यभिप्रायेण ॥ तत्त्वार्थ भाष्ये तु अनवस्थिताव-स्थिताख्ययो अन्य भेदयोः एवं स्वरूपम् उक्तम्- अनवस्थितं हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति च उत्पद्यते च इति पुनः पुनः उर्मिवत् ॥ अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतति आ केवल प्राप्तेरवतिष्ठते। आभवक्षयाद्वा-ज्यात्यन्तर स्थायि वा भवति लिंगवत् । यथा लिंगं पुरुषादिवेदं इह जन्मनि उपादाय जन्मान्तरं याति जन्तुः तथा अवधि ज्ञानमपि इति भावः ॥”

यह अभिप्रायः कर्मग्रन्थ की वृत्ति अनुसार है जबकि तत्त्वार्थ भाष्य में अन्य तरह से कहा है । उसमें तो अनवस्थित और अवस्थित- इस तरह दो प्रकार से कहा है। घटता है और बढ़ता है और वापिस घट जाये और जल के कल्लोल के समान गिर जाये, चढ़े और फिर गिर जाये- ऐसे स्वभाव वाला अनवस्थित जितने क्षेत्र

में उत्पन्न हुआ हो वहां से वापिस गिरे नहीं, परन्तु जब तक केवल ज्ञान होता है तब तक वहीं टिका रहे वह अवस्थित है। यह ज्ञान भवक्षय होने पर जाति अन्तर में भी लिंग के समान रहता है। जिस तरह प्राणी इस जन्म में लिंग अर्थात् पुरुषादि वेद प्राप्त करके अन्य जन्म में जाता है वैसे ही अवधि ज्ञान भी अन्य जन्म में जाता है।

नृतिरश्रामयं षोढा क्षायोपशमिकोऽवधि ।

भवेद्भव प्रत्ययश्च देवनारकयोरिह ॥१॥

ये छः प्रकार का अवधि ज्ञान मनुष्य और तिर्यचों को क्षायोपशमिक होता है और देव तथा नारकी जीवों को भव प्रत्ययिक होता है। (१)

तदुक्तम्- "द्विविधः अवधिः। भव प्रत्ययः क्षयोपशमनिमित्तश्च ॥ इति तत्त्वार्थ सूत्रे ॥"

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है कि अवधि ज्ञान दो प्रकार का होता है- भव प्रत्यय और क्षायोपशमिक।

स्याद् भव प्रत्ययोऽप्येष न क्षयोपशमं बिना ।

अन्वय व्यतिरेकाभ्यं हेतुत्वादस्य किन्त्वह ॥२॥

स्यात्क्षयोपशमे हेतुर्भवोऽयं तदसौ तथा ।

उपचाराद्धेतु हेतुरपि हेतुरिहोदितः ॥३॥

इति अवधि ज्ञानम् ॥

तथा यह भव प्रत्यय भी क्षयोपशम बिना नहीं होता, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से भव प्रत्यय इसका हेतु-कारणभूत है जबकि क्षयोपशम में तो यह भव हेतुभूत है, फिर भी हेतु का हेतु भी हेतु ही कहलाता है। ऐसा उपचार है। (२-३)

इस तरह अवधि ज्ञान का स्वरूप कहा है।

मनस्त्वेन परिघात द्रव्याणां यस्तु पर्यवः।

परिच्छेदः सहि मनः पर्यवज्ञानमुच्यते ॥८५०॥

यद्वा मनोद्रव्यस्य पर्याया नानावस्थात्मका हि ये ।

तेषां ज्ञानं खलु मनः पर्याय ज्ञानमुच्यते ॥८५१॥

अब चौथे मनः पर्यव ज्ञान के विषय में कहते हैं, मनस्त्व के द्वारा परिणत हुआ द्रव्यों का पर्यव, पर्याय अथवा परिच्छेद-इसका नाम मनः पर्यव ज्ञान है

अथवा नाना प्रकार की अवस्था वाले मनोद्रव्य के पर्याय का जो ज्ञान है वह मनः पर्यव ज्ञान कहलाता है । (१८६)

स्याद् जुधी विपुल धी लक्षण स्वाभि भेदतः ।

तद् द्वि भेदं संयतस्याप्रमत्तस्यर्द्धिं शालिनः ॥८५२॥

भिन्न लक्षण और भिन्न स्वामी को लेकर इसके ऋजुमति और विपुलमति- इस तरह दो भेद होते हैं और यह अप्रमत्त और लब्धिशाली संयमी मुनि को होता है। (८५२)

अनेन चिन्तितः कुंभा इति सामान्य ग्राहिणी ।

मनोद्रव्य परिच्छित्तिर्यस्या सावृजुधीः श्रुतः ॥८५३॥

अनेन चिन्तितः कुम्भ स सौवर्णः स माथुरः ।

इयत्प्रमाणेऽद्यतनः पीतवर्णः सदाकृतिः ॥८५४॥

एवं विशेष विज्ञाने मतिर्यस्य पटीयसी ।

ज्ञेयोऽयं विपुलमतिर्मनः पर्याय लब्धिमान् ॥८५५॥

इसने कुंभ धारण किया है- इतना सामान्य ज्ञान ग्रहण करने वाले मनो द्रव्य की परिच्छिति (मनः पर्यव ज्ञान) जिसको हो वह ऋजुमति कहलाता है। इसने कुंभ को धारण किया है, यह सुवर्ण का है, मथुरा का बना है, इतना बड़ा है, आज का बना है, पीले रंग का और सुन्दर आकृति वाला धारण किया है- इस तरह विशेष ज्ञान ग्रहण करने वाली बुद्धि जिसको हो वह विपुलमति मनः पर्यव ज्ञान वाला होता है । (८५३-८५५)

ननु च अवधिश्च मनः पर्यवश्चोभे अर्प्यतीन्द्रिये ।

रूपिद्रव्य विषये च भेदस्तदिह कोऽनयोः ॥८५६॥

यहां शंका करते हैं कि अवधि और मनः पर्यव, दोनों ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान हैं और इन दोनों का विषय भी एक ही-रूपी द्रव्य है तो फिर इनके बीच में भेद क्या रहा ? किसलिए दो भेद अलग कहे ? (८५६)

अत्रोच्यतेऽवधिज्ञानमुत्कर्षात्सर्वलोक वित् ।

संयतासंयतनर तिर्यक्स्वामिकभीरितम् ॥८५७॥

अन्य द्विशदभेतस्माद् बहु पर्याय वेदनात् ।

अप्रमत्त संयति कलभ्यं नृक्षेत्र गोचरम् ॥८५८॥

शंका का समाधान इस तरह है कि-अवधि ज्ञान उत्कृष्ट रूप में सर्व लोक को जानने वाला है तथा वह संयमी-असंयमी मनुष्यों को तथा तिर्यचों को भी होता है। परन्तु मनः पर्यव ज्ञान अनेक पर्यायों को जानने वाला होता है, पहले से अधिक निर्मल होता है, अप्रमत्त संयमी मुनिवर्य को ही होता है और मनुष्य क्षेत्र का ही गोचर होता है। (८५७-८५८)

उक्तं च तत्त्वार्थं भाष्य- "विशुद्धि क्षेत्र स्वामि विषयेभ्योऽवधि मनः पर्यवयोर्विशेषः ॥" इति॥

तत्त्वार्थं भाष्य में भी कहा है- अवधि और मनः पर्यव ज्ञान में विशुद्धि से क्षेत्र को अपेक्षा से और स्वामि के विषय में भिन्नता है ।

सामान्य ग्राहि ननु यन्मनः पर्यायमादिमम् ।

तदस्य दर्शनं किं न सामान्य ग्रहणात्मकम् ॥८५६॥

यहां कोई प्रश्न करता है कि- जब ऋजुमति मनःपर्यवज्ञान सामान्य ग्राही है तब सामान्य ग्रहणात्मक दर्शन ऐसा क्यों नहीं है ? (८५६)

अत्रोच्यते विशेषमेकं द्वौ त्रीन्वा गृह्यात्युजुमतिः किल ।

ईष्टे बहून् विशेषांश्च परिच्छेत्तुमयं न यत् ॥८६०॥

सामान्य ग्राह्यसौ तस्मात् स्तोक ग्राहितया भवेत् ।

सामान्य शब्दः स्तोकार्थो न त्वत्र दर्शनार्थकः ॥८६१॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि ऋजुमति एक, दो या तीन विषयों को अधिक से अधिक ग्रहण कर सकता है, बहुत विषयों को ग्रहण कर लेने की इसमें सामर्थ्य नहीं होती, इस तरह अल्प ग्रहण करने वाला होने से इसे सामान्य ग्राही कहा है। यहां सामान्य शब्द अल्प के अर्थ में समझना, दर्शन के अर्थ में नहीं है। (८६०-८६१)

कर्मक्षयोपशम जोत्कर्षाद्विपुल धीः पुनः ।

बहून् विशेषान्वेत्यत्र बह्वर्थो विपुल ध्वनिः ॥८६२॥

न चाभ्यधायि सिद्धान्ते कुत्राप्येतस्य दर्शनम् ।

दर्शनात्मक सामान्य ग्राहिता नैतयोस्ततः ॥८६३॥

परन्तु विषयों को ग्रहण कर सकता है । यहां विपुल शब्द बहुवाची है तथा शास्त्र में भी कहीं इसे दर्शन रूप नहीं कहा है, इसलिए इन दोनों को दर्शनात्मक सामान्य ग्राहिता नहीं है। (८६२-८६३)

विशेषरूप ग्राहित्वे प्राप्ते नन्वेवमेतयोः ।

द्वयोर्मनो विषययोर्द्वैविध्ये किं निबन्धनम् ॥८६४॥

यहां फिर कोई शंका करता है कि- जब इस तरह से दोनों का विषय मन है और दोनों को विशेष रूप ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त हुई है तब दोनों को एक समान करना चाहिए । दोनों भिन्न प्रकार क्यों रखा है ? (८६४)

अत्रोच्यते अल्प पर्याय वेद्याद्यं घटादि वस्तु गोचरम् ।

नानाविध विशेषावच्छेदि किं शुद्धतरं परम् ॥८६५॥

कस्यचिन्न पतत्याद्यं कस्यचिच्च पतत्यपि ।

अन्त्यं चा केवल प्राप्तेर्न पतत्येव तिष्ठति ॥८६६॥

इसका उत्तर देते हैं कि- पहले का घटादि वस्तु मात्र विषय है और इस अल्प पर्याय को ही ग्रहण करने वाला है और दूसरा विपुलमति अनेक नाना प्रकार के विषय पर्यायों को ग्रहण कर सकता है और पहले से विशेष निर्मल-शुद्ध है। और प्रथम ऋजुमति कई प्राणियों को गिर जाता है और कईयों को सदा टिककर रहता है। जबकि दूसरा गिरता-जाता ही नहीं है, परन्तु केवल ज्ञान की प्राप्ति तक टिक कर रहने वाला है। (८६५-८६६)

तथोक्त तत्त्वार्थ वृत्तौ- "यस्य पुनः विपुल मतेः मनः पर्याय ज्ञानं समर्जान तस्य न पतति आकेवल प्राप्तेः । इति॥"

तत्त्वार्थ वृत्ति में कहा है कि- 'विपुल मति मनः पर्यवज्ञान जिसको होता है उसका पतन नहीं होता, वह केवल ज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहता है।'

तत्त्वार्थ सूत्रऽपि-

विशुद्धच प्रतिपाताभ्यां तद्विशेष इत्युक्तम् ॥

तत्त्वार्थ सूत्र में भी कहा है कि- दोनों के बीच में भेद है, वह विशुद्धि के कारण और पतन के कारण है ।

योगशास्त्र प्रथम प्रकाश वृत्तौ अपि-

ऋजुश्च विपुलश्चेति स्यान्मनः पर्यवो द्विधा ।

विशुद्धच प्रतिपाताभ्यां विपुलस्तु विशिष्यते ॥

इत्युक्तम् ॥ इति मनः पर्याय ज्ञानम् ॥

योगशास्त्र ३, प्रथम प्रकाश के सोलहवें श्लोक की वृत्ति में भी कहा है कि-
मनुः पर्यव ज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति- ये दो भेद हैं । ऋजुमति साधारणतः
प्रतिपाति होता है, परन्तु विपुलमति एक बार प्राप्त होने पर कदापि नहीं जाता है।
अतः विपुलमति विशेषद् विशुद्ध है। इस तरह मनः पर्यव ज्ञान का स्वरूप कहा है ।

केवलं यन्मति ज्ञानाद्यन्य ज्ञानानपेक्षणात् ।

ज्ञेयानन्त्यादनन्तं वा शुद्धं चावरण क्षयात् ॥८६७॥

सकलं वादित एव निःशेषावरण क्षयात् ।

अनन्य सदृशत्वेनाथवासा धारणं भवेत् ॥८६८॥

भूत भावि भवद् भाव स्वरूपोद्दीपकं स्वतः ।

तद् ज्ञानं केवल ज्ञानं केवल ज्ञानिभिर्मतम् ॥८६९॥ विशेषकं ।

इति केवल ज्ञानम् ॥

अब पांचवे केवल ज्ञान के विषय में कहते हैं-मति, श्रुत, अवधि, मनः
पर्यव- इन चार ज्ञानों की जिसमें अल्पमात्र भी अपेक्षा न हो, जो अकेला ही है,
अनन्त पदार्थ जिसमें ज्ञेय हैं इससे वह अनन्त है, आवरणों का क्षय हो जाने से जो
विशुद्ध है, पहले से ही सर्व आवरणों का क्षय हो जाने से जो सम्पूर्ण है, इसके
समान कोई न होने से जो असाधारण है और भूत-भविष्य और वर्तमान पदार्थों के
स्वरूप को जो स्वतः प्रदीप्त करने वाला है, ऐसे ज्ञान को केवल ज्ञानियों ने केवल
ज्ञान कहा है। (८६७ से ८६९)

इस तरह केवल ज्ञान का स्वरूप है ।

कुत्सित ज्ञानमज्ञानं कुत्सार्थस्य न ओऽन्वयात् ।

कुत्सितत्त्वं तु मिथ्यात्व योगात् त्रिविधं पुनः ॥८७०॥

मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभंग ज्ञानमित्यपि ।

अथ स्वरूपमेतेषां दर्शयामि यथा श्रुतम् ॥८७१॥

अब अज्ञान के विषय में कहते हैं- अज्ञान अर्थात् कुत्सित ज्ञान है। क्योंकि
अ जो यहां नकार बताता है वह कुत्सित अर्थ में लिया जाता है । यह कुत्सित रूप
मिथ्यात्व के योग से होता है। अज्ञान तीन प्रकार का है १- मति अज्ञान, २- श्रुत
अज्ञान और ३- विभंगज्ञान । इन तीनों का स्वरूप आगम में कहा है । वह इस
तरह कहा है । (८७०-८७१)

मतिज्ञान श्रुतज्ञाने एव मिथ्यात्व योगतः ।

अज्ञान संज्ञां भजतो नीच संग्गादिवोत्तमः ॥८७२॥

मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान दोनों मिथ्यात्व के योग से ही अज्ञान संज्ञा प्राप्त करते हैं। जैसे उत्तम पुरुष नीच के संग से नीचा गिना जाता है। (८७२)

तथोक्तम्-

अधिसेसिया मइच्चिइ समदिद्विस्स सा मइ नाणं ।

मइ अनानं मिथ्या दिद्विस्स सुअं पि एमेव ॥९॥

इस विषय में कहा है कि- मति तो भेद रहित एक ही प्रकार की है परन्तु सम्यक् दृष्टि की मति ज्ञान रूप है और मिथ्यादृष्टि की मति अज्ञान रूप है। इसी तरह से श्रुत के विषय में भी समझ लेना। (९)

भंगा विकल्पा विशुद्धाः स्युस्तेऽत्रेति विभंगकम् ।

विरूपो वावधेर्भगो भेदोऽयं तद्विभंगकम् ॥८७३॥

भंग अर्थात् विकल्प । विशुद्ध भंग यह विभंग है। विभंग अर्थात् विपरीत विकल्प जिसमें हो वह ज्ञान विभंग ज्ञान कहलाता है अथवा भंग ज्ञान का विपरीत भेद वह विभंग ज्ञान- इस तरह भी अर्थ लिया जाता है। (८७३)

एतच्च ग्राम नगर सन्निवेशादि संस्थितम् ।

समुद्र द्वीप वृक्षादि नाना संस्थान संस्थितम् ॥८७४॥

तथा यह विभंग ज्ञान गांव, नगर और सन्निवेश आदि के तथा समुद्र, द्वीप और वृक्षों आदि के नाना प्रकार के संस्थान के समान होता है। (८७४)

अष्टानामप्यथैतेषां विषयान्वर्णयाम्यहम् ।

द्रव्य क्षेत्र काल भावैः द्रव्यतस्तत्र कथ्यते ॥८७५॥

अब उन पांच ज्ञान तथा तीन अज्ञान- इस तरह कुल आठ का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से वर्णन किया जाता है। (८७५)

सामान्यतो मति ज्ञानी सर्व द्रव्याणि बुध्यते ।

विशेषतोऽपि देशादिभेदैस्तानवगच्छति ॥८७६॥

किन्तु तद्गतनिःशेष विशेषापेक्षयास्फूटान् ।

एष धर्मास्ति कायादीन् पश्येत्सर्वात्मना तु न ॥८७७॥

योग्य देशस्थितान् शब्दादींस्तु जानाति पश्यति ।

श्रुत भावि तथा बुद्ध्या सर्व द्रव्याणि वेत्ति वा ॥८७८॥

इसमें प्रथम द्रव्य परत्व से इस तरह मति ज्ञानी सामान्यतः सर्व पदार्थों को जानता है और विशेषतः इसके देश आदि भेद भी जानता है, परन्तु इन पदार्थों (द्रव्यों) के सर्व विशेषों की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय आदि को स्पष्ट रूप में समझता है, सर्वथा-परिपूर्ण देखकर समझ नहीं सकता जो कि योग्य देश में रहे शब्दादि को जानता है और देखता भी है अथवा तो वह मतिज्ञानी-श्रुतभावित-बुद्धि की अपेक्षा से सर्व द्रव्यों को जानता है। (८७६ से ८७८)

लोकालोकौ क्षेत्रतश्च कालतस्त्रिविधं च तम् ।

सर्वद्वा वा भावतस्तु भावानौदयिकादिकान् ॥८७६॥

तथा क्षेत्र से अर्थात् इसके विस्तार की बात करते हैं तो इसका विषय लोक और अलोक तक है; काल से इसका विषय भूत, भविष्य व वर्तमान इस तरह सर्व काल तक का है और भाव की अपेक्षा से औदयिक आदि भावों को बताने तक का है। (८७६)

आह च भाष्यकारः-

आए सोत्ति पगारो ओध देसेण सव्वदव्वाइं ।

धम्मत्थि काइयाइं जाणइ न उ सव्वभावेण ॥८८०॥

इस विषय में भाष्यकार कहते हैं कि- यह देश अर्थात् प्रकार ओघा देश से अर्थात् ओघ से धर्मास्तिकाय आदि सर्व द्रव्य को जानता है परन्तु सर्वभाव से अर्थात् पर्याय सहित नहीं जानता। (८८०)

खेत्तं लोगालोगं कालं सव्वद्धमहव तिविहं पि ।

पंचोदइ याईए भावे जन्नेयमेव इयं ॥९॥

मति ज्ञानी लोक अलोक सारा जानता है, सर्व अर्थात् तीनों काल को जानता है और उदयिक आदि पांच भावों को जानता है ।

आए सोत्ति व सुत्तं सुओवलद्धे सुत्तस्य मरणाणं ।

पसरइ तज्झा वणया विणावि सुत्ताणुसारेणं ॥८८१॥

अथवा यह देश अर्थात् श्रुत लेना- इससे श्रुत द्वारा प्राप्त हुआ हो वह श्रुतानुसारी मति ज्ञान है और उसके बिना हुआ हो वह अश्रुतानुसारी मति ज्ञान है अर्थात् चिन्तन किए बिना भी श्रुत का मति ज्ञान श्रुत के अनुसार होता ही है । (८८१)

तत्वार्थं वृत्ताप्युक्तम्- "मति ज्ञानी तावत् श्रुत ज्ञानोपलब्धेषु अर्थेषु यदाक्षर

परिपाटीमन्तरेण स्वभ्यस्त विधः द्रव्याणि ध्यायति तदा मति ज्ञान विषयः सर्व द्रव्याणि न तु सर्वे पर्यायाः। अल्पकाल विषयत्वान्मनसश्चासक्तेः॥ इति॥" इति मति ज्ञान विषयः॥

तत्त्वार्थ वृत्ति में भी कहा है कि- अच्छी तरह विधाम्यास किया हो ऐसा मति ज्ञानी जब श्रुत ज्ञान से उपलब्ध पदार्थों में अक्षरों की परिपाटी बिना भी द्रव्यों का मनन करता है तब सर्व द्रव्यों-पदार्थों का मनन मति ज्ञान का विषय होता है अर्थात् सर्व द्रव्यों को वह जानता है, परन्तु सर्व पर्यायों को नहीं जानता क्योंकि मन बहुत अल्प काल ही आसक्त रहता है।' इस तरह मति ज्ञान का विषय का स्वरूप पूर्ण हुआ ।

भाव श्रुतोपयुक्तः सन् जानाति श्रुत केवली ।

दश पूर्वादिभूद् द्रव्याण्यभिलाष्यानि केवलम् ॥८८२॥

यद्यप्यभिलाष्यार्थानन्तांशोऽस्ति श्रुते तथाप्येते ।

सर्वेस्युः श्रुत विषयः प्रसंगतोऽनुप्रसंगाच्च ॥८८३॥

जो श्रुत केवली हों वे भावश्रुत से उपयुक्त होते हैं; तब दस पूर्व आदिक में रहे केवल अभिलाष्य द्रव्यों को ही जान सकते हैं । यद्यपि श्रुत में अभिलाष्य (कथित) अर्थों के अनन्त अंश हैं फिर भी यह सब इन प्रसंग से और अनुप्रसंग से श्रुत का विषय रूप हैं । (८८२-८८३)

यथाहु..... पत्र वणिज्जा भावा अणंत भागो उ अणभिलष्याणं।

पत्रवणिज्जाणं पुण अणंत भागो सुअनिबद्धो ॥९॥

कहा है कि- कथन करने योग्य पदार्थों का अनन्तवां भाग अनभिलाष्य है और अनन्तवां भाग श्रुतनिबद्ध अर्थात् श्रुत के विषय में गूँथा है । (९)

तथा..... श्रुतानुवर्ति मनसा ह्यक्षुदर्शनात्मना ।

दशपूर्वादिभूद् द्रव्याण्यभिलाष्यानि पश्यति ॥८८४॥

तदारतस्तु भजना विज्ञेया धी विशेषणः ।

वृद्धैस्तु पश्यतीत्यत्र तत्त्वमेतन्निरूपितम् ॥८८५॥

तथा अचक्षु दर्शनात्मक - श्रुतानुवर्ति - मन द्वारा दश पूर्वों में रहा अभिलाष्य द्रव्यों को देखता है । उसके अतिरिक्त सम्बन्ध में बुद्धि विशेष को लेकर भजना जानना । यहां 'मन से देखता है' इस तरह कहा है, उस सम्बन्ध में वृद्ध-अनुभवी ने कहा है कि । (८८४-८८५)

सर्वात्मना दर्शनेऽपि पश्यत्येव कथंचन ।

ग्रैवेयकानुत्तरादि विमानालेख्य निर्मितैः ॥८८६॥

कथंचित् ये सब आत्मा दर्शन रूप से भी देखते हैं, क्योंकि ये ग्रैवेयक और अनुत्तर आदि विमानों के चित्र भी पहिचान सकते हैं । (८८६)

नीचेत्स्यात्सर्वथादृष्टस्यालेख्य करणं कुतः ।

तुर्योपांगे श्रुतज्ञान पश्यन्नापि प्ररूपिता ॥८८७॥

यदि इस तरह न हो तो सर्वथा नहीं देखे की पहिचान कैसे कर सकता है ? तथा चौथे उपांग में कहा है कि श्रुत ज्ञान में देखने का गुण भी है । (८८७)

क्षेत्रतः कालतोऽप्येवं भावतो वेत्ति सश्रुतः ।

भावानौदयिकादीन् वा पर्यायान् वाभिलाष्यगान् ॥८८८॥

इति श्रुतज्ञान विषयः॥

क्षेत्र से और काल से भी श्रुत ज्ञान का विषय इसी ही तरह है और भाव से यह उदयिक आदि भावों को अथवा अभिलाष्य पर्यायों को जानता है । (८८८)

इस तरह श्रुत ज्ञान के विषय का स्वरूप कहा है ।

द्रव्यतोथावधिज्ञानी रूपिद्रव्याणि पश्यति ।

भाषातैजसयोरन्तः स्थानि तानि जघन्यतः ॥८८९॥

उत्कर्षतस्तु सर्वाणि सूक्ष्माणि बादराणि च ।

विशेषाकारतो वेत्ति ज्ञानत्वादस्य निश्चितम् ॥८९०॥

अब अवधि ज्ञान के विषय में कहते हैं । अवधि ज्ञानी जघन्यतः द्रव्य से भाषा और तेज के रूपी द्रव्यों को देखते हैं और उत्कृष्ट रूप में तो सर्व सूक्ष्म बादर पदार्थों को विशेषाकार में देखते हैं । इसको इसके ज्ञान के लिए निश्चय है । (८८९-८९०)

क्षेत्रतोऽथावधिज्ञानी जघन्याद्वित्ति पश्यति ।

असंख्येयतमं भागमंगुलस्योपयोगतः ॥८९१॥

और क्षेत्र से अवधि ज्ञानी विस्तार में अंगुल के असंख्यातवें भाग को भी जघन्यतः उपयोग पूर्वक जान सकता है, देख सकता है । (८९१)

विशेषश्च अत्र-

जावइया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणग जीवस्स ।

ओगाहणा जहणा ओहि खित्तं जहत्तं तु ॥८६२॥

इति नन्दी सूत्रादिषु नन्दी वृत्तौ च ॥

यहां विशेष इतना है कि तीन समय के आहार वाले सूक्ष्म 'पनक' के जीव की जितनी जघन्य अवगाहना है, उतनी अवधि ज्ञान क्षेत्र से जघन्य विषय है। इस तरह नन्दी सूत्र आदि तथा नन्दी सूत्र की वृत्ति में कहा है। (८६२)

योजन सहस्त्रमानो मत्स्यो मृत्वा स्वकाय देशे यः ।

उत्पद्यते हि पनकः सूक्ष्मत्वेनेह स ग्राह्यः ॥८६३॥

एक-हजार योजन का मत्सर (मछली) मृत्यु प्राप्त कर अपने काया देश के अन्दर सूक्ष्म पनक रूप में उत्पन्न होता है, यह यहां पनक समझना। (८६३)

संहृत्य चाद्य समये स ह्यायामं करोति च प्रतरम् ।

संख्यातीताख्यांगुल विभाग बाहृत्य मानं तु ॥८६४॥

एक समय में वह अपना विस्तार संहर (समाप्त) करके अंगुल असंख्यातवें भाग जितना प्रतर करता है। (८६४)

स्व तनू प्रथुत्व मात्रं दीर्घत्वेनापि जीव सामर्थ्यात् ।

तमपि द्वितीय समये संहृत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥८६५॥

फिर दूसरे समय में जीव के सामर्थ्य से उस प्रतर को भी संहर कर अपने शरीर की चौड़ाई के समान लम्बाई की सूचि करता है। (८६५)

संख्यातीताख्यांगुल विभाग विष्कम्भमान निर्दिष्टम् ।

निज तनु प्रथुत्व दीर्घं तृतीय समये तु संहृत्य ॥८६६॥

उत्पद्यते च पनकः स्वदेह देशेसुसूक्ष्म परिणामः ।

समय त्रयेण तस्यावगाहना यावती भवति ॥८६७॥

तावज्जघन्यमवधेरालम्बन वस्तु भाजनं क्षेत्रम् ।

इदमित्थमेव मुनिगण सुसम्प्रदायात्समव ज्ञेयम् ॥८६८॥

त्रिभि विशेषकम् ॥

तीसरे समय में अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने विष्कम्भ वाला, और जितना चौड़ा उतना ही दीर्घ- इतना अपना शरीर संहर कर अपनी कायादेश में

अत्यन्त सूक्ष्म 'पनक' होता है । इस तरह तीन समय में उसकी जितनी अवगाहना होती है, उतना अवधि ज्ञान का आलम्बन भाजन रूप जघन्य क्षेत्र है। यह बात इसी तरह ही है। इसी प्रकार मुनिगण सम्प्रदाय को लेकर समझना। (८६६ से ८६८)

तथा... मच्छो महल्ल काओ संखित्तो जोऊ तीहिं समए हिं ।

स किरपयत्त विसेसेण सण्हभोगाहणं कृणइ ॥१॥

वह इस प्रकार से है- अत्यन्त बड़ी अवगाहना वाली मछली मृत्यु होने के समय में वहीं उत्पन्न होने वाली हो, वह प्रयत्न विशेष से तीन समय द्वारा संक्षिप्त करके अपनी आवगाहना अत्यन्त सूक्ष्म करती है। (१)

सण्हयस सण्हयरो सुहुमो पणओ जहन्न देहो य ।

स बहु विसेस विसिद्धो सण्हयरो सव्वदेहेसु ॥८६६॥

पढम बितीये सण्हो जायइथूलो चउत्थ या इसु ।

तइय समयंमि जुग्गो गाहिओ तो तिसमयाहारो ॥६००॥

सूक्ष्म करते भी सूक्ष्म जघन्य देह वाला सूक्ष्म पनक 'सूक्ष्म वनस्पति काय' होता है, वह अति विशेषता द्वारा विशिष्ट सर्व देह में अपने सूक्ष्म देह करता है । वह जीव उत्पन्न होने के बाद पहले और दूसरे समय में सूक्ष्म होता है और चौथे आदि समय में स्थूल हो जाता है, इससे यहां अवधि ज्ञान के जघन्य उपयोग में तीन समय वाला योग्य है । इसलिए तीन समय का आहार लिए हुए को सूक्ष्म पनक समझना । उसकी जितनी अवगाहना होती हो उतनी अवधि ज्ञान का जघन्य विषय जानना । (८६६-६००)

अलोके लोक मात्राणि पश्येत् खंडान्यसंख्यशः ।

उत्कृष्टतोऽवधि ज्ञान विषयः शक्त्यपेक्षया ॥६०१॥

अवधि ज्ञानी निज शक्ति के अनुसार उत्कृष्ट रूप में अलोक के विषय में लोकाकाश सदृश असंख्य खंडों को देख सकता है। (६०१)

असंख्य भागमावल्या जघन्यादेश पश्यति ।

उत्सर्पिण्यवसर्पिणीः उत्कर्षेणत्वसंख्यकाः ॥६०२॥

अतीता अपि तावत्यस्तावत्योऽनागता अपि ।

तावत्काले भूत भावि रूपि द्रव्यावबोधतः ॥६०३॥

तथा काल से वह जघन्यता से एक आवली का असंख्यवां भाग जान

सकता है और उत्कृष्ट रूप में असंख्यात भूत तथा भावी अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल जान सकता है । क्योंकि उतने समय में तो इतने भूत और भावी रूपी द्रव्यों का बोध हो जाता है । (६०२-६०३)

पर्यायान् भावतोऽनन्ता नेष वेत्ति जघन्यतः ।

आधार द्रव्यानन्त्येन प्रतिद्रव्यं तु नेयतः ॥६०४॥

अवधि ज्ञानी भाव से- जघन्यता से आधार रूप अनन्त द्रव्यों के आधेय अनन्त पर्यायों को जानता है, परन्तु प्रत्येक द्रव्य के उतने पर्याय नहीं जानता है । (६०४)

उत्कर्षतोऽपि पर्यायाननन्तान् वेत्ति पश्यति ।

सर्वेषा पर्यवाणां चानन्तेऽशे तेऽपि पर्यवा ॥६०५॥

उत्कृष्ट रूप में भी वह अनन्त पर्यायों को जानता है और देखता है जबकि ये अनन्त पर्याय भी सर्व पर्यायों के अनन्तवें भाग होते हैं । (६०५)

अथावधेर्विषययोर्नियमः क्षेत्र कालयोः ।

मिथो विभाव्यते वृद्धिमाश्रित्य श्रुत वर्णितः ॥६०६॥

अब अवधि ज्ञान के क्षेत्र और कालरूप विषयों का परस्पर वृद्धि सम्बन्धी जो नियम शास्त्र में वर्णन किया है उसे कहते हैं । (६०६)

अंगुलस्यासंख्यभागं क्षेत्रतो यो निरीक्षते ।

आवत्यसंख्येय भागं कालतः स निरीक्षते ॥६०७॥

अंगुल का असंख्यातवां भाग क्षेत्र से जितना विस्तार में हो उतना उसे जान सकता है, व काल से एक अंगुल का असंख्यातवां भाग कितना है यह जान सकता है । (६०७)

प्रमाणांगुलमत्राहुः केचित् क्षेत्राधिकारतः ।

अवधेरधिकाराच्च केचनात्रोच्छ्रयांगुलम् ॥६०८॥

अंगुल को कई यहां क्षेत्र का अधिकार होने से प्रमाण अंगुल कहते हैं, जबकि और कई यहां अवधि ज्ञान का अधिकार है- इस तरह कहकर उत्सेधांगुल कहते हैं । (६०८)

यश्चांगुलस्य संख्येयं क्षेत्रतो भागमीक्षते ।

आवल्या अपि संख्येयं कालतोऽशं स वीक्षते ॥६०९॥

तथा जो व्यक्ति क्षेत्र से अंगुल का संख्यातवां भाग देखता है, वह काल से आवली का भी संख्यातवां भाग देख सकता है । (६०६)

सम्पूर्णमंगुलयस्तु क्षेत्रतो वीक्षते जनः ।

पश्यदावलिकान्तः स कालतोऽवधि चक्षुषा ॥६१०॥

जो मनुष्य क्षेत्र से एक सम्पूर्ण अंगुल प्रमाण देखता है वह अवधि ज्ञान रूपी चक्षु से काल से आवली के अन्तर्भाग भी देख सकता है । (६१०)

पश्यत्रावलिकां पश्येदंगुलानां पृथक्त्वकम् ।

क्षेत्रतो हस्तदर्शी च मुहूर्त्तान्तः प्रपश्यति ॥६११॥

काल से आवली पर्यन्त देखने वाला व्यक्ति क्षेत्र से अंगुल के पृथक्त्व को भी देख सकता है और क्षेत्र से एक हाथ प्रमाण देखने वाला काल से एक मुहूर्त्त पर्यन्त देखता है । (६११)

कालतो भिन्नदिन दृक् गव्यूतं क्षेत्रमीक्षते ।

योजन क्षेत्रदर्शी च भवेद्दिन पृथक्त्व दृक् ॥६१२॥

एक दिन के अलग-अलग अन्तर्भाग को देखने वाला एक गव्यूत के विस्तार तक देख सकता है और जो एक योजन प्रमाण क्षेत्र-विस्तार देखता है वह काल से दो से नौ दिन तक के समय को देख सकता है । (६१२)

कालतो भिन्नपक्षक्षी पंच विंशति योजनीम् ।

क्षेत्रतो चेत्ति भरतदर्शी पक्षमनूनकम् ॥६१३॥

जो पक्ष दिन तक में होने वाली घटना दृष्टि से देखता है वह व्यक्ति पच्चीस योजन तक के विस्तार में देख सकता है और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र देखने वाला स्वामी सम्पूर्ण पक्ष जितने काल को नजर से देख सकता है । (६१३)

जानाति जम्बूद्वीपं च कालतोऽधिक मासवित् ।

कालतो वर्ष वेदी स्यात् क्षेत्रतो नर लोकवित् ॥६१४॥

एक मास से अधिक काल तक को जानने वाला मनुष्य जम्बूद्वीप तक के विस्तार पर्यन्त देख सकता है और अखिल मनुष्य लोक को दृष्टि के आगे देखने वाला सम्पूर्ण वर्ष में होने वाली सर्व बात जान सकता है । (६१४)

रूचक द्वीपदर्शी च पश्येत् वर्ष पृथक्त्वकम् ।

संख्येय कालदर्शी च संख्येयान् द्वीप वारिधीन् ॥६१५॥

तथा जो अवधि ज्ञान का स्वामी रूचक द्वीप तक का सर्व जानता है वह दो से नौ वर्ष तक का सब जान सकता है और संख्यात वर्ष की बात का जानकार संख्यात द्वीप समुद्र तक का देख सकता है । (६१५)

सामान्यतोऽत्र प्रोक्तोऽपि कालः संख्येय संज्ञकः ।

विज्ञेयः परतो वर्ष सहस्रादिह धीधनैः ॥६१६॥

यहां काल सामान्य से यद्यपि संख्यात वर्षों का कहा है फिर भी वह समय एक हजार वर्ष से तो अधिक समय तक बुद्धिमान को जानना चाहिये । (६१६)

असंख्यकाल विषयेऽवधौ च द्वीप वार्धयः ।

भजनीया असंख्येयाः संख्येया अपि कुत्रचित् ॥६१७॥

तथा जहां अवधि ज्ञान का विषय काल से असंख्यात वर्ष का होता है वहां क्षेत्र से असंख्य द्वीप-समुद्रों का होता है अथवा कहीं पर संख्यात द्वीप-समुद्रों का भी होता है । (६१७)

विज्ञेया भजना चैवं महन्तो द्वीपवार्धयः ।

संख्येया एव कि चैकोऽप्येक देशोऽपि सम्भवेत् ॥६१८॥

यह भजना का स्पष्टाकार इस तरह है- महान् द्वीप समुद्र तो संख्यात ही हैं अर्थात् इसमें से एक द्वीप या समुद्र भी हो अथवा इस द्वीप या समुद्र का एक देश मात्र भी हो- इन दोनों में कोई एक हो । (६१८)

तत्र स्वयंभूरमण तिरश्चोऽसंख्य कालिके ।

अवधौ विषयस्तस्याम्भोधेः स्यादेक देशकः ॥६१९॥

इसका कारण यह है कि स्वयंभूरमण समुद्र और तिरछा लोक का असंख्य कालिक अवधि ज्ञान होने पर भी इसका विषय समुद्र का एक देश मात्र होता है । (६१९)

योजनापेक्षयासंख्यमेव क्षेत्रं भवेदिह ।

असंख्य काल विषयेऽवधाविति तु भाव्यताम् ॥६२०॥

यहां योजन की अपेक्षा से क्षेत्र असंख्यात होता है और वह असंख्य काल का अवधि ज्ञान होता है, तब ही होता है । (६२०)

काल वृद्धौ द्रव्य भाव क्षेत्र वृद्धिरसंशयम् ।

क्षेत्र वृद्धौ तु कालस्य भजना क्षेत्र सौक्ष्म्यतः ॥६२१॥

काल में वृद्धि होती है तब द्रव्य, भाव और क्षेत्र में निश्चय वृद्धि होती है परन्तु क्षेत्र में वृद्धि होती है तब काल में वृद्धि होती है और उस समय में न भी हो क्योंकि क्षेत्र काल से सूक्ष्म है इसलिए ऐसा है । (६२१)

द्रव्य पर्याययोर्बुद्धिरवश्यं क्षेत्रवृद्धितः ।

अत्राशेषो विशेषश्च ज्ञेयः आवश्यकवादितः ॥६२२॥

क्षेत्र बढ़ा हो तो द्रव्य और पर्याय बढ़ता ही है, इसमें तो कुछ कहना ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विशेष आवश्यक आदि सूत्रों में से जान लेना चाहिए। (६२२)

अवध्यविषयत्वेनामूर्त्तयो क्षेत्र कालयोः ।

उक्त क्षेत्र काल वर्तिद्रव्ये कार्यात्र लक्षणा ॥६२३॥

इत्यवधिज्ञान विषयः।

अरूपी क्षेत्र और काल अवधि ज्ञान का विषय न होने से, इनके विषय में कहे क्षेत्र-काल में रहे द्रव्य का समावेश कर लेना चाहिए । (६२३)

इस प्रकार अवधि ज्ञान के विषय का स्वरूप कहा है ।

स्कन्धाननन्तानृजुधीरूपयुक्तो हि पश्यति ।

नृक्षेत्रे संज्ञि पर्याप्तैर्मनस्त्वे नोररी कृतान् ॥६२४॥

अब मनः पर्यव ज्ञान के विषय में कहते हैं- ऋजुमति मनः पर्यव ज्ञानी मुनिराज उपयोग दे दे तो मनुष्य क्षेत्र में संज्ञी पर्याप्त जीवों ने मन रूप में स्वीकार किए अनन्त स्कंधों को देखता है। (६२४)

मनोज्ञानस्य नितरां क्षयोपशम पाटवात् ।

विशेषयुक्तमेवासौ वेत्ति वस्तु घटादिकम् ॥६२५॥

इतना ही नहीं परन्तु मनः पर्यवज्ञान के अति क्षयोपशम के कारण वह- जो घटादिक वस्तु देखता है वह इसको प्रत्येक विशेषतापूर्वक ही देखता है। (६२५)

स्कन्धान् जानाति विपुलधीश्च तानेव साधिकान् ।

अपेक्ष्य द्रव्य पर्यायान् तथा स्पष्टतरानपि ॥६२६॥

और विपुलमति वाला मनः पर्यव ज्ञानी उन्हीं स्कंधों को द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से विशेष स्पष्ट रूप में और अधिक रूप में देखता है । (६२६)

द्विधा मनः पर्यवस्य द्रव्यतो विषयोऽह्यम् ।

विषयं क्षेत्रतोऽथास्य ब्रवीमि ऋजुधीरिह ॥६२७॥

इस तरह मनः पर्यव ज्ञान के विषय को द्रव्य से दो प्रकार का कहा है। अब इसके विषय में क्षेत्र के आधार पर बात कहते हैं। (६२७)

अधस्तिर्यग्लोक मध्या द्वेत्ति रत्न प्रभाक्षि तौ ।

ऋजुधीर्योजन सहस्रान्तं संज्ञि मनांस्यसौ ॥६२८॥

ज्योतिश्चक्रोपरितलं यावदूर्ध्वं स वीक्षते ।

तिर्यक् क्षेत्रं द्विषाथोधिसार्धं द्वीप द्वयात्मकम् ॥६२९॥

ऋजुमति मनः पर्यव ज्ञानी नीचे तिर्यग् लोक के मध्य भाग से रत्नप्रभा नाम की नरक पृथ्वी (नारकी) में हजार योजन पर्यन्त संज्ञी जीवों के मन जानते हैं, ऊँचे ज्योति मंडल के ऊपर तल भाग तक देख सकते हैं और तिरछे दो समुद्र और अढाई द्वीप तक का विस्तार देख सकते हैं। (६२८-६२९)

उक्तं क्षेत्रं विपुल धीर्निर्मलं वीक्षते तथा ।

विष्कम्भायामबाहल्यैः सार्धद्वयंगुल साधिकम् ॥६३०॥

परन्तु विपुलमति तो उक्त विस्तार क्षेत्र की लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई अढाई अंगुल अधिक होती हो, फिर भी निर्मलता से देख सकते हैं। (६३०)

“अयं भगवती सूत्र वृत्ति राजप्रश्नीय वृत्ति नंदी सूत्र नन्दी मलयगिरीय वृत्ति विशेषावश्यक वृत्ति कर्म ग्रन्थ वृत्त्याद्यभिप्रायः॥”

यह भगवती सूत्र वृत्ति, राजप्रश्नीय वृत्ति, नन्दीसूत्र, नन्दी सूत्र के ऊपर की मलयगिरि की वृत्ति, विशेषावश्यक वृत्ति और कर्मग्रन्थ वृत्ति आदि का अभिप्राय है।

“सामान्यं घटादिवस्तु मात्र चिन्तन परिणाम ग्राहि किंचिद् विशुद्धतरं अर्धतृतीयांगुलहीन मनुष्य क्षेत्र विषयं ज्ञानं ऋजुमति लब्धिः। संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र विषयं विपुलमति लब्धिः इति प्रवचन सारोद्धार वृत्त्यौपपातिकवृत्त्योः लिखितम्॥”

‘प्रवचन सारोद्धार तथा उच्चाइ सूत्र की वृत्ति में इस सम्बन्ध में इस तरह कहा है कि-घटादि वस्तु का केवल चिन्तन के परिणाम ग्रहण करने वाला है वह विशेष अशुद्ध अढाई अंगुल कम रहता है इतना मनुष्य क्षेत्र उसका विषय है-ऐसा सामान्य ज्ञान ऋजुमति का है जबकि विपुलमति के ज्ञान का विषय तो संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र है।’

“अर्धं तृतीय द्वीप समुद्रेषु अर्धं तृतीयांगुल हीनेषु संज्ञिमनांसि ऋजुमतिः

जानाति। विपुलमति अर्धं तृतीयैः अंगुलः अभ्यधिकेषु॥ इति चार्थतः श्री ज्ञान-
सूक्तिकावश्यक्या चूर्णौ॥”

तथा ज्ञान सूरीश्वर कृत आवश्यक सूत्र की टीका में इस प्रकार भावार्थ है-
अढाई द्वीप समुद्रों में से अढाई अंगुल कम करते रहें- इतने क्षेत्र में रहे संजी जीवों
का मन ऋजुमति जानता है और विपुलमति इससे अढाई अंगुल अधिक क्षेत्र के
संजी जीवों के मन जानता है ।

ऋजुधीः कालतः पल्यासंख्य भागं जघन्यतः ।

अतीतानागतं जानात्युत्कर्षादपि तन्मितम् ॥६३१॥

तावत्काल भूत भावि मनः पर्याय बोधतः ।

तावन्तमेव विपुलधीस्तु पश्यति निर्मलम् ॥६३२॥

ऋजुमति जघन्यता से पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना अतीत अनागत
काल जानता है । उत्कृष्ट रूप से भी उतना ही जानता है। विपुलमति मनः पर्यव
ज्ञानी भी उतने ही भूत भावीकाल को जानता है परन्तु यह निर्मलता से जानता है ।

(६३१-६३२)

सर्वभावानन्तभाग वर्तिनोऽनन्त पर्यवान् ।

ऋजुधीर्भावतो वेत्ति विपुलस्तांश्च निर्मलान् ॥६३३॥

इति मनः पर्याय विषयः॥

ऋजुमति भाव से सर्व पदार्थों के अनन्तवें भाग में रहे अनन्त पर्यायों को
जानता है। विपुलमति इन पर्यायों को निर्मल रूप में जानता है । (६३३)

इस तरह मनः पर्यव ज्ञान के विषय का स्वरूप है ।

केवली द्रव्यतः सर्वं द्रव्यं मूर्त्तमममूर्त्तकम् ।

क्षेत्रतः सकलं क्षेत्रं सर्वं कालं च कालतः ॥६३४॥

भावतः सर्वं पर्यायान् प्रति द्रव्यमनन्तकान् ।

भावतो भाविनो भूतान् सम्यग् जानाति पश्यति ॥६३५॥ युगम्।

विहायः कालयोः सर्वं द्रव्येषु संगतावपि ।

पृथगुक्तिः पुनः क्षेत्र कालरूढयेति चिन्त्यताम् ॥६३६॥

इति केवल ज्ञान विषयः॥

अब केवल ज्ञान के विषय में कहते हैं - केवल ज्ञानी रूपी- अरूपी सर्व

द्रव्यों, सर्व काल, सर्व क्षेत्र को देखते हैं । और भाव से प्रत्येक द्रव्य के अनन्त पर्याय, भूत, भविष्य और वर्तमान- इस तरह सर्व काल को सम्यग् प्रकार से जानते हैं, देखते हैं । आकाश और काल का सर्व द्रव्यों में समावेश हो जाता है फिर भी अलग कहा है । वह इसलिए कि क्षेत्र और काल कहने की रूढ़ि ऐसी है । (६३५-६३६)

इस तरह केवल ज्ञान का स्वरूप है ।

मत्यज्ञानी तु मिथ्यात्वमिश्रेणावगहादिना ।

औत्यत्तिक्यादिना यद्वा पदार्थान् विषयीकृतान् ॥६३७॥

वेत्यवायादिनातांश्च पश्यत्यवगहादिना ।

मत्यज्ञानेन विशेष सामान्यवगमात्माना ॥६३८॥ *युग्मं।*

अब तीन अज्ञान के विषय में कहते हैं कि-१- मति अज्ञानी मनुष्य मिथ्यात्व मिश्र अवग्रह आदि अथवा उत्पत्ति की बुद्धि आदि के विषय रूप पदार्थों को मति अज्ञान के कारण विशेष सामान्य बोधात्मक अवाय आदि से जानता है और अवग्रह आदि से देखता है । (६३७-६३८)

मत्यज्ञान परिगतं क्षेत्रं कालं च वेत्यसौ ।

मत्यज्ञान परिगतान् स वेत्ति पर्यवान् पि ॥६३९॥

और वह मति अज्ञान से परिगत क्षेत्र और काल को जानता है, तथा इसी तरह मति अज्ञान से पर्याय को भी जानता है । (६३९)

श्रुताज्ञानी पुनर्मिथ्याश्रुत सन्दर्भगर्भितान् ।

द्रव्य क्षेत्र काल भावान् वेत्ति प्रज्ञापत्यपि ॥६४०॥

२- श्रुत अज्ञानी मनुष्य मिथ्याश्रुत युक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानता है और अन्य का प्ररूपण (कथन) भी करता है । (६४०)

एवं विभगानुगतान् विभंग ज्ञानवानपि ।

द्रव्य क्षेत्र काल भावान् कथंचिद्वेत्ति पश्यति ॥६४१॥

यथा स शिव राजर्षिर्दिशां प्रोक्षक तापसः ।

विभंग ज्ञानतोऽपश्यत् समद्वीप पयोनिधीन् ॥६४२॥

निशम्य तान् संख्येयान् जगद्गुरु निरूपितान् ।

संदिहानो वीर पार्श्वे प्रवज्य स ययो शिवम् ॥६४३॥

३- इसी तरह विभंग ज्ञानी भी विभंग ज्ञान के अनुगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और

भाव को कुछ जानता है और देखता है । जैसे कि- दिशाओं को मानो पवित्र करने के लिए जल उड़ाता शिव राजर्षि विभंग ज्ञान के कारण सात द्वीप समुद्र को जानता था, परन्तु फिर संदेह में पड़ गया और श्री वीर परमात्मा के पास असंख्य द्वीप समुद्र की बातें सुनकर उसकी शंका का समाधान हुआ और दीक्षा लेकर मोक्ष में गया । (६४१ से ६४३)

इदं पंचविधं ज्ञानं जिनेर्यत्परिकीर्तितम् ।

तद् द्वे प्रमाणे भवतः प्रत्यक्षं च परोक्षकम् ॥६४४॥

श्री जिनेश्वर भगवान् ने जो यह पांच प्रकार का ज्ञान कहा है वह दो प्रमाण रूप है; १- प्रत्यक्ष प्रमाण और २- परोक्ष प्रमाण । (६४४)

स्वस्य ज्ञानस्वरूपस्य घटादेर्यत्परस्य च ।

निश्चायकं ज्ञानमिह तत्प्रमाणमिति स्मृतम् ॥६४५॥

यदाहुः- स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । इति॥

ज्ञान रूप अपनी आत्मा को तथा घटादि रूप पर को निश्चय करने वाला जो ज्ञान है उसे यहां प्रमाण रूप समझना चाहिए। (६४५)

क्योंकि कहा है कि 'स्वपर व्यवसायि ज्ञानम् प्रमाणम्' ऐसी उक्ति है।

तत्रेन्द्रियानपेक्षं यज्जीवस्यैषोपजायते ।

तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं स्यादन्य ज्ञानत्रयात्मकम् ॥६४६॥

इन्द्रियों की अपेक्षा बिना ही जो जीव को उत्पन्न होता है वह प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण है और अन्तिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । (६४६)

इन्द्रियैर्हेतुभिः ज्ञानं यदात्मन्युपजायते ।

तत्परोक्षमिति ज्ञेयमाद्य ज्ञान द्वयात्मकम् ॥६४७॥

इन्द्रिय रूप हेतु द्वारा आत्मा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह दूसरा परोक्ष प्रमाण है। पहले दो ज्ञान भी परोक्ष प्रमाण हैं । (६४७)

प्रत्यक्षे च परोक्षे चावायांशो निश्चयात्मकः ।

यः स एवात्र साकारः प्रमाणव्यपदेश भाक् ॥६४८॥

प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण में जो निश्चयात्मक अवाय का अंश है, यही प्रमाण नामक साकार है । (६४८)

यथाभिहितम्-

साकारः प्रत्ययः सर्वो विमुक्तः संशयादिना ।

साकारार्थं परिच्छेदात्प्रमाणं तन्मनीषिणाम् ॥६४६॥

सामान्यैक गोचरस्य दर्शनस्यात एव च ।

न प्रामाण्यं संशयादेरप्येवं न प्रमाणात् ॥६४७॥

अत एव मतिज्ञाने सम्यक्त्व दलिकान्वितः ।

योऽवायांशः स प्रमाणं स्यात्पौदलिकं सद् दृशाम् ॥६४९॥

प्रक्षीण सप्तकानां चावायांश एव केवलः ।

प्रमाणमप्रमाणं चावग्रहाद्या अनिर्णय्यात् ॥६४२॥

कहा है कि- साकार प्रत्यय सर्व संशय रहित है और साकार पदार्थ के परिच्छेद से बुद्धिमानों ने इसे प्रमाण रूप माना है और इसी कारण से ही केवल एक सामान्य को ही गोचर दर्शन प्रमाण रूप नहीं गिना जाता है तथा संशय आदि भी प्रमाण रूप नहीं गिना जाता है। इसीलिए ही मतिज्ञान में सम्यक्त्व के दल (समूह) वाला जो अवायांश है वह पुद्गलिक निर्मल दृष्टि वालों का प्रमाण रूप है और जिसकी सर्व-सातों प्रकृतियां क्षीण हुई हों उनकी केवल अवायांश ही प्रमाणभूत हैं, परन्तु अवग्रह आदि तो अनिर्णय के कारण अप्रमाणभूत हैं। (६४६-६४२)

अयं च तत्त्वार्थं वृत्त्याद्यभिप्रायः ॥

इस तरह का तत्त्वार्थ वृत्ति आदि का अभिप्राय है।

“रत्नावतारिकादौ च मति ज्ञानस्य तद् भेदानां अवग्रहादीनां च सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाणत्वमुक्तम्। तथा च तद् तद्ग्रन्थः अवग्रहश्च ईहा च अवायश्च धारण च ताभिः भेदः विशेषः तस्मात् प्रत्येकं इन्द्रियानिन्द्रिय निबन्धनं प्रत्यक्षं चतुर्भेदम्। इति॥”

रत्नावतारिका में तो मतिज्ञान को और उसके अवग्रह आदि भेदों को व्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण गिना है। इस ग्रन्थ में कहा है कि- इहा, अवग्रह, अवाय और धारणा- ये चारों अलग-अलग भेद हैं। इससे प्रत्येक इन्द्रिय के और अनिन्द्रिय के कारण रूप जो प्रत्यक्ष प्रमाण हैं वह चार प्रकार के हैं।

श्रुतज्ञानेऽप्यवायांशः प्रमाणमनया दिशा ।

निमित्तापेक्षणादेते परोक्षे इति कीर्त्तिते ॥६४३॥

परोक्षं ह्यनलज्ञानं धूमज्ञानं निमित्तकम् ।

लोके तद्वदिमे ज्ञेये इन्द्रियादि निमित्तके ॥६५४॥

इदं च निश्चयं नयापेक्षया व्यपदिश्यते ।

प्रत्यक्षव्यपदेशोऽपि व्यवहारान्मतोऽनयोः ॥६५५॥

इस तरह श्रुत ज्ञान में भी अवायांश प्रमाणभूत कहलाता है। पूर्व में मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान दोनों को परोक्ष कहा है, यह निमित्त की अपेक्षा के कारण कहा है; जैसे धुएँ के ज्ञान रूप निमित्त वाला अग्नि का ज्ञान परोक्ष है वैसे ही लोक में मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान को भी इन्द्रियादिक निमित्त होने से, ये दोनों परोक्ष हैं यह सार कहा गया है, वह निश्चय नय की अपेक्षा से कहा है। व्यवहार में तो दोनों को प्रत्यक्ष प्रमाण भी कहा है। (६५३ से ६५५)

तथोक्तं नन्द्याम- "तं समासो दुविहं पणत्तं। तं इन्द्रियपच्चखं च नोइन्द्रिय पच्चखं च इत्यादि॥"

इस प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में नन्दी सूत्र में कहा है कि- 'प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, १- इन्द्रिय प्रत्यक्ष और २- नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष।'

ननु च प्रत्यक्षमनुमानं चागमश्चेति त्रयं विदुः ।

प्रमाणं कपिला आक्षपादास्तत्रोपमानकम् ॥६५६॥

मीमांसकाः षड्धापत्यभावाभ्यां सहोचिरे ।

द्वे त्रीणि वा काण भुजा द्वे बौद्धा आदितो विदुः ॥६५७॥

एकं च लौकायतिका प्रमाणानीत्यनेकथा ।

नैरुक्तानि किं तानि प्रमाणान्यथवान्यथा ॥६५८॥

यहां प्रमाण के सम्बन्ध में शिष्य प्रश्न करता है कि-कपिल मुनि के मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम- ये तीन प्रमाण माने हैं। अक्षपाद के मत में ये तीन और एक चौथा 'उपमान' अधिक है। मीमांसको के मत में इन चार के उपरांत पांचवां अर्थोपति और छठा अभाव - इस तरह छह हैं। कणाद ऋषि के मतानुसार पहले दो या तीन हैं, बौद्ध के मत में प्रथम के दो और नास्तिक के मत में केवल एक प्रत्यक्ष है। इस तरह प्रत्येक मत वालों ने अनेक प्रमाण माने हैं तो वे सर्व सत्य मानने या असत्य मानने चाहिए। (६५६ से ६५८)

अत्रोच्यते-

एतान्याद्य ज्ञान युग्मेऽन्तर्भूतान्यखिलान्यपि ।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष निमित्तक तथा किल ॥६५६॥

अ प्रमाणानि वायूनि मिथ्या दर्शन योगतः ।

असद् बोध व्यापृतेश्चोन्मत्त वाक्य प्रयोगवत् ॥६६०॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि- इन सब प्रमाणों का पहले दो प्रमाण में समावेश हो जाता है क्योंकि ये दोनों ज्ञान इन्द्रियार्थ के संनिकर्ष रूप से होते हैं। अन्यथा मिथ्यादर्शन के योग से असत् बोध के व्यापार के कारण से उन्मत्त की वाचालता के समान वह सब अप्रमाण हैं। (६५६-६६०)

पंचानामप्यथैतेषां सहभावो विचार्यते ।

एकं द्वे त्रीणि चत्वारि स्युः सहैकत्र देहिनि ॥६६१॥

अब इन पांचों ज्ञान का सहभाव अथवा एकत्रवास में विचार करना चाहिए क्योंकि इनमें से एक, दो, तीन या चार तक एक साथ में एक ही प्राणी में हो सकते हैं। (६६१)

तथाहि- प्राप्तं निसर्गं सम्यक्त्वं येनस्यात्तस्य केवलम् ।

मति ज्ञान मनवाप्तं श्रुतस्यापि शरीरिणः ॥६६२॥

अतः एव मतिर्यत्र श्रुतं तत्र न निश्चितम् ।

श्रुतं यत्र मतिज्ञानं तत्र निश्चितमेव हि ॥६६३॥

अयं तत्त्वार्थं वृत्त्याद्यभिप्रायः॥

तथा जिस प्राणी को निसर्गतः सम्यक्त्व प्राप्त हुआ हो उसे श्रुतज्ञान की प्राप्ति के बिना भी केवल मति ज्ञान तो होता है; इसके कारण से "मतिः यत्र श्रुतं तत्र" अर्थात् जहां मति-बुद्धि होती है वहां श्रुत होता है- यह बात निश्चित नहीं है, परन्तु जहां श्रुत होता है वहां मति ज्ञान होता है- यह बात निश्चित है। (६६२-६६३)

इस प्रकार तत्त्वार्थ वृत्ति आदि का अभिप्राय है ।

नन्दी सूत्रादौ तु- "जत्थ मइ नाणं तत्थ सूअ नाणं । जत्थ सुअ नाणं तत्थ मइ नाणं। इत्युक्तम् ॥"

नन्दी सूत्र आदि में तो कहा है- 'जहां मति ज्ञान है वहां श्रुत ज्ञान है और जहां श्रुत ज्ञान है वहां मति ज्ञान है।'

अतएव एकेन्द्रियाणामपि श्रुतज्ञान स्वीकृतं श्रुते ॥

इसी आधार पर ही आगम में 'एकेन्द्रिय जीव में भी श्रुत ज्ञान होता है' इस तरह स्वीकार किया है ।

यथा..... जह सुहुमं भाविंदिय नाणं दब्बिंदियावरोहे वि ।

द्रव्यसुआ भावमि विभाव सुअं पत्थिवाइणं ॥११॥

कहा है कि- जैसे द्रव्येन्द्रिय का अवरोध हुआ हो फिर भी सूक्ष्म भावेन्द्रिय का ज्ञान होता है, वैसे द्रव्य श्रुत का अभाव होने पर भी पृथ्वी आदि में भाव श्रुत होता है। (१)

“भावेन्द्रियोपयोगश्च बकुलादिवत् एकेन्द्रियाणां सर्वेषां भाव्यः॥”

और भाव इन्द्रियों का उपयोग तो बकुल आदि के समान सर्व एकेन्द्रियों में होता है। इस तरह समझना।

“तथा मलयगिरि पूज्या अप्याहुः नन्दी वृत्तौ-यद्यपि तेषां एकेन्द्रियादीनां परोपदेश श्रवणा सम्भवः तथापि तेषाविध क्षयोपशम भावतः कश्चित् अव्यक्तः अक्षरलाभो भवति। यद्दशात् अक्षरानुषक्तं श्रुतज्ञानं उपजायते। इत्थं चैतदंगी कर्त्तव्यम् तेषामपि आहाराद्यभिलाष उपजायते। अभिलाषश्च प्रार्थना। सा च यदीदमहं प्राप्नोमि तदा भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानु विद्मैव। ततस्तेषामपि काचित् अव्यक्ताक्षरोपलब्धिः अवश्यं प्रतिपत्तव्या॥” इति॥

पूज्यपाद आचार्य श्री मलयगिरि ने भी नन्दी सूत्र की टीका में कहा है कि- 'इन एकेन्द्रिय जीवों को अन्य के उपदेश से कर्ण गोचर होना असंभावित है फिर भी किसी प्रकार के क्षयोपशम के कारण उनको कुछ अव्यक्त अक्षर लाभ तो होता है और इसके कारण अक्षर रूप श्रुत ज्ञान भी आता है। इस बात को स्वीकार इस तरह करना कि- इनको भी आहार आदि की अभिलाषा होती है और अभिलाषा अर्थात् प्रार्थना और वह प्रार्थना भी 'यह वस्तु यदि मुझे मिल जाय तो बहुत अच्छा है' इत्यादि अक्षर संयुक्त ही है, तब इसके कारण से इन एकेन्द्रिय जीवों को भी कुछ अव्यक्त अक्षर की अवश्य प्राप्ति होती है- ऐसा समझना।'

मति ज्ञान श्रुत ज्ञान रूपे द्वे भवतः सह ।

त्रीणि ते सावधिज्ञाने समनः पर्यवे तु वा ॥६६४॥

चतुर्णां सहभावोऽपि छद्मस्थश्रमणे भवेत् ।

पंचानां सहभावे तु मत द्वितयमुच्यते ॥६६५॥

मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान दोनों एक साथ में होते हैं, जैसे ही उन दोनों के साथ में अवधि ज्ञान अथवा मनः पर्यव ज्ञान भी होता है। इस तरह होने से तीनों भी एक साथ होते हैं तथा केवल ज्ञान होने के पहले छाद्यस्थ रूप में श्रमण मुनि में चारों का सहभाव भी होता है। पांच ज्ञान के सहभाव के सम्बन्ध में दो मत हैं। (६६४-६६५)

केचिदूचुर्न नश्यन्ति यथाकैऽभ्युदिते सति ।

महांसि चन्द्र नक्षत्र दीपादीन्यखिलान्यपि ॥६६६॥

भवन्त्यकिंचित्कराणि किन्तु प्रकाशनं प्रति ।

छाद्यस्थिकानि ज्ञानानि प्रोद्भूते केवले तथा ॥६६७॥ युग्मं।

ततो न केवले नैषा सह भावो विरूध्यते ।

अव्यपारान्निष्फलानामप्यक्षाणाभिवाहंति ॥६६८॥

कईयों का इस तरह कहना है कि- जैसे सूर्य का अभ्युदय होने पर भी चन्द्र, नक्षत्र, दीपक आदि होते हैं लेकिन उसका प्रकाश बहुत नहीं होता, जैसे केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर चारों छाद्यस्थिक ज्ञानों का भी सहभाव तो रहता है, केवल ज्ञान के साथ में उसके सहवास में कोई विरोध नहीं आता, अर्हत्प्रभु में अव्याप्त होने से निष्फल रही इन्द्रिय के समान समझना। (६६६ से ६६८)

अन्ये त्वाहुर्न सन्धेव केवल ज्ञान शालिनि ।

छाद्यस्थिकानि ज्ञानानि युक्तिस्तत्राभिधीयते ॥६६९॥

अन्य और कोई इस तरह कहते हैं कि- केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर छाद्यस्थिक ज्ञान नहीं रहता वे अपने मतानुसार इस तरह युक्ति कहते हैं। (६६९)

अवाय सदद्रव्याभावात् मतिज्ञानं न सम्भवेत् ।

न श्रुत ज्ञानमपि यत्तन्मतिज्ञान पूर्वकम् ॥६७०॥

रूपि द्रव्यैक विषयै न तृतीय तुरीयके ।

लोकालोक विषयक ज्ञानस्य सर्ववेदिनः ॥६७१॥

क्षयोपशम जान्यन्यान्यन्त्यं च क्षायिकं मतम् ।

सह भावस्तदेतेषां पंचनामेति नैचितीम् ॥६७२॥

अपाय रूपी सदद्रव्य का अभाव होने से मति ज्ञान संभव नहीं है और मति ज्ञान के बिना श्रुत ज्ञान भी संभव नहीं है। जिसे एक रूपी द्रव्यमात्र ही विषय है उसे तीसरा और चौथा ज्ञान भी संभव नहीं है क्योंकि पांचवें ज्ञान वाला-सर्ववेदी प्रभु में लोकालोक सर्व विषयक ज्ञान है। अन्तिम के अलावा चारों ज्ञान क्षयोपशम से

उत्पन्न होते हैं और अन्तिम पांचवां केवल ज्ञान क्षायिक होता है। इस तरह अलग-अलग प्रकार होने से पांचवां अकेला वास होना उचित नहीं है। (६७० से ६७२)

कटे सत्युपकल्प्यन्ते जालकान्यन्तरान्तरा ।

मूलतः कटनाशे तु तेषां व्यवहृतिः कुतः ॥६७३॥

दृष्टान्त रूप में एक चटाई लें, वह किसी स्थान पर अस्तित्व में हो तो उसके बीच-बीच में जालियां होने की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु यदि मूल में चटाई नहीं होती तो फिर जालियों की कल्पना करने की जरूरत ही कहां से हो सकती है ? (६७३)

किं च.....ज्ञान दर्शनयोरेवोपयोगौस्तौ यथाक्रमम् ।

अशेष पर्याय द्रव्य बोधिनाः सर्ववेदिनः ॥६७४॥

एकस्मिन् समये ज्ञान दर्शनं चापरक्षणे ।

सर्वज्ञस्योपयोगौ द्वौ समयान्तरितौ सदा ॥६७५॥

तथा सर्वज्ञ-परमात्मा को अशेष द्रव्य और इसके पर्यायों का बोध कराने वाले ज्ञान तथा दर्शन का उपयोग अनुक्रम से ही होता है अर्थात् एक समय में ज्ञान होता है और दूसरे समय में दर्शन होता है। इस तरह सदा दोनों का उपयोग अलग-अलग समय में होता है। (६७४-६७५)

तथाहुः.....नाषामि दंसणामि य एतो एक्क तरयमि उवउत्ता ।

सव्वस्स केवलिस्सवि जुगवंदो नत्थि उवओगा ॥६७६॥

तथा आगम में कहा है कि- ज्ञान और दर्शन इन दो में से एक समय के अन्दर एक में ही सर्व केवलिया उपयोग वाले होते हैं, एक साथ में दोनों में उपयोग नहीं होता है। (६७६)

इदं सैद्धान्तिक मतं तार्किकाः केचनोचिरे ।

स्यातामेवोपयोगौ द्वापेकस्मिन् समयेऽर्हतः ॥६७७॥

अन्यथा कर्मणा इव स्यादावा कता मिथः ।

एकै कस्योपयोगस्यान्योपयोगोदय द्रुहः ॥६७८॥

यच्चैतयोः साद्यन्ता स्थितिरुक्तोपयोगयोः ।

व्यथास्यात्साध्यनुदयादेकै क समयान्तरे ॥६७९॥

यह अभिप्राय सिद्धान्तवादियों का है । तर्क शास्त्रियों में तो कई इस तरह कहते हैं कि अर्हत् परमात्मा को एक ही समय में दोनों अच्छी तरह से हो सकते हैं, यदि इस तरह न हो तो एक उपयोग, कर्म के समान अन्य उपयोग का द्रोह करके उसे रोक सकते हैं और इन दोनों उपयोगों की सादि अनन्त स्थिति कही है, यह भी एक-एक समय के अन्तर में उदय में नहीं आने से व्यर्थ होती है। (६७७ से ६७९)

अन्ये च केचन प्राहुः ज्ञान दर्शनयोरिह ।

नास्ति केवलिनो भेदो निःशेषावरण क्षयात् ॥६८०॥

ज्ञानैक देशः सामान्य मात्र ज्ञानं हि दर्शनम् ।

तत्कथं देशतो ज्ञानं सम्भवेत्सर्ववेदिनः ॥६८१॥

और अन्य कई इस प्रकार कहते हैं कि केवल ज्ञानी का तो आवरण मात्र ही क्षीण हो गया है तो उनको ज्ञान और दर्शन का भेद किसलिए है ? तथा ज्ञान का एक देश रूप सामान्य मात्र ज्ञान से दर्शन है तो फिर सर्ववेदी (सर्वज्ञ) को 'देशतः' - देश से अर्थात् विभागमात्र ज्ञान कैसे संभव हो सकता है ? (६८०-६८१)

उक्तं च.... केदु भणन्ति जुगवं जाणइ पासइ यं केवली नियमा।

अत्रे एगंतरियं इच्छन्ति सुओर्वए सेणं ॥१॥

अत्रे व चेव वीसु दंसणमिच्छन्ति जिणवरिन्दस्या ।

जं चियं केवल नाणं तं चियं से दंसणं बिंति ॥२॥

कहा है कि-कइयों के मतानुसार केवल ज्ञानी निश्चय से एक साथ में ही जानते हैं और देखते हैं तथा कई लोग तो श्रुत का आधार देकर कहते हैं कि ज्ञान व दर्शन दोनों एकान्तरिक हैं तथा अन्य कई जिन प्रभु का भिन्न दर्शन मानते नहीं हैं, परन्तु जो केवल ज्ञान है यही दर्शन है- इस तरह कहते हैं । (१-२)

“अत्र च भूयान् युक्ति सन्दर्भः अस्ति। स तु नन्दी वृत्ति सम्मत्यादि-भ्योऽवसेयः॥”

इस सम्बन्ध में अनेक युक्ति प्रयुक्ति लेख हैं । वह सर्व नन्दी सूत्र वृत्ति, सम्मति तर्क आदि ग्रन्थों में से जान लेना चाहिए ।

अथप्रकृतम्-

विनैताभ्यांपरः कश्चिन्नरोपयोगोऽर्हतां मतः ।

ततः कथं भवेत्तेषां मत्यादि ज्ञान सम्भवः ॥६८२॥

इत्यादि प्रायः अर्थतः तत्त्वार्थ भाष्य वृत्ति सम्भवः॥

अब प्रस्तुत विषय पर कहते हैं- अर्हत् प्रभु को ज्ञान और दर्शन- इन दो के उपरांत तीसरा उपयोग तो कहा नहीं है तब उनको मति ज्ञान आदि कहां से संभव हो सकता है? (६८२)

इत्यादि अर्थ का विस्तार प्रायः तत्त्वार्थ भाष्य की वृत्ति में है वहां से जान लेना ।

अथ ज्ञान स्थितिर्द्वैधा प्रज्ञप्ता परमेश्वरैः ।

साद्यनन्ता सादि सान्ता तत्राद्या केवल स्थितिः ॥६८३॥

शेष ज्ञानानां द्वितीया तत्राद्य ज्ञानयोर्लघुः ।

अन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टा षट्षष्टिः सागराणि च ॥६८४॥ युगम्।

अब ज्ञान की स्थिति के विषय में कहते हैं । जिनेश्वर भगवान ने ज्ञान की स्थिति दो प्रकार की कही है- १- सादि अनन्त और २- सादि सान्त । केवल ज्ञान की स्थिति सादि अनन्त है और अन्य चार की सादि सान्त है। पहले दो ज्ञान की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागरोपम की है । (६८३-६८४)

इयं चैवम् त्रयस्त्रिंशत्वारिंशानौ भवौ द्वौ विजयादिषु ।

द्वाविंशत्यब्धिमानान् वा भवांस्त्रीनच्युतादियु ॥६८५॥

कृष्योत्कर्षात् शिवं यायात् सम्यकत्वमथवा त्यजेत् ।

सातिरेका नर भवैः षट्षष्टिर्वारिंशियस्तदा ॥६८६॥ युगम्।

वह इस तरह से- विजय आदि में तैंतीस-तैंतीस सागरोपम के दो जन्म अथवा अच्युत देवलोक आदि में बाईस-बाईस - सागरोपम के तीन जन्म लेकर उत्कृष्ट मोक्ष प्राप्त करता है अथवा समकित का वमन कर देता है तब मनुष्य जन्म द्वारा छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक काल होता है । (६८५-६८६)

यदाहुः- दो बारे विजयाइसु गयस्स तित्रचुए अहव ताइ ।

अइरेगं नरभवियं नाणा जीवाण सव्वद्धं ॥१॥

शास्त्रों में कहा है कि- दो बार विजय आदि में जाने से अथवा तीन बार अच्युत देवलोक आदि में जाने से छियासठ सागरोपम काल होता है। उसमें मनुष्य जन्म की स्थिति अधिक गिनने से तो कुछ अधिक काल होता है। नाना प्रकार के जीवों की अपेक्षा से यह ज्ञान सर्व काल में होता है। (१)

अथोत्कृष्टावधिज्ञान स्थितिरेषैव वर्णिता ।
 जघन्या चैक समयं सा त्वेवं परिभाव्यते ॥६८७॥
 यदा विभंगक ज्ञानी सम्यकत्वं प्रतिपद्यते ।
 तदा विभंगक समये तस्मिन्नेववधिर्भवेत् ॥६८८॥
 क्षणे द्वितीये तद् ज्ञानं चेत्यतेन्मरणादिना ।
 तदा जघन्या विज्ञेयावधिज्ञान स्थितिर्बुधैः ॥६८९॥

अवधि ज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति उतनी ही- छियासठ सागरोपम की होती है। इससे जघन्य स्थिति एक समय की है। वह इस प्रकार-जब विभंग ज्ञानी समकित प्राप्त करता है तब विभंग के समय में ही उसे अवधि ज्ञान होता है। यदि मृत्युकाल आदि के कारण दूसरे क्षण में उस ज्ञान से गिरे तो अवधि ज्ञान की जघन्य स्थिति होती है। (६८७-६८८)

संयतस्याप्रमत्तत्वे वर्तमानस्य कस्यचित् ।
 मनोज्ञानं समुत्पद्य द्वितीय समये पतेत् ॥६९०॥
 एव मनः पर्यवस्य स्थितिर्लध्वी क्षणात्मिका ।
 देशोनापूर्वं कोटी तु महती सापि भाष्यते ॥६९१॥

अप्रमत्त रूप में रहे किसी संयति (संयमी) को मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ दूसरे ही क्षण में गिरता है। ऐसा कभी होता है, इसके कारण से इसकी जघन्य स्थिति एक समय की कहलाती है। जबकि इसकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कोटि से कुछ कम कहलाती है। (६९०-६९१)

पूर्वं कोटयायुषोदीक्षा प्रतिपत्तेरनन्तरम् ।
 मनोज्ञाने समुत्पन्ने भावज्जीवं स्थिते च सा ॥६९२॥
 स्थितिर्लध्वी ऋजुमति मनोज्ञान व्यपेक्षया ।
 अन्यत्त्वं प्रतिपातित्वादा कैवल्यं हि तिष्ठति ॥६९३॥ युग्मं।

किसी पूर्व कोटि के आयुष्य वाले जीव को दीक्षा स्वीकार करने के बाद मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो और यावत्जीव तक रहे, उस जीव की उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कहे के अनुसार पूर्व कोटि से कुछ कम रहती है और जघन्य स्थिति एक समय की कही है। यह ऋजुमति मनः पर्यव ज्ञान की अपेक्षा से कहा है। विपुलमति मनः पर्यव ज्ञान तो अप्रतिपाती होने से केवल ज्ञान की प्राप्ति तक रहता है। (६९२-६९३)

केवल स्थितिरूक्तैव साद्यनन्तेत्यनन्तरम् ।
मत्याज्ञान श्रुताज्ञान स्थितिस्त्रेधा भवेदथ ॥६६४॥
अनाद्यनन्ता भव्यानां भव्यानां द्विविधा पुनः ।
अनादि सान्ता साद्यन्ता तत्राद्या ज्ञान सम्भवे ॥६६५॥

केवल ज्ञान की स्थिति तो सादि अनन्त है, वह पहले कह दिया है। अब मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान की स्थिति तीन प्रकार की कही है- १- अनादि अनन्त, २- अनादि सान्त और ३- सादि सान्त । अभव्य अनादि अनन्त होते हैं। भव्य अनादि सान्त और सादि सान्त दो प्रकार के होते हैं। इसमें प्रथम प्रकार की अनादि सांत स्थिति जब अज्ञान मिटकर ज्ञान संभव होता है तब होती हैं । (६६४-६६५)

सादि सान्ता पुनर्द्वेधा जघन्योत्कृष्ट भेदतः ।
जघन्यान्तर्मुहूर्त्तं स्यात् सा चैव परिभाव्यते ॥६६६॥
जन्तो भ्रष्टस्य सम्यकत्वात् पुनरन्तर्मुहूर्त्ततः ।
सम्यकत्वलब्धौ लब्ध्वी स्याद ज्ञानद्वितय स्थितिः ॥६६७॥

और सादि सान्त के भी दो भेद हैं, १- जघन्य और २- उत्कृष्ट । उसमें जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का होता है । वह इस तरह- समकित से पतित हुए प्राणी को पुनः अन्तर्मुहूर्त्त में समकित प्राप्त हो तो दोनों अज्ञानों की जघन्य स्थिति होती है । (६६६-६६७)

अनन्त काल चक्राणि कालतः परमास्थितिः ।
देशोनं पुद्गल परावर्त्तार्द्धं क्षेत्र तस्तु सा ॥६६८॥
भावना..... सम्यकत्वतः परिभ्रश्यं वनस्पत्यादिषु भ्रमन ।
सम्यकत्वंलभतेऽवश्यं कालेनेतावता पुनः ॥६६९॥

उनकी उत्कृष्ट स्थिति काल से अनन्त काल चक्र तक की होती है और क्षेत्र से अर्धपुद्गल परावर्तन से कुछ अधिक होती है और वह इस तरह है कि- समकित से पतन होने से वनस्पति आदि में परिभ्रमण करते हुए इतने काल में पुनः निश्चय से समकित प्राप्त करता है। (६६८-६६९)

जघन्यात्वेक समयं विभंगस्य स्थितिः किल ।
उत्पद्य समयं स्थित्वा भ्रमयतः सा पुनर्भवत् ॥१०००॥
त्रयास्त्रिशत्सागराणि विभंगस्य स्थितिर्गुरु ।
देशो नया पूर्व कोटयाधिकानि तत्र भावना ॥१००१॥

देशोनपूर्व कोटयायुः कश्चिदंगी विभंगवान् ।

ज्येष्ठायुरप्रतिष्ठाने तिष्ठेत् विभंग संयुतः ॥१००२॥

इति ज्ञान स्थितिः ॥

विभंग ज्ञान की स्थिति जघन्यतः एक समय की होती है । जो ज्ञान उत्पन्न हुआ हो वह एक समय ही रहता है - वह ज्ञान की स्थिति कहलाती है। और इस विभंग ज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति तैत्तिरीय सागरोपम में कुछ पूर्व कोटि रहती है। पूर्व कोटि से सहज कुछ कम आयुष्य वाला कोई विभंग ज्ञानी जीव उत्कृष्टतः इतना समय विभंग ज्ञान सहित अप्रतिष्ठान नाम के नारकी जन्म में रहता है। ऐसा भाव है। (१००० से १००२)

इस तरह ज्ञान की स्थिति का स्वरूप समझना ।

अथ अन्तरम् ।

मत्यादि ज्ञानतो भ्रष्टः पुनः कालेन यावता ।

ज्ञानमाप्नोति मत्यादि ज्ञानानामन्तरं हि तत् ॥१००३॥

अब ज्ञान के अन्तर के विषय में कहते हैं - मति ज्ञान आदि ज्ञान से भ्रष्ट हुआ प्राणी पुनः जितने काल में ज्ञान प्राप्त करता है उतना मति ज्ञान आदि ज्ञान का अन्तर जानना। (१००३)

अन्तर काल चक्राणि कालतः स्यान्मति श्रुते ।

देशोनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं क्षेत्रतोऽन्तरम् ॥१००४॥

मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान का अन्तर उत्कृष्ट रूप में काल से अनन्त काल चक्रों का होता है और क्षेत्र से अर्धपुद्गल परावर्तन का होता है। (१००४)

एवमेवावधिमनः पर्याय ज्ञानयोः परम् ।

अन्तर्मुहूर्त्तं मात्रं च सर्वेष्वेष्वन्तरं लघु ॥१००५॥

तथा अर्वाधि ज्ञान और मनः पर्याय ज्ञान का अन्तर उत्कृष्टतः इतना ही होता है। जबकि इन सब का अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। (१००५)

केवलस्यान्तरं नास्ति साद्यन्ता हि त स्थितिः ।

अनाद्यन्तानादि सान्तेऽज्ञानद्वयेऽपि नान्तरम् ॥१००६॥

केवल ज्ञान का अन्तर नहीं है क्योंकि इसकी स्थिति सादि अनन्त है तथा अनादि अनन्त और अनादि सान्त है इन दोनों के अज्ञान में भी अन्तर नहीं है। (१००६)

सादि सान्ते पुनस्तत्राधिका षट्षष्टि सागराः ।

इयमुत्कृष्ट सम्यकत्व स्थितिरेव तदन्तरम् ॥१००७॥

सादि सान्त- अज्ञान द्वय में छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक अन्तर होता है और वह समकित की उत्कृष्ट स्थिति के समान है । (१००७)

अन्तरं स्याद्विभंगस्य ज्येष्ठं कालो वनस्पतेः ।

अन्तर्मुहूर्त्तमेतेषु त्रिषु ज्ञेयं जघन्यतः ॥१००८॥

विभंग ज्ञान का उत्कृष्ट अन्तर वनस्पति के काल समान है । तीनों अज्ञानों का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का जानना । (१००८)

स्तोक मनोज्ञा अवधिमन्तोऽसंख्य गुणास्ततः ।

मति श्रुत ज्ञानवन्तो मिथस्तुल्यास्ततोऽधिका ॥१००९॥

मनः पर्यव ज्ञानी सब से कम है, अवधि ज्ञानी इससे अनन्त गुणा हैं, मति ज्ञानी और श्रुत ज्ञानी दोनों परस्पर बराबर हैं और अवधि ज्ञानी से अधिक संख्या में हैं । (१००९)

असंख्येय गुणास्तेभ्यो विभंगज्ञान शालिनः ।

केवल ज्ञानिनोऽनन्त गुणास्तेभ्यः प्रकीर्तिताः ॥१०१०॥

इससे भी असंख्य गुणा विभंग ज्ञानी होते हैं और इससे अनन्ता गुणा केवल ज्ञानी होते हैं । (१०१०)

तदनन्तगुणास्तुल्या मिथो द्वय ज्ञान वर्तिनः ।

अप्यष्ट स्वेषु पर्याया अनन्ताः कीर्तिता जिनैः ॥१०११॥

इससे अनन्त गुणा और परस्पर समान दोनों अज्ञान वाले हैं । पांच ज्ञान और तीन अज्ञान - इन आठों में प्रभु ने अनन्त पर्याय कहे हैं । (१०११)

सर्वेषां पर्यवाद्देधा स्वकीया पर भेदतः ।

स्वधर्म रूपास्तत्र स्वे पर धर्मात्मकाः परे ॥१०१२॥

सर्व के पर्याय १- स्व पर्याय और २- पर पर्याय, इस तरह दो प्रकार के हैं। स्वधर्म रूप - यह स्वपर्याय है और परधर्म रूप - यह पर पर्याय है । (१०१२)

क्षयोपशम वैचित्र्यान्मतेरवग्रहादयः ।

अनन्त भेदा षट् स्थान पतितत्वाद् भवन्ति हि ॥१०१३॥

क्षयोपशम की विचित्रता के कारण मति ज्ञान छः स्थानों में विभाजित हुआ है। इस तरह अवग्रह आदि के अनन्त भेद होते हैं । (१०१३)

षट् स्थानानि चैवम्-

संख्येयासंख्येयानन्त भागैर्वृद्धिर्यथाक्रमम् ।

संख्येयासंख्येयानन्त गुणैर्वृद्धिरितीह षट् ॥१०१४॥

अनन्तासंख्यसंख्यानामनन्तासंख्यसंख्यकाः ।

भेदाः स्युरित्यनन्तास्ते मति ज्ञानस्य पर्यवाः ॥१०१५॥

मति ज्ञान के छः स्थान इस प्रकार हैं - १- संख्येय भाग वृद्धि, २- असंख्येय भाग वृद्धि, ३- अनन्त भाग वृद्धि, ४- संख्येय गुण वृद्धि, ५- असंख्येय गुण वृद्धि और ६- अनन्त गुण वृद्धि । इसमें अनन्त के असंख्येय के और संख्येय के अनन्त असंख्येय और संख्येय भेद हैं और इससे मति ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं। (१०१४-१०१५)

प्रतिज्ञेयं मति ज्ञानं विभिद्येत यतोऽथवा ।

ज्ञेयानन्त्यात्ततोऽनन्ता मति ज्ञानस्य पर्यवाः ॥१०१६॥

अथवा जितने ज्ञेय हैं उतने मति ज्ञान के भेद हैं और यह ज्ञेय अनन्त हैं, इसलिए भी मति ज्ञान के अनन्त पर्याय हैं। (१०१६)

निर्विभागैः परिच्छेदैः च्छिन्नं कल्पनयाथवा ।

अनन्त खंडं भवतीत्यानन्ता मति पर्यवाः ॥१०१७॥

अथवा मति ज्ञान के निर्विभाग परिच्छेदों में छिन्न हुए कल्प, ऐसे परिच्छेद-खंड अनन्त होते हैं । इस कारण से भी मति ज्ञान के अनन्त पर्याय हैं। (१०१७)

स्वेभ्योऽनन्तगुणा ये च सन्त्यर्थान्तर पर्यवाः ।

यतस्तत्रोपयुज्यन्ते ततस्तेऽप्यस्य पर्यवाः ॥१०१८॥

तथा अपने से अनन्त गुणा हैं वे अन्य पदार्थों के पर्याय हैं, वे भी इसमें उपयुक्त होते हैं इसलिए वे भी इसके पर्याय हैं। (१०१८)

यद्यप्यस्मिन्नसंबद्धा तथाप्यस्योपयोगतः ।

तेऽदसीया असंबद्ध स्वोपयोगि धनादिवन्त् ॥१०१९॥

यद्यपि वे उसमें सम्बद्ध नहीं हैं फिर भी उपयुक्त रूप से वह उसके हैं। सम्बद्ध नहीं होने पर भी उपयोगी होने से अमुक धन जैसे अपना कहलाता है उसी तरह यहां भी समझना । (१०१९)

आह च -

ननु जह ते परज्जाया न तस्स अह तस्स न परपज्जाया ।
 आचार्यः प्राह- जं तंभि असंबद्धा तो परपज्जायवव देसो ॥१०२०॥
 चायसपज्जाय विसेसणाइणा तस्स जमुवज्जुज्जन्ति ।
 सधणमिवासं बद्धं हवन्ति तो पज्जवा तस्स ॥१०२१॥

अन्य स्थान पर भी इस बात की पुष्टि करते हैं - यहां ऐसी शंका करते हैं कि 'जब वह पर पर्याय है तब वह उसका नहीं है और यदि उसका है तो वह पर पर्याय नहीं है?' इसका उत्तर आचार्य भगवन्त देते हैं कि- यह पर पर्याय इसके साथ में सम्बद्ध नहीं है इसलिए है तथा स्व पर्याय ऐसे विशेषण के कारण अपने पदार्थ का त्याग होता है, परन्तु ऐसा विशेषण न होने पर उपयोग में आने से यह पर पर्याय भी इसका कहलाता है। असम्बद्ध होने पर भी अपने उपयोग में आते हुए धन के समान अपना कहलाता है। वैसे यहां भी समझना। (१०२०-१०२१)

“चायति त्यागेन स्व पर्याय विशेषणादिना च पर पर्याय घटादि पर्यायायेन कारणेन तस्य ज्ञानस्य उपयुज्यन्ते उपयोगं यान्ति। यतः घटादि सकल वस्तु पर्याय परित्यागे एवं ज्ञानादिरर्थः सुज्ञातो भवतीति सर्वे पर्यायाः परित्यागमुखेन उपयुज्यन्ते। तथा पर पर्याय सद्भावे एव एते स्व पर्याय । इति विशेषयितुं शक्या इति ॥ स्व पर्याय विशेषणेन पर पर्याया उपयुज्यन्ते इति तात्पर्यम् ॥”

सम्बन्ध रूप का त्याग होने पर स्वपर्याय ऐसे विशेषण का त्याग होने से, यह इसका कारण है - इस कारण से पर पर्याय अर्थात् घटा आदि के पर्यायों से ज्ञान उपयोग में आता है क्योंकि घट आदि सर्व वस्तुओं के पर्याय के परित्याग से ही ज्ञानादि का अर्थ सुज्ञात होता है। इस तरह सर्व पर्यायों के त्याग स्वरूप में उपयोग में आता है। तथा पर पर्याय रूप ऐसा कुछ हो - इसका सद्भाव हो तभी यह स्व पर्याय कहलाता है; यह कहना शक्य है। स्व पर्याय का विशेष करके पर पर्याय का उपयोग किया जाता है। ऐसा तात्पर्य है ।

श्रुतेऽप्यनन्ताः पर्यायाः प्रोक्ताः स्व पर भेदतः ।
 स्वीयास्तत्र च निर्दिष्टास्तेऽक्षरानक्षरादयः ॥१०२२॥

क्षयोपशम वैचित्र्याद्विषयानन्त्यतश्च ते ।

श्रुतानुसारि बो धानामानन्त्यात्स्युरनन्तका ॥१०२३॥

श्रुत ज्ञान के भी अनन्त पर्याय हैं और इससे स्व पर्याय और पर पर्याय - ये

दो भेद हैं । अक्षर, अनक्षर आदि स्व पर्याय हैं । क्षयोपशम की विचित्रता तथा विषयों के अनन्त रूप से श्रुतानुसारी ज्ञानों की भी अनन्तता के कारण ये पर्याय अनन्त होते हैं अथवा इस श्रुत ज्ञान के निर्विभाग परिच्छेद हैं इसलिए इसके पर्याय भी अनन्त हैं। (१०२२-१०२३)

अविभाग परिच्छेदैरनन्ता वा भवन्ति ते ।

अनन्ता पर पर्याया अप्यस्मिन्ते तु पूर्ववत् ॥१०२४॥

श्रुत ज्ञान के पर पर्याय भी अनन्त होते हैं । जैसे मति ज्ञान के पर पर्याय हैं, वैसे ही इसके समझ लेना, जो पूर्व में कह गये हैं। (१०२४)

अथवा स्यात् श्रुत ज्ञानं श्रुत ग्रन्थानुसारतः ।

श्रुत ग्रन्थशाक्षरात्मा तान्यकारादिकानि च ॥१०२५॥

अथवा श्रुत ज्ञान श्रुत ग्रंथ के अनुसार होते हैं, वह श्रुत ग्रन्थ अक्षर रूप है, वह अक्षर अकारादिक रूप हैं। (१०२५)

तच्चैकैकमुदात्तानुदात्त स्वरित भेदतः ।

अल्पानल्प प्रयत्नानुनासिकान्यविशेषतः ॥१०२६॥

संयुक्तासंयुक्तयोगद्वयादि संयोग भेदतः ।

आनन्त्याच्चाभिधेयानां भिद्यमानमनन्तथा ॥१०२७॥ युग्मं ।

इन अकार आदि अक्षरों के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अल्प प्रयत्न, अनल्प प्रयत्न, अनुनासिक अननुनासिक, संयोगी, असंयोगी, द्विक संयोगी इत्यादि अनेक भेद हैं, इसलिए उसके अनन्त अभिधेय (नाम) हैं इसलिए इसके भेद भी अनन्त हैं। (१०२६-१०२७)

केवलोलभतेऽकारः शेष वर्णयुतश्च यान् ।

ते सर्वेऽस्य स्व पर्यायास्तदन्ये पर पर्यवाः ॥१०२८॥

अन्य अक्षरों के साथ जोड़ने से केवल अकार का जो पर्याय होता है वह इसका स्व पर्याय कहलाता है, उसके बिना पर पर्याय कहलाता है। (१०२८)

एवं च अनन्त स्वान्य पर्यायमेकैकमक्षरं श्रुते ।

पर्यायास्तेऽखिल द्रव्य पर्यायराशिसम्पिताः ॥१०२९॥

इस तरह से श्रुत ज्ञान में एक-एक अक्षर के अनन्त स्व पर्याय और पर पर्याय होते हैं । और इन सब पर्यायों का कुल योग सर्व द्रव्य पर्याय के जितना होता है। (१०२९)

आह च - एकेकमख्वरं पुण स पर पञ्जाय भेयओ भिन्नम् ।

तं सव्व दव्व पञ्जायरसिमाणं मुणेयव्वम् ॥१०३०॥

जे लहइ केवलो सेसवण सहिओ अ पज्जवेऽगारो ।

ते तस्स पञ्जाया सेसा पर पज्जवा तस्स ॥१०३१॥

अन्यत्र स्थान पर भी कहा है कि- जैसे प्रत्येक अक्षर के स्व पर्याय हैं वैसे ही पर पर्याय भी हैं। ये सब पर्याय सर्व द्रव्य पर्यायों की राशि के समान होते हैं। केवल अकार को शेष वर्णों के साथ जोड़ने से जो पर्याय होते हैं वे इसके स्व पर्याय हैं और शेष इसके पर पर्याय हैं। (१०३०-१०३१)

अयं भावः- "यान् पर्यायान् केवलः अकारः शेष वर्ण सहितश्च लभते ते तस्य स्वपर्यायाः। शेषाः शेष वर्ण सम्बन्धिनो घटाद्यपरपदार्थ सम्बन्धिनश्च परपर्यायाः तस्य अकारस्य इति ॥"

इसका भावार्थ यह है कि- 'जो पर्याय केवल अकार को शेष वर्ण के साथ में जोड़ने से प्राप्त होता है वह स्व पर्याय है, शेष अर्थात् शेष वर्ण से संबन्धित और घटादि अपर पदार्थ सम्बन्धी पर्याय - यह अकार का पर पर्याय है।'

एवं विधानेक वर्ण पर्यायौघैः समन्वितम् ।

ततश्चानन्त पर्यायं श्रुत ज्ञानं श्रुतं श्रुते ॥१०३२॥

इसी तरह श्रुत ज्ञान अनेक पर्यायों की राशियों वाला है और इससे ही इसे शास्त्र में अनन्त पर्याय वाला कहा है। (१०३२)

अथावधेः स्वपर्याया विविधा या भिदोऽवधेः ।

क्षायोपशमिक भव प्रत्ययादि विभेदतः ॥१०३३॥

अब अर्वाधि ज्ञान के क्षायोपशमिक, भव प्रत्यय आदि भेद के कारण से इसके जो विविध भेद होते हैं वह इस अर्वाधि ज्ञान के स्व पर्याय हैं। (१०३३)

तिर्यग् नैरयिक स्वर्गिनरादि स्वामि भेदतः ।

अनन्तभिस्त्व विषय द्रव्य पर्याय भेदतः ॥१०३४॥

असंख्यभिस्त्व विषय क्षेत्राद्धाभेदतोऽपि च ।

निर्विभागैर्भागैश्च ते चैवं स्युरनन्तकाः ॥१०३५॥ युग्मं।

और ये तिर्यच, नारकी, देवता और मनुष्य आदि स्वामी भेद को लेकर तथा अनन्त भेद वाले, अपने विषय के द्रव्य पर्याय के भेद को लेकर अनन्त भेद वाले

तथा असंख्य भेद वाले, अपने विषय वाले क्षेत्र और काल के भेद को लेकर असंख्य भेद वाले, तथा इसके निर्विभाग विभाग को लेकर अनन्त भेद वाले होते हैं। (१०३४-१०३५)

एवं मनः पर्यवस्य केवलस्य च पर्यवाः ।

निर्विभागैर्विभागैः स्वे स्वाम्यादि भेदतोऽपि च ॥१०३६॥

अनन्त द्रव्य पर्याय ज्ञानाच्च स्युरनन्तका ।

अज्ञानत्रिययेऽप्यव ज्ञेया अनन्त पर्यवाः ॥१०३७॥ युग्मं ।

इसी तरह मनः पर्यव ज्ञान के और केवल ज्ञान के स्व पर्यायों के भी निर्विभाग विभागों को लेकर तथा स्वामी आदि भेद को लेकर तथा अनन्त द्रव्य पर्याय के ज्ञान को लेकर अनन्त पर्याय हैं। तीन अज्ञानों के भी इसी तरह अनन्त स्व पर्याय होते हैं। (१०३६-१०३७)

पर पर्यवास्तु सर्वत्र प्राग्वत् ।

पर पर्याय तो सर्वत्र पूर्ववत् हैं ।

अष्टाप्येतानि तुल्यानि व्यपेक्ष्य स्वान्यपर्यवान् ।

यद्वक्ष्येऽल्प बहुत्वं तदपेक्ष्य स्वीय पर्यवान् ॥१०३८॥

पांच ज्ञान और तीन अज्ञान मिलकर आठ, स्व और पर पर्याय की अपेक्षा से समान हैं और अब उनका अल्प-बहुत्व कहेंगे। वह केवल स्व पर्याय की अपेक्षा से कहा जायेगा। (१०३८)

तत्र स्युः स्वतः स्तोका मनः पर्याय पर्यवाः ।

मनो द्रव्यैक विषयमिदं ज्ञानं भवेद्यतः ॥१०३९॥

मनः पर्यव ज्ञान के पर्याय सर्व से कम है क्योंकि ज्ञान का विषय केवल मनो द्रव्य ही है। (१०३९)

एभ्योऽनन्त गुणाः किं च विभंग ज्ञान पर्यवाः ।

मनोज्ञानापेक्षया यद्विभंग विषयो महान् ॥१०४०॥

विभंग ज्ञान के पर्याय इससे अनन्त गुना हैं क्योंकि मनः पर्यव ज्ञान की अपेक्षा से विभंग ज्ञान का विषय बड़ा है। (१०४०)

आरभ्य नवमं ग्रंथैककादा सप्तमं क्षितिम् ।

ऊर्ध्वाधः क्षेत्रके तिर्यक् चासंख्य द्वीप बार्धिके ॥१०४१॥

रूपि द्रव्याणि कति चित्तपर्यायांश्च वेत्ति सः ।

अनन्तघ्नास्ते च मनोज्ञान ज्ञेय व्यपेक्षया ॥१०४२॥ युग्मं।

विभंग ज्ञानी ऊँचे नौवे ग्रैवेयक से लेकर नीचे सातवें नरक तक और तिर्यक असंख्य द्वीप समुद्र रूप में रहे रूपी पदार्थों को तथा इसके कुछ अल्प पर्यायों को जानता है । इसलिए पर्याय मनः पर्यव ज्ञानी के ज्ञेय की अपेक्षा से अनन्त गुणा हैं। (१०४१-१०४२)

समस्त रूपि द्रव्याणि प्रति द्रव्यमसंख्यकान् ।

भावान् वेत्तीत्यनन्तघ्ना विभंगापेक्षयावधौ ॥१०४३॥

अवधि ज्ञानी सर्व रूपी पदार्थों को तथा प्रत्येक पदार्थ के असंख्य भावों को जानता है, इसलिए विभंग ज्ञान की अपेक्षा से अवधि ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं। (१०४३)

अनन्त गुणितास्तेभ्यः श्रुत ज्ञान इदं यतः ।

सर्वमूर्त्तामूर्त्तं द्रव्य सर्व पर्याय गोचरम् ॥१०४४॥

इससे भी अनन्त गुणा श्रुत ज्ञान के पर्याय हैं, क्योंकि मूर्त्त-अमूर्त्त सर्व द्रव्य के पर्याय श्रुत अज्ञान का विषय हैं। (१०४४)

श्रुताज्ञाना विषयाणां केषांचित् विषयत्वतः ।

स्पष्टत्वाच्च श्रुतज्ञाने तेभ्यो विशेषतोऽधिकाः ॥१०४५॥

श्रुत ज्ञान के पर्याय, श्रुत अज्ञान का अविषय कितने पर्यायों का विषय भी होने से तथा स्पष्ट होने से, विशेष अधिक होते हैं। (१०४५)

अभिलाष्यानभिलाष्य विषयेऽनन्त संगुणाः ।

मत्य ज्ञाने श्रुत ज्ञानाद मिलाष्यैकगोचरात् ॥१०४६॥

केवल वचन गोचर श्रुत ज्ञान से मति अज्ञान के पर्याय अनन्त गुणा हैं । क्योंकि मति अज्ञान का विषय वचन गोचर तथा वचन अगोचर दोनों है, इसलिए पर्याय अनन्त गुणा हैं। (१०४६)

मतिज्ञान पर्यवाश्च ततोविशेषतोऽधिकाः ।

मत्यज्ञाना विषयाणां विषयत्वात् स्फुटत्वतः ॥१०४७॥

इससे भी विशेष अधिक मति ज्ञान के पर्याय हैं, क्योंकि मति अज्ञान के अविषय पदार्थ भी इसके विषय में आते हैं और वे स्पष्ट भी हैं। (१०४७)

तेभ्योऽप्यनन्त गुणिताः केवल ज्ञान पर्यवाः ।

सर्वद्वाभावि निखिल द्रव्य पर्याय भासनात् ॥१०४८॥

इति ज्ञानम् ॥२६॥

इससे भी अनन्त गुणा केवल ज्ञान के पर्याय हैं क्योंकि सर्वकाल में होने वाले सर्व द्रव्य पर्याय प्रकाशकारी हैं। (१०४८)

इस तरह से छब्बीस द्वार ज्ञान का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ।

अथ दर्शनम्

द्विरूपं हि भवेद्वस्तु सामान्यतो विशेषतः ।

तत्र सामान्य बोधो यस्त दर्शनमिहोदितम् ॥१०४९॥

अब सत्ताईसवें द्वार दर्शन के विषय में कहते हैं दो प्रकार से, १- सामान्य रूप से और २- विशेष रूप से वस्तु का बोध होता है। इसमें जो सामान्य रूप से बोध होता है उसे यहां दर्शन कहा है। (१०४९)

यथा प्रथमतो दृष्टो घटोऽयमिति बुध्यते ।

तद्दर्शनं तद्विशेष बोधो ज्ञानं भवेच्च तः ॥१०५०॥

जो पूर्व में देखा था वह यह घट है - ऐसी जानकारी हो, उसका नाम दर्शन है और इसका विशेष बोध हो वह ज्ञान है। (१०५०)

उपचार नये नेदं दर्शनं परिकीर्तितम् ।

विशुद्धनयतस्तच्चाणाकार ज्ञान लक्षणम् ॥१०५१॥

यहां जो दर्शन कहा है वह उपचार नय से कहा है। विशुद्ध नय से तो दर्शन का लक्षण अनाकार का ज्ञान है। (१०५१)

इदं साकार बोधात्प्रागवश्यमभ्युपेयते ।

अन्यथेदं किञ्चिदिति स्यात्कुतोऽव्यक्त बोधनम् ॥१०५२॥

अनेन च विनापि स्यात् बोधो साकार एव चेत् ।

तदैकसमयेनैव स्याद् घटादि विशेषवित् ॥१०५३॥

यह दर्शन अवश्य साकार बोध के पूर्व ही होता है। नहीं तो 'यह कुछ है' ऐसा अव्यक्त बोध कहां से होता ? और जब दर्शन बिना भी साकार बोध होता है तो वह एक ही समय में घट आदि का विशेष बोध भी हो जाता है। (१०५२ से १०५३)

तथोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ - " औपचारिक नयश्च ज्ञान प्रकारमेव दर्शन- मिच्छति।

शुद्ध नयः पुनः अनाकारमेव संगीरते दर्शनम् । आकारवच्च विज्ञानम् । आकारश्च विशेष निर्देशो भावस्य पर्यायतः प्रोक्तस्य च दर्शन समनन्तरमेव संपद्यते अन्तर्मुहूर्त्त काल भावित्वात् । आकार परिज्ञानाच्च प्राक् आलोचनं अवश्यं अभ्युपेयम् । अन्यथा प्रथमतः एव पश्यतः किमपि इदमिति कुतः अव्यक्त बोधनं स्यात् । यदि च आलोचनमंतरेण आकार परिज्ञानोत्पाद एवं पुंसः स्यात् तथा सति एक समय मात्रेण स्तंभ कुंभादीन् विशेषान् ग्रहणीयात् इति ॥”

तत्त्वार्थ वृत्ति में भी कहा है कि- 'औपचारिक नय के अनुसार ज्ञान प्रकार ही दर्शन कहलाता है और शुद्ध नय के अनुसार अनाकार दर्शन कहलाता है तथा विज्ञान आकार वाला होता है तथा आकार अर्थात् पर्याय से कहे भाव का विशेष निर्देश है और उस दर्शन के बाद में तुरन्त ही होता है क्योंकि इसका स्थितिकाल अन्तर्मुहूर्त्त ही होता है। तथा आकार परिज्ञान की पूर्व में आलोचना-विचार तो अवश्य स्वीकार करना ही पड़ता है, क्योंकि यदि स्वीकार न करें तो प्रथम दर्शन समय में ही 'यह कुछ है' ऐसा अव्यक्त बोध कहां से होता ? एवं यदि विचार किए बिना ही मनुष्य को आकार के ज्ञान की उत्पत्ति होती तो एक ही समय में स्तंभ कुंभ आदि विशेषों को ग्रहण करता ।'

सामान्येनवा बोधो यश्चक्षुषा जायतेऽङ्गिनाम् ।

तच्चक्षु दर्शनं प्राहुस्तस्यादा चतुरिन्द्रियात् ॥१०५४॥

प्राणी को चक्षु द्वारा सामान्यतः ज्ञान जो होता है उसे चक्षु दर्शन कहते हैं और वह चतुरिन्द्रिय जीवों से प्रारम्भ से होता है। (१०५४)

यः सामान्यावबोधः स्याच्चक्षुर्वर्जापरेन्द्रियैः ।

अचक्षुर्दर्शनं तस्यात् सर्वेषामपि देहिनाम् ॥१०५५॥

तथा चक्षु के अलावा अन्य इन्द्रियों से जो सामान्य अवबोध होता है वह अचक्षुदर्शन कहलाता है और वह सर्व प्राणियों को होता है। (१०५५)

तथोक्तं तत्त्वार्थवृत्तौ-“चक्षुर्दर्शनमित्यादि। चक्षुषा दर्शन उपलब्धिः सामान्यार्थ ग्रहणम् । स्कन्धावारोपयोगवत्तदहर्जातबालदारक नयनोपलब्धिवत्त्वा व्युत्पन्नस्यापि । अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रियैः श्रोत्रादिभिः सामान्यार्थ ग्रहणम् ॥” इति॥

इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थ सूत्र वृत्ति में कहा है कि- 'चक्षु दर्शन अर्थात् चक्षु द्वारा दर्शन- उपलब्धि और उस महा विद्वान् को भी छावणी के दर्शन के समान अथवा तुरन्त के उत्पन्न हुए बालक की दृष्टि के समान सामान्य पदार्थ के ग्रहण

रूप है। अचक्षु दर्शन अर्थात् चक्षु बिना श्रोत्र आदि इन्द्रियों से सामान्य अर्थ ग्रहण होता है।'

येनावधेरूपयोग सामान्यमवबुध्यते ।
 अवधि ज्ञानिनामेव तत्स्यादवधि दर्शनम् ॥१०५६॥
 यथैवमवधिज्ञाने भवत्यवधि दर्शनम् ।
 एवं विभंगेऽप्यवधि दर्शनं कथितं श्रुते ॥१०५७॥

जिसके द्वारा अवधि ज्ञान के उपयोग में सामान्य बोध-ज्ञान होता है उसका नाम अवधि दर्शन है, जो केवल अवधि ज्ञानी को ही होता है । जिस तरह अवधि ज्ञान में अवधि दर्शन होता है वैसे ही विभंग ज्ञान में भी अवधि दर्शन होता है। इस तरह शास्त्र में कहा है । (१०५६-१०५७)

अयं भाव सम्यग् दृगवधिज्ञाने सामान्यावगमात्मकम् ।
 यथैतत्स्यात्तथा मिथ्यादृग्विभंगेऽपि तद् भवेत् ॥१०५८॥

नाम्ना च कथितं प्राज्ञैस्तदप्यवधि दर्शनम् ।
 अनाकारत्वा विशेषाद्विभंग दर्शनं न तत् ॥१०५९॥

इसका भावार्थ इस प्रकार है कि- सम्यक् दृष्टि के अवधि ज्ञान में जैसे यह सामान्य बोध रूप अवधि दर्शन होता है, वैसे ही मिथ्या दृष्टि के विभंग ज्ञान में भी वह होता है और उसे भी ज्ञानियों ने अवधि दर्शन ही कहा है। क्योंकि अनाकार रूप दोनों में समान है और इससे उसको विभंग दर्शन नाम अलग नहीं दिया है । (१०५८-१०५९)

अयं सूत्राभिप्रायः ॥

आहुः कार्मग्रन्थिकास्तु यद्यपि स्तः पृथक्-पृथक् ।
 साकारेतर भेदेन विभंगावधि दर्शने ॥१०६०॥
 तथापि मिथ्या रूपत्वान्न सम्यग्वस्तु निश्चयः ।
 विभंगान्नाप्यनाकारत्वेनास्यावधि दर्शनात् ॥१०६१॥
 ततोऽनेन दर्शनेन पृथग्विवक्षितेन किम् ।
 तत्कार्म ग्रन्थिकैर्नास्य पृथगेतद्विवक्षितम् ॥१०६२॥

इन सूत्रों का अभिप्राय है- कर्म ग्रन्थ में तो इस तरह कहा है कि यद्यपि साकार और इससे इतर-निराकार भेदों को लेकर विभंग दर्शन और अवधि दर्शन

अलग-अलग हैं तथापि विभंग मिथ्या रूप होने से, इस कारण से सम्यक् रूप में वस्तु निश्चय नहीं हो सकता है, वैसे अवधि दर्शन से भी इसके निराकार रूप होने के कारण वस्तु निश्चय नहीं हो सकता है। इसलिए इस दर्शन को अलग कहने से क्या लाभ है ? दोनों एक ही हैं। (१०६० से १०६२)

तथोक्तम् सुप्ते अ विभंगस्स य परूवियं ओहि दंसणं बहुसो ।

कीस पुणो पडिसिद्धं कम्मपगडी पगरणं मि ॥१०६३॥

कहा है कि- सूत्र में विभंग ज्ञान में अवधि दर्शन कहा है, परन्तु कर्म प्रकृति के प्रकरण में इस बात का प्रतिषेध किया है। (१०६३)

“इत्याद्यधिकं विशेषणवत्याः प्रज्ञापनाष्टादश पदवृत्तितश्च अवज्ञेयम्॥”
अर्थात्- 'अधिक विस्तार' 'विशेषणवती' में से तथा प्रज्ञापना सूत्र के अठारहवें पद की टीका में से जान लेना।

तत्त्वार्थ वृत्ति कृतापि विभंगज्ञाने अवधि दर्शनं न अंगीकृतम्। “तथा च तद्ग्रन्थः अवधि दृगावरण क्षयोपशमात् विशेष ग्रहण विमुखः अवधिः अवधि दर्शनमित्युच्यते। नियमतस्तु तत्स्मग्दृष्टि स्वामि कम्।” इति॥

तत्त्वार्थ वृत्ति के कर्ताने भी विभंग ज्ञान के विषय में अवधि दर्शन स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस तरह कहा है- 'अवधि दर्शन के आवरण के क्षयोपशम से विशेष ग्रहण करने में विमुख जो अवधि ज्ञान है वह अवधि दर्शन कहलाता है। यह नियम केवल इतना ही है कि वह सम्यग् दृष्टि वाले को ही होता है। और को नहीं होता।'

सर्वं भूत भवद् भावि वस्तु सामान्य भावतः ।

बुध्यते केवल ज्ञानादनु केवल दर्शनात् ॥१०६४॥

केवल ज्ञान के बाद केवल दर्शन से भूत, भविष्य और वर्तमान की सर्व वस्तुओं को सामान्यतः जानते हैं। (१०६४)

आदौ दर्शनमन्येषां ज्ञान तदनुजायते ।

केवल ज्ञानिनामादौ ज्ञानं तदनुदर्शनम् ॥१०६५॥

केवल ज्ञानी के अलावा अन्य मति ज्ञानी आदि चार ज्ञान वाले को पहले दर्शन और बाद में ज्ञान होता है। जबकि केवल ज्ञानी के सम्बन्ध में तो पहले ज्ञान होता है और बाद में दर्शन होता है। (१०६५)

“अतएव सव्वन्नूणं सव्वरीसीणं इति पठयते ॥”

इसीलिए ही ‘सर्व ज्ञान वाले, सर्व दर्शन वाले, इस प्रकार अनुक्रम से सब स्थान पर पाठ आता है।’

प्रज्ञप्ताः सर्वतः स्तोका जन्तवोऽवधि दर्शनाः ।

असंख्यगुणितास्तेभ्यश्चक्षुर्दर्शनिनो मताः ॥१०६६॥

अवधि दर्शन वाले प्राणी सब से अल्प होते हैं, इससे असंख्य गुणा चक्षु दर्शन वाले होते हैं । (१०६६)

अनन्त गुणितास्तेभ्यो मताः केवल दर्शनाः ।

अचक्षुर्दर्शनास्तेभ्योऽप्यनन्त गुणिताधिकाः ॥१०६७॥

इससे अनन्त गुणा केवल दर्शन वाले होते हैं और इससे भी अचक्षु दर्शन वाले अनन्त गुणा हैं। (१०६७)

कालश्चक्षुर्दर्शनस्य जघन्योऽन्तर्मुहूर्त्तकम् ।

सातिरेकं पथोराशि सहस्रं परमः पुनः ॥१०६८॥

चक्षु दर्शन का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त्त का है और उत्कृष्ट काल सहस्र सागरोपम से अधिक है । (१०६८)

अचक्षुर्दर्शनस्यासावभव्यापेक्षया भवेत् ।

अनाद्यन्तोऽनादि सान्तो भव्यानां सिद्धियादिनाम् ॥१०६९॥

अचक्षु दर्शन का उत्कृष्ट काल अभव्य की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और मोक्ष जाने वाला भव्य की अपेक्षा से अनादि सान्त है । (१०६९)

जघन्येनैक समयः स्यात्कालोऽवधि दर्शने ।

उत्कर्षतो द्विः षट् षष्टिर्वाधयः साधिकामताः ॥१०७०॥

अवधि दर्शन का काल जघन्यतः एक समय है और उत्कृष्ट एक सौ बत्तीस सागरोपम से अधिक होता है । (१०७०)

ज्येष्ठो नन्ववधि ज्ञान कालः षट्षष्टि वाधयः ।

अवधेर्दर्शनं तर्हि यथाक्तो घटते कथम् ॥१०७१॥

यहां प्रश्न करते हैं कि- अवधि ज्ञान की स्थिति जब उत्कृष्ट छियासठ सागरोपम है तब अवधि दर्शन की एक सौ बत्तीस सागरोपम की स्थिति कैसे संभवित हो सकती है ? (१०७१)

अत्रोच्यते अवधौ च विभंगे चावधि दर्शनमास्थितम् ।

ततो द्वाभ्यां सहभावाद्युक्तः सोऽवधि दर्शने ॥१०७२॥

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि- अवधि ज्ञान और विभंग ज्ञान, इन दोनों में अवधि दर्शन रहा है इसलिए उन दोनों का साथ में सहभाव होने से अवधि दर्शन का १३२ (६६+६६ = १३२) सागरोपम का स्थिति काल युक्त ही है । (१०७२)

'अत्र बहु वक्तव्यम् । तत्तु प्रज्ञापनाष्टादशपद वृत्तितः असेयम् ॥'

'इस सम्बन्ध में कहने को तो बहुत है परन्तु वह श्री प्रज्ञापना सूत्र की अठारहवें पद की टीका से जान लेना।'

कालः सादिरनन्तश्चभवेत्केवल दर्शने ।

एषु कस्याप्यनादित्वं नाचक्षुर्दर्शनं बिना ॥१०७३॥

इति दर्शनम् ॥२७॥

केवल दर्शन का काल सादि अनन्त होता है । दर्शनों में अचक्षु दर्शन के सिवाय अन्य कोई दर्शन अनादि नहीं है। (१०७३)

इस प्रकार दर्शन के स्वरूप का वर्णन समाप्त हुआ ॥२७॥

अथ उपयोगाः ॥

चतुष्टयी दर्शनानां त्र्यज्ञानी ज्ञान पंचकम् ।

अमी द्वादश निर्दिष्टा उपयोगा बहु श्रुतः ॥१०७४॥

ज्ञान पंचकं ज्ञान त्रयं साकारका अमी ।

उक्ता शेषास्त्वनाकारश्चतुर्दर्शन लक्षणाः ॥१०७५॥

इति उपयोगाः ॥२८॥

अब अट्टाईसवें द्वार उपयोग के विषय में कहते हैं - चार दर्शन, तीन अज्ञान और पांच ज्ञान- इन चारह का बहुश्रुत पुरुषों ने 'उपयोग' कहा है। पांच ज्ञान और तीन अज्ञान - इन आठ का उपयोग साकार है और शेष चार अर्थात् दर्शन रूप उपयोग अनाकार होता है। (१०७४-१०७५)

इस तरह उपयोग का स्वरूप कहा है।

अथ आहारः ॥

आहारकाः स्युः छद्मस्थाः सर्वे वक्र गतिं बिना ।

त्रिचतुः समायान्ता स्यात्तत्रानाहारि तापि च ॥१०७६॥

अब उन्तीसवें द्वार 'आहार' के विषय में कहते हैं - वक्र गति वाले के अलावा अन्य सर्व छद्यस्थ जीव आहारक होते हैं। उसमें भी तीन अथवा चार समय तक तो अनाहार रूप में रहते हैं। (१०७६)

गतिर्द्विधा हि जन्तूनां प्रस्थितानां पर भवम् ।

सरला कुटिला चापि तत्रैक समयादिमा ॥१०७७॥

पर भव-दूसरे जन्म में जाते समय प्राणी की ऋजु और वक्र - इस तरह की गति होती है। उसमें प्रथम ऋजु गति केवल एक समय की होती है। (१०७७)

उत्पत्ति देशो यत्रस्यात्सम श्रेणि व्यवस्थितः ।

तत्रैक समये नैव ऋजु गत्यासुमान् व्रजेत् ॥१०७८॥

परजन्मायुराहारौ क्षणोऽस्मिन्नेव सोऽश्नुते ।

तुल्यमेतदृजुगतौ निश्चय व्यवहारयौः ॥१०७९॥

जहां उत्पत्ति देश समश्रेणि में रहा हो वहां प्राणी ऋजु और गति द्वारा एक समय में ही जाता है और उसी समय में वह पर जन्म सम्बन्धी आयुष्य और आहार भोगता है। इस ऋजु गति में निश्चय और व्यवहार दोनों नय की अपेक्षा से वह समान ही है। (१०७८-१०७९)

द्वितीय समयेऽऋज्व्या व्यवहार नयाश्रयात् ।

उदेति पर जन्मायुरिदं तात्पर्यमत्र च ॥१०८०॥

परन्तु वक्र गति में व्यवहार नय की अपेक्षा से दूसरे समय में दूसरे जन्म की आयु उदय में आती है। (१०८०)

प्राग्भवान्त्य क्षणो वक्रा परिणामाभिमुख्यतः ।

कैश्चिद्वक्रादि समयो गण्यते व्यवहारतः ॥१०८१॥

ततश्च भवान्तराद्य समये गतेस्त्वस्मिन् द्वितीयके ।

समये पर जन्मायुरुदेति खलु तन्मते ॥१०८२॥

इसका तात्पर्य इस तरह है- प्राग्भव-पूर्वजन्म के अन्त्य समय में वक्र गति के परिणाम की अभिमुखता को लेकर, कई व्यवहार से वक्र के आदि समय को गिनते हैं और इससे उनके मत में जन्मान्तर के आद्य समय में अर्थात् वक्र के दूसरे समय में पर जन्म सम्बन्धी आयुष्य उदय में आता है। (१०८१-१०८२)

यदाहुः उज्जुगइ पढम समये परभवियं आउअं तहाहारो ।

वक्काइ बीअ समये पर भवि आउं उदयमेइ ॥१०८३॥

अन्यत्र भी कहा है कि- ऋजु गति वाल को जन्मान्तर के पहले समय में पर जन्म सम्बन्धी आयुष्य और आहार होता है और वक्र गति वाले को दूसरे समय में आयुष्य उदय में आता है । (१०८३)

निश्चयनयाश्रयाच्च-

संमुखोऽङ्गी गतेर्यद्यप्यन्यक्षणे तथापि हि ।

सत्वात्प्राग्भव सम्बन्धि संघात परिशाटयोः ॥१०८४॥

समयः प्राग्भवस्यैष सम्भवेन्न पुनर्गतेः ।

प्राच्यांग सर्वशाटोऽग्न्यभवाद्यक्षण एव यत् ॥१०८५॥

तथा निश्चय नय के आश्रय से तो- प्राणी अन्त्य समय में गति के सन्मुख होता है, फिर भी पूर्वजन्म सम्बन्धी संघात और परिशार (ग्रहण और त्याग) सत्ता में होने से, इस समय पूर्व जन्म ही संभव होता है, पर जन्म संभव नहीं होता । क्योंकि पूर्व जन्म के शरीर का सर्वथा त्याग और आगामी जन्म का आद्य क्षण में ही होता है । (१०८४-१०८५)

“पर भवपढमे सोडात्ति’ आगम वचनात्”

अर्थात् आगम का भी वचन है कि परजन्म के आद्य क्षण में परिशाट - पूर्व शरीर का सर्वथा त्याग होता है ।

उदेति समयेऽत्रेव गतिः सह तदायुष ।

ततोऽन्यजन्मायुर्वक्र गतावप्यादि भक्षणे ॥१०८६॥

और इसी समय में उस आयुष्य के साथ गति उदय में आती है । इससे अन्य जन्म का आयुष्य वक्र गति में भी आद्य क्षण के अन्दर उदय में आता है । (१०८६)

तत्र संघात परिशाट स्वरूपं चैवम् आगमे-

संघातः परिशाटश्च तौ द्वौ समुदिता विति ।

औदारिकादि देहानां प्रज्ञप्तं करण त्रयम् ॥१०८७॥

सर्वात्मना पुद्गलानामाद्ये हि ग्रहणं क्षणे ।

धरमे सर्वथा त्यागो द्वितीयादिषु चोभयम् ॥१०८८॥

संघात और परिशाट-ग्रहण और त्याग का स्वरूप आगम में इस प्रकार कहा है- औदारिक आदि प्रकार के शरीर हैं, उनके तीन करण कहे हैं- प्रथम क्षण में पुद्गलों का सर्वथा ग्रहण होता है, अन्तिम क्षण में सर्वथा त्याग होता है और बीच के क्षणों में ग्रहण और त्याग दोनों होते हैं। (१०८७-१०८८)

यथा तत् तापिकायां सस्नेहायामपूपकः ।

गृह्णाति प्रथमं स्नेहं सर्वात्माना न तु त्यजेत् ॥१०८६॥

ततश्च किञ्चिद् गृह्णाति स्नेहं किञ्चित्युनस्त्यजेत् ।

संघातभेद रूपत्वात्पुद्गलानां स्वभावतः ॥१०८७॥

तथैव प्रथमोत्पन्नः प्राणभृत् प्रथम क्षणे ।

सर्वात्मनोत्पत्ति देश स्थितान् गृह्णाति पुद्गलान् ॥१०८९॥

ततश्चाभव पर्यन्तं द्वितीयादि क्षणेषु तु ।

गृह्णन्त्यंश्च तान् कुर्यात् संघात परिशाटनम् ॥१०९२॥

जिस तरह गरम की तेल वाली कढ़ाई में डाला हुआ पूड़ा प्रथम सर्वथा तेल ग्रहण करता है- त्याग नहीं करता है और फिर थोड़ा ग्रहण करता है और थोड़ा छोड़ता है, क्योंकि ग्रहण करना और छोड़ देना - ऐसा मूल से ही पुद्गलों का स्वभाव है। उसी ही तरह प्रथम उत्पन्न हुआ प्राणी प्रथम क्षण में उत्पत्ति देश में रहे पुद्गलों को सर्वथा ग्रहण ही करता है, उसके बाद-दूसरे क्षणों में जन्म पर्यंत ग्रहण और त्याग दोनों किया करता है। इसका नाम संघात परिशाटन कहते हैं। (१०८६ से १०९२)

तत आयुः समाप्तौ च भाव्यायुः प्रथम क्षणे ।

स्यात् शाट एव प्राग्देह पुद्गलानां तु न ग्रहः ॥१०९३॥

और जब आयुष्य समाप्त होता है तब भावी आयुष्य के प्रथम क्षण में 'परिशाटन' ही होता है अर्थात् पूर्व शरीर के पुद्गलों का त्याग ही होता है, उन्हें ग्रहण करने का नहीं होता। (१०९३)

औदारिक वैक्रियाहारकेषु स्युस्त्रयोऽप्यमी ।

संघात परिशाटः स्यात्तैजस कार्मणे सदा ॥१०९४॥

अनादित्वात् भवेन्नैव संघातः केवलोऽनयोः ।

केवलः परिशाटश्च सम्भवेन्मुक्तियायिनाम् ॥१०९५॥

औदारिक, वैक्रिय और आहरक शरीर में वे तीनों करण होते हैं। तैजस और कार्मण शरीर में सदा संघात और परिशाट होता है क्योंकि ये दोनों अनादि होने से इनको केवल संघात नहीं होता और मात्र परिशाट नहीं होता। वह तो मोक्षगामी को ही संभव है । (१०६४-१०६५)

'अत्र च भूयान् विस्तरः अस्ति स च आवश्यक वृत्त्यादिभ्यः अवसेयः॥'

यह विषय बहुत विस्तार वाला है, इसलिए आवश्यक वृत्ति आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए।

अथ प्रकृतम्..... वक्रा गतिश्चतुर्धा स्याद्वक्रैरेकादिभिर्युता ।

त्राद्या द्विक्षणैकैकक्षणवृद्धया क्रमात्पराः ॥१०६६॥

अब प्रस्तुत विषय कहते हैं । वक्र गति चार प्रकार की है; १- एक वक्र, २- द्वि वक्र, ३- तीन वक्र, ४- चार वक्र। उसमें प्रथम एक वक्र दो समय का है और उसके बाद के तीन में एक-एक क्षण अधिक होता है । वह इस प्रकार से । (१०६६)

तथाहि- चतुर्ध्वं लोक पूर्वस्या अधः श्रयति पश्चिमाम् ।

एकवक्रा द्वि समया ज्ञेया वक्रा गतिस्तदा ॥१०६७॥

जब जीव ऊर्ध्व लोक की पूर्व दिशा में से अधो लोक की पश्चिम दिशा में जाता है, तब वह वक्र गति 'एक वक्र' कहलाती है और वह दो समय की समझना। क्योंकि (१०६७)

समय श्रेणि गतित्वेन, जन्तुरेकेन यात्यधः ।

द्वितीय समये तिर्यग् उत्पत्ति देशमाश्रयेत् ॥१०६८॥

जीव सम श्रेणि में गमन करता हो तो प्रथम समय में सीधा अधो लोक में जाता है और वहां से दूसरे समय में तिरछा अपने उत्पत्ति प्रदेश में पहुँच जाता है। (१०६८)

पूर्वं दक्षिणोर्ध्वं देशादधश्चेदपरोत्तराम् ।

द्वजेत्तदा द्वि कुटिला, गतिस्त्रिसमयात्मिक ॥१०६९॥

एकेनाधस्समश्रेण्या तिर्यगन्येन पश्चिमाम् ।

तिर्यगेव तृतीयेन वायव्यां दिशि याति सः ॥११००॥

और अग्रि कोने के ऊर्ध्व प्रदेश से यदि अधो दिशा के वायव्य कोने में

जाता है तो तीन समय की द्विवक्र गति होती है अर्थात् एक समय में सम श्रेणि गति करके वह नीचे जाता है, दूसरे समय तिरछा पश्चिम दिशा में जाता है और तीसरे समय में तिर्छा जाकर वायव्य दिशा का आश्रय लेता है। (१०६६-११००)

त्रसानामेतदनैव वक्रा स्यान्नाधिका पुनः ।

स्थावरणां च तुः पंच समयान्तापि सा भवेत् ॥११०१॥

तत्र चतुः समया त्वेवं-

त्रस नाडया बहिरधोलोकस्य विदिशो दिशम् ।

यात्येकेन द्वितीयेन त्रसनाड्यन्तरे विशेत् ॥११०२॥

ऊर्ध्वं याति तृतीयेन चतुर्थे समये पुनः ।

त्रसनाड्या विनिर्गत्य दिश्यं स्वस्थानमाश्रयेत् ॥११०३॥

त्रस जीवों की वक्र गति इतनी ही होती है, अधिक नहीं होती; परन्तु स्थावर जीवों की चार, पांच समय की भी होती हैं। इसमें जो चार समय की होती है वह इस प्रकार-पहले समय में वह त्रस नाड़ी से बाहर अधोलोक की विदिशा के किसी कोने में से दिशा में जाता है, दूसरे समय में त्रस नाड़ी के अन्दर प्रवेश करता है, तीसरे समय में ऊर्ध्व गति करता है और चौथे समय में फिर उस त्रस नाड़ी में से बाहर निकल कर अपने जिस स्थान जिस दिशा में आना हो (उस विदिशा-कोने में नहीं) ऐसे स्थान का आश्रय ग्रहण करता है। (११०१ से ११०३)

दिशो विदिशि याने तु नाडीमाद्ये द्वितीये के ।

ऊर्ध्वं चाधस्तृतीये तु बहिर्विदिशि तुर्यके ॥११०४॥

यदि जीव को दिशा में से विदिशा में जाना हो तो पहले समय में नाड़ी में प्रवेश करता है, दूसरे समय में ऊर्ध्व गति करता है, तीसरे समय में अधो दिशा में जाता है और चौथे समय में बाहर विदिशा में जाता है। (११०४)

यदोक्तरीत्या विदिशो जायते विदिशे क्वचित् ।

तदा तत्समयाधिक्यात् स्यात्यंच समया गतिः ॥११०५॥

परन्तु उसे जब एक विदिशा में से निकलकर किसी अन्य विदिशा में उत्पन्न होना हो तब उसे चार समय से अधिक समय होना चाहिए। अंतः उसे पांच समय लगते हैं। (११०५)

उक्तं च-

विदिसा ओ दिसं षडमे बीए पड़सरइ नाडि मण्डंमि ।

उदुं तइए तुरिए उ नीइ विदिसं तु पंचम ए ॥११०६॥

और शास्त्र में भी कहा है कि- जीव पहले समय में विदिशा में से दिशा में जाता है, दूसरे समय में नाड़ी के अन्दर प्रवेश करता है, तीसरे समय में ऊर्ध्व गति करता है, चौथे समय में अधो गति करके बाहर निकलता है और पांचवें समय में विदिशा के किसी कोने का आश्रय लेता है । (११०६)

इति भगवती वृत्तो शतक १४ प्रथमोद्देश के ::

“ भगवती सप्तम शतक प्रथमोद्देशके तु पंच सामयिकी विग्रह गतिमाश्रित्य इत्थमुक्तं दृश्यते। इदं च सूत्रे न दर्शितम्। प्रायेण इत्थमनुत्पत्तिः । इति॥”

इस तरह श्री भगवती की वृत्ति में चौदहवें शतक के पहले उद्देश में बातें कही हैं । सातवें शतक के पहले उद्देश में तो पांच समय की विग्रह गति के सम्बन्ध में इस प्रकार होता है - ऐसा कहा है। मूल सूत्र में ऐसा कुछ भी बताया नहीं है। क्योंकि प्रायः इस प्रकार से उत्पत्ति नहीं होती ।’

व्यवहारपेक्षया च भवेदाहारकोऽसुमान् ।

गतौ किलैक वक्राग्रां समय द्वितयेऽपि हि ॥११०७॥

तथाहि समये पूर्वे शरीरमेष उत्सृजेत् ।

तस्मिन्पुनः तच्छरीर योग्याः केचत पुद्गलः ॥११०८॥

लोमाहारेण सम्बन्धमायान्ति जीव योगतः ।

औदारिकादि पुद्गलादानं चाहार उच्यते ॥११०९॥ युग्मं।

तथा व्यवहार नय की अपेक्षा से प्राणी एक वक्र गति में दोनों समय में आहारक होता है। पूर्व के पहले समय में शरीर त्याग कर देता है और इसी समय में वह शरीर के योग्य होता है उस समय कई पुद्गल जीव के योग के कारण लोभ-आहार से उसके सम्बन्ध में आते हैं तब औदारिक आदि पुद्गलों को जीव ग्रहण करता है, उसका नाम आहार कहते हैं। (११०७ से ११०९)

एवमत्राद्य समये आहारः परिभावितः ।

सर्वत्रैवं द्विवक्रादावप्याद्य क्षण आहतिः ॥१११०॥

इस तरह एक वक्र गति में आद्य समय में जीव को आहार कहा है। द्वि वक्र आदि की गति में भी सर्वत्र इसी तरह पहले समय में आहार जानना। (१११०)

द्वितीय समये चासावुत्पत्ति देशमापतेत् ।

तदा तद्भव योग्याणून यथा सम्भवमाहरेत् ॥११११॥

तथा दूसरे समय में वह आत्मा उत्पत्ति प्रदेश में आता है तब वह उस जन्म के योग्य परमाणुओं के यथा संभव आहार करता है। (११११)

द्विवक्रा तु त्रिसमया मध्यस्तत्र विराहतिः ।

आद्यन्तयोः समयोराहारः पुनरूक्तवत् ॥१११२॥

द्वि वक्र गति तीन समय की होती है और उन तीन समय में से बीच का समय अर्थात् दूसरा समय आहार रहित होता है जबकि पहले और तीसरे समय में पूर्ववत् आहार होता है। (१११२)

एवं च त्रिचतुर्वर्के चतुः पंचक्षणात्मके ।

मध्यास्तयोर्निराहाराः साहारावादिमान्तिमौ ॥१११३॥

इसी तरह चार समय वाली और पांच समय वाली त्रिवक्र और चतुर्वक्र गति में भी बीच का समय निराहार-आहार रहित है और प्रथम तथा अन्तिम समय में आहार सहित होता है। (१११३)

यदाहुः- इगदुति चउवक्रासु दुगाइ समये सु परभवाहारो ।

दुगवक्राइसु समया इगदोतित्रि उ अणाहारा ॥१११४॥

अन्य स्थान पर भी कहा है कि- एक वक्र वाली, द्विवक्र वाली तथा त्रिवक्रा और चतुर्वक्रा गतियों में अनुक्रम से दूसरे समय, तीसरे समय, चौथे समय व पांचवें समय (क्षण) में पर जन्म का आहार होता है, और द्विवक्रा आदि गतियों में एक, दो और तीन समय में आहार रहित होता है। (१११४)

निश्चय नये तु-

भवस्य भाविनः पूर्वं क्षणे प्राग्वपुषा सह ।

असम्बन्धादनाप्त्या च भाविनोऽङ्गस्य नाहतिः ॥१११५॥

द्वितीय समये तु स्वं स्थानं प्राप्याहरेत्ततः ।

समयः स्याद नाहार एक वक्रागतावपि ॥१११६॥

निश्चय नय के अनुसार कहते हैं - भविष्य में होने वाले जन्म के प्रथम समय में पूर्व शरीर के साथ में सम्बन्ध न होने से और भावी शरीर की अप्राप्ति के कारण आहार नहीं होता। जबकि द्वितीय क्षण में अपना स्थान प्राप्त होने पर आहार करता

है। इस तरह होने से एक वक्र गति में भी एक समय निराहार होता है। (१११५-१११६)

अन्यस्यां द्वावनाहारौ तृतीयस्यां त्रयस्तथा ।

चतुर्थ्यामपि चत्वारः साहारोऽन्योऽखिलासु यत् ॥१११७॥

द्विवक्र गति में दो समय आहार रहित होते हैं त्रिवक्रा गति में तीन समय और चतुर्वक्र गति में चार समय आहार रहित होते हैं। क्योंकि सर्व गतियों में अन्तिम समय ही आहार सहित होता है। (१११७)

ततश्च व्यवहारेणोत्कर्षतः समयास्त्रयः ।

निश्चयेन तु चत्वारो निराहाराः प्रकीर्तिताः ॥१११८॥

इस तरह होने से व्यवहार नय से उत्कृष्ट तीन समय आहार रहित कहे हैं और निश्चय से चार समय आहार रहित कहे हैं। (१११८)

सामान्यात् सर्वतः स्तोका निराहाराः शरीरिणः ।

आहारका असंख्येय गुणास्तेभ्यः प्रकीर्तिताः ॥१११९॥

सामान्यतः निराहारी प्राणी सब से अल्प हैं और आहार सहित उनसे असंख्य गुणा कहे हैं। (१११९)

त्रिविधश्च स आहार ओज आहार आदिमः ।

लोमाहारो द्वितीयश्च प्रक्षेपाख्यस्तृतीयकः ॥११२०॥

यह जो आहार की बात कही है वह आहार तीन प्रकार का है १- ओज आहार, २- लोम आहार और ३- प्रक्षेप आहार। (११२०)

तत्राद्यं देहमुत्सृज्य ऋज्या कुटिलयाथवा ।

गत्वोत्पत्ति स्थानमाप्य प्रथमे समयेऽसुमान् ॥११२१॥

तैजस कार्मण योगेनाहारयति पुद्गलान् ।

औदारिकाद्यांगयोग्यान् द्वितीयादिक्षणेष्वथ ॥११२१॥

औदारिकादिभिश्चेत्तारब्धत्वाद्द्विपुषस्ततः ।

यावच्छरीर निष्पत्तिरन्तर्मुहूर्त्त कालिकी ॥११२३॥

त्रिभिः विश ।

आद्य शरीर का त्याग कर ऋजु (सरल-सोधी) अथवा कुटिल (वक्र) गति से गमन करके उत्पत्ति स्थान को प्राप्त कर प्रथम समय में प्राणी तैजस और

कर्मण शरीर के योग से औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलों का आहार प्रारंभ करता है, वह दूसरे-तीसरे समय में शरीर का आरंभ होने से औदारिक आदि मिश्र करके अन्तर्मुहूर्त्त के स्थिति काल वाला शरीर निष्पत्ति हो तब तक वह आहार किया करता है । (११२१ से ११२३)

यदाहुः- तेण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो ।

तेण परं मीसेणं जाव सरीरस्स निव्वत्ती ॥११२४॥

कहा है कि- जीव प्रथम तैजस और कर्मण शरीर से अन्तर रहित आहार किया करता है । फिर शरीर की निष्पत्ति हो वहां तक मिश्र शरीर द्वारा आहार करता है । (११२४)

स सर्वोप्योज आहार ओजो देहार्ह पुद्गलाः ।

ओजो वा तैजसः कायस्तद्रूपस्तेन वा कृतः ॥११२५॥

यह सब ओज आहार कहलाता है। यहां ओज अर्थात् देह के योग्य पुद्गल अथवा ओज अर्थात् तैजस काय, इसके कारण से ओज आहार अर्थात् ओज रूप आहार अथवा तैजस कायकृत आहार होता है । (११२५)

शरीरो षष्ठ्यभकानां पुद्गलानां समाहृतिः ।

त्वग्निन्द्रियादि स्पर्शेन लोमाहारः स उच्यते ॥११२६॥

शरीर के आधार रूप पुद्गलों (चमड़ी, स्पर्श इन्द्रिय) आदि इन्द्रियों के स्पर्श द्वारा आहार करना - उसका नाम लोम आहार कहलाता है । (११२६)

मुखे कवल निक्षेपादसौ कावलिकाभिधः ।

एकेन्द्रियाणां देवानां नारकाणां च न ह्यसौ ॥११२७॥

मुख में कवल-ग्रास रखना-लेना, इस तरह आहार करना इसका नाम 'प्रक्षेप आहार' कहलाता है। यह प्रक्षेप आहार - कवल आहार एकेन्द्रिय जीव को, देव और नरक के जीवों को नहीं होता है । (११२७)

जीवाः सर्वेऽप्यपर्याप्ता ओज हरिणो मताः ।

देहपर्याप्ति पर्याप्ता लोमाहाराः समेऽङ्गिनः ॥११२८॥

अपर्याप्त जीव सर्व ओज आहारी होते हैं और देह-शरीर पर्याप्त वाले सभी जीव लोम आहारी होते हैं । (११२८)

ओजसोऽनाभोग एव लोमस्त्वाभोगजोऽपि च ।

एकेन्द्रियाणां लोमोऽपि स्यादनाभोग एव हि ॥११२९॥

ओजस आहार अनाभोग ही होता है जबकि लोम आहार में भोग भी होता है, नहीं भी होता। तथा एकेन्द्रिय के लोम आहार में भोग नहीं होता। (११२६)

तथोक्त संग्रहणी वृत्तौ- "एकेन्द्रियाणाम् अति स्तोका पटु मनोद्रव्य लब्धिनाम् आभोगमान्यात् वस्तुतः अनाभोग निर्वर्तित एव॥" यदागमः "एगोदियाणां नो आभोग निव्वत्ति ए अणाभोग निव्वत्ति ए ।" इति॥'

संग्रहणी की वृत्ति में कहा है कि- 'अति अल्प और आपटु-मनोद्रव्य की लब्धि वाले एकेन्द्रिय प्राणी में आभोग की मंदता होती है इससे वस्तुतः उनका आहार अनाभोग ही होता है।' इस विषय में आगम भी कहा है कि- 'एकेन्द्रिय प्राणी को आभोग आहार नहीं है, अनाभोग है ।'

द्विक्षणो नो भव क्षुल्लो जघन्या काय संस्थितिः ।

आहारित्वे गरिष्ठा च काल चक्राण्यसंख्यशः ॥११३०॥

इति आहारः ॥२६॥

आहारक प्राणी जघन्य काय स्थिति क्षुल्लक भव (छोटा जन्म) करता है तो दो क्षण कम समय-इतना कम समय लगता है। जबकि उत्कृष्ट असंख्य काल चक्र का समय लग जाता है। (११३०)

इस तरह उन्तीसवां द्वार आहार का स्वरूप पूर्ण हुआ।

अथ गुणः ॥

गुणानाम गुणस्थानान्यमूनि च चतुर्दश ।

वच्चि स्वरूपमेतेषामन्वर्थं व्यक्ति पूर्वकम् ॥११३१॥

अब तीसवें द्वार गुण के विषय में कहते हैं - गुण अर्थात् गुण स्थान । ये गुण स्थान चौदह होते हैं । इनका प्रत्येक का स्वरूप मैं अर्थ के अनुसार कहता हूँ। (११३१)

तथाहुः - मित्थे सासणमीसे अविश्य देसे पमत्तअपमत्ते ।

नियट्ठी अनियट्ठी सुहुमुवसम खीण संजोग अजोगि गुणा ॥११३२॥

चौदह गुण स्थानों के नाम कहते हैं १- मिथ्यात्व, २- सास्वादन, ३- मिश्र, ४- अविरति, ५- देशविरति, ६- प्रमत्त, ७- अप्रमत्त, ८- निवृत्त, ९- अनिवृत्त, १०- सूक्ष्म संपराय, ११- उपशांत मोह, १२- क्षीण मोह, १३- संयोगी और १४- अयोगी। (११३२)

गुण ज्ञानदयस्तेषां स्थानं नाम स्वरूपभित् ।

शुद्धयशुद्धि प्रकर्षापकर्षोत्थात्र प्रकीर्त्यते ॥११३३॥

जीव के जो ज्ञान आदि गुण हैं उनका स्थान ये गुण स्थान अर्थात् इसके स्वरूप का भेद है, वह भेद इसकी शुद्धि, अशुद्धि, पकर्ष और अपकर्ष - इन चारों को लेकर हुआ है । (११३३)

तत्र मिथ्या विपर्यस्ता जिन प्रणीत वस्तुषु ।

दृष्टिर्यस्य प्रतिपत्तिः स मिथ्या दृष्टिरुच्यते ॥११३४॥

यत् तस्य गुण स्थानं सम्यग्दृष्टिभविभ्रतः ।

मिथ्यादृष्टि गुण स्थानं तदुक्तं पूर्वं सूरिभिः ॥११३५॥

श्री जिनेश्वर प्रणीत तत्त्वों को जो मनुष्य मिथ्यात्व के कारण विपरीत दृष्टि से देखता है वह मिथ्या दृष्टि कहलाता है और ऐसे असम्यक् दृष्टि वाले मनुष्य का स्थान पूर्वघर आचार्यों ने मिथ्या दृष्टि गुण स्थान कहा है । (११३४-११३५)

ननु मिथ्यादृष्टदृष्टेर्विपर्यासात्कुतो भवेत् ।

ज्ञानादि गुण सद्भावो यद्गुण स्थानतोच्यते ॥११३६॥

यहां शंका करते हैं कि- मिथ्या दृष्टि की तो दृष्टि विपरीत होती है, इनकी दृष्टि विपर्यसित है अर्थात् इनमें ज्ञान आदि गुणों का सद्भाव ही नहीं होता तो फिर इसे 'गुण स्थान' किस तरह कहते हैं ? (११३६)

अत्र ब्रूमः- भवेद्यद्यपि मिथ्यात्वव्यतामसुमतामिह ।

प्रतिपत्तिर्विपर्यस्ता जिन प्रणीत वस्तुषु ॥११३७॥

तथापि काचित् मनुजपञ्चादि वस्तु गोचरा ।

तेषामप्यविपर्यस्ता प्रतिपत्तिर्भवेद् ध्रुवम् ॥११३८॥ युग्मं ।

यहां शंका का समाधान करते हैं कि- यद्यपि जिनेश्वर कथित वस्तुओं को मिथ्या दृष्टि जीव विपरीत रूप में मानता है फिर भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि वस्तुओं के विषय में तो इनकी मान्यता अविपरीत-सही है। इसलिए गुण स्थान मानना योग्य है । (११३७-११३८)

आस्तामन्ये मनुष्यद्वया निगोद देहिनामपि ।

अस्त्यव्यक्त स्पर्शं मात्र प्रतिपत्तिर्यथा स्थिता ॥११३९॥

यथा घन घनच्छन्नेर्केऽपि स्यात्कापि तत्प्रभा ।

अनावृत्ता न चेद्वात्रिदिना भेदः प्रसज्यते ॥१०४०॥

इति प्रथम गुण स्थानम् ।

और मनुष्य आदि अन्य जीवों की बात तो एक ओर रखो, फिर भी निगोद के जीवों में अव्यक्त स्पर्शमात्र की प्रतिपत्ति यथास्थित होती है उन्होंने उसको यथास्थिति स्वीकार किया है। जिस तरह घने बादलों से आच्छादित हुए सूर्य की कुछ प्रभा-तो अनाच्छादित रहती ही है, यदि इस तरह न हो तो फिर रात्रि में और दिन में अल्पमात्र भी भेद नहीं रहता। (११३६-११४०)

इस तरह प्रथम गुण स्थानक समझना ।

आद्यमौपशमिकाख्यं सम्यक्त्व स्यात्र सादयेत् ।

योऽनन्तानुबन्धि कषायोदयः साय सादनः ॥११४१॥

उत्कर्षादा वलीषट्कात् सम्यक्त्वमपगच्छति ।

अनन्तानुबन्ध्युदये जघन्यात्समयेन यत् ॥११४२॥ युग्मं।

उपशम नाम वाला समकित के आय अर्थात् लाभ और सादन अर्थात् विनष्ट करता है, वह साय सादन नाम का दूसरा गुण स्थान है । इसमें अनन्तानुबन्धि कषाय का उदय होता है और यह उत्कृष्टतः छह आवली पर्यन्त और जघन्यतः एक समय तक टिकता है । (११४१-११४२)

पृषोदरादित्वालोपे यकारस्य भवेत्पदम् ।

आसादनमित्यनन्तानुबन्ध्युदय वाचकम् ॥११४३॥

ततश्च- आसादनेन युक्तो यः स सासादन उच्यते ।

स चासौ सम्यग्दृष्टिस्तद् गुण स्थानं द्वितीयकम् ॥११४४॥

पषोररादि इस व्याकरण के नियम के अनुसार से यकार का लोप हो जाने से 'आय सादन' के स्थान पर 'आसादन' शब्द बना और यह आसादना वाला 'स + आसादान' अर्थात् सासादन कहलाता है । यह सम्यग् दृष्टि जीव होता है और वह दूसरा गुण स्थानक कहलाता है । (११४३-११४४)

तच्चैवम्- प्रागुक्तस्यौपशमिक सम्यक्त्वस्य जघन्यतः ।

शेषे क्षणे षट् सु शेषासूत्कर्षादावलीष्वथ ॥११४५॥

महाविभीषिकोन्थान कल्पः केनापि हेतुना ।

कस्याप्यनन्तानुबन्धि कषायाभ्युदयो भवेत् ॥११४६॥ युग्मं।

अथैतस्मिन्ननन्तानुबन्धिनामुदये सति ।

सासादन सम्यग्दृष्टि गुण स्थानं स्पृशत्यसौ ॥११४७॥

वह इस तरह से- जघन्यतः पूर्वोक्त उपशम समकित के शेष अन्तिम

क्षण-समय में और उत्कृष्टतः छह आवली शेष रहे तब होता है। वह किसी भी प्राणी को किसी भी हेतु को लेकर महान् उत्पात के उदय के समान अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है। इस अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने के बाद प्राणी 'सासादन सम्यग् दृष्टि' नामक गुण स्थान में पहुँचता है। (११४५ से ११४७)

यदिवोपशम श्रेण्याः स्यादिदं पतिताङ्गिनः ।

सम्यक्त्वस्यौपशमिकस्यान्ते कस्यापि पूर्ववत् ॥११४८॥

तत ऊर्ध्वं च मिथ्यात्वमवश्वमेव गच्छति ।

पतन द्वितीय सोपानादाद्यमेवहि गच्छति ॥११४९॥

अथवा जो पूर्व में कह गये हैं उसके अनुसार उपशम समकित को अन्त में उपशम श्रेणि से पतित हुए किसी भी प्राणी का यह गुण स्थान होता है। इससे आगे बढ़ने से तो अवश्यमेव मिथ्यात्व गुण स्थान में ही वापिस आ जाता है क्योंकि दूसरे सोपान से गिरने से पहले सोपान में ही गिरता है। (११४८-११४९)

नाम्ना सास्वादन सम्यग्दग्गुणस्थानमप्यदः ।

उच्यते तत्र चान्वर्थो मतिमद्भिरयं स्मृतः ॥११५०॥

उद्धम्यमान सम्यक्त्वास्वादानेन सहास्ति यः ।

सहि सास्वादन सम्यग् दृष्टिरित्यभिधीयते ॥११५१॥

इस गुण स्थान को सास्वादन सम्यग् दृष्टि गुण स्थान भी कहते हैं। बुद्धिमान पुरुषों ने इसका नाम सार्थक भी कहा है क्योंकि समकित का वमन हुआ हो, इसके आस्वादन वाला जो गुण स्थान है वह 'सास्वादन सम्यक् दृष्टि गुण स्थान' है। (११५०-११५१)

यथाहि युक्तं क्षीरान्नमुद्धमन्मक्षिका दिना ।

किञ्चिदा स्वदयत्येव तद्रसं व्यग्र मानस ॥११५२॥

तथायमपि मिथ्यात्वाभिमुखो भ्रान्तमानसः ।

सम्यक्त्वमुद्धमन्ना स्वादयेत्किञ्चन तद्रसम् ॥११५३॥

इति द्वितीयम् ॥

जिस तरह व्यग्र मन वाले को खाये हुए अन्न का मक्खी आदि से वमन होता है तब उसे उस वमन किए रस का कुछ तो स्वाद आता है, उसी तरह यह प्राणी भी भ्रान्ति के कारण मिथ्यात्वोन्मुख होने पर समकित का वमन करता है। तब उसे उसका कुछ स्वाद आये बिना नहीं रहता। (११५२-११५३)

इस तरह का यह दूसरा गुण स्थानक है।

पूर्वोक्त पुंज त्रितये स यद्यर्धं विशुद्धकः ।

समुदेति तदा तस्योदयेन स्याच्छरीरिणः ॥११५४॥

श्रद्धा जिनोक्ततत्त्वेऽर्धं विशुद्धासौ तदोच्यते ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति गुणस्थानं च तस्य तत् ॥११५५॥ युग्मं।

पहले जो तीन पुंज कहे गये हैं उनमें के एक अर्ध विशुद्ध नाम के पुंज का जब उदय होता है तब प्राणी को जिन भाषित तत्त्व में अर्ध विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है और तब वह प्राणी सम्यक्मिथ्या दृष्टि कहलाता है और इसका गुण स्थानक सम्यक् मिथ्यादृष्टि गुण स्थानक कहलाता है। (११५४-११५५)

अन्तर्मुहूर्तं कालोऽस्य तत उर्ध्वं स देहभृत् ।

अवश्यं याति मिथ्यात्वं सम्यकत्वमथवाप्नुयात् ॥११५६॥

इति तृतीयम्॥

इस गुण स्थानक का काल अन्तर्मुहूर्त का है । उसके बाद वह प्राणी अवश्य मिथ्यात्व अथवा समकित प्राप्त करता है। (११५६)

इस तरह यह तीसरा गुणस्थानक कहलाता है।

सावद्ययोगाविरतो यः स्यात्सम्यकत्ववानपि ।

गुणस्थानमविरत सम्यग्दृष्टयाख्यमस्य तत् ॥११५७॥

सम्यकत्ववान होने पर भी जो प्राणी सावधयोग से त्यागी न बने उसका गुण स्थान अविरत सम्यग् दृष्टि कहलाता है । (११५७)

पूर्वोक्तमौपशमिकं शुद्ध पुंजोदयेन वा ।

क्षायोपशमिकाभिख्यं सम्यकत्वं प्राप्तवानपि ॥११५८॥

सम्यकत्वं क्षायिकं वाप्तोक्षीण दर्शनं सप्तकः ।

कलयन्नपि सावधविरति मुक्तिदायिनीम् ॥११५९॥

नैवा प्रत्याख्यान नाम कषायोदय विघ्नतः ।

सदेशतोऽपि विरतिं कर्तुं पालयितुं क्षम ॥११६०॥

त्रिभिः विशेषकं ।

इति चतुर्थम् ॥

पूर्वोक्त उपशमिक समकित प्राप्त हुआ हो, छटे अथवा शुद्ध पुंज के उदय के कारण क्षयोपशमिक समकित प्राप्त हुआ हो फिर भी, अथवा दर्शन सत्क क्षीण होने से क्षायिक समकित प्राप्त हुआ हो, सावद्य विरति मोक्ष दायक है। इस प्रकार की समझदारी होते हुए भी अप्रत्याख्यान नाम के कषाय के उदय के कारण रुकावट होने से प्राणी देश से अर्थात् थोड़ी भी विरति करने में अथवा पालन करने में समर्थ नहीं होता है। (११५८-११६०)

इस तरह यह चौथा गुण स्थान है।

स्थूल सावद्य विरमाद्यो देश विरतिं श्रेयत् ।

स देश विरतस्तस्य गुणस्थानं तदुच्यते ॥११६१॥

स्थूल सावद्य से त्यागकर जो प्राणी अल्प भी विरति स्वीकार करता है वह देश विरति कहलाता है और इसका गुण स्थान भी वही है। (११६१)

सर्व सावद्य विरतिं जानतोऽप्यस्य मुक्तिदाम् ।

तदादतौ प्रत्याख्यानावरणा यान्ति विघ्नताम् ॥११६२॥

इति पंचमम् ॥

सर्व सावद्य विरति से मोक्ष की प्राप्ति होती है - इस तरह जानते हुए भी प्रत्याख्यान रूप आवरणों का कारण ही उसे स्वीकार नहीं करने में विघ्नभूत होता है। (११६२)

यह पांचवा गुण स्थान कहा है।

संयतस्सर्व सावद्य योगेभ्यो विरतिऽपि यः ।

कषाय निद्रा विकथादि प्रमादैः प्रमाद्यति ॥११६३॥

स प्रमत्तः संयतोऽस्य प्रमत्त संयताभिधम् ।

गुणस्थानं प्राक्तनेभ्यः स्याद्विशुद्धि प्रकर्षभूत् ॥११६४॥

वक्ष्यमाणेभ्यश्च तेभ्यः स्याद्विशुद्धचपकर्षभूत् ।

शुद्धि प्रकर्षापकर्ष वेपं भाव्यौ परेष्वपि ॥११६५॥

त्रिभिः विशेषकं ॥

इति षष्ठम् ॥

सर्व सावद्य योग से त्यागी हुआ भी जो संयमी कषाय निद्रा, विकथा आदि प्रमादों को लेकर प्रमाद में पड़ता है वह प्रमत्त संयम कहलाता है और इसका गुण स्थानक 'प्रमत्त संयम' नामक कहलाता है । यह गुण स्थान पहले पांच से विशेष शुद्ध होता है और अब जो कहने में आयेगा वह इससे भी थोड़ा और शुद्ध है। अन्य गुण स्थानों में भी इसी तरह ही विशेषता को अल्पता ज्ञानना। (११६३ से ११६५)

यह छठा गुण स्थान जानना ।

यश्च निद्रा कषायादि प्रमादरहितो यतिः ।

गुणस्थानं भवेत्तस्या प्रमत्त संयताभिधम् ॥११६६॥

इति सप्तमम् ।

जो संयमी अर्थात् साधु निद्रा, कषाय आदि प्रमादों से रहित हो उसका 'अप्रमत्त संयम' नाम का गुण स्थान कहा है। (११६६)

यह सातवां गुण स्थानक है ।

स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिस्तथा परा ।

गुणानां संक्रमश्चैव बन्धो भवति पंचमः ॥११६७॥

एषां पंचानाम् पूर्व करणं प्रागपेक्षया ।

भवेद्यस्या सावपूर्व करणो नाम कीर्त्तितः ॥११६८॥

स्थिति घात, रस घात, गुण श्रेणि, गुण संक्रम और बन्ध- इन पांचों का जिस संयमी को पूर्व की अपेक्षा से अपूर्वकरण होता है; उस संयमी का अपूर्वकरण नाम का गुण स्थान कहा है। (११६७-११६८)

गरीयस्याः स्थितेर्ज्ञानावरणीयादि कर्मणाम् ।

योऽपवर्त्तनया घातः स्थिति घातः स उच्यते ॥११६९॥

ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति के अपवर्त्तन का घात करना-कर्म करना - उसका नाम स्थिति घात करना है। (११६९)

कर्मद्रव्यस्थ कटुकत्वादिकस्य रसस्य हि ।

योऽपवर्त्तनया घातो रसघातः स कीर्त्त्यते ॥११७०॥

तथा कर्म द्रव्य में रहे कटुता आदि रसों का अपवर्त्तन-हीनता करने के घात करना, वह रस घात कहलाता है। (११७०)

एतौ पूर्व गुणस्थानेष्वल्पावेष करोति सः ।

विशुद्धचल्पतयास्मिस्तु महान्तौ शुद्धि वृद्धितः ॥११७१॥

पूर्व के गुण स्थानों में शुद्धि का अल्पत्व होने से, संयमी ये दोनों प्रकार के घात अल्प प्रमाण में करता है, जब इस गुण स्थान में शुद्धि का विशेष रूप होता है तब वह दोनों घात विशेष प्रमाण में करता है । (११७१)

यत्प्रागाश्रित्य दलिक रचनां तां लघीयसीम् ।

चकार कालतोद्राधीयसीं शुद्धचपकर्षतः ॥११७२॥

अस्मिंस्त्वाश्रित्य दलिकरचनां तां प्रथीयसीम् ।

करोति कालतोऽल्पां तदपूर्वा प्रागपेक्षया ॥११७३॥ युग्मं ।

पूर्व के गुण स्थानों में दल-समूहों की छोटी रचना की शुद्धि की अल्पता को लेकर बड़ी काल की स्थिति वाली करता था और इस गुण स्थान में बड़ी रचना को अल्पकाल स्थिति वाला करता है, इसलिए पूर्व की अपेक्षा से यह अपूर्व कार्य कहलाता है । (११७२-११७३)

तथा बध्यमान शुभ प्रकृतिष्वशुभात्मनाम् ।

तासामबध्य यानानां दलिकस्य प्रति क्षणे ॥११७४॥

असंख्य गुणा वृद्धया यः क्षेपः स गुणसंक्रमः ।

तमप्यपूर्वं कुर्वीत सोऽत्र शुद्धि प्रकर्षणः ॥११७५॥ युग्मं ।

और बन्धन करते हुए शुभ प्रकृतियों में अशुभ प्रकृति के दल-समूह का बंधन नहीं होता, प्रति क्षण में असंख्य गुणों का क्षेप (त्याग) या संक्रम होता है । इसका नाम गुण संक्रम है और इसे भी संयमी यहां शुद्धि की विशेषता के कारण अपूर्व करता है । (११७४-११७५)

स्थितिं द्राधीयसीं पूर्व गुणस्थानेषु बद्धवान् ।

अशुद्धत्वादिह पुनस्तामपूर्वा विशुद्धितः ॥११७६॥

पल्यासंख्येय भागेन हीन हीनतरां सृजेत् ।

तद् गुणस्थानमस्य स्यादपूर्वं करणाभिधम् ॥११७७॥ युग्मं ।

तथा पूर्व के गुण स्थानकों में अशुद्धता को लेकर संयमी ने दीर्घ स्थिति बन्धन की थी परन्तु यहां तो विशुद्धि को लेकर अपूर्व स्थिति को वह पल्लोपम के असंख्यातवें भाग में कम करते जाता है। इन कारणों से इस गुण स्थान का नाम अपूर्वकरण कहलाता है । (११७६-११७७)

क्षपक श्रोपशमकश्चेत्यसौ भवति द्विधा ।

क्षपणोपशमार्हत्वादेवायं प्रोच्यते तथा ॥११७८॥

और इसमें खतम करने की और उपशम करने की योग्यता होने से इसके क्षपक और उपशमक ये दो भेद होते हैं। (११७८)

न यद्यपि क्षपयति न चोपशमत्ययम् ।

तथाप्युक्तस्तथा राज्याहः कुमारो यथा नृपः ॥११७९॥

यद्यपि उसे खतम नहीं करता और उपशम भाव भी नहीं करता तथापि वह राज्य के योग्य एक राजकुमार के समान राजा कहलाता है । वैसे वह क्षपक और उपशमक कहलाता है। (११७९)

अन्तर्मुहूर्त्तमानाया अपूर्वकरण स्थितेः ।

आद्य एव क्षण एतद् गुणस्थानं प्रपन्नकान् ॥११८०॥

त्रैकालिकांगिनोऽपेक्ष्य जघन्यादीन्यसंख्यशः ।

स्थानान्यध्यवसायस्योत्कृष्टान्तानि भवन्ति हि ॥११८१॥ युग्मं।

यह अन्तर्मुहूर्त्त जितना समय, 'अपूर्वकरण' स्थिति को पहले ही क्षण में आठवें गुण स्थान में पहुँचा हुआ हो, उन तीन काल के प्राणियों को अपेक्षा से अध्यवसाय के जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्य स्थान होते हैं। (११८०-११८१)

असंख्यलोकाकाशांशमितानि स्युर मुनि च ।

ततोऽधिकाधिकानि स्युर्द्वितीयादि क्षणेषु तु ॥११८२॥

और वह स्थान असंख्य लोकाकाश प्रदेश जितने होते हैं और फिर दूसरे तीसरे आदि क्षणों में इससे अधिक-अधिक होता है। (११८२)

आद्ये क्षणे यज्जघन्यं ततोऽनन्त गुणोज्ज्वलम् ।

भवेदाद्यक्षणोत्कृष्टं ततोऽनन्त गुणाधिकम् ॥११८३॥

क्षणो द्वितीये जघन्यमेवमन्त्य क्षणवधि ।

मिथः षट् स्थानपतितान्येकक्षण भवानि तु ॥११८४॥ युग्मं।

आद्य समय में अध्यवसाय का स्थान जघन्यतः जितना उज्ज्वल हो उससे भी अनन्त गुणा उज्ज्वल आद्य क्षण का उत्कृष्ट होता है । द्वितीय क्षण का अध्यवसाय स्थानक जघन्यतः आद्य क्षण से भी अनन्त गुणा उज्ज्वल होता है । इस तरह अन्तिम क्षण तक पहुँचने में उज्ज्वलता अनन्त बढ़ती जाती है और इसमें से एक-एक क्षण के अध्यवसाय के परस्पर छः स्थान होते हैं। (११८४)

समकालं प्रपन्नानां गुणस्थानमिदं खलु ।

बहुनां भव्य जीवानां वर्तते यत्परस्परम् ॥११८५॥

समकाल में इस गुण स्थान में पहुँचे हुए अनेक भव्य जीवों को ये छः स्थान वलय-परस्पर वर्तन वाले होते हैं। (११८५)

उक्त रूपाध्यवसाय स्थान व्यावृत्ति लक्षणा ।

निवृत्तिस्तत्रिवृत्त्याख्यमप्येतत्कीर्त्त्यते बुधैः ॥११८६॥

इति अष्टमम् ॥

इस तरह जिसका स्वरूप है वह इस गुण स्थान में अध्यवसाय स्थानों की व्यावृत्ति रूप लक्षण वाली 'निवृत्ति' कहलाती है। इसलिए इस गुण स्थान को बुद्धिमान 'निवृत्ति गुण स्थान' भी कहते हैं। (११८६)

इस प्रकार आठवां गुण स्थान समझना ।

तथा..... परस्पराध्यवसाय स्थान व्यावृत्ति लक्षणा ।

निवृत्तिर्यस्यानास्त्येषोऽनिवृत्ताख्योऽसुमान भवेत् ॥११८७॥

तथा परस्पर अध्यवसाय स्थानों की व्यावृत्ति रूप लक्षण वाली निवृत्ति जिसको नहीं है वह प्राणी अनिवृत्त कहलाता है। (११८७)

तथा किट्टी कृत सूक्ष्म सम्पराय व्यपेक्षया ।

स्थूलो यस्यास्थसौ स स्याद् बादर संपरायकः ॥११८८॥

और किट्टी रूप किए सूक्ष्म संपराय की अपेक्षा से जिसे यह कषाय स्थूल अर्थात् बादर हो वह प्राणी 'बादर संपराय' वाला कहलाता है। (११८८)

ततः पदद्वयस्यास्य विहिते कर्म धारये ।

स्यात्सोऽनिवृत्ति बादर संपरायाभिधस्ततः ॥११८९॥

अनिवृत्त और बादर संपराय इन दोनों पदों का 'कर्मधारय' समास करने से 'अनिवृत्ति बादर संपराय' इस तरह विशेषण होता है। (११८९)

तस्यानिवृत्ति बादर सम्परायस्य कीर्तितम् ।

गुण स्थानम् निवृत्ति बादर सम्परायकम् ॥११९०॥

अनिवृत्त बादर सम्पराय प्राणी का यह गुण स्थान अनिवृत्त बादर सम्पराय गुण स्थान कहलाता है ।

अन्तर्मुहूर्त्तमानस्य यावन्तोऽस्य क्षणाः खलु ।

तावन्त्येवाध्यवसाय स्थानान्याहुर्जिनेश्वरा ॥११६१॥

अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण के अनुसार इस गुण स्थान का जितना क्षण-समय है उतने ही उसके अध्यवसाय के स्थान है, इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान् के वचन हैं। (११६१)

अस्मिन् यदेक समये प्राप्तानां भूयसामपि ।

एकमेवाध्यवसाय स्थानकं कीर्तितं जिनेः ॥११६२॥

क्योंकि समकाल के अन्दर इस गुण स्थान में पहुँचने वाले अनेक आत्माओं का अध्यवसाय स्थान एक ही होता है। इस तरह जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है। (११६२)

अनन्त गुण शुद्धं च प्रतिक्षणं यथोत्तरम् ।

स्थानमध्यवसायस्य गुणस्थानेऽत्र कीर्तितम् ॥११६३॥

तथा इस गुण स्थान में अध्यवसाय का स्थान प्रत्येक क्षण में उत्तरोत्तर अनन्त-अनन्त गुण शुद्ध होते जाते हैं। (११६३)

क्षपकश्चोपशमकश्चेत्यसौ भवति द्विधा ।

क्षपयेद्वोपशमये द्वासौ यन्मोहनीयकम् ॥११६४॥

इति नवमम् ॥

और इसके क्षपक और उपशमक ये दो भेद हैं क्योंकि यह मोहनीय कर्म को क्षय करता है अथवा उपशम भाव करता है। (११६४)

इस तरह नौवां गुण स्थान समझना ।

-सूक्ष्म कीट्टी कृतो लोभ कषायोदय लक्षणः ।

संपरायो यस्य सूक्ष्म संपरायः स उच्यते ॥११६५॥

लोभ कषाय के उदय रूप लक्षण वाला, किट्टी रूप किया हुआ सूक्ष्म संपराय जिस प्राणी को हो वह सूक्ष्म संपराय कहलाता है। (११६५)

क्षपकश्चोपशमकश्चेति स्यात्कोऽपि हि द्विधा ।

गुण स्थानं तस्य सूक्ष्म संपरायाभिधं स्मृतम् ॥११६६॥

इति दशमम् ॥

इसके भी पूर्व के समान क्षपक और उपशमक दो भेद हैं और इसका

गुण स्थान 'सूक्ष्म संपराय' गुण स्थान कहलाता है । (११६६)

इस तरह यह दसवां गुण स्थान है ।

येनोपशमिता विद्यमाना अपि कषायकाः ।

नीता विपाक प्रदेशोदयादीनामयोग्यताम् ॥११६७॥

उपशान्त कषायस्य वीतरागस्य तस्य यत् ।

छद्वास्थस्य गुणस्थानं तदाख्यातं तदाख्यया ॥११६८॥ युग्मं।

जिसने विद्यमान कषायों को उपशम भाव में किया हो और विपाक अथवा प्रदेश के उदय आदि को योग्य रहने न दिया हो, इस प्रकार कषाय रहित - छद्वास्थ वीतराग का जो गुण स्थान है वह उपशान्त मोह गुण स्थान कहलाता है । (११६७-११६८)

असौह्युपशम श्रेण्यारम्भेऽनन्तानुबन्धिनः ।

कषायान् द्रागविरतो देशेन विरतोऽथवा ॥११६९॥

प्रमत्तो वाप्रमत्तः सन् शमयित्वा ततः परम् ।

दर्शनं मोह त्रितयं शमयेदथ शुद्धधीः ॥१२००॥ युग्मं।

इस गुण स्थान में रहे मुनि उपशम श्रेणि के प्रारम्भ में अविरति रहकर या देशतः विरति होकर, प्रमाद में रहकर अथवा प्रमाद छोड़कर, अनन्तानुबन्धी कषायों को शीघ्रता से शान्त करके फिर शुद्ध बुद्धि वाला वह तीन दर्शन मोहनीय कर्मों को शान्त करता है । (११६९-१२००)

"कर्म ग्रन्थावचूरौतु इहोपशम श्रेणिकृत् अप्रमत्त यतिरेव। केचिदाचार्याः अविरत देश विरत प्रमत्ताप्रमत्त यतीनामन्यतमः इत्याहुरिति दृश्यते॥"

'कर्म ग्रन्थ की अवचूरि-टीका में तो इस तरह कहा है कि अप्रमत्त साधु ही उपशम श्रेणि में चढ़ सकता है । कई आचार्यों का तो ऐसा मानना है कि अविरति, देश विरति, प्रमत्त अथवा अप्रमत्त कोई भी मुनि चढ़ सकता है ।'

श्रयन्त्युपशमश्रेणिमाद्यं संहननत्रयम् ।

दधाना नार्धनाराचादिकं संहननत्रयम् ॥१२०१॥

प्रथम तीन संहनन-संघयण को धारण करने वाला उपशम श्रेणि का आश्रय करता है । अर्ध नाराच आदि अन्य तीन संघयण वाला इसका आश्रय नहीं ले सकता है । (१२०१)

“तथोक्तम् उपशम श्रेणिस्तु प्रथम संहननत्रयेण आरूह्यते। इति कर्म- स्तव वृत्तौ।”

कर्मस्तव की वृत्ति में भी कहा है कि पहले तीन संघयण वाले ही उपशम श्रेणि में चढ़ सकते हैं।

परिवृत्ति शतान् कृत्वाऽसौ प्रमत्ताप्रमत्तयो।

गत्वा चापूर्वकरण गुण स्थानं ततः परम् ॥१२०२॥

क्लीब स्त्री वेदौ हास्यादि षट्कं पुंवेदमप्यथ ।

क्रमात् प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यान संज्वलनाः क्रुधः ॥१२०३॥

तथैव त्रिविधं मानं माया च त्रिविधां तथा ।

द्वितीय तृतीयौ लोभौ विंशतिः प्रकृतीरिमाः ॥१२०४॥

शमयित्वा गुण स्थाने नवमे दशमे ततः ।

शमी संज्वलनं लोभं शमयत्यतिदुर्जयम् ॥१२०५॥

कलापकम्

तथा वह मुनि-प्रमत्त और अप्रमत्त की बीच में सैंकड़ों परिवृत्ति (फिरा) परिवर्तन करके और फिर 'अपूर्वकरण' गुण स्थान में पहुँचकर पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद - इस तरह तीन वेद, प्रत्याख्यानी, अप्रत्याख्यानी और संज्वलन - इस प्रकार के तीन क्रोध; इसी तरह तीन प्रकार का मान; वैसे ही तीन प्रकार की माया और तीन प्रकार का लोभ तथा हास्य आदि छः प्रकृति - इस तरह सब मिलाकर बीस प्रकृतियां तो नौवें गुण स्थानक में शम गयी होती हैं और अत्यन्त दुर्जय संज्वल लोभ का दसवें गुण स्थान में उपशम भाव होता है अर्थात् वहां एक समय से लेकर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक इसके कषाय उपशांत रहते हैं। (१२०२ से १२०५)

एक क्षण जघन्येनोत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तकम् ।

उपशान्त कषायः स्यादूर्ध्वं च नियमात्ततः ॥१२०६॥

अद्धाक्षयात् भवान्ताद्वा पतत्यद्धाक्षयात्पुनः ।

पतन्यश्चानुपूर्व्यासौ याति यावत्प्रमत्तकम् ॥१२०७॥ युग्मं।

एक समय से लेकर जघन्य उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक इनके कषाय उपशान्त रहते हैं। उसके बाद वहां से नियमित (निश्चय) गुण स्थान की कालस्थिति पूर्ण होती है अथवा जन्म का अन्त आने से फिर गिरता है। इसमें भी यदि काल पूर्ण हो जाता है तो वह पश्चानुपूर्वी से अन्तिम प्रमत्त गुण स्थान तक उतरता-नीचे आता जाता है। (१२०६-१२०७)

गुण स्थान द्वयं याति कश्चित्ततोऽप्यधस्तनम् ।

कश्चित्सासादन भावं प्राप्य मिथ्यात्वमप्यहो ॥१२०८॥

और कई तो गिरते हुए दूसरे गुण स्थान तक उतर जाते हैं और कई तो सासादने भाव प्राप्त कर अन्तिम मिथ्यात्व गुण स्थान में आ जाते हैं। (१२०८)

पतिश्च भवेनास्मिन् सिद्धयेदुत्कर्षतो वसेत् ।

देशोन पुद्गल परावर्तार्थं कोऽपि संसृतौ ॥१२०९॥

और इस तरह गिरने के बाद कोई जीव तद्भव मोक्षगामी नहीं होता। कोई तो और 'अर्ध पुद्गल परावर्त' से कुछ कम समय तक संसार में भ्रमण करता है। (१२०९)

तथोक्तं महाभाष्ये-

जइ उवसंत कसाओ लहइ अणांतं पुणोपि पडिवायम् ।

न हुभे वीस सियव्वं थेवे वि कसाय सेसंमि ॥११॥

इस विषय में महाभाष्य में कहा है कि- यद्यपि कषाय उपशान्त हुए हों तो भी इसके अनन्ता प्रतिपात होते हैं, इसलिए अल्प भी कषाय शेष रहे हों वहां तक यह विश्वास योग्य नहीं है।

भवक्षयाद्यः पतति आद्य एव क्षणे स. तु ।

सर्वाण्यपि बन्धनादि करणानि प्रवर्त्तयेत् ॥१२१०॥

जो प्राणी जन्म के अन्त में गिरता है वह तो पहले ही क्षण में बन्धन आदि सर्व करण प्रवृत्ति करता है। (१२१०)

बद्धायुरायुक्षयतो म्रियते श्रेणिगो यदि ।

अनुत्तर सुरेच्छेष नियमेव तदोद्भवेत् ॥१२११॥

और बन्धन किए आयु वाला कोई भी जब श्रेणि पर चढ़े रहे हुए ही आयुष्य पूर्ण करता और मृत्यु प्राप्त करता है तब वह नियमतः ही अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है। (१२११)

"तथोक्तं भाष्यवृत्तौ-यदि बद्धायु उपशम श्रेणि प्रतिपन्नः श्रेणि मध्यगत गुण स्थानवतो वा उपशान्त मोहो वा भूत्वा कालं करोति तदा नियमेन अनुत्तर सुरेषु एव उत्पद्यते । इति ॥"

तथा भाष्य की वृत्ति में भी कहा है कि जो कोई बंधन आयु प्राणी उपशम

श्रेणि अंगीकार करके अथवा उस श्रेणि मध्य में के गुण स्थान में रहा हो अथवा मोहनीय उपशांत हुआ हो, वह मृत्यु प्राप्त करे तो वह निश्चय से अनुत्तरदेवों में ही उत्पन्न होता है ।

गुण स्थानस्यास्य प्रोक्ता स्थितिकेक्षणं लघुः ।

अनुत्तरेषु व्रजत सा ज्ञेया जीवितक्षयात् ॥१२१२॥

इस गुण की स्थिति जघन्यतः एक क्षण की है और वह जीवित का क्षय होने से अनुत्तर देवों में जाते जीवों के लिए समझना चाहिए । (१२१२)

कुर्यादुपशम श्रेणिमुत्कर्षादेक जन्मनि ।

द्वौ वारो चतुरो वारांश्चागी संसारमावसन् ॥१२१३॥

एक जन्म में प्राणी उत्कृष्टतः दो समय उपशम श्रेणि करता है और सर्व जन्मों में मिलकर चार बार करता है । (१२१३)

श्रेणिकैवैक भवे भवेत् सिद्धान्तिनां मते ।

क्षपकोपशम श्रेण्योः कर्मग्रन्थ मते पुनः ॥१२१४॥

कृतैकोपशम श्रेणिः क्षपक श्रेणिमाश्रयेत् ।

भवे तत्र द्विः कृतापशम श्रेणिस्तु नैवताम् ॥१२१५॥ युग्मं।

इति कर्म ग्रन्थ लघुवृत्तौ॥

इति एकादशम् ॥

सिद्धान्त के मतानुसार एक जन्म में क्षपक और उपशमक इन दोनों में से एक ही श्रेणि होती है परन्तु कर्म ग्रन्थ की लघुवृत्ति में इस तरह कहा है कि एक उपशमक श्रेणि जिंसने की हो वह क्षपक श्रेणि में जाता है। परन्तु यदि इस जन्म में उपशम श्रेणि में दो बार गया हो तो वह क्षपक श्रेणि ग्रहण नहीं करता। (१२१४-१२१५)

इस तरह से ग्याहरवां गुण स्थान समझना ।

क्षीणाः कषाया यस्यस्युः स स्यात्क्षीण कषायकः ।

वीतरागः छद्मस्थश्च गुणस्थानं यदस्य तत् ॥१२१६॥

क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतरागाह्वयं भवेत् ।

गुणस्थानं के वलित्वं द्रं गाधिगमगोपुरम् ॥१२१७॥ युग्मं।

जिसके कषाय क्षीण हुए हो वह क्षीण कषाय कहलाता है, यदि वह छद्मस्थ वीतराग हो तो उसका गुणस्थान 'क्षीण कषाय छद्मस्थ वीतराग' नामक है। यह गुणस्थान मानों केवल ज्ञान रूपी नगर का परिचय देने वाला या प्रवेश दरवाजा हो- इस तरह है । (१२१६-१२१७)

तत्र..... श्रेष्ठ संहननो वर्षाष्टकाधिकवया नरः ।

सद् ध्यानः क्षपक श्रेणिमप्रमादः प्रपद्यते ॥१२१८॥

श्रेष्ठ संघयण वाला और आठ वर्ष से अधिक वय का मनुष्य अप्रमत्त रूप सद् ध्यान करते हुए क्षपक प्रारंभ करता है । (१२१८)

तथोक्त कर्मग्रन्थ लघुवृत्तौ- "क्षपक श्रेणि प्रतिपन्नः मनुष्यः वर्षाष्ट - कोपरिवर्त्ती अविरतादीनां अन्यतमः अत्यन्तः अत्यन्त शुद्ध परिणामः उत्तम संहननः तत्र पूर्वविद् अप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि केचन धर्मध्यानोपगतः इत्याहुः ॥"

'कर्मग्रंथ की लघु वृत्ति में कहा है कि क्षपक श्रेणि प्रारम्भ करने वाला जो मनुष्य आठ वर्ष से अधिक हो वह अविरति, देश विरति प्रमत्त, अप्रमत्त - इन चार में से किसी एक गुण स्थान में रहता है। जो अत्यन्त शुद्ध परिणामी हो, उत्तम संघयण वाला हो, पूर्व से ही ज्ञान वाला हो, अप्रमत्त हो और शुक्लध्यानोपगत अथवा कईयों के मतानुसार धर्मध्यानोपगत हो वही होता है ।'

"विशेषावश्यक वृत्तौ च पूर्वधरः अप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतः अपि एतां प्रतिपद्यते शेषास्तु अविरतादयः धर्मध्यानोपगता इति निर्णयः ॥"

विशेषावश्यक वृत्ति के अनुसार 'पूर्वधर और अप्रमत्त संयमी शुक्ल ध्यान में रहकर भी क्षपक श्रेणि में जाता है, दूसरे अर्थात् अविरति आदि धर्मध्यान में रहकर क्षपक श्रेणि प्राप्त करते हैं।'

तत्क्रमधायम्-

स तुर्यादि गुण स्थान चतुष्कान्यतरेऽन्तयेत् ।

अन्तर्मुहूर्त्ताद्युपगत प्रागनन्तानु बन्धिनः ॥१२१९॥

ततः क्रमेण मिथ्यात्वं मिश्रं सम्यकत्वमन्तयेत् ।

उच्यते कृतकरणः क्षीणोऽस्मिन् समके च सः ॥१२२०॥

इसका अनुक्रम इस तरह है- इन चौथे से सातवें तक के किसी एक गुण स्थान में अन्तर्मुहूर्त्त में एक साथ पूर्व के चार अनन्तानुबन्धी कषायों का नाश करता

है और उसके बाद अनुक्रम से मिथ्यात्व, मिश्र और समकित मोहनीय का नाश करता है। इस तरह जब सातों का नाश होता है तब से कृतकरण कहलाता है ।
(१२१६-१२२०)

बद्धायुः क्षपक श्रेण्यारम्भकश्चेन्नवर्त्तते ।

अनन्तानुबन्धि नाशनन्तरं जीवित क्षयात् ॥१२२१॥

तदा मिथ्यात्वोदयेन भूयोऽनन्तानुबन्धिनः ।

बध्नाति मिथ्यात्व रूपतद्बीजस्या विनाशतः ॥१२२२॥ युग्मं।

और बन्धन किए आयुष्य वाला कोई भी प्राणी क्षपक श्रेणि का आरम्भ करते हुए अनन्तानुबन्धी कषायों का विनाश करता है, फिर जीवन का क्षय होने से निवृत्त हुआ तो पुनः मिथ्यात्व के उदय से अनन्तानुबन्धी कषायों का बन्धन करता है। क्योंकि इसका मिथ्यात्व रूप बीज अभी भी नष्ट नहीं हुआ है । (१२२१-१२२२)

क्षीणे मिथ्यात्व बीजे तु भूयोऽनन्तानुबन्धिनाम् ।

न बन्धोऽस्ति क्षितिरूहो बीजे दग्धे हि नांकुरः ॥१२२३॥

मिथ्यात्व बीज क्षीण हो तो उसके बाद अनन्तानुबन्धी कषायों का पुनः बन्धन नहीं होता। बीज जल जाता है तब अंकुर उत्पन्न कहाँ होता है ? (१२२३)

सूरेषूत्पद्यतेऽवश्यं बद्धायुः क्षीण सप्तकः ।

चेत्तदानीमपतित परिणामो म्रियेत सः ॥१२२४॥

निपतत्परिणामस्तु बद्धायुर्म्रियते यदि ।

गतिमन्यतमां याति स विशुद्धचनुसारतः ॥१२२५॥

यह बन्धन किये आयु-क्षीण सप्तक प्राणी के परिणाम यदि न पड़ें व आखण्ड रहें तो मृत्यु के बाद निःसंशय देवता होता है परन्तु यदि उसके परिणाम पड़ जायें अर्थात् देरी हो जाये-परिणाम खत्म हो जायें तो उस समय की उसकी स्थिति के अनुसार वह अन्य किसी गति में उत्पन्न होता है । (१२२४-१२२५)

बद्धायुष्कोऽथाक्षतायुः क्षपको म्रियते न चेत् ।

नियमात् सप्तके क्षीणे विश्राम्यति तथाप्यसौ ॥१२२६॥

तथा कोई बन्धन किए आयु वाला तथा अक्षतायु जीव क्षपक होकर मृत्यु न प्राप्त करे फिर भी वह उपर्युक्त सप्तक (सात वस्तुओं के) क्षीण होते ही नियमात् विश्राम प्राप्त करता है । (१२२६)

सकलक्षपकश्चाथ विधाय समकक्षयम् ।

क्षयं नयेत् स्वर्नरकतिर्यगायुष्यतः परम् ॥१२२७॥

प्रत्याख्याना प्रत्याख्यानाष्टकमन्तयेत् गुणे नवमे ।

तस्मिन्नर्द्धक्षपिते क्षपयेदिति षोडश प्रकृतीः ॥१२२८॥

जो सकल क्षपक होता है वह प्राणी तो इस समक का अन्त लाकर स्वर्ग, नरक, तिर्यच का आयुष्य का क्षय करता है और उसके बाद चार प्रत्याख्यान और चार अप्रत्याख्यान- इन आठ कषायों और नौवें गुण स्थानक का क्षय करता है और वह आठवें से अर्ध खपा जाती है अतः पहले कही सोलह प्रकृतियाँ भी खत्म हो जाती हैं । (१२२७-१२२८)

तिर्यग् नरकस्थावर युगलान्युद्योतमातपं चैव ।

स्त्यानद्धिन्द्रिय साधारण विकलैकाक्ष जातीश्च ॥१२२९॥

तिर्यच, नरक और स्थावर प्रत्येक दो-दो अर्थात् कुल छः, उद्योत और आतप यह प्रत्येक नाम कर्म, एक-एक स्त्यन द्वित्रिक (तीन), साधारण नामकर्म एक, विकलेन्द्रिय तीन और एकेन्द्रिय एक इस तरह सब मिलाकर सोलह होते हैं। (१२२९)

'अत्र तिर्यग् युगलं तिर्यग्गति तिर्यगानुपूर्वी रूपम् । नरक युगलं नरक गति नरकानुपूर्वीरूपम् । स्थावर युगलं स्थावर सूक्ष्माख्यम् । इति ज्ञेयम् ॥'

यहां तीन को दो-दो कहा है- वह १- तिर्यच गति और तिर्यच अनुपूर्वी ये दो, २- नरक गति और नरक अनुपूर्वी ये दो, ३- स्थावर और सूक्ष्म नाम कर्म ये दो भेद हैं, उसे समझना ।

अर्धदग्धेऽथनो वह्निर्दहेत्प्राप्येऽथनान्तरम् ।

क्षपकोऽपि तथा त्रान्तः क्षपयेत्प्रकृतीः पराः ॥१२३०॥

जिस तरह अग्नि एक काष्ठ को आधा दग्ध कर प्रायः अन्य काष्ठ में पहुँचता है, इसे भी जलाता है । इसी तरह क्षपक मुनि भी इसके बीच में अन्य प्रकृतियों को खत्म करता है । (१२३०)

कषायाष्टकशेषं च क्षपयित्वान्तयेत् क्रमात् ।

क्लीब स्त्री वेद हास्यादि षट्क पूरूष वेद कान् ॥१२३१॥

तथा आठ कषाय के शेष रहे अर्ध भाग को खत्म कर फिर अनुक्रम से नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्य आदि छः और अन्त में पुरुष वेद को खत्म करते हैं।

एष सूत्रादेशः॥ अन्ये पुनः आहुः षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते॥
केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति पश्चात् षोडश कर्माणि इति कर्म ग्रन्थ वृत्तौ॥

इस तरह से सूत्र आदेश है। अन्य इस प्रकार कहते हैं कि पहले तो वह सोलह प्रकृतियों को ही खमत (खपाने) का आरम्भ करते हैं। कर्म ग्रन्थ की वृत्ति में तो यह कहा है कि बीच में तो केवल आठ कषायों को ही खत्म करते हैं और फिर सोलह प्रकृतियां खत्म करते हैं।'

क्रमः पुंस्यारम्भकेऽयं स्त्री तु क्षपयति क्रमात् ।

क्लीब पुंवेद हास्यादि षट्कं स्त्रीवेदमेव च ॥१२३२॥

इस क्रम से जब पुरुष आरम्भक होता है तब ही समझना। यदि आरम्भक स्त्री हो तो वह नपुंसक वेद, पुरुष वेद, हास्य आदि छः और अन्त में स्त्री वेद को अनुक्रम से खत्म करती है। (१२३२)

क्लीबस्त्वारम्भको नूनं स्त्रीवेदं प्रथमं क्षपेत् ।

पुंवेद हास्यषट्कं च नपुंवेद ततः क्रमात् ॥१२३३॥

और यदि आरंभक अर्थात् क्षणिका आरम्भ करने वाला नपुंसक हो तो वह प्रथम स्त्रीवेद को खत्म करता है, फिर पुरुष वेद, हास्यादि छः को और अन्त में नपुंसक वेद - इस तरह अनुक्रम से खत्म करता है। (१२३३)

ततः संज्वलन क्रोधमान मायाश्च सोऽन्तयेत् ।

ततः संज्वलनं लोभं क्षपयेद्दशमे गुणे ॥१२३४॥

उसके बाद संज्वलन जाति के क्रोध, मान और माया का क्षय करता है और उसके बाद दसवें गुण स्थान में संज्वलन लोभ का अन्त करता है। (१२३४)

लोभे च मूलतः क्षीणे निस्तीर्णो मोह सागरम् ।

विश्राम्यति स तत्रान्तर्मुहूर्त्तं क्षपको मुनिः ॥१२३५॥

और लोभ जड़-मूल से नष्ट होने के बाद क्षपक मुनि मोह सागर को पार कर लेते हैं फिर अन्तर्मुहूर्त्त विश्राम लेते हैं। (१२३५)

तथोक्तं महाभाष्ये-

क्षीणे खवगनियद्भो वी समये मोह सागरं तरिउम् ।

अंतोमुहूर्त्तमुदहिं तरिउं घाहे जहा पुरिसो ॥१२३६॥

महाभाष्यकार ने इस विषय में कहा है कि- सर्व कषायों के क्षीण होने पर

क्षपक मुनि मोह सागर पार कर उसी तरह अन्तर्मुहूर्त विश्राम लेते हैं, जिस तरह समुद्र पारकर कोई पुरुष दो घड़ी विश्राम लेता है । (१२३६)

गतोऽथ द्वादशे क्षीण काषायाख्ये गुणेऽसुमान् ।

निद्रां च प्रचलां चास्यान्तयेदन्यादिमक्षणे ॥१२३७॥

इस प्रकार से क्षीण कषाय नामक बारहवें गुण स्थानक में पहुंच कर प्राणी इसके पहले क्षण में निद्रा और प्रचला का नाश करते हैं । (१२३७)

पंचज्ञानावरणानि चतस्रो दर्शनावृतीः ।

पंचविघ्नांश्च क्षणेऽन्त्ये क्षपयित्वा जिनो भवेत् ॥१२३८॥

और अन्तिम समय में पांच ज्ञान आवरण, चार दर्शन के आवरण तथा पांच अन्तराय - इस तरह कुल चौदह कर्म-प्रकृति खत्म कर जिन होते हैं । (१२३८)

एवं च..... अष्ट चत्वारिंशदाढ्यं शतं प्रकृतयोऽत्र याः ।

सत्तायामभवंस्तासु षट् चत्वारिंशतः क्षयात् ॥१२३९॥

द्वयाढ्यं शतं प्रकृतयोऽवशिष्टा दशमे गुणे ।

क्षीण मोहद्वि चरम क्षणावध्येकयुक्शतम् ॥१२४०॥ युग्मं ।

सत्तायां नव नवतिः क्षीणमोहान्तिमक्षणे ।

चतुर्दशक्षयादत्र पंचाशीतिः सयोगिनि ॥१२४१॥

ततोऽयोगि द्वि चरमक्षणे द्वा समति क्षयः ।

अयोगिनः क्षणेऽन्त्ये च शेष त्रयोदश क्षयः ॥१२४२॥

इस तरह जो १४८ प्रकृतियां सत्ता में थीं उनमें से ४६ का क्षय होने से १०२ प्रकृतियां दसवें गुण स्थानक में अवशेष रह जाती हैं और उनमें से लोभ प्रकृति का क्षय होने से क्षीण मोह नामक बारहवें गुण स्थानक के दो अन्तिम समय तक १०१ अवशेष रह जाती हैं । उनमें से भी निद्रा और प्रचला नाम से क्षीण मोह के अन्तिम क्षण में ६६ अवशेष रहती हैं । उनमें से उक्त १४ का क्षय होने से सयोगी केवली गुण स्थान में ८५ सत्ता में रह जाती हैं । उसके बाद फिर अयोगी गुण स्थान में अन्तिम दो समय में ७२ प्रकृतियों का क्षय होता है और जो १३ अवशेष रह जाती हैं उनका अयोगी को एक साथ अन्तिम समय में क्षय होता है । (१२३६ १२४२)

अत्र भाष्यम्-

आवरणखण्डयसमये निच्छइय नयस्स केवलुप्पत्ती ।

तत्तोणंतर समये ववहारो केवलं भणइ ॥१२४३॥

इति द्वादशम् ।

इस सम्बन्ध में भाष्य में कहा है कि- निश्चय नय के मतानुसार आवरणों के क्षय समय में ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है और व्यवहार नय के मतानुसार उसके बाद के समय में केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। (१२४३) इस तरह से बारहवां गुण स्थानक है।

योगो नामात्मानो वीर्यं तत्स्याल्लब्धि विशेषतः ।

वीर्यान्तराय क्षयण क्षयोपशम सम्भवात् ॥१२४४॥

आत्म की वीर्य-शक्ति - इसका नाम योग है। इस योग वीर्यन्तराय का क्षय और क्षयोपशम होने से अमुक प्रकार की लब्धि प्राप्त होती है। (१२४४)

योगो द्विधा सकरणोऽकरणश्चेति कीर्तितः ।

तत्र केवलिनो ज्ञेयदृश्येष्वखिलं वस्तुषु ॥१२४५॥

उपयुंजानस्य किल केवले ज्ञानदर्शने ।

योऽसावप्रतिधो वीर्यं विशेषोऽकरणः स तु ॥१२४६॥ युग्मं।

वह योग सकरण और अकरण इस तरह दो प्रकार का कहा है। उसमें केवली को अखिल ज्ञेय और दृश्य पदार्थों में केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उपयोग करने से जो अमुक प्रकार की अप्रतिहत लब्धि होती है उसका नाम सकरण योग है। (१२४५-१२४६)

अयं च नात्राधिकृतो योगः सकरणस्तु यः ।

मनोवाक्काय करण हेतुकोऽधिकृतोऽत्र सः ॥१२४७॥

यहां अकरण योग का अधिकार नहीं है। यहां तो सकरण योग का अधिकार है, जो कि मन-वचन और काया के कारण का हेतुभूत है। (१२४७)

केवल्युपेतस्तेयोगैः सयोगी केवली भवेत् ।

सयोगिकेवल्यख्यं स्यात् गुणस्थानं च तस्य यत् ॥१२४८॥

यह सकरण योग वाला जो केवली हो वह सयोगी केवली कहलाता है और उसका गुण स्थान सयोगी केवली गुण स्थान कहलाता है। (१२४८)

मनोवाक्कायजाश्चैवं योगाः केवलिनोऽपि हि ।

भवन्ति कायिकस्तत्र गमनागमनादिषु ॥१२४९॥

वाचिको यत् मानानां जिनानां देशनादिषु ।

भवत्येवं मनोयोगोऽप्येषां विश्वोपकारिणाम् ॥१२५०॥

इस तरह से केवली को भी मन का, वचन का और काया का योग होता है। गमनागमन आदि में कायिक योग होता है, उपदेश आदि करते समय वचन योग होता है और नीचे आई परिस्थिति में मनोयोग होता है। (१२४६-१२५०)

मनः पर्यायवद्भिर्वा देवैर्वानुत्तरादिभिः ।

पृष्टस्य मनसार्थस्य कुर्वतां मनसोत्तरम् ॥१२५१॥

मनः पर्यव ज्ञान वालों से अथवा अनुत्तर आदि देवों से मन द्वारा पूछे गये प्रश्नों का मन द्वारा ही उत्तर देते हैं, वह मनयोग है। (१२५१)

द्विचत्वारिंशतः कर्मप्रकृतीनामिहोदयः ।

जिनेन्द्रस्यापरस्यैक चत्वारिंशत एव च ॥१२५२॥

यहां अर्थात् इस तेरहवें गुण स्थान में जिनेश्वर भगवान् को ब्यालीस कर्म प्रकृति उदय होती हैं और इनके बिना - केवली को इकतालीस कर्म प्रकृतियों का उदय होता है। (१२५२)

औदारिकांगोपांगे च शुभान्यरवगतिद्वयम् ।

अस्थिरं चाशुभं चेति प्रत्येकं च स्थिरं शुभम् ॥१२५३॥

संस्थान षट्कम गुरुलघूपघातमेव च ।

पराघातोच्छ्वास वर्ण गन्ध स्पर्श रसा इति ॥१२५४॥

निर्माणाद्यसंहनने देहे तैजस कार्मणे ।

असात सातान्यतरत् तथा सुस्वर दुःस्वरौ ॥१२५५॥

एतासां त्रिंशतः कर्म प्रकृतीनां त्रयोदशे ।

गुणस्थाने व्यवच्छेद उदयापेक्षया भवेत् ॥१२५६॥

कलापकम्।

इसमें से औदारिक अंग और उपांग, शुभ और अशुभ - इस तरह दो आकाश गति अस्थिर, स्थिर, अशुभ, शुभ और प्रत्येक - ये पांच नाम कर्म, छः संस्थान; अगुरु लघु, उपघात, पराघात और उच्छ्वास - ये चार नाम कर्म; वर्ण, गंध, स्पर्श, रस, निर्माण नाम कर्म, आद्य संघयण; तैजस और कार्मण ये दो देह; असाता और साता वेदनीय - इन दो में से एक; तथा सुस्वर और दुःस्वर - ये दो नाम कर्म; इस तरह की तीस कर्म प्रकृतियों का तेरहवें गुण स्थान में उदय की अपेक्षा से व्यवच्छेद होता है। (१२५३ से १२५६)

भाषा पुदगल संघात विपाकित्वादयोगिनि ।

नोदयो दुःस्वर नाम सुस्वर नाम कर्मणो ॥१२५७॥

शरीर पुदगल दल विपाकित्वादयोगिनि ।

शेषा न स्युः काययोगा भावात्प्रकृतयस्त्विमाः ॥१२५८॥

तथा अयोगी गुण स्थान में भाषा के पुदगलों के विपाक रूप के कारण दुःस्वर और सुस्वर नाम कर्मों का उदय नहीं होता, तथा शरीर के पुदगल के विपाक रूप के कारण से काययोग नहीं होता परन्तु आगे कही प्रकृतियों भाव से होती हैं। (१२५७-१२५८)

ततश्च..... यशः सुभगमादेयं पर्याप्तं त्रस बादरे ।

पंचाक्ष जातिर्मनुजायुर्गन्तौ जिननाम च ॥१२५९॥

उच्चैर्गोत्रं तथा सातासातान्यतरदेव च ।

अन्त्यक्षणावध्युदया द्वादशैता अयोगिनः ॥१२६०॥ युगम्।

इति त्रयोदशम् ॥

यश, सुभग, आदेय, पर्याप्त, त्रस और बादर - ये छह नाम कर्म, पंचेन्द्रिय की जाति, मनुष्य का आयुष्य तथा गति, जिन नाम कर्म, उच्च गोत्र तथा साता अथवा असाता वेदनीय - इस तरह कुल बारह प्रकृतियां अयोगी केवली गुण स्थान के अन्तिम समय तक उदय में होती हैं। (१२५९-१२६०)

इस तरह तेरहवां गुण स्थान कहा है ।

नास्ति योगोऽस्येत्ययोगी तादृशो यश्च केवली ।

गुण स्थानं भवेत्तस्या योगि केवलि नामकम् ॥१२६१॥

जिसको योग नहीं है उस अयोगी केवली का गुण स्थान 'अयोगी केवली' गुण स्थान कहलाता है । (१२६१)

तच्चैवम्..... अन्तर्मुहूर्त्तं शेषायुः सयोगी केवली किल ।

लेश्यातीत प्रतिपित्सुर्ध्यानं योगान् रुणद्धि सः ॥१२६२॥

तत्र पूर्वं बादरेण काय योगेन बादरौ ।

रुणद्धि वाग्मनो योगो काय योगं ततश्च तम् ॥१२६३॥

सूक्ष्मक्रियं चानिवृत्ति शुक्ल ध्यानं विभावयन् ।

रुन्ध्यात् सूक्ष्मांग योगेन सूक्ष्मौ मानसवाचिकौ ॥१२६४॥

रुणद्धचथो काय योगं स्वात्मनैव च सूक्ष्मकम् ।

स स्यात्तदा त्रिभागो न देहव्यापिप्रदेशकः ॥१२६५॥

वह इस तरह से है- आयुष्य जब अन्तर्मुहूर्त जितना शेष रहता है तब सयोगी केवली लेश्यातीत ध्यान में निमग्न होने की इच्छा से योगी को रूंधते (रोकते) हैं । उसमें प्रथम स्थूल कायायोग से स्थूल मन-वचन के योग को रोकते हैं और फिर स्थूल काल योग को रोकते हैं । फिर सूक्ष्म क्रिय अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान का विशेष चिन्तन करते हुए सूक्ष्म मन-वचन के योग को रोकते हैं । फिर स्वयं स्वतः सूक्ष्म काययोग को रोकते हैं और इस समय में इनका शरीर प्रदेश तृतीयांश से कम होकर रहता है। (१२६२ से १२६५)

शुक्लध्यानं समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति च ।

ध्यायन् पंचह्रस्ववर्णोच्चारमानं स कालतः ॥१२६६॥

शैलेशीकरणं याति तच्च प्राप्तो भवत्यसौ ।

योग व्यापार रहितोऽयोगी सिद्धचत्यसौ ततः ॥१२६७॥ युग्मः।

उसके बाद समुच्छिन्न क्रिय अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान में निमग्न रहकर पांच ह्रस्व वर्णों के उच्चार मात्र समय में शैलेशीकरण करते हैं और इस तरह करते हुए सर्व योग व्यापार रहित अयोगी बनकर सिद्ध होते हैं। (१२६६-१२६७)

गत्वानुपूर्वो देवस्य शुभान्यरव गति द्वयम् ।

द्वौ गन्धावष्ट च स्पर्शा रसवर्णांग पंचकम् ॥१२६८॥

तथा पंच बन्धनानि पंच संघातनान्यपि ।

निर्माण षट् संहननान्यस्थिरं वा शुभं तथा ॥१२६९॥

दुर्भगं च दुःस्वरं चानादेयमयशोऽपि च ।

संस्थान षट्कम् गुरु लघूपघातमेव च ॥१२७०॥

पराघातमथोच्छ्वासमपर्याप्ताभिधं तथा ।

असातसातायोरेकं प्रत्येकं च स्थिरं शुभम् ॥१२७१॥

उपांग त्रितयं नीचैर्गोत्र सुस्वरमेव च ।

अयोग्युपान्त समये इति द्वासप्ततेः क्षयः ॥१२७२॥

पंजाभं कुलं ।

अयोगी केवली गुण स्थान के उपांत्य समय में देव की गति तथा अनुपूर्वी, शुभ और अशुभ विषय गति (आकाश गति), दो गंध, आठ स्पर्श, पांच रस, पांच

वर्ण, पांच अंग, पांच बन्धन, पांच संघात, छः संस्थान छः संघयण, तीन उपांग, नीच गोत्र, निर्माण, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भाग्य, सुस्वर, दुःस्वर, आनादेर, अपयश, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास अर्थात् प्रत्येक-स्थिर और अज्ञात अथवा सात वेदनीय - ये सत्तरह नाम कर्म, इस तरह आम तौर से बहंतर प्रकृतियों का क्षय होता है। (१२६८ से १२७२)

मनुजस्य गतिश्चायुश्चानुपूर्वीति च त्रयम् ।

त्रस बादर पर्याप्तयशांसीति चतुष्टयम् ॥१२७३॥

उच्चौर्गोत्रमथादेयं सुभगं जिन नाम च ।

असात सातयोरेकं जातिः पंचेन्द्रियस्य च ॥१२७४॥

त्रयोदशैताः प्रकृतीः क्षपयित्वान्तिमे क्षणे ।

अयोगी केवली सिद्धयेन्निर्मूल गत कल्मषः ॥१२७५॥

त्रिभिर्विशेषकम्।

और अन्त्य समय में मनुष्य की गति, आयुष्य और आनुपूर्वी - ये तीन, उच्च गोत्र, असाता और साता वेदनीय में से एक, पंचेन्द्रिय की जाति और त्रस बादर, पर्याप्त, यश, आदेय, सुभग और जिन - ये सात नाम कर्म, इस तरह कुल मिलाकर तेरह प्रकृतियां खत्म करते हैं। इस तरह सर्व कल्मष निर्मूल होने पर अयोगी केवली सिद्ध होते हैं। (१२७३ से १२७५)

मत्तान्तरे ऽत्रानुपूर्वी क्षिपत्युपान्तिम क्षणे ।

ततस्त्रि समतिं तत्र द्वादशान्ये क्षणे क्षिपेत् ॥१२७६॥

इति चतुर्दशम् ॥

कई आचार्यों का ऐसा मत है कि आनुपूर्वी को उपान्त्य समय में खत्म करते हैं, इसलिए उपान्त्य में ७२ के स्थान पर ७३ और अन्त्य में १३ के स्थान पर १२ खत्म करते हैं। (१२७६)

इस तरह चौदहवें गुण स्थान का स्वरूप कहा ।

आद्यं द्वितीयं तुर्यं च गुणस्थानान्यमूनि वै ।

गच्छन्तमनु गच्छन्ति परलोके शरीरिणम् ॥१२७७॥

मिश्र देश विरत्यादीन्येकादश पराणि च ।

सर्वथात्र परित्यज्य जीवा यान्ति परं भवम् ॥१२७८॥

प्रथम, दूसरा और चौथा गुण स्थान परलोक में प्राणी के पीछे साथ चलता है और मिश्र देश विरति आदि और शेष ग्यारहवें गुण स्थानक को परलोक में जाते समय प्राणी यहीं ही छोड़कर जाता है । (१२७७-१२७८)

तत्र मिश्रे स्थितः प्राणी मृतिं नैवाधिगच्छति ।

स्युर्देशविरतादीनि यावज्जीवावधीनि च ॥१२७६॥

यत्तृतीयं गुण स्थानं द्वादशं च त्रयोदशम् ।

विनान्येष्वेकादशसु गुणेषु म्रियतेऽसुमान् ॥१२८०॥

और मिश्र गुण स्थानक में रहकर प्राणी मृत्यु प्राप्त करता ही नहीं है; और देश विरति आदि गुण स्थान तो अन्तिम जीवन तक होते हैं। क्योंकि जैसे तीसरे मिश्र गुण स्थानक में रहकर प्राणी मृत्यु प्राप्त नहीं करता वैसे ही बारहवें और तेरहवें गुण स्थानक में रहकर भी मृत्यु प्राप्त नहीं करता । कहने का मतलब यह है कि इन तीन के बिना, शेष ग्यारह गुण स्थान में रहकर ही प्राणी मृत्यु प्राप्त कर सकता है । (१२७६-१२८०)

स्ताका एकदश गुण स्थिता उत्कर्षतोऽपि यत् ।

चतुः पंचाशदेवामी युगपत् सम्भवन्ति हि ॥१२८१॥

ग्यारहवें गुण स्थानक में सर्व से अल्प प्राणी हैं क्योंकि एक समय में उत्कृष्टतः भी चौराही ही होते हैं। (१२८१)

तेभ्यः संख्यगुणाः क्षीण मोहास्ते ह्यष्टयुग-शतम् ।

युगपत्स्युरष्टमादि त्रिगुणस्थास्ततोऽधिकाः ॥१२८२॥

मिथस्तुल्याश्च यच्छ्रेणि द्वयस्था अपि संगताः ।

स्युर्द्वाषष्टयुत्तरशतं प्रत्येकं त्रिषु तेषु ते ॥१२८३॥

इस तरह करते संख्यात गुणा क्षीण मोह गुण स्थान में होते हैं, वे एक समय में एक सौ आठ होते हैं । इससे अधिक आठवें, नौवें और दसवें गुण स्थानक में होते हैं और ये तीनों परस्पर बराबर हैं। क्योंकि प्रत्येक दोनों श्रेणियों को एकत्रित करने भी एक सौ बहत्तर होती हैं। (१२८२-१२८३)

योग्य प्रमत्ताप्रमत्तास्तेभ्यः संख्य गुणाः क्रमात् ।

यत्ते मिताः कोटि कोटि शतकोटि सहस्रकैः ॥१२८४॥

तथा योगी प्रमत्त और अप्रमत्त गुण स्थानों से ऊपर करते संख्यात गुणा होते हैं और वे करोड़, सौ करोड़ और हजार करोड़ होते हैं। (१२८४)

पंचमस्था द्वितीयस्था मिश्रश्चाविरताः क्रमात् ।

प्रत्येकं स्युरसंख्येय गुणास्तेभ्यस्त्व योगिनः ॥१२८५॥

स्युरनन्तगुणा मिथ्यादशस्तेभ्योऽप्यनन्तकाः ।

इदमल्प बहुत्वं स्यात् सर्वत्रोत्कर्ष सम्भवे ॥१२८६॥ *युग्मं*

पांचवां, दूसरा, तीसरा और चौथा गुण स्थान से ऊपर करते अनुक्रम से असंख्य, असंख्य गुणा होता है और अयोगी अर्थात् चौदहवें गुण स्थान में ऐसा करते अनंत गुण होता है, इससे अनन्त गुणा मिथ्यादृष्टि होते हैं । यह अल्पबहुत्व सर्वत्र उत्कृष्टतः समझना ॥ (१२८५-१२८६)

विपर्ययोऽप्यन्यथा स्यात् स्तोकाः स्युर्जातु चिद्यथा ।

उत्कृष्ट शान्त मोहेभ्यो जघन्याः क्षीण मोह काः ॥१२८७॥

एवं सास्वादनादिष्वपि भाव्यम् ॥

इस विषय में कहीं-कहीं अन्यथा विपर्यय यानि फेर-फार भी हैं जैसे कि किसी समय में उपशान्त मोह गुण स्थान वाले की उत्कृष्ट संख्या करते क्षीण मोह गुण स्थान वाले की जघन्य संख्या छोटी होती है । (१२८७)

सास्वादन आदि में भी इसी प्रकार हैं ।

मिथ्यात्वं कालतोऽनादि सान्तं स्यात्सादि सान्तकम् ।

अनाद्यनन्तं च न तत्साद्यनन्तं तु सम्भवेत् ॥१२८८॥

प्रथम मिथ्यात्व गुण स्थान का स्थिति काल अनादि सांत, सादि सांत और अनादि अनंत भी है, परन्तु सादि अनन्त संभव नहीं है । (१२८८)

स्यादाद्यं तत्र भव्यानामनाम पूर्व सददृशाम् ।

द्वितीयं प्राप्य सम्यकत्वं पुनर्मिथ्यात्वमीयुषाम् ॥१२८९॥

पूर्व में जिसे समकित प्राप्त न हुआ हो उस भव्यात्मा का इस गुणस्थान का पहला अर्थात् अनादि सांत स्थिति काल है और समकित प्राप्त कर पुनः मिथ्यात्व में गिर गया हो, उसको गुण स्थान का स्थिति काल दूसरा सादि सांत है । (१२८९)

स्यात्तृतीयमभव्यानां सदा मिथ्यात्ववर्तिनाम् ।

आनन्त्या सम्भवात् सादेस्तुर्य युक्तमसम्भवि ॥१२९०॥

हमेशा मिथ्यात्व में ही रहने वाले अभव्यात्मा के गुण स्थान का स्थिति-काल तीसरा अनादि अनन्त है, सादि और अनन्त रूप असंभव होने से सादि अनन्त ऐसा चौथा प्रकार संभव नहीं है । (१२९०)

सासादनं चोक्तमेव षडावलिमितं पुरा ।

तुर्यमितं समधिकं त्रयस्त्रिंशत्पयोधिभिः ॥१२६१॥

दूसरे सासादन गुण स्थान का काल छः आवली समय होता है, वह पूर्व में कह ही दिया है। चौथे गुण स्थान का समय तैतीस सागरोपम से कुछ अधिक होता है । (१२६१)

सर्वार्थ सिद्ध देवत्वे त्रयस्त्रिंशत्पयोनिधीन् ।

धृत्वाऽविरत सम्यक्त्वं ततोऽत्राप्यागतौऽसकौ ॥१२६२॥

यावदद्यापि विरतिं नाप्नोति तावदेव यत् ।

तुर्यमेव गुणस्थानमुररीकृत्य वर्त्तते ॥१२६३॥

क्योंकि चौथे गुण स्थान वाला जीव सर्वार्थ सिद्ध देवत्व में तैतीस सागरोपम तक रहकर अविरति सम्यक्त्व प्राप्त कर वहां से पुनः यहां भी आता है और जहां तब यहां पर भी वह विरति प्राप्त नहीं करता तब तक वह चौथे ही गुण स्थानक में रहता है । (१२६२-१२६३)

किंचिन्न्यूनन वाब्दो न पूर्वं कोटिमिते मते ।

त्रयोदश पंचमं च गुण स्थाने उभे अपि ॥१२६४॥

पांचवा और तेरहवां - इन दोनों गुण स्थानकों का स्थिति काल करोड़ पूर्व से आशय नौ वर्ष कम होता है । (१२६४)

अन्तिमं इज्जणनमेत्येवं रूपैः किलाक्षरैः ।

अविलम्बात्वरितयोच्चारितैः प्रमितं भवेत् ॥१२६५॥

अन्तिम गुण स्थान का स्थिति काल, विलम्ब किए बिना तथा शीघ्रता किए बिना इ, जा, न, म - ये पांच अक्षर बोलने में जितना समय लगता है, उतना काल है । (१२६५)

आन्तर्मुहूर्तिं कानि स्युः शेषाण्यष्टाप्यमूनि च ।

केचिद्च्युर्न्यून पूर्वं कोटिके षष्ठं सप्तके ॥१२६६॥

शेष आठ रहे, इनका स्थितिकाल 'अन्तर्मुहूर्त' जितना है। कईयों का कहना है कि इन आठ में से दो छठे और सातवें का काल करोड़ पूर्व से कुछ कम कहा है । (१२६६)

तथोक्तं भगवती सूत्रे- पमत्त संजमस्सणं पमत्त संजम वट्टमाणस्स सव्वा

विषं पमत्तद्धा कालओ केवच्चिरं होइ। मंडिआ एक जीवं पडुच्च जह्ण एगं समयं उक्को देसूणा पुव्वकोडी । णाणजीवे पडुच्च सब्बद्धा ॥ अस्स वृत्तिः- जह्ण एवकं समयंति कथं उच्यते । प्रमत्त संयत प्रतिपत्तिसमय समनन्तरमेव भरणात् ॥ देसूणा पुव्वकोडि ति । किल प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणे एव प्रमत्ता प्रमत्त गुण स्थाने । ते च पर्यायेण जायमाने देशोनपूर्व कोटिं यावदुत्कर्षेण भवतः । महान्ति च अप्रमत्तापेक्षया प्रमत्तान्तर्मुहूर्त्तानि कल्पन्ते । एवं च अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणानां प्रमत्ताद्धानां सर्वासां मिलने देशोन पूर्व कोटी कालमानं भवति ॥ अन्ये च आहूः । अष्ट वर्षो नां पूर्व कोटिं यावत् उत्कर्षतः प्रमत्तता स्यात् । एवं अप्रमत्त सूत्रमपि ॥ नवरं ॥ जह्ण अंतर्मुहूर्त्तं ति । किल अप्रमत्ताद्धायां वर्त्तमान अन्तर्मुहूर्त्त मध्ये मृत्युः न भवतीति ॥ चूर्णिकारमतं तु प्रमत्त संयत वर्जः सर्वेऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते प्रमादाभावात् । स च उपशम श्रेणिं प्रतिपद्यमानः मुहूर्त्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्य कालो लभ्यते इति ॥ देशोन पूर्वकोटी तु केवलिमाश्रित्य इति ॥

तथा इस सम्बन्ध में श्री भगवती सूत्र में इस तरह कहा है कि- 'प्रमत्त और अप्रमत्त में रहने वाले संयमी-मुनि का सर्व प्रमत्त काल कितना होता है ?' उत्तर- 'हे मंडिया, एक जीव के आश्रित को जघन्य एक समय और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व से कुछ कम होता है और छोटे जीवों की अपेक्षा से सर्वकाल जानना ।' यह टीका के आधार अनुसार है। यहां जघन्य एक समय का काल क्यों कहा ? उत्तर- प्रमत्त संयम अंगीकार करके अन्य समय में ही मर जाये तो, जानना। प्रश्न-पूर्व करोड़ से कुछ कम, इस तरह क्यों कहा ? उत्तर - प्रमत्त और अप्रमत्त- इन प्रत्येक गुण स्थानक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है, और इनके पर्याय एकत्रित करें तो उत्कर्ष से कुछ कम करोड़ पूर्व होता है। इसमें भी अप्रमत्त की अपेक्षा से प्रमत्त के अन्तर्मुहूर्त्तों की बड़ी कल्पना है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला प्रमत्त गुण स्थान के सर्व काल एकत्रित करे तो करोड़ पूर्व कुछ कम होता है। और कईयों का ऐसा मत है कि- प्रमत्त का स्थिति काल उत्कृष्ट से करोड़ पूर्व से आठ वर्ष कम है। अप्रमत्त के सम्बन्ध में भी इसी तरह ही समझना । अन्तर इतना ही है कि अप्रमत्त काल के अन्दर रहने वाले को अन्तर्मुहूर्त्त के अन्दर मृत्यु नहीं होती । तथा चूर्णिकार का तो ऐसा मत है कि प्रमत्त संजमी बिना अन्य सर्व सर्व विरति अप्रमत्त कहलाते हैं। क्योंकि इनका प्रमाद का अभाव है- प्रमाद नहीं होता। इस प्रकार का संयमी उपशम श्रेणि को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त्त के अन्दर मृत्यु प्राप्त करने से जघन्य काल माना जाता है। कुछ कम करोड़ पूर्व काल जो कहा है वह केवली के कारण कहा है।'

यन्नि दिष्टं जिनाधीशैरेक जीवव्यपेक्षया ।

त्यक्त्वा पुनः प्राप्ति रूपमधैषामुच्यतेऽन्तरम् ॥१२६७॥

यहां जिनेश्वर भगवन्त ने जो कहा है वह एक जीव की अपेक्षा से कहा है, वह प्राप्ति रूप त्याग को कहा है। अब इन गुण स्थानों के अन्तर के विषय में कहते हैं। (१२६७)

जघन्यं सासादनस्य पत्न्या संख्यांशं संमितम् ।

शेषेषु च दशानां स्यादन्तर्मुहूर्त्तमन्तरम् ॥१२६८॥

सास्वादन का अन्तर जघन्यतः एक पत्योपम के असंख्यात अंश के जितना है और शेष तेरह में से दस गुण स्थानों का अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है। (१२६८)

मिथ्यात्वस्य तदुत्कृष्टं द्विः षट्षष्टिः पयोधयः ।

साधिका कथितास्तत्र श्रूयतां भावनात्वियम् ॥१२६९॥

मिथ्यात्व गुण स्थान का अन्तर उत्कृष्टतः एक सौ बत्तीस सागरोपम से कुछ अधिक है, वह इस प्रकार भावना सुनी जाती है। (१२६९)

अनुभूय स्थितिं कश्चित् सम्यक्त्वस्य गरीयसीम् ।

मिश्रं ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय ततः पुनः ॥१३००॥

षट्षष्टयभभोनिधिमितां सम्यक्त्वस्य गुरु स्थितिम् ।

समाप्त कोऽपिमिथ्यात्वं जातुयति सदाहि तत् ॥१३०१॥ युग्मं ।

कोई प्राणी सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति अनुभव करके फिर अन्तर्मुहूर्त्त तक मिश्र गुणस्थानक का अनुभव कर पुनः छियासठ सागरोपम सर्वांकित की उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण करके जब मिथ्यात्व गुण स्थान में आ जाता है तब पूर्व कहे अनुसार वह मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर होता है। (१३००-१३०१)

देशोन पुद्गल परावर्त्ताद्धं प्रमितं मतम् ।

द्वितीयादीनां दशानां गुणानां ज्येष्ठमन्तरम् ॥१३०२॥

दूसरे गुण स्थान से लेकर दस गुण स्थान तक अर्थात् ग्यारह गुण स्थान का अन्तर उत्कृष्ट अर्ध पुद्गल परावर्त्त से कुछ कम है। (१३०२)

क्षपकस्थान्तरं जातु न स्यात् त्रिष्वष्टमादिषु ।

सकृत्प्राप्तेः क्षीण मोहादि त्रयेऽप्यन्तरं न हि ॥१३०३॥

इति गुणाः ॥३०॥

आठवें, नौवें और दसवें गुण स्थानों में क्षपक श्रेणि में चढ़े को अल्प भी अन्तर नहीं है तथा एक ही बार प्राप्त होने से क्षीण मोह आदि तीन गुण स्थानों में अर्थात् बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुण स्थानों में भी अन्तर नहीं है । (१३०३)

इस तरह से गुण स्थानों का स्वरूप सम्पूर्ण हुआ ।

अथ योगः॥

दश पंचाधिकायोगाः समस्युस्तत्र कायिकाः ।

चत्वारो मानसोद्भूतास्तावन्त एव वाचिकाः ॥१३०४॥

योग पंद्रह प्रकार का है । उसमें सात काय के, चार मन के और चार प्रकार के वचन योग हैं । (१३०४)

औदारिकस्तनमिश्रः स्याद्वैक्रियस्तेन मिश्रितः ।

आहारकस्तनमिश्रः समसस्तैजस कार्मणः ॥१३०५॥

औदारिक, मिश्र औदारिक, वैक्रिय, मिश्रवैक्रिय, आहारक, मिश्र आहारक और तैजस कार्मण- इस तरह सात काय योग हैं । (१३०५)

पर्याप्तानां नृतिरक्षामौदारिकाभिधो भवेत् ।

स्यात्तन्मिश्रस्तु पर्याप्तापर्याप्तानां तथोच्यते ॥१३०६॥

उसमें पर्याप्त मनुष्य और तिर्यचों का औदारिक काय योग है, और पर्याप्त तथा अपर्याप्तों को मिश्र औदारिक काय योग कहलाता है । (१३०६)

कार्मणेन वैक्रियेणाहार केणेति च त्रिधा ।

औदारिक मिश्रकाययोगं योगीश्वरा जगुः ॥१३०७॥

मिश्र औदारिक काययोग तीन प्रकार से होता है, १- कार्मण काया से, २- वैक्रिय काया से, ३- आहारक काया से । (१३०७)

औदारिकांग नामादितादृक्कर्म नियोगतः ।

उत्पत्तिदेशं प्राप्तेन तिरक्षा मनुजेन वा ॥१३०८॥

यदौदारिकमारब्धं न च पूर्णकृतं भवेत् ।

तावदौदारिक मिश्रः कार्मणेन सह ध्रुवम् ॥१३०९॥ युगं ।

औदारिक शरीर नाम आदि किसी ऐसे कर्म के नियोग से उत्पत्ति देश को प्राप्त हुआ तिर्यच या मनुष्य औदारिक शरीर का आरंभ करता है । वह शरीर जब

तक पूर्ण नहीं होता तब तक कार्मण के साथ औदारिक का मिश्र रूप होता है।
(१३०८-१३०९)

तथा चोक्तं निर्युक्ति कारणेण शस्त्रपरिज्ञाध्ययने-

तेण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो ।

तेण परं मिस्सेणं जाव सरीरस्स निष्फत्ती ॥१३१०॥

तथा इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार ने शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में कहा है कि-
तैजस और कार्मण शरीर से जीव अन्तर रहित-लगातार आहार करता है और
उसके बाद जहां तक शरीर की निष्पत्ति होती है वहां तक मिश्र से आहार करता है।
(१३१०)

ननु मिश्रत्वमुभयनिष्ठमौदारिकं यथा ।

मिश्रं भवेत्कार्मणेन तथा तेनापि कार्मणम् ॥१३११॥

ततश्चौदारिकं मिश्रमेवेदं कथमुच्यते ।

अस्य कार्मणं मिश्रत्वमपि किं नाभिधीयते ॥१३१२॥

यहां शंका करते हैं कि- मिश्र रूप तो दोनों के लिए समान है अर्थात्
औदारिक जैसे कार्मण के साथ में मिश्र है वैसे कार्मण औदारिक के साथ में मिश्र
है; फिर भी यह कार्मण औदारिक साथ में मिश्र है, इस तरह क्यों कहते हो ?
औदारिक कार्मण साथ में मिश्र है, ऐसा क्यों नहीं कहते ? (१३११-१३१२)

अत्राहुः - आसंसारं कार्मणस्यावस्थितत्वेन सर्वदा ।

सकलेष्वपि देहेषु सम्भवेदस्य मिश्रता ॥१३१३॥

ततश्च- कार्मणं मिश्रमित्युक्ते निर्णेतुं नैव शक्यते ।

किमौदारिकं सम्बन्धि किं वापरशरीरजम् ॥१३१४॥

यहां शंका का समाधान करते हैं कि- कार्मण शरीर सर्वदा अन्तिम संसार
तक रहता है और इससे सर्व शरीरों में उसका मिश्र रूप होना संभव है और इससे
कार्मण साथ में मिश्र- इतना कहने से किसके साथ मिश्र, औदारिक शरीर मिश्र
अथवा अन्य शरीर मिश्र ? इसका निर्णय नहीं हो सकता है । (१३१४)

औदारिकस्य चोत्पत्तिं समाश्रित्य प्रधानता ।

कादाचित्कतया चास्य प्रतिपत्तिरसंशया ॥१३१५॥

तदौदारिकं मिश्रत्व व्यपदेशोऽस्य यौक्तिकः ।

न तु कार्मणं मिश्रत्व व्यपदेशस्तथा विधः ॥१३१६॥

और उत्पत्ति की अपेक्षा से औदारिक की प्रधानता है क्योंकि इसकी प्रतिपत्ति कदाचित् के कारण निः संशय है। इससे 'औदारिक के साथ में मिश्र' इस तरह कहना युक्ति युक्त है, कार्मण के साथ में मिश्रत्व है- इस प्रकार कहना युक्तियुक्त नहीं है। (१३१५-१३१६)

यदाप्यौदारिक देह धरो वैक्रियलब्धिमान् ।

पंचाक्षतिर्यड्मर्त्यश्च पर्याप्तो बादरानिलः ॥१३१७॥

वैक्रियांगमारभते न च पूर्णाकृतं भवेत् ।

तदौदारिक मिश्रः स्याद्वैक्रियेण सह ध्रुवम् ॥१३१८॥

तथा औदारिक शरीरधारी और वैक्रिय लब्धिमान पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य तथा बादर वायुकाय जब वैक्रिय शरीर को आरम्भ करता है तब जब तक वह शरीर पूर्ण नहीं होता तब तक औदारिक के साथ में वैक्रिय मिश्र है, इस तरह कहलाता है। (१३१७-१३१८)

एवमाहारकारम्भकाले तल्लब्धिशालिनः ।

सहाहारक देहेन मिश्र औदारिको भवेत् ॥१३१९॥

इसके अनुसार आहारक शरीर के प्रारम्भ के समय में आहारक लब्धि वालों का आहारक शरीर औदारिक के साथ में होता है। (१३१९)

यद्यप्यत्रोभयत्रापि मिथस्तुल्यैव मिश्रता ।

तथाप्यारम्भकत्वेनौदारिकस्य प्रधानता ॥१३२०॥

तत औदारिकेणैव व्यपदेशो द्वयोरपि ।

न वैक्रियाहारकाभ्यां व्यपदेशो जिनैः कृतः ॥१३२१॥

इस तरह दोनों में यद्यपि मिश्रत्व तो परस्पर समान ही है फिर भी आरम्भ रूप के कारण औदारिक प्रधान है। इससे दोनों वैक्रिय और आहारक औदारिक के साथ में मिश्र हैं न कि औदारिक दोनों के साथ में मिश्र है। इस प्रकार श्री जिनेश्वर भगवान् ने कहा है। (१३२०-१३२१)

मतं सिद्धान्ति नामेतत् कर्म ग्रन्थ विदः पुनः ।

वैक्रियाहारक मिश्रो एव प्राहुरिमे कमात् ॥१३२२॥

यदारम्भे वैक्रियस्य परित्यागेऽपि तस्य ते ।

वदन्ति वैक्रियं मिश्रमेवमाहारकेऽपि च ॥१३२३॥

यह मत सिद्धान्तियों का है। कर्म ग्रंथ वालों ने तो औदारिक का अनुक्रम से वैक्रिय और आहारक के साथ में मिश्रत्व है- इस तरह समझाया है वे उन्होंने वैक्रिय के आरम्भ समय में और परित्याग में भी वैक्रिय के साथ में मिश्रत्व मानते हैं। आहारक के सम्बन्ध में भी इसी तरह कहते हैं। (१३२२-१३२३)

वैक्रिय देह पर्याप्तिया पर्याप्तस्य शरीरिणः ।

वैक्रियः काययोगः स्यात्तन्मिश्रस्तु द्विधा भवेत् ॥१३२४॥

वैक्रिय शरीर पर्याप्ति वाले जीव को वैक्रिय काया का योग होता है। इनका दो प्रकार का मिश्र होता है । (१३२४)

यो पर्याप्त दशायां स्यान्मिश्रो नारक नाकिनाम् ।

योगः समं कार्मणेन स स्याद्वैक्रिय मिश्रकः ॥१३२५॥

अपर्याप्त दशा में नारकी और देवों का जो मिश्रत्व है वह प्रथम कार्मण वैक्रिय मिश्र योग होता है । (१३२५)

तथा यदा मनुष्यो वा तिर्यक् पंचेन्द्रियोऽथवा ।

वायुः वा वैक्रियं कृत्वा कृत कार्योऽथ तत्त्य जन् ॥१३२६॥

औदारिक शरीरान्तः प्रवेशं यतते तदा ।

योगो वैक्रिय मिश्रः स्यात्समौदारिकेण च ॥१३२७॥ युग्मं ।

और उसी प्रकार मनुष्य अथवा तिर्यक् पंचेन्द्रिय अथवा वायु वैक्रिय करके और वह सम्पूर्ण करके, उसे परित्याग करके जब औदारिक शरीर में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है तब दूसरा औदारिक वैक्रिय मिश्र योग होता है । (१३२६-१३२७)

मिश्रीभावो यदप्यत्रोभयनिष्ठस्तथाप्यसौ ।

प्रधान्याद्वैक्रियेणैव ख्यातो नौदारिकेण तु ॥१३२८॥

यहां भी मिश्रत्व दोनों में समान है फिर भी वैक्रिय की प्रधानता को लेकर यह वैक्रिय के साथ में औदारिक का योग कहलाता है, न कि औदारिक के साथ में वैक्रिय का योग है। (१३२८)

प्राधान्यं तु वैक्रियस्य प्राज्ञेर्निरूपितं ततः ।

औदारिक तु प्रवेश एतस्यैव बलेन यत् ॥१३२९॥

तथा प्राज्ञ पुरुषों ने भी वैक्रिय का प्रधानत्व मान किया है क्योंकि इसके ही बल से औदारिक में प्रवेश हो सकता है। (१३२९)

आहारकांग पर्याप्त्या पर्याप्तानां शरीरिणाम् ।

आहारकः काययोगः स्याच्चतुर्दश पूर्विणाम् ॥१३३०॥

आहारक वपुः कृत्वा कृत कार्यस्य तत्पुनः ।

त्यक्त्वा स्वांगे प्रविशतः स्यादाहारकमिश्रकः ॥१३३१॥

आहारक शरीर की पर्याप्ति जिसकी पूर्ण रूप हुई हो उन चौदह पूर्वधर महात्माओं को आहारक काय योग होता है। वैसे आहारक शरीर से कृतार्थ बने उन महात्माओं को यह शरीर छोड़कर अपने शरीर में प्रवेश करने से आहारक मिश्र काय योग होता है । (१३३०-१३३१)

द्वयोः समेऽपि मिश्रत्वे बले नाहारकस्य यत् ।

औदारिके ऽनुप्रवेशस्तेनेत्थं व्यपदिश्यते ॥१३३२॥

यहां भी दोनों का मिश्रत्व समान है तो इस आहार के बल से ही औदारिक में प्रवेश हो सकता है। इससे आहारक के साथ में मिश्रत्व कहलाता है। (१३३२)

तैजसं कार्मणं चेति द्वे सदा सहचारिणी ।

ततो विवक्षितः सैको योगस्तैजस कार्मणः ॥१३३३॥

जन्तूनां विग्रह गता वयं केवलिनां पुनः ।

समुद्घाते समयेषु स्यान्तृतीर्यादिषु त्रिषु ॥१३३४॥

तथा तैजस शरीर और कार्मण शरीर इन दोनों के निरन्तर सहचारत्व के कारण तैजस कार्मण इस तरह एकत्रित ही एक काय योग कहा है। यह तैजस कार्मण काय योग प्राणियों को विग्रह गति में होता है और केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पांचवें- इस तरह तीन समय में होता है । (१३३२-१३३४)

एवं निरूपिताः सप्त योगाः काय समुद्भवाः ।

अथ चित्तवचो जातांश्चतुरश्चतुरो ब्रुवे ॥१३३५॥

इस तरह सात काय योग में समझ दी है। अब मन और वचन के चार-चार योग के विषय में कुछ कहते हैं। (१३३५)

सत्यो मृषा सत्यमृषा न सत्यो न मृषाऽपि च ।

मनोयोगश्चतुर्थं च वाग्योगोऽप्येवमेव च ॥१३३६॥

१- सत्य, २- मृषा, ३- सत्यमृषा, ४- न सत्य न मृषा; इस तरह चार प्रकार का मनोयोग है । वचन योग के भी इसी प्रकार से चार भेद होते हैं। (१३३६)

तत च सन्त इत्यभिधीयन्ते पदार्थां मुनयोऽथवा ।
 तेषु साधु हितं सत्यमसत्यं च ततोऽन्यथा ॥१३३७॥
 पदार्थानां हितं तत्र यथावस्थित चिन्तनात् ।
 मुनीनां च हितं यस्मान्मोक्षमार्गैक साधनम् ॥१३३८॥

पदार्थ वाची अथवा मुनिजन वाची शब्द सत् है । इस कारण से यह पदार्थ या मुनिजन को हितावह है, यह सत्य है। यथा स्थिति चिन्तन करने से पदार्थ हितावह और मोक्ष मार्ग का एक का एक साधन होने से मुनिराज को हितावह है। इससे विपरीत वह असत्य है। (१३३७-१३३८)

स्वतो विप्रतिपत्तौ वा वस्तु स्थापयितुं किल ।
 सर्वज्ञोक्तानुसारेण चिन्तनं सत्यमुच्यते ॥१३३९॥
 यथास्ति जीवः सद् सद्गुणो व्याप्य स्थितस्तनुम् ।
 भोक्ता स्वकर्मणां सत्यमित्यादि परिचिन्तनम् ॥१३४०॥

किसी वस्तु अथवा बात की स्थापना करने में स्वतः अथवा कुछ शंका उत्पन्न हो तब सर्वज्ञ के वचनानुसार चिन्तन करना चाहिए। वह सत्य मनोयोग कहलाता है। जैसे सत् असत् जीव शरीर में व्याप्त रहा है, वह स्वकर्म का भोक्ता है, इत्यादि चिन्तन करना सत्य मनोयोग है। (१३३९-१३४०)

प्रश्ने विप्रतिपत्तौ वा स्वभावादुत वस्तुषु ।
 विकल्प्यते जैन मतोत्तीर्णं यत्तदसत्यकम् ॥१३४१॥
 नास्ति जीवो यथेकान्त नित्योऽनित्यो महानणुः ।
 अकर्त्ता निर्गुणोऽसत्यमित्यादि परिचिन्तनम् ॥१३४२॥

कोई यहां प्रश्न करता है कि गुत्थी - उलझन में किसी वस्तु की जिन वचन से विपरीत कल्पना करना, उसका नाम असत्य मनोयोग है । जैसे- एकान्त से है ही नहीं, जीव नित्य है, अनित्य है, बड़ा है, छोटा है, कर्त्ता है तथा निर्गुणी है इत्यादि चिन्तन करना- वह असत्य मनोयोग जानना । (१३४१-१३४२)

किञ्चित्सत्यमसत्यं वा यत्स्यादुभयधर्म युक् ।
 स्यात्तत्सत्यमृषाभिख्यं व्यवहारनयाश्चयात् ॥१३४३॥
 यथान्य वृक्षमिश्रेषु बहुष्वशोक शाखिषु ।
 अशोक वनमेवेदमित्यादि परिचिन्तनम् ॥१३४४॥

तथा कुछ सत्य, कुछ मृषा (असत्य) - इस तरह दोनों धर्म जिसमें हों वह व्यवहार नय के कारण सत्यमृषा नामक तीसरा मनोयोग है । जिस तरह बहुत अशोक वृक्षों के साथ थोड़े अन्य वृक्ष मिश्र हों फिर भी हम लोग सोचते हैं कि ये तो अशोक वृक्ष ही हैं, यही तीसरा मिश्र मनोयोग है । (१३४३-१३४४)

सत्त्वात्कतिपयाशोकतरूणामत्र सत्यता ।

अन्येषामपि सद्भावात् भवेदसत्यतापि च ॥१३४५॥

इसमें कई अशोक वृक्ष का सद्भाव होने से सत्यता है और दूसरे वृक्ष भी होने से असत्यता भी है। (१३४५)

भवेदसत्यमेवेदं निश्चयापेक्षया पुनः ।

विकल्पितस्वरूपस्या सद्भावादिह वस्तुनः ॥१३४६॥

तथा निश्चय नय की अपेक्षा से तो यह असत्य ही है क्योंकि कल्पना स्वरूप वाले पदार्थ का वहां असद्भाव होता है। (१३४६)

विनार्थ प्रतिनिष्ठां च स्वरूप मात्र चिन्तनम् ।

उक्ततत्त्वक्षणा योगात्र सत्यं न मृषा च तत् ॥१३४७॥

यथा चैत्राद्याचनीया गौरानेयो घटस्ततः ।

पर्यालोचनमित्यादि स्याद संत्यामृषाभिधम् ॥१३४८॥

अर्थ प्रतिष्ठा बिना केवल स्वरूप का ही चिन्तन करना, इसमें इसके जो लक्षण कहे हैं उनका योग न होने से न सत्य न झूठ (मृषा) नामक चौथे प्रकार का मनोयोग कहलाता है। जैसे अमुक मनुष्य के पास गाय की याचना करनी है, फिर घट लाना है इत्यादि पर्यालोचना न ही सत्य है न ही असत्य है। वह असत्यामृषा नामक मनोयोग होता है। (१३४७-१३४८)

व्यवहारपेक्षयैव पृथगेतदुदीर्यते ।

निश्चयापेक्षया सत्येऽसत्ये वान्तर्भवेदिदम् ॥१३४९॥

इसे अलग भेद गिना है, यह तो व्यवहार नय की अपेक्षा से ही गिना है। निश्चय नय की अपेक्षा से तो ये भेद सत्य में अथवा असत्य में समा जाता है। (१३४९)

तथाहि..... गौर्याच्चेत्यादि संकल्पं दंभेन विदधीत चेत् ।

अन्तर्भवत्तदाऽसत्ये सत्ये पुनः स्वभावतः ॥१३५०॥

वह इस तरह- गाय की याचना करना है, इत्यादि संकल्प यदि दंभपूर्वक किया हो तो उसका असत्य में समावेश होता है परन्तु वह स्वाभाविक रूप में किया हो तो उसका समावेश सत्य में होता है। (१३५०)

सर्वमेतद् भावनीयं वाग्योगेऽप्य विशेषतः ।

भाविताश्चिन्तने भेदा भाव्यास्तेऽत्र तु जल्पने ॥१३५१॥

जिस तरह इस मनोयोग का स्वरूप कहा है उसी के अनुसार वचनयोग का स्वरूप जानना चाहिए । पहले में चिन्तन रूप भेद कहा है और यहां इसमें, मुख से कथन रूप में लेना चाहिए । (१३५१)

एवं मनोवचोयोगाः स्युः प्रत्येकं चतुर्विधाः ।

ततो योगाः पंचदश व्यवहारनयाश्रयात् ॥१३५२॥

इस तरह मन और वचन योग के प्रत्येक चार-चार भेद हुए और इससे सर्व मिलकर व्यवहार नम की अपेक्षा से पंद्रह योग होते हैं। (१३५२)

किमु कश्चिद्विशेषोऽस्ति भाषावाग्योगयोर्गन्तु ।

भाषाधिकारो यत्प्रोक्तः सूत्रे वाग्योगतः पृथक् ॥१३५३॥

यह ऐसा प्रश्न होता है कि वचन योग और भाषा इन दो में क्या कुछ अन्तर है? सूत्र में भाषाधिकार को वचनयोग से अलग वर्णन किया है । (१३५३)

अत्रोच्यते.....युज्यते इति योगः स्यादिति व्युत्पत्तियोगतः ।

भाषाप्रवर्तको जन्तुयत्नो वाग्योग उच्यते ॥१३५४॥

इसका समाधान इस तरह करते हैं- युज्यते इति योगः, इस तरह योग शब्द की व्युत्पत्ति होती है । इससे जन्तु का भाषा प्रवर्तन का प्रयत्न वाक्योग कहलाता है । (१३५४)

भाषात्वेनापादिता या भाषाहद्रव्यसंततिः ।

सा भाषा स्यादतो भेदो भाषावाग्योगयोः स्फुटः ॥१३५५॥

तथा भाषा के योग्य द्रव्यों में से भाषात्व गुण वाली जो बताया जाता है वह भाषा कहलाती है, इस तरह होने से भाषा और वाग्योग-वचनयोग में स्फुट (फुटकर) भेद ही है। (१३५५)

तथोक्तम् आवश्यकं बृहद्वृत्तौ- "गिणहइय काइ एणं निसिरइ तह वाइएण जोगेणंति ॥"

इस विषय में आवश्यक सूत्र की वृहदवृत्ति में कहा है कि- 'प्राणी भाषा के पुद्गलों को काययोग से ग्रहण करता है और वचनयोग से छोड़ता है।'

अत्र कश्चिदाह- "तत्र कायिकेन गृह्णाति इति एतद् युक्तम् तस्य आत्म व्यापार रूपत्वात्। निसृजति तु कथं वाचिकेन कोऽयं वाग्योग इति। किं वागेव व्यापारापन्ना आहोस्वित् तद्विसर्ग हेतुः काय संरम्भ इति । यदि पूर्वः विकल्पः स खलु अयुक्तः तस्या योगत्वानुपपत्तेः । तथा च न वाक्केवला जीव व्यापारः तस्याः पुद्गल मात्र परिणाम रूपत्वात् रसादिवत् । योगश्च आत्मनः शरीरवतः व्यापार इति । न च तथा भाषा निसृज्यते किन्तु सैव निसृज्यते इति उक्तम् । अथ द्वितीयः पक्षः। ततः स काय व्यापारः एव इति कृत्वा कायिके नैव निसृजति इति आपन्नं अनिष्टं च एतत् ॥"

यहां कोई शंका करता है कि काययोग से ग्रहण करता है- इस तरह कहना है वह तो योग्य है क्योंकि वह आत्म व्यापार है। परन्तु 'वचनयोग से छोड़ता है' यह किस तरह है ? और यह वचनयोग क्या है ? क्या वाणी का व्यापार ही वचन योग है अथवा इसे छोड़ने में हेतुभूत कायसंरंभ है ? यदि प्रथम विकल्प स्वीकार करते हो तो वह अयुक्त है क्योंकि इस वाणी के योगत्व की अनुपपत्ति है व मात्र वाणी ही अकेला जीव का व्यापार नहीं है। क्योंकि यह तो रस आदि के समान पुद्गल मात्र का परिणाम रूप है और जो योग है वह तो शरीर आत्मा का व्यापार है तथा उससे भाषा छोड़ता नहीं है, भाषा स्वयं ही छूटती है। अब यदि दूसरा विकल्प स्वीकार करेंगे तो वह काया व्यापार ही है। इस कारण से कायायोग से ही छोड़ता है। इस तरह निष्पन्न होता है- जो तुमको इष्ट नहीं है।'

अत्र उच्यते- "न । अभिप्राया परिज्ञानात् । इह तनुयोग विशेष एव वाग्योगो मनोयोगश्च इति काय व्यापार शून्यस्य सिद्धवत् तदभावात् । ततश्च आत्मनः शरीर व्यापारे सति येन शब्द द्रव्योपादानं करोति स कायिकः । येन तु काय संरम्भेन नान्येव मुंचति स वाचिक इति । तथा येन मनो द्रव्याणि मन्यते स मानस इति । काय व्यापारः एव अयं व्यवहारार्थं त्रिधा विभक्तः इति अतः अदोषः॥"

अब शंका का समाधान करते हैं कि- "यह इस तरह नहीं है- क्योंकि तुम अभिप्राय समझते नहीं हो। वचनयोग और मनोयोग ये दोनों एक प्रकार का कायायोग ही हैं क्योंकि काया व्यापार रहित को सिद्धि के समान इनका अभाव है। इससे आत्मा का शरीर व्यापार होने पर भी जिससे शब्द द्रव्य का उपादान करता है वह काययोग है और जो काय संरंभ के कारण शब्द द्रव्य को छोड़ता है वह

वचनयोग है, और जिसके द्वारा मन द्रव्यों का चिन्तन है वह मनोयोग कहलाता है। इस तरह से काय व्यापार को ही व्यवहार के अर्थ से तीन प्रकार का कहा है। इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है।“

अथ प्रसंगतो भाषास्वरूपं ऋत्विमि सापि हि ।

चतुर्विधोक्तन्यायेन सत्यासत्यादि भेदतः ॥१३५६॥

अब प्रसंगोपात जिस भाषा का स्वरूप कहा है, वह भाषा भी पूर्वोक्त न्याय से सत्य असत्य आदि चार प्रकार की है। (१३५६)

सन्तो जीवादयो भावाः सन्तो वा मुनयोऽथवा ।

मूलोत्तर गुणास्तेभ्यो हिता सत्याभिधीयते ॥१३५७॥

सत् शब्द बहुवचन होने से जीव आदि पदार्थों के अर्थ में है, मुनिजन के अर्थ में तथा मूल और उत्तर गुणों के अर्थ में उपयोग होता है और इस कारण से यह सत् हितकारी भाषा है वह सत्य भाषा कहलाती है। (१३५७)

अयं भावः..... मुक्ति मार्गाराधनी या सा गीः सत्योच्यते हिता ।

सा तु सत्याप्यसत्यैव यान्येषामहितावहा ॥१३५८॥

असत्या तु भवेद् भाषा मुक्ति मार्गं विराधनी ।

द्वि स्वभावा तृतीयान्त्या नाराधन विराधनी ॥१३५९॥

इसका भावार्थ इस प्रकार है- मोक्षमार्ग की आराधना करने वाली हितकारी भाषा सत्य भाषा कहलाती है और जो दूसरों की अहितकारी है वह भाषा होने पर भी असत्य कहलाती है। मुक्ति मार्ग की विराधना करने वाली भाषा असत्य भाषा कहलाती है। तीसरी सत्यासत्य अर्थात् मिश्र स्वभाव वाली भाषा है और चौथी न सत्य न ही असत्य अर्थात् व्यवहार भाषा है। ये दोनों मोक्षमार्ग की आराधना करने वाली भी नहीं हैं तथा विराधना करने वाली भी नहीं हैं। (१३५८-१३५९)

उक्तं च सच्चा हिया सयामिह संतो मुणयो गुणा पथत्था वा ।

तद्विवरीया मोसा मीसा जा तदुभय सहावा ॥१३६०॥

‘अणहिगया जा तीसु वि सद्दोच्चिय केवला असच्च मोसा । इति॥’

अन्य स्थान पर कहा है कि- सत् शब्द मुनिराज गुण और पदार्थ का वाचक है। इसी तरह की हितावह भाषा वह सर्वदा सत्य भाषा है। इससे जो विपरीत हो वह असत्य भाषा जानना। सत्य और असत्य इस तरह जो उभय स्वभाव वाली हो वह मिश्र भाषा समझना और जिसका इन तीन में से एक-एक में भी समावेश

नहीं होता है वह केवल व्यवहार में बोलने वाली भाषा है, वह न सत्य न मृषा भाषा हैं। (१३६०)

तत्र सत्या दशविधा प्रज्ञप्ता परमर्षिभिः ।

एभिः प्रकारैर्दशभिर्वदन्न स्याद्विराधकः ॥१३६१॥

तथा सत्य भाषा भी महर्षियों ने दस प्रकार की कही है। ये दस प्रकार की भाषा बोलने वाला मनुष्य विराधक नहीं होता। (१३६१)

तथाहुः जणवय सम्मय ठवणा नामे रूवे पडुच्च सच्चे अ ।

ववहारभाव जोगे दसमे उवम्म सच्चे अ ॥१॥

दस प्रकार का सत्य इस प्रकार कहा है- १- जनपद सत्य, २- संमत सत्य, ३- स्थापना सत्य, ४- नाम सत्य, ५- रूप सत्य, ६- अपेक्षा सत्य, ७- व्यवहार सत्य, ८- भाव सत्य, ९- योगसत्य और १०- उपमा सत्य।

तस्मिंस्तस्मिन् जनपदे वचोऽर्थ प्रतिपत्तिकृत् ।

सत्यं जनपदं पिच्चं कोंकणादौ यथा पयः ॥१३६२॥

जिस-जिस जनपद अर्थात् देश में अर्थ को प्रतिपादन करने वाला वचन जनपद सत्य कहलाता है जैसे जल को कोंकण देश में पिच्च कहते हैं। (१३६२)

भवेत्संमत सत्यं तद्यत्सर्वजन सम्मतम् ।

यथान्येषां पंकजत्वेऽप्यरविन्दं हि पंकजम् ॥१३६३॥

सर्वजनों को जो सम्मत हो वह सम्मत सत्य कहलाता है जैसे कि पंकजत्व अन्य वस्तुओं का नाम होने पर भी कमल ही पंकज कहलाता है। (१३६३)

तद् भवेत्स्थापना सत्यं स्थापितं यत्प्रतीतिकृत् ।

यथैककः पुरो बिन्दुद्वय युक्तः शतं भवेत् ॥१३६४॥

प्रतीति करने के लिए जो स्थापन करने में आया हो वह स्थापना सत्य है। जैसे कि एक के आगे दो बिन्दु रखने से एक सौ कहलाता है। (१३६४)

अर्हदादि विकल्पेन कर्म लेप्यादिकं हि यत् ।

स्थाप्यते तदपि प्राज्ञैः स्थापना सत्यमीरितम् ॥१३६५॥

अर्हत् परमात्मा आदि की कल्पना करके प्रतिमा आदि स्थापना करने में आती है, वह भी स्थापना सत्य कहलाती हैं। (१३६५)

यद्यस्य निर्मितं नाम नाम सत्यं नु तद् भवेत् ।

अवर्धयन्नपि कुलं यथा स्यात् कुलवर्धनः ॥१३६६॥

किसी का जो नाम रखा जाता है वह नाम सत्य कहलाता है । जैसे कि कोई कुल को कुछ भी बढ़ाने वाला न हो फिर भी नाम 'कुलवर्धन' होता है ॥१३६६॥

तत्तद्वेषाद्युपादानाद्रूपसत्यं भवेदिह ।

यथात्त मुनिनेपथ्यो दाम्भिकोऽप्युच्यते मुनिः ॥१३६७॥

अमुक प्रकार का वेश उपादान से रूप सत्य कहलाता है । जैसे मुनि का वेश धारण किया हो, वह चाहे दंभक हो फिर भी मुनि कहलाता है । (१३६७)

वस्त्वन्तरं प्रतीत्य स्याद्दीर्घताह्रस्वतादिकम् ।

यदेकत्र तत्प्रतीत्यं सत्यमुक्तं जिनेश्वरैः ॥१३६८॥

दैर्घ्यं यथानामिकाया अधिकृत्य कनिष्ठिकाम् ।

तस्या एव च ह्रस्वत्वं मध्यमामधिकृत्य तु ॥१३६९॥

एक ही वस्तु अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से छोटी-बड़ी कहलाती है, वहां जिनेश्वर भगवन्त ने अपेक्षा से सत्य कहा है। जैसे कि अनामिका अंगुली मध्यमा की अपेक्षा छोटी है परन्तु कनिष्ठिका की अपेक्षा से बड़ी कहलाती है। (१३६८-१३६९)

यथा चैत्रस्य पुत्रत्वं स्यात्तत्पितुरपेक्षया ।

पितृत्वमपि तस्यैव स्वपुत्रस्य व्यपेक्षया ॥१३७०॥

तथा एक मनुष्य अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, परन्तु अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है । यह भी अपेक्षा से सत्य का दृष्टान्त है। (१३७०)

विवक्षया यल्लोकानां तत्सत्यं व्यवहारतः ।

गलत्यमत्रं शिखरी दह्यतेऽनुदरा कनी ॥१३७१॥

भूभूतत्स्थ तृणादीनाम मन्त्रोदकयोरपि ।

अविभेदं विवक्षित्वा लोको ब्रूते तथा विधम् ॥१३७२॥

संभोग बीज प्रभवोदराभावे वदन्ति च ।

कन्यामनुदरां सत्यमित्यादि व्यवहारतः ॥१३७३॥

जो लोगों की अपेक्षा से सत्य होता है वह व्यवहार से सत्य है। जैसे बर्तन में का जल टपकता हो फिर भी बर्तन टपकता है, इस तरह लोग कहते हैं। पर्वत

पर की घास आदि जलती है फिर भी 'पर्वत जल रहा है'। इस तरह लोग कहते हैं। यहां पर पर्वत और घासादि के तथा बर्तन और जल के अविभेद की विवक्षा से इस तरह कहा जाता है। तथा उदर (पेट) होता है फिर भी लोग कहते हैं कि- इस कन्या का उदर नहीं है क्योंकि इसमें संभोग बीज से उद्भवता उदर का अभाव है। यह भी व्यवहार सत्य का दृष्टान्त है। (१३७१ से १३७३)

भावो वर्णादिकस्तेन सत्यं नु भावतो यथा :

नैक वर्णोऽपि नीलस्य प्रबलत्वाच्छुको हरित् ॥१३७४॥

स्थूल स्कन्धेषु सर्वेषु सर्वे वर्णरसादयः :

निश्चयाद्व्यवहारस्तु प्रबलेन प्रवर्त्तते ॥१३७५॥

भाव अर्थात् वर्णादिक। इस वर्णादि के कारण जो सत्य होता है वह भाव सत्य है। जैसे कि तोता केवल हरे रंग का ही नहीं होता, परन्तु हरा रंग प्रबल होता है इसलिए हरे रंग कहलाता है। निश्चय नय से तो सारे स्थूल स्कंधों में सर्व वर्ण रस आदि होते हैं परन्तु व्यवहार प्रबल है। इससे वही कहलाता है। (१३७४-१३७५)

योगोऽन्यवस्तु सम्बन्धो योगसत्यं ततो भवेत् ।

छत्र योगाद्यथा छत्री छत्राभावेऽपि कर्हिचित् ॥१३७६॥

अन्य वस्तु के साथ में सम्बन्ध हो उसका नाम योग है। योग से जो सत्य हो वह योग सत्य कहलाता है। जिसके पास में छत्र (छतरी) हो वह मनुष्य छत्र वाला कहलाता है, परन्तु किसी समय उसके पास छत्र न हो तो भी व छत्र वाला कहलता है। (१३७६)

हृद्यं साधर्म्यमौपम्यं तेन सत्यं तु भूयसा ।

काव्येषु विदितं यद्वृत्तटाकोऽयं पयोधिवत् ॥१३७७॥

हृद को जो किसी तरह समान धर्म हो उसके नाम से उपमा दी जाती है। जैसे कि यह तलाब समुद्र समान है, यह उपमा सत्य है और यह काव्यों में प्रसिद्ध है। (१३७७)

मृषाभाषाऽपि दशधा क्रोध भान विनिःसृताः ।

माया लोभ प्रेम हास्य भय द्वेष विनिःसृताः ॥१३७८॥

आख्यायिका निःसृता नु कथास्वसत्यवादिनः ।

चौर्यादिनाभ्याख्यातोऽन्यमुपघात विनिःसृताः ॥१३७९॥

जिस तरह सत्य दस प्रकार का कहा है, उसी तरह असत्य भी दस प्रकार का कहा है। क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, हास्य, भय और द्वेष से बोला जाता है अथवा कथा के प्रसंग में अत्य बोलने की बात में बोला जाता हो अथवा चोरी आदि में असत्य आरोपण करके अन्य का उपघात करने के लिए बोला जाता है। इत्यादि (१३७८-१३७९)

तथाहुः- कोहे माणे माया लोभे पेजे तहेव दोसे य ।

हासे भय अख्खाइय उव घाइय णिस्सिया दसंमा ॥१३८०॥

तथा अन्य स्थान में कहा है कि- क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, हास्य, भय, वार्ता और उपघात- इन कारणों से असत्य भाषा की उत्पत्ति होती है। (१३८०)

सत्यामृषादि दशधा प्रथमोत्पन्नमिश्रिता ।

विगत मिश्रिता चान्योत्पन्न विगत मिश्रिता ॥१३८१॥

जीवाजीव मिश्रिते द्वे स्याज्जीवाजीव मिश्रिता ।

प्रत्येक मिश्रितानन्तमिश्रिताद्भाविमिश्रिता ॥१३८२॥

इसी सत्यामृषा अर्थात् सत्य झूठ-मिश्र भाषा भी दस प्रकार की है। १- उत्पन्न मिश्र, २- विगत मिश्र, ३- उत्पन्न विगत मिश्र, ४- जीव मिश्र, ५- अजीव मिश्र, ६- जीवाजीव मिश्र, ७- प्रत्येक मिश्र, ८- अनन्त मिश्र, ९- अद्भा मिश्र और १०- अद्भाद्भा मिश्र। (१३८१-१३८२)

अद्भाद्भा मिश्रितेत्यत्र प्रथमोत्पन्नमिश्रिता ।

उत्पन्नानाम निश्चित्य संख्यानं वदतो भवेत् ॥१३८३॥

यथात्र नगरे जाता नूनं दशाष्ट दारकाः ।

मृतांस्तान् वदतोऽप्येवं भवेद्विगतमिश्रिता ॥१३८४॥

कितने उत्पन्न हुए (जन्मे) हों इस बात का निश्चय किए बिना ही बोलना या कहना वह उत्पन्न मिश्र कहलाता है जैसे कि इस शहर के अन्दर आज वास्तव में दस बच्चों का जन्म हुआ है तथा बिना निश्चय किए आज इतने व्यक्तियों की मृत्यु हुई है इस तरह कहना वह विगत मिश्र है। (१३८३-१३८४)

एवं च- उत्पन्नांश्च विपन्नांश्च युगपद्बदतो भवेत् ।

उत्पन्न विगत मिश्राह्वयो भेदस्तृतीयकः ॥१३८५॥

इसी ही तरह जन्मे हुए हों और मृत्यु हुई हो, उनकी एकत्रित संख्या कहना

वह तीसरी उत्पन्न विगत मिश्र भाषा होती है। (१३८५)

शंख शंखनकादीनांराशौ तान् जीवतो बहून् ।

दृष्टाल्पांश्च मृतान् जीव राशुक्तौ जीव मिश्रिता ॥१३८६॥

शंख, खंखला आदि के राशि ढेर में अधिक जीते और थोड़े मरे हुए देखने पर भी यह जीव राशि है इस तरह कहना वह जीव मिश्र भाषा है। (१३८६)

तत्रैव च मृतान् भूरीन् दृष्टा स्वल्पांश्च जीवतः ।

अजीवराशिरित्येवं वदतोऽजीव मिश्रिता ॥१३८७॥

और इसी तरह ही राशि में अधिक मरे हों और थोड़े जीते देखने पर भी कहना कि यह अजीव राशि है, यह अजीव मिश्र भाषा है। (१३८७)

एतावन्तोऽत्र जीवन्त एतावन्तो मृता इति ।

तत्रा निश्चित्य वदतो जीवाजीव विमिश्रिता ॥१३८८॥

कितने जीते हों और कितने मरे हुए हों इसका कुछ निश्चय किए बिना बोलना, वह जीवाजीव मिश्र भाषा है। (१३८८)

अनन्तकाय निकरं दृष्ट्वा प्रत्येक मिश्रितम् ।

अनन्तकायं तं सर्वं वदतोऽनन्तमिश्रिता ॥१३८९॥

प्रत्येक शरीर के अन्दर मिश्र हुए अनंत काय के समूह को देखकर भी सर्व को अनन्त कहना, वह अनन्त मिश्र भाषा है। (१३८९)

एवं प्रत्येक निकरमनन्त कायमिश्रितम् ।

प्रत्येकं वदतः सर्वं भवेत्प्रत्येक मिश्रितः ॥१३९०॥

इसी तरह अनन्त काल मिश्रित प्रत्येक शरीर के समूह देखने पर भी सर्व को प्रत्येक कहना वह प्रत्येक मिश्र भाषा है। (१३९०)

अद्धा कालः स च दिनं रात्रिर्वा परिगृह्यते ।

यस्यांश मिश्रिता साद्धामिश्रिता जायते यथा ॥१३९१॥

कंचन स्वरयन् कश्चिद्बुद्धेदुत्तिष्ठ भो लघुः ।

रात्रिर्जातेति दिवसे रात्रौ च रविरुद्गतः ॥१३९२॥

अद्धा अर्थात् काल और यह काल यानि दिन अथवा रात्रि समझना। रात्रि या दिन के किसी अंश से मिश्रित हो वह अद्धामिश्र भाषा है, जैसे कि कोई मनुष्य अन्य से जल्दी काम करवाने के लिए; दिन हो फिर भी कहे कि जल्दी उठो, रात्रि पड़ गयी है और रात्रि हो फिर भी कहे कि जल्दी उठो, दिन हो गया है। (१३९१-१३९२)

अद्वाद्वात्वेक देशः स्याद्रात्रेर्वा दिवसस्य वा ।
 सा मिश्रिताययाद्वाद्वा मिश्रिता सा भवेदिह ॥१३६३॥
 कश्चिद्यथाद्यपौरुष्यां कंचनत्वरयन् वदेत् ।
 त्वरस्व जातो मध्याह्न एवमेव निशास्वपि ॥१३६४॥

अद्वाद्वा अर्थात् रात्रि अथवा दिन का एक देश-भाग। यह जिसके साथ मिश्रित हो वह अद्वाद्वा मिश्र भाषा जानना। जैसे कि प्रथम फोरसी में एक मनुष्य दूसरे आदमी से जल्दी कार्य करवाने के लिए कहे कि- अरे जल्दी कर, मध्याह्न का समय हो गया है। इसी ही तरह रात्रि के विषय में समझना। (१३६३-१३६४)

या त्वसत्यामृषाभिख्या भाषा सापि जिनेश्वरैः ।
 प्रज्ञसा द्वादश विधा विविधातिशयान्वितैः ॥१३६५॥
 आमंत्रण्याज्ञापनी च याचनी पृच्छनी तथा ।
 प्रज्ञापनी प्रत्याख्यानी भाषा चेच्छामुकूलिका ॥१३६६॥
 अनभिगृहीता भाषाभिगृहीता तथा परा ।
 संदेह कारिणी भाषा व्याकृताव्याकृता तथा ॥१३६७॥

असत्य अमृषा अर्थात् व्यवहार भाषा भी विविध अतिशयों के स्वामी श्री जिनेश्वर भगवान् ने बारह प्रकार की कही है। वह इस प्रकार से:-

१- आमंत्रणी, २- आज्ञापनी, ३- याचनी, ४- पृच्छनी, ५- प्रज्ञापनी,
 ६- प्रत्याख्यानी, ७- इच्छानुकूलिका, ८- अनभिगृहीता, ९- अभिगृहीता, १०-
 संदेह कारिणी, ११- व्याकृता और १२ अव्याकृता। (१३६५ से १३६७)

हे देवेत्यादि तत्राद्या द्वितीया त्वमिदं कुरु ।
 तृतीयेदं ददस्वेति तुर्या ज्ञातार्थनोदनम् ॥१३६८॥
 पंचमी तु विनीतस्य विनेयस्योपदेशनम् ।
 यथा हिंसाया निवृत्ता जन्तवः स्युश्चिरायुषः ॥१३६९॥

हे देव ! इत्यादि आमंत्रण अर्थ में कुछ कहना, वह प्रथम आमंत्रणी भाषा है। तुम यह करो, यह दूसरी आज्ञारूप भाषा है। तुम यह दो इत्यादि याचना रूप तीसरी भाषा है। जाने हुए अर्थ की प्रेरणा रूप चौथी भाषा है। विनीत अर्थात् विनयवान शिष्य को 'हिंसा का त्यागी प्राणी दीर्घायुवान होता है' इत्यादि उपदेश देना रूप पांचवीं व्यवहार भाषा है। (१३६८-१३६९)

उक्तं च पाणि वहाओ नियता हवन्ति दीहाउया अरोगा य ।

ए माइ पन्नत्ता पन्नवण वीयरयेहिं ॥१४००॥

अन्य स्थान में कहा है कि- ' प्राणी का वध नहीं करने वाला दीर्घायुषी और रोग रहित होता है '। इत्यादि, इसे प्रज्ञापनी व्यवहार भाषा श्री वीतराग परमात्मा ने कहा है। (१४००)

षष्ठी तु याचमानस्य प्रतिषेधात्मिका भेव् ।

ससमी पृच्छतः कार्यं स्वीयानुमति दानतः ॥१४०१॥

कार्यं यथारभमाणः कश्चित्कंचन पृच्छति ।

स प्राहेदं कुरु लघु ममाप्येतन्मतं सखे ॥१४०२॥

तथा याचना करने वाले को निषेध करने रूप छठी व्यवहार भाषा है। किसी को पूछने से कार्य के लिए अनुमति देना वह सातवीं व्यवहार भाषा है, जैसे कि किसी कार्य को प्रारंभ करते समय किसी से पूछने पर वह कहे कि हे मित्र! यह कार्य तुम जल्दी करो मेरी इसमें अनुमति है। (१४०१-१४०२)

उपस्थितेषु बहुषु कार्येषु युगपद्यादि ।

किमिदानीं करोमीति कश्चित्कंचन पृच्छति ॥१४०३॥

स प्राह सुन्दरं यत्ने प्रतिभाति विधेहि तत् ।

भाषानभिगृहीताख्या सा प्रज्ञप्ता जिनेश्वरैः ॥१४०४॥

और किसी समय एक साथ में बहुत से कार्य करने का अवसर आ जाये तब किसी अन्य से पूछे कि अब मैं कौन सा कार्य करूँ ? तब वह कहे कि तुमको जो अच्छा लगे उसे करो। ऐसी भाषा बोलना उसे जिनेश्वर भगवन्त ने नभिगृहीत नामक आठवीं व्यवहार भाषा कहा है। (१४०३-१४०४)

अभिगृहीता तत्रैव नियतार्थावधारणम् ।

यथाधुनेदं कर्त्तव्यं न कर्त्तव्यमिदं पुनः ॥१४०५॥

और इसी ही प्रकार के प्रश्न के उत्तर में ' अब तुम्हें यह कार्य करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए ' इत्यादि नियत अवधारणा वाली भाषा बोलता है, वह 'अभिगृहीत' व्यवहार भाषा जानना। (१४०५)

अनेकार्थ वादिनी तु भाषा संशय कारिणी ।

संशयः सिन्धवत्स्योक्तौ यथा लवणवाजिनोः ॥१४०६॥

जिसमें से अनेक अर्थ निकलते हों ऐसी भाषा संशय कारिणी व्यवहार भाषा

कहलाती है। जैसे कि सिंधव कहने से अश्व या लवण-नमक ऐसा संशय होता है।
(१४०६)

व्याकृता तु भवेय भाषा प्रकटार्थाभिधारिनी ।

अव्याकृता गंभीरार्थाथवाऽव्यक्तक्षरांचिता ॥१४०७॥

जिससे स्फुट अर्थ निकलता हो वह भाषा व्याकृत व्यवहार भाषा है और गंभीर व अव्यक्त अक्षर वाली जो भाषा है वह अव्याकृत व्यवहार भाषा कहलाती है। (१४०७)

आद्यास्तिस्त्रो दशविधास्तुर्या द्वादशधा पुनः ।

द्वि चत्वारिंशदित्येवं भाषा भेदा जिनैः स्मृताः ॥१४०८॥

इस तरह पहले तीन के दस-दस भेद हैं और चौथे के बारह मिलाकर कुल बयालीस भाषा भेद श्री जिनेश्वर भगवान् ने कहे हैं। (१४०८)

स्तोकाः सत्यगिरः शेषस्त्रयोऽसंख्य गुणाः क्रमात् ।

अभाषकाश्चतुर्भ्योऽपि स्युरनन्तगुणाधिकाः ॥१४०९॥

इति योगा ॥३१॥

सत्यवादी सबसे थोड़े होते हैं। शेष तीन वर्ग के अनुक्रम से एक एक से असंख्य गुणा होते हैं और उन चार वर्ग वालों से अनन्त गुणा नहीं बोलने वाले होते हैं। (१४०९)

इस तरह इकतीसवां द्वार योग का पूर्ण हुआ।

के के जीवाः कियन्तः स्युरिति दृष्टान्त पूर्वकम् ।

निरूपणं यत्तन्मानमित्यत्र परिकीर्तितम् ॥१४१०॥

कौन-कौन से जीव कितने-कितने हैं, इसका दृष्टान्तपूर्वक निरूपण करना। इसे मान कहते हैं। यह बत्तीसवां द्वार है। (१४१०)

परस्पर कतिय सजातीयव्यपेक्षया ।

वक्ष्यते याल्पबहुता सात्र ज्ञेया कनीयसी ॥१४११॥

परस्पर कई सजातियों की अपेक्षा से अल्प बहुत्व कहा है, वह तैतीसवां द्वार है। (१४११)

भूयांसो दिशिकस्यां के जीवाः कस्या च केऽल्पकाः ।

एवं रूपाल्प्य बहुता विज्ञेया दिगपेक्षया ॥१४१२॥

कौन सी दिशा में कौन से जीव बहुत हैं और कौन सी दिशा में कौन से जीव अल्प हैं । इस तरह से दिशा की अपेक्षा वाला जो अल्प बहुत्व कहा है वह चौतीसवां द्वार है। (१४१२)

प्राप्य पृथ्व्यादित्वमंगी जघन्योत्कर्षतः पुनः ।

कालेन यावताप्नोति तद्भावं स्यात्तदन्तरम् ॥१४१३॥

पृथ्वीकाय आदि रूप प्राप्त करके प्राणी जघन्यतः तथा उत्कृष्टतः जितने काल में पुनः उस भाव को प्राप्त करता है वह उसका अन्तर कहलाता है, वह पैंतीसवां द्वार है। (१४१३)

विवक्षित भवात्तुल्येऽतुल्ये च यदभवान्तरौ ।

गत्वा भूयोऽपि तत्रैव यथा सम्भवमागतिः ॥१४१४॥

जघन्यादुत्कर्षतश्च वारानेतावतो भवेत् ।

इत्यादि यत्रोच्यतेऽसौ भवसंवेद्य उच्यते ॥१४१५॥ युग्मं ।

विवक्षित जन्म से समान अथवा असमान जन्मान्तर में जाकर पुनः भी यथा संभव वहां आने का हो तो जघन्य तथा उत्कृष्ट से उतनी बार होता है, इत्यादि । वह भवसंवेद्य कहलाता है और वह छत्तीसवां द्वार है। (१४१४-१४१५)

सर्वजातीय जीवानां परस्पर व्यपेक्षया ।

वक्ष्यते याल्पबहुता महाल्पबहुतात्र सा ॥१४१६॥

सर्व जाति के जीवों का परस्पर की अपेक्षा से जो अल्प बहुत्व होता है वह महान् अल्पबहुत्व कहलाता है। यह अन्तिम सैंतीसवां द्वार है। (१४१६)

भवतु सुगमं द्वारैरेभिः सदागम शोभनैः ।

नगरमिव सश्रीकं जीवास्तिकाय निरूपणम् ॥

विमल मनसां चेतां सीह प्रविश्य परां मुदम् ।

दधतु विविधैरथैर्ब्यक्तीकृतश्च पदे पदे ॥१४१७॥

सदागम द्वारा शोभायमान इन द्वारों द्वारा समृद्धिवान् नगर के समान जीवास्तिकाय का निरूपण सुगम होता है और प्रत्येक पद में प्रकट किया हुआ विविध प्रकार के अर्थों से निर्मल चित्त वालों के अन्तःकरण में प्रवेश करके परम हर्ष दो। (१४१७)

विश्वाश्चर्यदं कीर्ति कीर्ति विजय श्रीवाचकेन्दान्तिष-
द्राजश्री तनयोऽतनिष्ठ विनयः श्री तेजपालात्मजः।
काव्यं यत्काल तत्रनिश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,
सर्गो निर्गलितार्थ सार्थ सुभगः पूर्णस्तृतीयः सुखम् ॥१४१८॥

॥ इति श्री लोक प्रकाशे तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥

जगत् के लोगों को आश्चर्य प्राप्त कराने वाली कीर्ति के सदृश श्री कीर्ति विजय उपाध्याय के शिष्य और माता राजश्री तथा पिता तेजपाल के पुत्र श्री विनय विजय उपाध्याय ने जगत् के निश्चय तत्त्वों को प्रकाशित करने में दीपक के समान इस काव्य रूप ग्रन्थ की रचना की है। उसके अन्दर से निकलते अर्थों के समूह से मनाहस यह तीसरा सर्ग सम्पूर्ण हुआ। (१४१८)

॥ इस तरह श्री लोक प्रकाश में तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ चतुर्थः सर्गः

द्वाराण्येवं वर्णितानि समत्रिंशदिति क्रमात् ।

निर्दिश्यन्तेऽथ संसारि जीवेष्वपूनि तत्र च ॥१॥

ओघतो भाव्यते संसारिषु द्वार कदम्बकम् ।

आदौ ततो विशेषेण प्रत्येकं भावयिष्यते ॥२॥

तीसरे सर्ग में सैंतीस द्वारों का क्रमशः वर्णन करने में आया है। अब इन द्वारों का संसारी जीवों के विषय में निर्देश करते हैं। उसमें भी प्रथम सर्व द्वारों का ओघ से अर्थात् एक साथ निर्देश किया जायेगा और उसके बाद प्रत्येक द्वार के विशेषण का वर्णन किया जायेगा। (१-२)

द्विधा संसारिणो जीवस्त्रसस्थावर भेदतः ।

त्रिविधाः स्युस्त्रिभिर्वेदैर्गतिभेदैश्चतुर्विधाः ॥३॥

संसारी जीवों के दो भेद हैं- १- त्रस अर्थात् चलते-फिरते जीव और २- स्थावर अर्थात् स्थिर, जो चल- फिर न सके। तथा जीव तीन प्रकार का है- स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेद की अपेक्षा से जानना तथा चार प्रकार का भी जीव होता है- देव, मनुष्य, तिर्यच अथवा नारकी भेद से चार गति होती हैं। (३)

एकद्वित्रिचतुः पंचेन्द्रिया इति च पंचधा ।

षोढा काय प्रकारैः स्युर्भवन्त्येवं च सप्तधा ॥४॥

और जीव को एक से पांच तक जैसी इन्द्रिय हों वह एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौन्द्रिय, पंचन्द्रिय- इस तरह पांच प्रकार के जीव कहलाते हैं। तथा काया अनुसार गिनें तो छः प्रकार के हैं। वह इस तरह- पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वाउकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। (४)

एकक्षा बादराः सूक्ष्माः पंचाक्षाः संज्ञयसंज्ञिनः ।

चत्वारौऽसी विकलाक्षैस्त्रिभिः सह समन्विताः ॥५॥

तथा जीव के सात भेद भी होते हैं। वह इस तरह- १- सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २- बादर एकेन्द्रिय, ३- दो इन्द्रिय, ४- तेइन्द्रिय, ५- चउरिन्द्रिय, ६- संज्ञि पंचेन्द्रिय और ७- असंज्ञि पंचेन्द्रिय। (५)

चतुर्धैकन्द्रियाः सूक्ष्मान्य पर्याप्तान्य भेदतः ।

पंचाक्षा विकलाक्षाश्च भवन्तीत्येवमष्टधा ॥६॥

जीव आठ प्रकार का भी होता है । १- सूक्ष्म पर्याप्त एकेन्द्रिय, २- बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, ३- सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय, ४- बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय, ५- दो इन्द्रिय, ६- तेइन्द्रिय, ७- चौइन्द्रिय और ८- पंचेन्द्रिया (६)

अंडज आदि भेदतोऽष्टो त्रसास्तत्रांडजाः किल ।

पक्षिसपर्याद्या रसोत्था मद्य कीटादयोङ्गिनः ॥७॥

जरायुजा नृगवाद्या यूकाद्याः स्वदजा मताः ।

संमूर्च्छजा जलूकाद्या पोतजा कुंजरादय ॥८॥

उदभेदजाः खंजनाद्याः देवाद्याश्चौपपातिकाः ।

स्थवरेणैकेन युक्ता नवधेत्यंगिनो मताः ॥९॥

त्रिभिः विशेषकम् ॥

तथा जीव के नौ भी भेद होते हैं- स्थावर और आठ प्रकार के त्रस मिलकर नौ होते हैं। उसमें आठ प्रकार के त्रस इस प्रकार हैं; १-अंडज अर्थात् अण्ड में से उत्पन्न होते पक्षी सर्प आदि; २- रसज अर्थात् रस में से उत्पन्न होते मदिरा के कीड़े आदि ३- जरायु से उत्पन्न होते मनुष्य, बैल आदि; ४- प्रस्वेद से उत्पन्न हुए जूँ आदि ; ५- समूर्च्छम जलों आदि, ६- पोतज, हाथी, ७- उदभेद से उत्पन्न हुआ खंजर आदि और ८- औपपातिक से उत्पन्न होते देव आदि होते हैं। (७ से ९)

अथवा-नवधा स्थवराः पंच पंचाक्ष विकलैर्युताः ।

दशधा विकलेः क्षमाद्यैः पंचाक्षैः संज्ञ्य संज्ञिभिः ॥१०॥

अथवा इस प्रकार भी नौ भेद होते हैं- पांच स्थावर, एक पंचेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय (दोन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय) और इसके दस भेद भी होते हैं- तीन विकलेन्द्रिय, पृथ्वीकाय आदि पांच एकेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं। (१०)

स्थावरैर्विकलैः पंचेन्द्रियैश्च वेदतस्त्रिभिः ।

एकादश द्वादश स्युः कायैः पर्याप्तकारैः ॥११॥

तथा जीव के ग्यारह भेद भी होते हैं । वह इस प्रकार- पांच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय और पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक- ये तीन पंचेन्द्रिय होते हैं। एवं जीव के बारह भेद भी होते हैं । वह इस तरह- पृथ्वीकाय आदि छः काय, वह छः पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं अर्थात् ६ + ६ = १२ होते हैं। (११)

पर्याप्तपर्याप्तकैश्च स्थावरैस्त्रिविधैस्त्रसैः ।

वेद भेदात् भवन्त्येवं त्रयोदश विधाः किल ॥१२॥

इसी प्रकार जीव के तेरह भेद भी होते हैं- पांच स्थावर पर्याप्त, पांच स्थावर अपर्याप्त तथा पुरुष, स्त्री और नपुंसक- ये तीन जाति के त्रस। (१२)

प्रागुक्ताः सप्तधा पर्याप्तकापर्याप्त भेदतः ।

चतुर्दश विधा जीवाः स्युः पंचदशधाप्यमी ॥१३॥

और जीव के चौदह भेद भी हो सकते हैं । वह इस प्रकार-पूर्व के सातवें श्लोक में सात भेद कहे हैं, वे सात पर्याप्त और सात अपर्याप्त इन दोनों को मिलाकर $7+7 = 14$ चौदह होते हैं। (१३)

पंचाक्षानरतिर्यचस्त्रिविधा वेद भेदतः ।

देवा द्विधा नारकश्चेत्येवं पंचेन्द्रिया नव ॥१४॥

द्विविधा बादरैकाक्षाः पर्याप्तापर भेदतः ।

सूक्ष्मैकाक्षा विकलाक्षाः स्यु पंचदश संयुक्ता ॥१५॥ युग्मं ।

इसी तरह इसके पंद्रह भेद होते हैं और वह इस प्रकार-पुरुष स्त्री व नपुंसक ये तीन वेद के पंचेन्द्रिय मनुष्य तथा इसी तरह तीन वेद के पंचेन्द्रिय तिर्यच, और पुरुष, स्त्री दो वेद देव, नपुंसक वेदी नारकी, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा तीन विकलेन्द्रिय मिलाकर कुल पंद्रह होते हैं। (१४-१५)

तिर्यचः पंचधैकाक्षादिकाः पंचाक्ष सीमकाः ।

नृदेव नारकाश्चाष्टाप्येते पर्याप्तकापराः ॥१६॥

इति षोडश भेदाः ।

तथा जीव के सोलह भेद भी कहलाते हैं । वह इस तरह- एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पांच प्रकार के तिर्यच तथा मनुष्य, देव और नारकी- ये तीन अर्थात् कुल आठ प्रकार होते हैं ये आठ पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों होते हैं । इससे $8 \times 2 = 16$ सोलह होते हैं। (१६)

प्रागुक्ता नवधा पंचेन्द्रियाश्च पंचधैकरवाः ।

त्रिविधा विकला एवं स्युः सप्तदशधांगिनः ॥१७॥

तथा जीव के सत्रह भेद भी होते हैं । वह इस तरह- पृथ्वीकाय आदि पांच भेद एकेन्द्रिय पूर्व (चौदहवें श्लोक में) गिने अनुसार, नौ प्रकार के पंचेन्द्रिय तथा तीन विकलेन्द्रिय मिलाकर $५+६+३ = १७$ सत्रह भेद होते हैं। (१७)

प्रागुक्ता नवधा जीवाः पर्याप्तापर भेदतः ।

भवन्त्यष्टादश विधा जीवा एवं विवक्षिताः ॥१८॥

और जीव के अठारह भेद भी कहलाते हैं वह इस तरह- पूर्व दसवें श्लोक में नौ प्रकार के जीव कहे गये हैं । वह पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों होते हैं अर्थात् $६ \times २ = १८$ अठारह होते हैं। (१८)

पंचाक्षा नवधा प्राग्वदशधा च परेङ्गिनः ।

पर्याप्तान्याः स्थूल सूक्ष्मैकाक्षाः सविकलेन्द्रियाः ॥१९॥

एकोनविंशतिविधा भवन्त्येवं शरीरिणः ।

प्रागुक्ता दशधा पर्याप्तान्या विंशतिथेति च ॥२०॥युग्मं ।

जीव के उन्नीस भेद भी होते हैं । वह इस तरह-पूर्वोक्त नौ प्रकार के पंचेन्द्रिय, स्थूल और सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा तीन विकलेन्द्रिय मिलकर पांच, फिर पर्याप्त और अपर्याप्त करने से दस मिलकर उन्नीस भेद होते हैं। तथा इसके बीस भेद भी होते हैं। वह इस प्रकार-पूर्व दसवें श्लोक में जो दस भेद कहे हैं वही पर्याप्त और अपर्याप्त इस तरह दोनों मिलकर $१० \times २ = २०$ बीस होते हैं। (१९-२०)

स्थावरा विंशतिः सूक्ष्मान्यपर्याप्तान्य भेदतः ।

त्रसेन च समायुक्ता एक विंशतिधाङ्गिनः ॥२१॥

इसके इक्कीस भेद इस तरह होते हैं- पांच स्थावर कहे हैं, वह सूक्ष्म भी होते हैं और बादर भी होते हैं तथा पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। अतः $५ \times २ \times २ = २०$ बीस प्रकार का स्थावर और इसके साथ में एक में एक प्रकार का त्रस मिलाकर इक्कीस भेद होते हैं। (२१)

पूर्वोदिताः प्रकाश ये एकादश शरीरिणाम् ।

द्वाविंशतिं विधाः पर्याप्तान्य भेदात् द्विधा कृताः ॥२२॥

इसके बाईस भेद भी होते हैं । वह इस प्रकार-पूर्वोक्त ग्याहवें श्लोक में इसके ग्यारह भेद समझाये हैं, उनके पर्याप्त और अपर्याप्त इस तरह दो-दो भेद गिने से $११ \times २ = २२$ बाईस होते हैं। (२२)

एव विवक्षा वशतो जीवा भवन्त्यनेकधा ।
 जीवानामोघतः स्थानं लोकः सर्वोऽप्युदीरितः ॥२३॥
 द्वाराणि पर्याप्त्यादीनि सर्वाण्यप्यविशेषतः ।
 सम्भवन्त्योघतो जीवे विज्ञेयानि यथागमम् ॥२४॥

इति सामान्यतः संसारि जीव निरूपणम् ॥

इस तरह विवक्षा करने पर जीव के अनेक भेद होते हैं । इन जीवों का स्थान ओघ से समस्त लोक है और इसके विषय में पर्याप्त आदि सर्व द्वार ओघ से होता है, वह आगम में कहे अनुसार जानना। (२३-२४)

इस तरह संसारी जीव का सामान्य स्वरूप कहा है ।
 संसारिणो द्विधोक्ता प्राक् त्रस स्थावर भेदतः ।
 स्थावरास्तत्र पृथ्व्यम्बुतेजोवायुमहीरूहः ॥२५॥
 पंचामी स्थावराः स्थावराख्य कर्मोदयात्किल ।
 हुताशमरूतौ तत्र जिनैरुक्तौ गति त्रसौ ॥२६॥

इति जीवाभिगमाभिप्रायेण ॥

पहले त्रस और स्थावर दो प्रकार के संसारी जीव कहे हैं । उसमें पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वाउकाय और वनस्पतिकाय- ये पांच स्थावर हैं । ये पांचों स्थावर नाम कर्म के उदय से होते हैं इसलिए ये स्थावर कहे हैं । उनमें भी तेउकाय और वाउकाय को जिनेश्वर भगवान् ने गति की अपेक्षा से त्रम कहा है । (२५-२६)

यह अभिप्राय श्री जीवाभिगम सूत्र की अपेक्षा से कहा है।

आचारांग निर्युक्ति वृष्यभिप्रायेण तु- "दुविहेत्यादि। त्रसा एव जीवाः त्रसजीवाः लब्धित्रसाः गतित्रसाश्च । तेजोवायु लब्ध्या त्रसौ इति । अन्ये च नारकादयः गतित्रसाः। इति तात्पर्यम् ॥"

आचारांग सूत्र की निर्युक्ति वृत्ति के अभिप्राय से तो जो जीव त्रस हो वही त्रस कहलाते हैं । इसके गतित्रस और लब्धित्रस दो भेद होते हैं । तेउकाय और वाउकाय ये दोनों इस मत से लब्धि त्रस हैं और नरकी आदि जीव गति त्रस कहलाते हैं। ऐसा भावार्थ है।

वनस्पतिश्च प्रत्येकः साधारण इति द्विधा ।
 सर्वेऽपी बादराः सूक्ष्मा बिना प्रत्येक भूरूहम् ॥२७॥

वनस्पति काय के प्रत्येक और साधारण दो भेद होते हैं । प्रत्येक वनस्पति काय के सिवाय पांच स्थावर सूक्ष्म और बादर दो होते हैं। (२७)

एकादशैकेन्द्रियास्युरेव प्रत्येक संयुताः ।

अपर्याप्ताश्च पर्याप्ता एवं द्वाविंशतिः कृताः ॥२८॥

इस कारण से दस भेद होते हैं । इसमें प्रत्येक को संयुक्त करते- मिलाते एकेन्द्रिय के ग्यारह भेद होते हैं तथा पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं तब $११ \times २ = २२$ बाइस भेद होते हैं। (२८)

तत्रक्षमाभ्योऽग्निपवनाः साधारण वनस्पतिः ।

एतेऽपर्याप्त पर्याप्ता दशैवं सूक्ष्म देहिनः ॥२९॥

इसमें पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वाउकाय, और साधारण वनस्पति काय - ये पांच पर्याप्त और अपर्याप्त होने से सूक्ष्म एकेन्द्रिय के $५ \times २ = १०$ दस भेद होते हैं। (२९)

सूक्ष्मा नामकर्म योगाद्ये प्राप्ताः सूक्ष्मतामिह ।

चर्मचक्षुरगम्यास्ते सूक्ष्माः पृथ्व्यादयः स्मृताः ॥३०॥

सूक्ष्म नामकर्म के योग से जो सूक्ष्म रूप प्राप्त करते हैं और चर्मचक्षु के लिए अगम्य हैं; वे सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म अपकाय आदि हैं। (३०)

सूक्ष्माः साधारण वनस्पतयो येऽत्र शंसिताः ।

ते च सूक्ष्म निगोदा इत्युच्यन्ते श्रुत कोविदैः ॥३१॥

जिसे यहां सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय कहा है उसे सिद्धान्त वादियों ने सूक्ष्म निगोद के जीव कहा है। (३१)

अनन्तानामसुमतामेक सूक्ष्म निगोदिनाम् ।

साधारणं शरीरं यत् स निगोद इति स्मृतः ॥३२॥

एक सूक्ष्म निगोद वाले अनन्त जीवों का जो साधारण शरीर होता है उसका नाम निगोद है। (३२)

तच्चैकं सर्वतद्वासिसम्बन्धिस्तिबुकाकृति ।

औदारिकं स्यात्प्रत्येकं त्वेषां तैजस कार्मणे ॥३३॥

वह साधारण अर्थात् औदारिक शरीरस्तिबुक जैसी आकृति वाला होता है, उसमें रहे सर्व जीवों के साथ में सम्बद्ध होता है और वह एक ही है। जबकि तैजस और कार्मण शरीर तो सबमें अलग होता है। (३३)

ते सहोच्छ्वास निःश्वासाः समं चाहार कारिणः ।

अनन्ता अति सूक्ष्मेङ्गे सहन्ते हन्त घातनाम् ॥३४॥

यह अनन्त-निगोद जीव साथ में ही श्वासोच्छ्वास लेते हैं, आहार भी साथ में ही करते हैं, और अपने अत्यन्त सूक्ष्म शरीर पर घात को भी साथ में सहन करते हैं। (३४)

तथोक्तम्-

जं नरए नेरइया दुख्खं पावन्ति गोअमा तिख्खम् ।

तं पुण निगोअजीवा अणंत गुणियं वियाणाहि ॥३५॥

श्री भगवती सूत्र में गौतम गणधर के प्रश्न का श्री वीर परमात्मा ने उत्तर देते हुए कहा है कि- हे गौतम! नरक में रहे नारकी जीवों को जो तीक्ष्ण दुःख प्राप्त होता है, इससे भी अनन्त गुणा दुःख निगोद के जीवों को होता है। ऐसा समझना। (३५)

सूक्ष्मा अनन्त जीवात्मका निगोदा भवन्ति भुवनेऽस्मिन् ।

पृथ्व्यादि सर्व जीवाः संख्येयकसंमिता असंख्येया ॥३६॥

इति भगवती वृत्तौ ॥

इस जगत में सर्व सूक्ष्म निगोद अनन्त जीवात्मक है और पृथ्वीकाय आदि सर्व जीवों की जो संख्या हो सकती है वही असंख्य है। इस तरह भगवती की वृत्ति में कहा है। (३६)

एभिः सूक्ष्मनिगोदैश्च निचितोऽस्त्यखिलोऽपि हि ।

लोकोऽञ्जन चूर्णपूर्णं समुद्गवत्समन्ततः ॥३७॥

जीवाभिगम वृत्तौ ।

सम्पूर्ण जगत् इस सूक्ष्म निगोद से चारों तरफ से भरा हुआ जैसे अंजन से भरी डब्बी के समान है। (३७)

जीवाभिगम सूत्र की वृत्ति में कहा है कि -

असंख्येयैर्निगोदैश्च स्यादेकः किल गोलकः ।

गोलकास्तेऽप्यसंख्येया भवन्ति भुवनत्रये ॥३८॥

असंख्य निगोदो का एक गोला होता है और फिर ऐसे असंख्य गोले तीन जगत् में होते हैं। (३८)

गोलक प्ररूपण चैवम्-

षड्दिशं यत्र लोकः स्यात्तत्र सम्पूर्ण गोलकः ।

निष्पद्यते तन्मध्ये च स्यादुत्कृष्टपदं खलु ॥३६॥

इन गोलों का कथन इस प्रकार है- लोकाकाश जहां है उस दिशा में सम्पूर्ण गोला होता है और इसके अन्दर उत्कृष्ट पद निष्पन्न होता है। (३६)

भूम्यासन्नापवरक कोणान्तिम प्रदेशकम् ।

देशोऽनुकुर्यात् त्रिदिशम्लोकावरणेन यः ॥४०॥

तत्र खंडस्य गोलस्य निष्पत्तिः सकलस्य न ।

स्याज्जघन्यपदं तस्मिन् स्पष्टमल्पैर्निगोदकैः ॥४१॥युग्मं।

और जो देश का तीन दिशाओं में अलोक का आवरण होता है उससे पृथ्वी के लगोलग-लगी हुई अपवरक अर्थात् कमरे के कोने के अन्तिम प्रदेश के समान होती है, वहां सम्पूर्ण गोलाकार नहीं होती. वरन् खण्ड गोलाकार-अधूरा गोलाकार होता है और इसके अन्दर निगोद भी कम होने से देखने रूप में जघन्य पद होता है। (४०-४१)

लोकान्तर्यत्र कुत्रापि संस्थितः स्यात्त्रिगोदकः ।

एकोद्गुलासंख्य भागमित क्षेत्रावगाहनः ॥४२॥

इस लोकाकाश में प्रत्येक स्थान पर जहां- जहां निगोद होता है वहां- वहां एक अंगुल के असंख्यवें भाग का प्रमाण क्षेत्र अवगाहन रूप में होता है। (४२)

अन्येऽपि तत्रासंख्येयास्तावन्मात्रावगाहनाः ।

अन्योऽन्यानुप्रवेशन स्थितास्सन्ति निगोदकाः ॥४३॥

और इसके अन्दर उतनी ही अवगाहना वाले असंख्य निगोद एक दूसरे में प्रवेश करके रहे हैं। (४३)

तत्रान्यापेक्षया प्राज्यैः स्पष्टं जीव प्रदेशकैः ।

विवक्षणीयमुत्कृष्ट पदमेक प्रदेशकम् ॥४४॥

वहां जीव प्रदेश अन्य की अपेक्षा से अधिक होने से एक प्रदेश-वाला उत्कृष्ट पद होता है, वह स्पष्ट दिखता है। (४४)

तस्यामेव निगोदावगाहनायां समन्ततः ।

अन्ये निगोदास्तिष्ठन्ति प्रदेश वृद्धि हानितः ॥४५॥

तथा एक भी देश में प्रदेश की वृद्धि किए बिना एक ही निगोदावगाहना में उतनी ही अवगाहना वाले अन्य निगोद भी रहते हैं। (४५)

विवक्षित निगोदस्य मुक्त्वा कांश्चित् प्रदेशकान् ।

आक्रम्य चापरानेतैरवस्थितैर्निगोदकैः ॥४६॥

विवक्षितममुचदभिस्तदुक्कृष्टपदं किल ।

एको निष्पाद्यते गोलो ह्यसंख्येय निगोदकाः ॥४७॥ युग्मं।

और इस विवक्षित निगोद के कितने प्रदेश छोड़कर और दूसरे प्रदेशों को अवगाहन कर रहे असंख्य निगोद वाले गोले होते हैं तथा विवक्षित उत्कृष्ट पद को नहीं छोड़ते, ऐसे असंख्य निगोद का एक गोलाकार बनता है। (४६-४७)

तथोक्तम्-

उक्त्रोसपयममोक्तुं निगोअ ओगाहणाए सव्वत्तो ।

निष्पाइज्जइ गोलो पएसपरिवुद्धिड हाणीहिं ॥४८॥

अन्यत्र कहा है कि- उत्कृष्ट पद को नहीं छोड़ते निगोदों की अवगाहना में सर्वत्र प्रदेशों की हानि- वृद्धि के कारण अनेक गोले निष्पन्न (समाप्त) होते हैं। (४८)

अथ गोलकमाश्रित्यैतमेव प्रोक्त लक्षमणम् ।

अन्यो निष्पाद्यते गोलो मुक्त्वोत्कृष्टपदं हि तत् ॥४९॥

और फिर इसी उक्त लक्षण वाले गोले के आश्रित दूसरे गोले उक्त उत्कृष्ट पद छोड़कर निष्पन्न होते हैं। (४९)

निरुक्त गोलकोत्कृष्ट पदास्पर्शनिगोदके ।

परिकल्प्योत्कृष्ट पदमन्य गोलक कल्पनात् ॥५०॥

उक्त गोले के उत्कृष्ट पद को नहीं स्पर्श करते निगोद में अन्य गोले की कल्पना पूर्वक दूसरे उत्कृष्ट पद की कल्पना करना। (५०)

इत्येकैक निगोदावगाहनाप्रमिते किल ।

क्षेत्रे भवति निष्पत्तिरेकगोलकस्य वै ॥५१॥

इसी तरह एक-एक निगोद की अवगाहना प्रमाण क्षेत्र में एक-एक गोला निष्पन्न होता है। (५१)

विवक्षित निगोदावगाहनायास्तु येऽधिकाः ।

निगोदांशास्तत्रदेशहानिस्थित्या व्यवस्थिताः ॥५२॥

विवक्षणीयास्ते गोलकान्तरानुप्रविष्टकाः ।

एवं गुरुपदेशेन ज्ञेया गोलक पद्धतिः ॥५३॥युग्म॥

तथा विवक्षित निगोदावगाह से अधिक निगोदांश अपने प्रदेश की हानि के कारण से इसी तरह स्थित होता है कि वह अन्य गोले के विषय में प्रविष्ट होता है, ऐसा समझना । इस गोले के विषय में गुरु महाराज के पास से विशेष रूप में समझ लेना। (५२-५३)

उक्तं हि -

ततोच्चिय गोलाओं उक्त्रोसपयं मुडत्तु जो अणो ।

होइ निगोओं तम्मिषि अन्नो निपज्जइ गोलो ॥५४॥

एवं निगोय मित्ते खेत्ते गोलस्स होइ निष्पत्ती ।

एवं निपज्जंते लोगे गोला गोला असंखिज्जा ॥५५॥

इत्याद्यर्थतो भगवती शतक ११ उद्देशके १० ॥

इस विषय में कहा है कि- उस गोले के उत्कृष्ट पद को छोड़कर जो अन्य निगोद होते हैं उनके विषय में और एक दूसरा गोला होता है। इसी तरह निगोद प्रमाण क्षेत्र में गोले की निष्पत्ति होती है और ऐसे ही असंख्य गोले लोकाकाश में निष्पन्न होते हैं। (५४-५५)

इस तरह से भगवती सूत्र के शतक ११ उद्देश १० में कहा है।

निगोदा निचिताश्चैतेऽनन्तानन्ताङ्गिभिस्तथा ।

निर्गच्छद्विद्यथा नित्यं न होकोऽपि स हीयते ॥५६॥

यद्व्यावहारिकाङ्गिभ्यो यावन्तो यान्ति निर्वृतिम् ।

निर्यान्ति तावन्तौऽनादि निगोदेभ्यः शरीरणः ॥५७॥

तथा यह निगोद अनन्त अनन्त जीवों से इस तरह ठसाठस ठंस्कर भरा हुआ है कि इसमें से नित्य निकालने पर भी एक भी निगोद कम नहीं होते हैं । कारण यह है कि व्यावहारिक राशि में से जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही अनादि निगोद में से निकलते हैं। (५६-५७)

तथोक्तम्-

सिञ्चन्ति जलिया किर इह संववहारासिमज्जाओ ।

इति अणइवणस्सइमज्जाओ तत्तिआ तम्मि ॥५८॥

इति प्रज्ञापना वृत्तौ ॥

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- व्यवहार राशि में से निकलकर जितने जीवों का निर्वाण होता है उतने अनादि वनस्पति में से उसमें आते हैं। (५८)

अनन्तेनापि कालेन थावन्तः स्युः शिवं गताः ।

सर्वेऽप्येक निगोदैकानन्त भागमिता हि ते ॥५९॥

अनन्तकाल तक जितने प्राणी मोक्ष गये हैं, वे सब मिलाकर एक निगोद के केवल अनन्तवें भाग जितने ही गये हैं, ऐसा समझना (५९)

कालेन भाविनाप्येवमनन्ता मुक्तिगामिनः ।

त्रिन्यन्ते तैः समुदितास्तथापि नाधिकास्ततः ॥६०॥

इसी तरह ही भविष्यकाल में भी अनन्त जीव मोक्ष जायेंगे। इन सबको एकत्रित करने पर भी एक निगोद के अनन्तवें भाग से अधिक नहीं होने वाले हैं। (६०)

एवं च- न तादृक् भविता कालः सिद्धा सोपचया अपि ।

यत्राधिका भवन्त्येक निगोदानन्तभागतः ॥६१॥

इसी तरह और ऐसा कोई समय नहीं आयेगा कि जिसमें कुल मिलाकर सिद्ध हुए भी निगोद के अनन्तवें भाग से अधिक हों। (६१)

तथाहुः-

जइया होइ पुच्छा जिणाणं मग्गंमि उत्तरं तइया ।

इक्कस्स निगोअस्स य अणंतभागो उ सिद्धि गओ ॥६२॥

अन्य स्थान में कहा है कि- जब- जब भी जिनेश्वर भगवन्त से प्रश्न क्रिया जाता है तब यही उत्तर मिलता है कि एक निगोद का अनन्तवां भाग ही अब तक मोक्ष गये हैं। (६२)

निगोदेऽपि द्विधा जीवास्तत्रैके व्यावहारिकाः ।

व्यवहारादतीतत्वात् परे चाव्यावहारिकाः ॥६३॥

निगोद के जीव दो प्रकार के होते हैं। उनमें कई तो व्यवहारी और दूसरे अव्यवहारी अर्थात् व्यवहार रहित होते हैं। (६३)

सूक्ष्मात्रिगोदतोऽनादे निर्गता एकशोऽपि ये ।

पृथ्व्यादि व्यवहारं च प्राप्तास्ते व्यावहारिकाः ॥६४॥

सूक्ष्मानादि निगोदेषु यान्ति यद्यपि ते पुनः ।

ते प्राप्तव्यवहारत्वात्तथापि व्यवहारिणः ॥६५॥

अनादि सूक्ष्म निगोद में से जो एक बार भी निकलता है और पृथ्वीकाय आदि व्यवहार को प्राप्त करता है, वह व्यवहारी कहलाता है। वे कभी वापिस भी उस स्थान पर पुनः जाते हैं फिर भी उन्होंने व्यवहार देखा हुआ होने से व्यवहारी ही कहलाते हैं । (६४-६५)

कदापि ये न निर्याता बहिः सूक्ष्म निगोदतः ।

अव्यावहारिकास्ते स्युर्दरीजात मृता इव ॥६६॥

जो कभी भी सूक्ष्म निगोद में से निकले ही नहीं हैं, वे गुफा में जन्म लेकर गुफा में ही मृत्यु प्राप्त करने वाले के समान अव्यवहारी हैं। (६६)

तदुक्तं विशेषणवृत्त्याम्-

अस्थि अणंता जीवा जेहि न पतो तसाइ परिणामो ।

ते वि अणंताणंता निगोअवासं अणुहुवन्ति ॥६७॥

इति सूक्ष्माणां भेदाः ॥१॥

विशेषण वृत्ति में कहा है कि- ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने परिणाम से भी त्रसत्व नहीं प्राप्त किया । वे अनन्त काल से निगोद में बुरी हालत में पड़े हैं। (६७)

इस तरह सूक्ष्म जीवों के भेद समझना ॥१॥

एभिलोकोऽखिलो व्याप्तः कज्जलेनेव कूपिका ।

क्वापि प्रदेशो नास्त्येभिर्विहीनः पुद्गलैरिव ॥६८॥

इति स्थानम् ॥२॥

काजल से भरी डब्बी के समान सारा लोक इन जीवों से भरा हुआ है। जैसे पुद्गल रहित कोई प्रदेश नहीं है वैसे ही इन जीवों के बिना का कोई स्थान नहीं है । (६८)

यह सूक्ष्म जीवों का स्थान है। (२)

आद्याश्चतस्त्रिंशस्त्रिंशः स्युरेषां पर्याप्तयः क्रमात् ।

पर्याप्तान्येषामथायुः श्वासः कायबलं तथा ॥६९॥

त्वगिन्द्रियं चेत्यमीषां प्राणाश्चत्वार ईरिताः ।

संख्या योनि कुलानां तु प्रथमेषां न लक्ष्यते ॥७०॥ युग्म् ।

ततश्च.....संख्या योनि कुलानां या बादराणां प्रवक्ष्यते ।

एतेषामपि सैवामी सर्वे संबृत योनयः ॥७१॥

इति पर्याप्त्यादिद्वार चतुष्टयम् ॥३-६॥

इन जीवों को अनुक्रम से पहले चार अथवा तीन पर्याप्ति होती है। इनके आयुष्य, श्वास, काय बल और स्पर्शेन्द्रिय- ये चार पर्याप्त होते हैं और ये इसके प्राण कहलाते हैं तथा इनकी योनि संख्या तथा कुल संख्या अलग नहीं दिखती, इसलिए पांचवें सर्ग में बादर जीव की जो संख्या कहने में आयेगी वही इस सूक्ष्म की भी समझ लेना तथा यह सूक्ष्म जीव सर्व संवृत योनि वाले होते हैं। (६६ से ७१)

इतना पर्याप्ति, योनि संख्या, कुल संख्या और योनि का संवृत्तत्वादि-ये चार द्वार समझना। (३ से ६)

अन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टा भवत्येषां भव स्थितिः ।

जघन्या क्षुल्लक भव रूपमन्तर्मुहूर्त्तकम् ॥७२॥

इन जीवों की भव स्थिति उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की है और जघन्यतः क्षुल्लक (छोटे) भवरूप अन्तर्मुहूर्त्त की है। (७२)

तथोक्तम्- "दस सहस्रसमा सुरनारयाण सेसाण खुद् भवो ॥"

इति भव स्थितिः ॥७॥

अन्य स्थान पर कहा है कि- 'देवता और नारकी जीवों की जघन्य भव स्थिति दस हजार वर्ष की है और अन्य की क्षुल्लक भव जितनी स्थिति है।' यह सातवां भव स्थिति द्वार है।

सूक्ष्म निगोद जीवानां त्रिधा कायस्थितिर्भवेत् ।

अनाद्यन्ताऽनादि सान्ता साद्यन्ता चेति भेदतः ॥७३॥

इस सूक्ष्म निगोद के जीवों की काय स्थिति तीन प्रकार की होती है- १- अनादि अनन्त, २- अनादि सांत और ३- सादि सांत ॥७३॥

सूक्ष्मान्निगोदतोऽनादेर्निर्गता न कदापि ये ।

नैवापि निर्गमिष्यन्ति तेषामाद्या स्थितिर्भवेत् ॥७४॥

अनन्त पुद्गल परावर्त्तमाना भवेदियम् ।

सन्ति चैवं विधा जीवा येषामेषा स्थितिर्भवेत् ॥७५॥

जो कभी भी अनादि सूक्ष्म निगोद से नहीं निकलने और निकलने वाले भी नहीं हैं, उनकी प्रथम अनादि अनन्त कायस्थिति समझना । वह अनन्त पुद्गल परावर्तन जितना काल होता है और ऐसे जीव भी होते हैं कि उनकी इतनी स्थिति होती है। (७४-७५)

युदुक्तम्..... सामगिअ भावाओ ववहारिघरासिअप्य वेसाओ ।

भव्या वि ते अणंता जे सिद्धि सुहं न पावंति ॥७६॥

अन्य स्थान पर भी कहा है कि- सामग्री के अभाव के कारण जिनका व्यवहार राशि में प्रवेश नहीं हुआ है, ऐसे मोक्ष सुख नहीं देखने वाले भव्य जीव भी अनन्त हैं। (७६)

निगोदात्सूक्ष्मतो ये च निर्गता न कदाचन ।

निर्यास्यन्ति पुनर्जातु स्थितिस्तेषां द्वितीयिका ॥७७॥

गत काल में जो कभी भी सूक्ष्म निगोद में से बाहर नहीं आए हैं परन्तु भविष्य काल में आने वाले हैं, उनकी दूसरी अनादि सांत काय स्थिति है। (७७)

अनन्त पुदगल परावर्तमाना त्वसावपि ।

गतस्य कालस्यानन्त्यात् केषांचित् भाविनोऽपि च ॥७८॥

यह स्थिति भी अनन्त पुदगल परावर्त जितनी है क्योंकि उनका गया हुआ काल अनन्त है और कईयों का तो भविष्य काल भी अनन्त होता है। (७८)

अनादि स्थितिका न स्युर्पद्यन्ता निगोदिनः ।

तदा वक्ष्यमाण वनस्पतिकाय स्थिति क्षये ॥७९॥

कृते काय परावर्ते निखिलैर्वन कायिकैः ।

वनस्पतीनां निर्लेपोऽनभिष्टोऽपि प्रसज्यते ॥८०॥युग्मं।

इस अनंत निगोद की यदि अनादि स्थिति न हो तो वक्ष्यमाण स्वरूप वनस्पति- काय की स्थिति का क्षय होते ही सर्व वनस्पतिकायों का काय परावर्तन करने पर वनस्पति के सर्वनाश का अनभीष्ट प्रसंग खड़ा हो जाता है। (७९-८०)

अनारतं किं च मुक्तिं गच्छद्भिर्भव्य देहिभिः ।

अचिरादेव जगति भव्याभावः प्रसज्यते ॥८१॥

मुक्ति मार्ग व्यवच्छेदोऽप्येतच्च नेष्यते बुधैः ।

सन्तीति, प्रतिपत्तव्यं ततोऽनादिनिगोदिनः ॥८२॥

इत्याद्याधिकं प्रज्ञापनाष्टादशपद वृत्तितोऽवसेद्रम् ॥

और भव्यात्मा सर्वदा मोक्ष में जाने वाले होने से जगत् में शीघ्र ही भव्य आत्माओं का अभाव होने का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा तथा मोक्ष मार्ग भी बंद हो जायेगा। परन्तु यह सब बुद्धिमान लोग स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए अनादि निगोदी जीव हैं ही, इस तरह स्वीकार करना पड़ेगा। (८१-८२)

इस तरह विशेष जानकारी प्रज्ञापन सूत्र के अठारहवें पद की वृत्ति से जान लेनी चाहिए।

पुनः प्राप्ता निगोदं येऽनुभूय व्यवहारिताम् ।

कायः स्थितिः स्यात्साद्यन्ता तेषां तां वच्य मानतः ॥८३॥

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य, संख्यातीताः प्रकीर्तिताः ।

कालतः क्षेत्रतश्चास्याः स्थितेर्मानमथ बुधे ॥८४॥

व्यवहार जानकर पुनः जो निगोद में जाता है उसकी काय स्थिति सादि सांत है। इसका मान कितना है ? इसका मान काय से असंख्यात उत्सर्पिणी-अपसर्पिणी है। अब इसका क्षेत्र से मान कहते हैं। (८३-८४)

लोकाकाशमितासंख्यखर्खंडानां प्रदेशकाः ।

एकैकस्यापहारेण हि यमाणाः क्षणे क्षणे ॥८५॥

यावद्भिः काल चक्रैः स्युर्निर्लेपा मूलतोऽपि हि ।

तावन्ति तानि स्यात्कायस्थितिरेषां तृतीयिका ॥८६॥युग्मं।

लोकाकाश के समान असंख्य आकाश खंड के प्रदेश हैं। उनमें से प्रत्येक क्षण में एक-एक प्रदेश लेने जाये तो जितने काल चक्रों में ये प्रदेश मूल में से उखड़ जायें उतने काल चक्र तक इसकी कार्य स्थिति रहती है। वह काय स्थिति तीसरा सादि सांत है। (८५-८६)

काल चक्राण्य संख्यानि भवन्त्येतानि संख्यया ।

कालतो हि सूक्ष्मतरं क्षेत्रमाहु जिनेश्वराः ॥८७॥

यतोऽङ्गुलमिताकाश श्रेण्या अभ्य प्रदेशकाः ।

गण्यमानाः समानाः स्युरसंख्योत्सर्पिणी क्षणैः ॥८८॥

यह काल चक्र असंख्य हैं क्योंकि जिनेश्वर भगवन्त ने क्षेत्र को काल से सूक्ष्म कहा है क्योंकि अंगुली प्रमाण आकाश श्रेणी के आकाश प्रदेशों की गिनती करे तो असंख्य उत्सर्पिणी के क्षणों के समान होते हैं। (८७-८८)

यदाहु- सुहृमो य होइ कालो ततो सुहृमयरं हवइखित्तम् ।

अंगुल सेठी मित्ते ओसप्पिणिओ असंखिज्जा ॥८९॥

अन्य स्थान पर कहा है कि- सूक्ष्म काल से भी अधिक सूक्ष्म क्षेत्र है, इससे अंगुल प्रमाण आकाश श्रेणी में असंख्य उत्सर्पिणी काल होते हैं। (८९)

सूक्ष्मक्ष्माभ्योऽग्निमरूतां कालतः क्षेत्रतोऽपि च ।

स्यात्काल स्थितिरैव सूक्ष्मत्वेऽपि तथौघतः ॥६०॥

सूक्ष्म पृथ्वी काय, अपकाय, तेज काय और वाउ काय की स्थिति काल से अथवा क्षेत्र से जितनी ही होती है और ओघ से स्वीकार करते सूक्ष्मता में भी इतना ही है । (६०)

एकेन्द्रियत्वतिर्यक्त्वासंज्ञित्वेसु प्रसंगतः ।

वनस्पतित्वे क्लीवत्वे कायस्थितिमथ ब्रुवे ॥६१॥

यहां प्रसंगोपात १- एकेन्द्रिय रूप में, २- तिर्यच रूप में, ३- असंज्ञी रूप में, ४- वनस्पति रूप में और ५- नपुंसक रूप में काय स्थिति कितनी होती है; उसे आगे कहते हैं। (६१)

आवलयसंख्यभागस्य यावंतः समया खलु ।

स्युः पुद्गल परावर्तस्तावन्तः काय संस्थितिः ॥६२॥

सर्वेषामियमुत्कृष्टा कायस्थितिस्त्वाहता ।

जघन्या तु भवेदन्तर्मुहूर्त्तमविशेषतः ॥६३॥

इति कायस्थिति ॥६॥

आवली के असंख्यवें भाग में जितना समय होता है उतना पुद्गल परावर्त जितना काल कायस्थिति होता है। यह सर्व की उत्कृष्ट स्थिति जानना। जघन्य से तो अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। (६२-६३)

यह आठवां द्वारा काय स्थिति के विषय में है।

तैजसं कार्मणं चौदारिकं चेति वपुस्त्रयम् ।

पृथ्व्यादि सूक्ष्म जीवानां प्रज्ञप्तं परमेष्ठिभिः ॥६४॥

पृथ्वीकाय आदि सूक्ष्म जीवों का शरीर १- तैजस, २- कार्मण और ३- औदारिक- इस तरह तीन प्रकार से कहा है। (६४)

निगोदानां त्वनन्तानामेकर्मादारिकं वपुः ।

सर्वं साधारणं द्वे च पुरे प्रत्येकमीरिते ॥६५॥

इति देहा ॥६॥

अनन्त निगोदों का सर्व साधारण एक औदारिक शरीर कहा है और अन्य प्रत्येक के शेष दो तैजस और कार्मण शरीर कहे हैं। (६५)

अतः नौवां द्वार शरीर के विषय में कहा है।

एकेन्द्रियाणां संस्थानं सर्वेषां हुंडमीरितम् ।

तत्राप्येष विशेषस्तु दृष्टो दृष्ट जगन्त्रयैः ॥६६॥

सर्व एकेन्द्रिय जीवों का हुंडक संस्थान कहा है परन्तु उसमें श्री जिनेश्वर भगवान् ने कुछ विशेषता कही है। वह आगे कहते हैं। (६६)

मसूर चन्द्र संस्थाना सूक्ष्मा क्षोणी द्विधापि हि ।

सूक्ष्माः स्तिबुक संस्थाना आपः पाप हरैः स्मृताः ॥६७॥

सूची कलाप संस्थानं तेजो वायुर्ध्वजाकृतिः ।

सूक्ष्मो निगोदोऽनियत संस्थानः परिकीर्तितः ॥६८॥

दोनों प्रकार के सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीव मसूर और चन्द्रमा के आकार के हैं और सूक्ष्म अपकाय स्तिक बुक आकार के होते हैं। तेउकाय सुई के समूह के आकार के और वायुकाय ध्वज के आकार वाले होते हैं। सूक्ष्म निगोद का आकार अनिश्चित है। (६७-६८)

इति जीवाभिगमाभिप्रायः ॥

इस तरह जीवाभिगम में कहा है।

संग्रहणी वृत्तौ च - 'भिगोदौ दारिकदेहं स्तिबुकाकारमुक्तम् ।'

इति संस्थानम् ॥१०॥

'संग्रहणी' की वृत्ति में तो निगोद का औदारिक देह स्तिबुक की आकृति का होना बताया है। यह दसवां द्वार 'संस्थान' विषय कहा है।

अंगुलासंख्यांशमानं सूक्ष्मैकन्द्रिय देहिनाम् ।

सामान्यतः शरीरं स्याद्विशेषतस्तु वक्ष्यते ॥६९॥

इति देहमानम् ॥११॥

सूक्ष्म एकेन्द्रियों का साधारणतः देहमान अंगुल के असंख्यवें भाग जितना होता है। विशेषतः आगे कहा जायेगा। (६९)

यह ग्यारहवां द्वार 'देहमान' विषय कहा है।

कषायानां वेदनाया मृत्योश्चेति जिनेस्त्रयः ।

निरूपिताः समुद्रघाताः सूक्ष्मैकाक्षशरीरिणाम् ॥१००॥

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों का १- कषाय, २- वेदना और ३- मृत्यु का- इस तरह तीन समुदघात कहे हैं। (१००)

'इति समुदघाता ॥१२॥'

यह बारहवां द्वार समुदघात का है।

एकेन्द्रियेषु सर्वेषु विकलेन्द्रियकेषु च ।

संख्येयायुर्गर्भजेषु तिर्यक्यचेन्द्रियेष्वपि ॥१०१॥

तादृशेष्वेव मर्त्येषु तेषु संमुर्च्छिमेषु च ।

एतेविपद्योत्पद्यन्ते सूक्ष्मा दशविधा अपि ॥१०२॥युग्मं।

तेजोऽनिलौ तु नवरं भोत्पद्येते स्वभावतः ।

मनुष्येष्विति गच्छन्ति ते पूर्वोक्तेषु तान्विना ॥१०३॥

इति गति ॥१३॥

ये दस प्रकार के सूक्ष्म जीव मृत्यु प्राप्त करते हैं तब सर्व एकेन्द्रिय में, विकलेन्द्रिय में, संख्यात आयुष्य वाले और गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यचो में, इसी तरह मनुष्यों में तथा संमुर्च्छित मनुष्यों में उत्पन्न होता है। अन्तर इतना है कि तेउकाय और वायुकाय स्वाभाविक रूप में मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होता, अतः वह मनुष्य के बिना की पूर्वोक्त गति में जाता है। (१०१ से १०३) यह तेरहवां द्वार गति है। ॥१३॥

उत्पद्यन्ते च पूर्वोक्ताः सूक्ष्मैकाक्षेषु तेऽखिलाः ।

स्वस्वकर्मानुभावेन गरिष्ठेन वशीकृताः ॥१०४॥

पूर्व में कहा है वह सब जीव अपने- अपने भारी कर्म के अनुभाव के आधीन बने सूक्ष्म एकेन्द्रिय में उत्पन्न होते हैं। (१०४)

नारका निर्जरास्तिर्यग् नराश्चासंख्यजीविनः ।

नैषा सूक्ष्मेषु गमनं न चाप्यागमनं ततः ॥१०५॥

नारकी, देव तथा असंख्यात आयुष्य वाले तिर्यच और मनुष्य सूक्ष्मता में गमन नहीं करते। वैसे वहां से आते भी नहीं हैं। (१०५)

गतिष्वेवं चतसृषु संक्षेपान्ते विवक्षिताः ।

द्विगतयो द्वयागतयो भवन्ति सूक्ष्मदेहिनः ॥१०६॥

जिसकी चार गति का स्वरूप इस तरह संक्षेप में समझाया है ऐसे सूक्ष्म जीवों को दो गति और दो आगति होती हैं। (१०६)

तेजोऽनिलौ तु नृभवे नोत्पद्येते स्वभावतः ।

ततस्त एकगतयः प्रोक्ता द्वयगतयोऽपि च ॥१०७॥

तेउकाय और वायुकाय स्वभाविक रूप में ही मनुष्य में उत्पन्न नहीं होते। इसलिए उनकी गति एक और आगति दो कही हैं। (१०७)

सूक्ष्मेषु पृथ्वी सलिल तेजोऽनिलेषु जन्तवः ।

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च असंख्येया निरन्तरम् ॥१०८॥

और सूक्ष्म पृथ्वी, अप, तेज और वायु काय में असंख्य जीव हमेशा उत्पन्न होते हैं और च्यवन (मरते) होते हैं। (१०८)

वनस्पतौ त्वनन्ता नामुत्पत्ति विलयौ सदा ।

स्व स्थानतः पर स्थानात्त्वं संख्यानां गमागमौ ॥१०९॥

वनस्पति के विषय में तो सदा स्वस्थान की अपेक्षा से अनन्त जीवों की उत्पत्ति और विलय हुआ करता है और पर स्थान की अपेक्षा से असंख्य जीवों का गमनागमन हुआ करता है। (१०९)

एकस्यापि निगोदस्या संख्यांशोऽनन्त जीवकः ।

जायते म्रियते शश्वत् किं पुनः सर्वमीलने ॥११०॥

अकेले एक निगोद के अनन्त जीव वाले असंख्यवें भाग शाश्वत् उत्पन्न होते हैं और विलय होते हैं। जब सब निगोद एकत्रित हो जाये तो फिर क्या बात करना ? (११०)

तथाहि विवक्षित निगोदस्य विवक्षित क्षणे तथा ।

असंख्येयतमो भाग एक उद्धर्त्तते ध्रुवम् ॥१११॥

उत्पद्यतेऽन्यस्तथैव द्वितीय समयेऽपि हि ।

एक उद्धर्त्तते संख्यभाग उत्पद्यतेऽपरः ॥११२॥

वह इस तरह से-अमुक क्षण में अमुक निगोद का एक असंख्यवां भाग विनष्ट होता है और एक असंख्यवां भाव उत्पन्न होता है। इसी तरह अन्य क्षण में भी एक असंख्यवां भाग विनष्ट होता है और अन्य उत्पन्न होते हैं। (१११-११२)

उद्धर्त्तनोपपातावित्येयं स्यातां प्रति क्षणम् ।

यथैकस्य निगोदस्यासंख्य भागस्य सर्वदा ॥११३॥

तथैवान्य निगोदानामपि त्रैलोक्यवर्त्तिनाम् ।

उद्धर्त्तनोपपाती स्तौऽसंख्यांशस्य पृथक् पृथक् ॥११४॥

और इसी तरह हमेशा प्रत्येक क्षण (समय) में निगोद के एक असंख्यवें भाग का विनाश और उत्पत्ति होती है। इसी तरह तीन लोक में रहने वाले अन्य निगोदों के असंख्यवें अंश का अलग-अलग उत्पत्ति और विनाश हुआ करता है। (११३-११४)

उद्धर्त्तनोपपाताभ्यां भवद्भ्यामित्यनुक्षणम् ।

परावर्त्तन्ते निगोदा अन्तर्मुहूर्त्त मात्रतः ॥११५॥

इसी तरह प्रत्येक क्षण में उत्पत्ति और विनाश होते रहने से अन्तर्मुहूर्त्त में निगोद परवर्तन होता है। (११५)

जायमानैर्भिद्यमाणैरन्तर्मुहूर्त्त जीविभिः ।

निगोदिभिर्नवनदैः स्युः शून्यास्तु मनाक् न ते ॥११६॥

इस प्रकार केवल अन्तर्मुहूर्त्त तक जीने वाले नये नये निगोद के जीव उत्पन्न होते हैं और मृत्यु प्राप्त करते हैं फिर भी वह निगोद अल्पमात्र भी कम नहीं होते हैं। (११६)

तथोक्तं- एगो असंख्यभागो बहुषु उवट्टणोववायं मि ।

एगनिगोए निच्चं एवं सेसेसु विसएवम् ॥११७॥

अंतो मुहूर्त्तमिच्छा तिइ निगोआणं जं विनिहिद्धा ।

पल्लट्टंति निगोआ तम्हा अंतो मुहूर्त्तेणं ॥११८॥

इस सम्बन्ध में अन्यत्र कहा है कि- एक निगोद का एक असंख्यवां भाग हमेशा के समान विनाश और उत्पन्न हुआ करता है, वैसे ही अन्य निगोदों में भी समझना। निगोद का स्थितिकाल अन्तर्मुहूर्त्त है और वह निगोद अन्तर्मुहूर्त्त में बदल जाता है। (११७-११८)

एषामुत्पत्ति मरणे विरहस्तु न विद्यते ।

यज्जायन्ते म्रियन्ते चासंख्यानान्ता निरन्तरम् ॥११९॥

इति आगति ॥१४॥

इन निगोद के जीवों की उत्पत्ति और मृत्यु लगातार हुआ करती है। इसमें जरा भी विरह ही नहीं है क्योंकि वे निरन्तर प्रत्येक समय में असंख्य भागरूप अनंत प्रमाण में उत्पन्न होते हैं और मृत्यु प्राप्त करते हैं। (११६)

इस तरह चौदहवां द्वार 'आगति' विषय कहा।

अनन्तरासिः समये सिद्धिर्बादरवद् बुधैः ।

ज्ञेयैषां प्राच्य शास्त्रेषु विभागे ना विवक्षणात् ॥१२०॥

इति द्वार द्वयम् ॥१५-१६॥

इस सूक्ष्म जीवों का पंद्रहवां द्वार 'अनन्तरासि' और सोलहवां द्वार 'समयेसिद्धि'- ये दोनों बादर जीवों के समान ही समझ लेना। प्राचीन शास्त्रों में इनका अलग विभाग नहीं कहा है। (१२०)

इस प्रकार पन्द्रहवां और सोलहवां-दो द्वारों के विषय में कहा ।

कृष्णा नीला च कापोती लेश्या त्रयमिदं भवेत् ।

सर्वेषां सूक्ष्म जीवानामित्युक्तं सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२१॥

इति लेश्याः ॥१७॥

सत्तरहवां द्वारा लेश्या हैं । सूक्ष्म जीवों की लेश्या तीन कही हैं अर्थात् इनको तीन ही लेश्या होती है- कृष्ण, नील और कापोता। (१२१)

यह सत्रहवां द्वार कहा ।

निर्व्याघातं प्रतीत्यैषामाहारः षड्दिगुद्भवः ।

भवेद्द्व्याघातमाश्रित्य त्रिचतुर्ष्वचदिग्भवः ॥१२२॥

इति आहार दिक् ॥१८॥

अब अठारहवां द्वार 'दिशाहार' है । इन जीवों को निर्व्याघात की अपेक्षा से छः दिशाओं का आहार होता है और व्याघात की अपेक्षा से तीन, चार और पांच दिशा का होता है। (१२२)

यह अठारहवां 'दिशाहार' द्वार कहा ।

न संहननमेतेषां सम्भवत्यस्थ्यभावतः ।

मनान्तररेण चैतेषां सेवार्त्तं तदुरीकृतम् ॥१२३॥

इति संहननानि ॥१९॥

अब उन्नीसवां द्वार संहनन है । यह सूक्ष्म जीवों का है, अर्थात् इनको अस्थि नहीं होती अर्थात् संहनन भी संभव नहीं है । कईयों के मतानुसार इसे 'सेवार्त्त' अन्तिम संघयण कहा है। (१२३)

यह उन्नीसवां 'संहनन' द्वार कहा ।

सर्व कषायाः संज्ञास्तु स्युश्चतस्रोऽथवा दश ।

इन्द्रियं चैकमाख्यातमेतेषां स्पर्शनेन्द्रियम् ॥१२४॥

इति द्वार त्रयम् ॥२० से २२॥

इन सूक्ष्म जीवों के कषाय सब होते हैं, संज्ञा चार अथवा दस होती हैं और इन्द्रिय एक ही होती है- वह स्पर्शेन्द्रिय होती है। (१२४)

इस तरह तीन द्वार २०-२१-२२ साथ आए हैं।

भूत भावि भवद् भावस्वभावा लोचनात्मिका ।

संज्ञा नैकेन्द्रियाणां स्यात्तदेतेऽसंज्ञिनः स्मृताः ॥१२५॥

इति संज्ञिता ॥२३॥

इन सूक्ष्म जीवों के भूत, भावि और भविष्य पदार्थों के स्वभाव की आलोचना रूप संज्ञा नहीं होती, इसलिए वे असंज्ञी कहलाते हैं। (१२२)

यह तेइसवां द्वार है।

अमी जिनेश्वरैः क्लीब वेदा एव प्रकीर्तिताः ।

वेदस्त्वव्यक्तरूपः स्यादेषां संज्ञा कषायवत् ॥१२६॥

इति वेद ॥२४॥

इन जीवों को जिनेश्वर भगवन्त ने नपुंसक वेद ही कहा है, संज्ञा और कषाय के समान इनका वेद अप्रगट है। (१२६)

यह चौबीसवां द्वार है।

संक्लिष्ट परिणामत्वात्सर्वे केन्द्रियदेहिनाम् ।

मिथ्यादृष्टय एवामी निर्दिष्टाः परमेष्ठिभिः ॥१२७॥

इति दृष्टि ॥२५॥

सर्व एकेन्द्रिय जीवों के परिणाम संक्लिष्ट होते हैं इसलिए ये सब मिथ्यादृष्टि होते हैं। (१२७)

यह पच्चीसवां द्वार है।

मत्यज्ञान श्रुतज्ञाने सूक्ष्मैकेन्द्रिय देहिनाम् ।
ते अप्यत्यन्तमल्पिष्टे शोषजीवव्यपेक्षया ॥१२८॥

इति ज्ञानम् ॥२६॥

इन जीवों को मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान- ये दो होते हैं। और वह भी शेष जीवों की अपेक्षा से अत्यन्त अल्प होते हैं । (१२८)

यह छब्बीसवां द्वार है।

चतुर्षु दर्शनेष्वेषाम चक्षुर्दर्शनं भवेत् ।
उपयोगास्त्रयोऽज्ञानद्वयमेकं च दर्शनम् ॥१२९॥

निराकारोपयोगाः स्युरचक्षुर्दर्शनाश्रयात् ।
द्वयज्ञानतस्तु साकारोपयोगाः सूक्ष्म देहिनः ॥१३०॥

इति द्वार द्वयम् ॥२७-२८॥

चार दर्शन में से केवल एक अचक्षु दर्शन होता है, तथा दो अज्ञान और एक दर्शन इस तरह तीन उपयोग होते हैं। इस दर्शन के आश्रय से सूक्ष्म जीवों को निराकार उपयोग होता है, और दो अज्ञान का आश्रय लेकर उनको साकार उपयोग होता है। (१२९-१३०)

ये सत्ताइसवां और अट्ठाइसवां द्वार हैं।

आहारका सदाप्येते स्युविग्रह गतिं बिना ।
तस्यां त्वनाहारका अप्येते त्रिचतुरान् क्षणान् ॥१३१॥

अब इन सूक्ष्म जीवों के आहार के विषय में कहते हैं- विग्रह गति के बिना वे हमेशा आहारक होते हैं और विग्रह गति में तीन अथवा चार क्षण समय आहार रहित भी होते हैं। (१३१)

एषामुत्पन्नमात्राणामोज आहार ईरितः ।
लोमाहारस्ततो द्वेषाप्यनाभोगज एव च ॥१३२॥

उत्पन्न होने के साथ में ही उनको ओज आहार होता है और फिर लोभ आहार होता है और वह दोनों अनाभोग से होते हैं। (१३२)

सचितः स्यादचित्तः स्यादुभयात्मापि कर्हिचित् ।
आहारे चान्तरं नास्ति सदाहारार्थिनो ह्यमी ॥१३३॥

वह आहार सचित्त हो या अचित्त हो, इसी तरह मिश्र भी हो। इनके आहार में और कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वे लगातार आहारी होते हैं। (१३३)

तथोक्तं प्रज्ञापनायाम्- "पृथ्वीकाइयस्स णं भंते केवइ कालस्स आहारद्वे समुप्पज्जइ ॥ गोअम अणु समयं अविरहिए । एवं जाव वागस्सइ काइया ॥इति॥" इति आहारकत्वम् ॥२६॥

इस सम्बन्ध में प्रज्ञापना सूत्र में इस तरह कहा है कि- श्री गौतम ने महावीर प्रभु से पूछा कि- हे भगवन्त! पृथ्वीकाय जीव कितने-कितने अन्तर में आहार लेते हैं ? श्री वीर परमात्मा ने उत्तर दिया कि- हे गौतम! वे प्रत्येक समय में अल्प भी अन्तर रहित लगातार आहार ग्रहण करते रहते हैं। ये वनस्पति काय तक पांचों स्थावर के जीवों का भी इसी तरह ही समझना।

इस तरह उन्तीसवां द्वार हुआ।

आद्यमेव गुण स्थानमेकं सूक्ष्म शरीरिणाम् ।

अनाभोगिक मिथ्यात्ववतामेषां निरूपितम् ॥१३४॥

इति गुणाः ॥३०॥

अब गुण स्थान के विषय में कहते हैं- सर्व सूक्ष्म शरीर वाले प्रथम गुण स्थानक में ही होते हैं क्योंकि उनका अनाभोगिक मिथ्यात्व होता है। (१३४) यह तीसवां द्वार कहा है।

दशानामपि सूक्ष्माणां त्रयोयोगाः प्रकीर्तिताः ।

औदारिकस्तन्मिश्रश्च कार्मणश्चापि विग्रहे ॥१३५॥

इति योगाः ॥३१॥

अब योग के विषय में कहते हैं - दसों प्रकार के जीवों का तीन काययोग होता है, १- औदारिक, २- मिश्र औदारिक और ३- कार्मण। (१३५)

यह इकतीसवां द्वार है।

असंख्येय लोकमान नभः खंड प्रदेशकैः ।

तुल्याः सूक्ष्माग्नि पृथ्व्यम्बुमरुतः किन्तु तत्र च ॥१३६॥

लोकाकाशमिताः खंडा असंख्येया अपि क्रमात् ।

अग्न्यादिषु भूरि भूरितर भूरितमा मताः ॥१३७॥युग्मं।

अब इसके मान के विषय में कहते हैं- सूक्ष्म अग्नि काय, पृथ्वीकाय,

अपकाय और वायुकाय-ये चार लोक प्रमाण असंख्य आकाश खंड के प्रदेश जितने हैं, परन्तु उसमें लोकाकाश समान असंख्य खण्ड हैं; फिर भी अग्निकाय आदि में अनुक्रम से बहुत हैं, इससे भी अधिक हैं और अधिक से अधिक हैं। इस तरह कहा है। (१३६-१३७)

पर्याप्तापर्याप्त सूक्ष्म बादरानन्त कायिका ।

चत्वारोऽपि स्युरनन्त लोकाकाशांश सम्मिताः ॥१३८॥

अयं भावः - लोकाकाश प्रदेशेषु निगोद सत्कजन्तुषु ।

प्रत्येकं स्थाप्य मानेषु पूर्यतेऽसावनन्तशः ॥१३९॥

पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे सूक्ष्म तथा बादर अनन्तकाय- ये चार अनन्त लोकाकाश के प्रदेश जितने हैं। इसका भावार्थ यह है कि- लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में निगोद के एक-एक जंतु को यदि स्थापना करने में आए तो वह लोकाकाश अनन्त बार भर जाए। (१३८-१३९)

तथापि -- बादर साधारणेषु पर्याप्तेषु भवन्ति हि ।

अपर्याप्ता बादरास्ते असंख्येय गुणाधिकाः ॥१४०॥

बादरा पर्याप्तकेभ्य सूक्ष्म पर्याप्तका इमे ।

असंख्येय गुणास्तेभ्यः सूक्ष्म पर्याप्तकास्तथा ॥१४१॥

इति मानम् ॥३२॥

उसमें भी बादर साधारण पर्याप्त से बादर अपर्याप्त असंख्य गुणा होते हैं और इन बादर अपर्याप्त से सूक्ष्म अपर्याप्त असंख्य गुणा हैं और इससे भी असंख्य गुणा सूक्ष्म पर्याप्त हैं। (१४०-१४१)

यह बत्तीसवां द्वार है।

सूक्ष्मातेजस्कायिकाः स्युः सर्वस्तोकास्ततः क्रमात्।

सूक्ष्मक्षमाम्बुमरुतो विशेषाभ्यधिकाः स्मृताः ॥१४२॥

अब इन सूक्ष्म जीवों का अघन्य अल्प बहुत्व के विषय में कहते हैं। सर्व से अल्प सूक्ष्म तेजकाय के जीव हैं और उससे विशेष- विशेष अधिक अनुक्रम से सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अपकाय और वायुकाय हैं। (१४२)

असंख्येय लोकमान नभः खंड प्रदेशकैः ।

तुल्याः सर्वेऽप्यमीकिन्तु यथोत्तरधिकाधिकाः ॥१४३॥

और जोकि सारे लोक प्रमाण असंख्य आकाश खण्ड के प्रदेश समान हैं फिर भी उनको उत्तरोत्तर अधिक- अधिक समझना । (१४३)

असंख्येय गुणाः सूक्ष्मवायुभ्यः स्युर्निगोदकाः ।

असंख्येय प्रमाणत्वादेतेषां प्रति गोलकम् ॥१४४॥

तेभ्योऽनन्त गुणाः सूक्ष्माः स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।

तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा विशेषाभ्यधिकाः समृता ॥१४५॥

तथा सूक्ष्म वायु काय के जीव से निगोद के जीव असंख्य गुणा हैं क्योंकि वे गोलाकार असंख्य प्रमाण में हैं। और इससे भी अनन्त गुणा सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव हैं और इससे भी सामान्यतः सारे सूक्ष्म अधिक विशेष हैं। (१४४-१४५)

स्वस्वजातिष्वपर्याप्तकेभ्योऽसंख्यगुणा मताः ।

पर्याप्तकायदेतेऽन्यापेक्षयाधिक जीविनः ॥१४६॥

अपनी-अपनी जाति में पर्याप्त जीव अपर्याप्त से असंख्य गुणा होते हैं क्योंकि वे अन्य की अपेक्षा से अधिक आयुष्य वाले होते हैं। (१४६)

उत्पद्यन्ते तथैके कापर्याप्तकस्य निश्रया ।

पर्याप्तका असंख्येयास्ततोऽपी बहवो मताः ॥१४७॥

एक-एक पर्याप्त की निश्रा से असंख्य पर्याप्त उत्पन्न होते हैं, इससे वे बहुत हैं। इस तरह कहा है। (१४७)

तथोक्तमाचारांग वृत्तौ- "सूक्ष्मा अपि पर्याप्तकापर्याप्त भेदेनद्विधा एव। किन्तु अपर्याप्तकनिश्रया पर्याप्तकाः समुत्पद्यन्ते। यत्र च एकः अपर्याप्तकः तत्र नियमात् असंख्येयाः पर्याप्ताः स्युः । इति॥"

इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र की वृत्ति में इस प्रकार से कहा है कि 'सूक्ष्म भी दो प्रकार का कहा है १- पर्याप्त और २- अपर्याप्त। परन्तु अपर्याप्त की निश्रा से पर्याप्त उत्पन्न होता है। जहां एक अपर्याप्त होता हो नियमतः असंख्य पर्याप्त होते हैं।'

अतः एवैकेन्द्रियाः स्युः सामान्यतो विवक्षिताः ।

पर्याप्ता एव भूयांसो जीवा अप्योद्यतस्तथा ॥१४८॥

इति लघ्वी अल्पबहुता ॥३३॥

इसलिए ही सामान्यतः एकेन्द्रिय की विवक्षा की है और ओष से भी बहुत जीव पर्याप्त कहे हैं। (१४८)

इस तरह तैत्तीसवां द्वारा अल्प बहुत्व है।

दिशामपेक्षयात्वल्प बहुतैषां न सम्भवेत् ।

अमी प्रायः सर्वलोकापन्नाः सर्वत्र यत्समाः ॥१४६॥

अब दिशा से अल्प बहुत्व सम्बन्ध में कहते हैं - दिशाओं की अपेक्षा से सूक्ष्म जीवों का अल्प बहुत्व संभव नहीं है क्योंकि यह प्रायः सर्वलोक में व्याप्त हैं और सर्वत्र समान है । (१४६)

तथोक्तं प्रज्ञापना वृत्तौ- "इदं हि अल्प बहुत्वं बादरानधिकृत्य दृष्टव्यं न सूक्ष्मान् । सूक्ष्माणां सर्वलोकापन्नानां प्रायः सर्वत्र समत्वात् ॥"

इति दिगपेक्षया अल्प बहुता ॥३४॥

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- यह अल्प बहुत्व बादर जीवों की अपेक्षा से जानना, सूक्ष्म की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि सूक्ष्म सर्वलोक में व्याप्त हैं और सर्वत्र समान है।

इस तरह से चौँतीसवां द्वार है।

ओघतः सूक्ष्म जीवानामन्तरं यदि चिन्त्यते ।

अन्तर्मुहूर्तं सूक्ष्मत्वे जघन्यं कथितं जिनैः ॥१५०॥

यदुत्पद्य बादरेषु सूक्ष्मः संत्यज्य सूक्ष्मताम् ।

स्थित्वा तत्रान्तर्मुहूर्तं पुनः सूक्ष्मत्वमाप्नुयात् ॥१५१॥

सूक्ष्म जीवों का अन्तर यदि ओघ से विचार करें तो वह जन्ययतः अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि वह सूक्ष्म अपना सूक्ष्मत्व छोड़कर बादर रूप में उत्पन्न होकर उसमें अन्त-मुहूर्त रहकर पुनः सूक्ष्मत्व प्राप्त करता है। (१५०-१५१)

उत्कर्षतः कालचक्राण्यसंख्येयानि तानि च ।

निष्पाद्यान्यंगुलासंख्यांशस्य खांशमितैः क्षणैः ॥१५२॥

परन्तु उत्कृष्ट अन्तर तो एक अंगुल के असंख्यातवें भाग में जितना अकाश प्रदेश रहता है उतने क्षणों से बने असंख्य काल चक्र का होता है। (१५२)

अयं भावः..... एकस्मिन्नंगुलासंख्य भागे येऽध्रप्रदेशकाः ।

यावन्ति काल चक्राणि हृतैस्तैः स्युः प्रतिक्षणम् ॥१५३॥

उत्कर्षतो बादरत्वे तावती वर्णिता स्थितिः ।

तां समाप्य पुनः सौक्ष्म्यं प्राप्नोति युक्तमदोऽन्तरम् ॥१५४॥ युग्मं ।

इसका भावार्थ इस तरह है- अंगुल के एक असंख्यवें भाग में जो आकाश प्रदेश रहते हैं उनमें से प्रत्येक क्षण-समय में एक-एक लेते जितने काल चक्र होते हैं उतने बादर रूप में उत्कृष्ट स्थिति कही है और इसे पूर्ण करके पुनः सूक्ष्मत्व प्राप्त करते हैं । जितना १५२वें श्लोक में कहा है उतना उत्कृष्ट अन्तर पड़ता है वह युक्त है। (१५३-१५४)

सूक्ष्मक्ष्माभ्योऽग्नि मरुतामिह प्रत्येकमन्तरम् ।

लघुस्यादन्तर्मुहूर्त्तमनन्ताद्दामितं गुरु ॥१५५॥

सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय और वाउकाय- इनमें प्रत्येक का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का होता है और उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल होता है। (१५५)

तच्च सूक्ष्मक्ष्मादि जन्तोः सूक्ष्म स्थूलवनस्पतौ ।

गत्वा स्थित्वानन्त कालं सूक्ष्मक्ष्मादित्वभीयुषः ॥१५६॥

और उस अन्तर में सूक्ष्म पृथ्वीकाय आदि जन्तु, सूक्ष्म स्थूल वनस्पतिकाय रूप प्राप्त करके और वहां अनन्त काल रहकर पुनः सूक्ष्म पृथ्वीकायत्व आदि प्राप्त करता है। (१५६)

वनस्पतेश्च सूक्ष्मस्यान्तरमुत्कर्षतो भवेत् ।

काल चक्राण्यसंख्येय लोकमानानि पूर्ववत् ॥१५७॥

और सूक्ष्म वनस्पतिकाय का उत्कृष्ट अन्तर पूर्ववत् असंख्य लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण काल चक्र जितना है। (१५७)

तच्च सूक्ष्मक्ष्मादित योत्यद्य सूक्ष्म वनस्पतेः ।

स्थित्वोक्त कालं पुनरप्युत्पन्नस्य वनस्पतौ ॥१५८॥

और उस अन्तर में सूक्ष्म वनस्पतिकाय का जीव, सूक्ष्म पृथ्वीकायत्व आदि प्राप्त करके और वहां पूर्वोक्त काल तक रहकर पुनः अपना मूल वनस्पति कायत्व प्राप्त करता है। (१५८)

न सम्भवति चैतेषामनन्त कालमन्तरम् ।

विना वनस्पतीन् कुत्राप्यनन्त स्थित्यभावतः ॥१५९॥

उनका अन्तर अनन्त काल जितना होता है। इस तरह संभव नहीं हो सकता क्योंकि वनस्पतिकायत्व बिना अन्य किसी जन्म में अनन्त स्थिति का सद्भाव-जाति नहीं है। (१५९)

जघन्यमन्तरं त्वेषामन्तर्मुहूर्त्तमीरितम् ।
क्षमादिष्वन्तर्मुहूर्त्तं तत् स्थित्वोत्पत्तौ भवेदिह ॥१६०॥

इति अन्तरम् ॥३५॥

उनका अन्तर जघन्य रूप में अन्तर्मुहूर्त्त का है और उस अन्तर में पृथ्वी कायत्व आदि प्राप्त कर उसमें अन्तर्मुहूर्त्त तक रहकर पुनः अपने मूल जन्म में आता है। (१६०)

इस तरह से सूक्ष्म जीवों का अन्तर विषय समझाया है ।

प्रायो भवसंवेद्यो महाल्प बहुता त्वनेक जीवानाम् ।

वक्तव्ये इत्युभयं वक्ष्ये जीव प्रकरणान्ते ॥१६१॥

अब जो रह गये हैं उनका भवसंवेद्य और महा अल्प बहुत्व में विवेक्षण है। परन्तु उन दोनों के द्वार के विषय में अनेक जीवों के सम्बन्ध में कहना है। अतः इस विषय में जीव प्रकरण के अन्त में कहा जायेगा। (१६१)

वर्णिताः किमपि सूक्ष्म देहिनः सूक्ष्मदर्शि वचनानुसारतः ।

यत्तु नेह कथितं विशेषतः तद् बहुश्रुत गिरा वसीयताम् ॥१६२॥

इस तरह से सूक्ष्म जीवों का सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों के वचनों के अनुसार कुछ वर्णन किया है जो यहां बहुत कम कहा गया है। वह विशेष जानने की जिसको इच्छा हो उनको वह बहुश्रुत के वचनों से जान लेना चाहिए। (१६२)

विश्वाश्चर्यदं कीर्ति कीर्ति विजय श्री वाचकेन्द्रान्तिष -

द्राज श्री तनयोऽतनिष्ठ विनयः श्री तेजपालात्मजः।

काष्ठं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,

सर्गो निर्गलितार्थ सार्थ सुभगः पूर्णश्चतुर्थः सुखम् ॥१६३॥

॥ इति चतुर्थः सर्गः ॥

सारे जगत् में आश्चर्यकारी जिनकी कीर्ति है, ऐसे श्री कीर्ति विजय जी उपाध्याय के अन्तेवासी और माता राजश्री तथा पिता श्री तेजपाल के सुपुत्र श्री विनय विजय उपाध्याय ने जगत् में से निश्चय तत्त्वों को दीपक के समान प्रगट करने वाले इस ग्रन्थ की रचना की है। उसके अन्दर से निकलते सार के कारण सुभग यह चतुर्थ सर्ग विघ्न रहित सम्पूर्ण हुआ है। (१६३)

चौथा सर्ग समाप्त ।

अथ पंचम सर्गः

वर्ष्यन्तेऽथ क्रमप्राप्ता बादरैकेन्द्रियाग्निः ।

ते च षोढा पृथिव्यम्बुतेजोऽनिलास्तथा हुमाः ॥१॥

अब पांचवां सर्ग प्रारंभ होता है। इसके पहले चौथे सर्ग में सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों का वर्णन किया है। इसके बाद क्रमानुसार आते बादर एकेन्द्रिय जीवों का वर्णन किया जाता है। वह छः प्रकार के हैं। १- पृथ्वी, २- अल्प (जल); ३- तेज (अग्नि), ४- वाउ (वायु)। (१)

प्रत्येकाः साधारणाश्च षडप्येते द्विधा मताः ।

पर्याप्तापर्याप्त भेदादेवं द्वादश बादराः ॥२॥

तथा ६- प्रत्येक वनस्पति और ६- साधारण वनस्पति हैं। इन छहों के पुनः पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार से बारह तरह के बादर एकेन्द्रिय होते हैं। (२)

बादराख्यनाम कर्मोदयाद्ये स्थूलतां गताः ।

चर्म चक्षुर्दृश्यमाना बादरास्ते प्रकीर्तिताः ॥३॥

बादर नाम कर्म के उदय से स्थूल रूप मोटापन प्राप्त किया हो व चर्म चक्षु से दिखता हो, उसका नाम बादर कहलाता है। (३)

तत्र च अपर्याप्तास्त्वविस्मृष्ट वर्णाद्या अल्प जीवनात् ।

पर्याप्तानां च वर्णादिभेदैर्भेदाः सहस्रशः ॥४॥

और अल्प जीवी होने से जिसका वर्ण रूप आदि स्पष्ट रूप में नहीं दिखता वह अपर्याप्त बादर कहलाता है, और पर्याप्त बादर के तो वर्ण आदि में भिन्नता होने से हजारों भेद होते हैं। (४)

बादरा पृथिवी द्वेषा मृदुरेका खरापरा ।

भेदाः सप्त मृदोस्तत्र वर्णभेद विशेषजाः ॥५॥

बादर पृथ्वी भी दो प्रकार की होती है, १- कोमल, २- कठोर (कर्कश) -कोमल पृथ्वी के भी अलग-अलग रंग होते हैं उसके जितने रंग होते हैं उतने भेद होते हैं अर्थात् उसके सात भेद हैं। (५)

कृष्णा नील रूणा पीता शुक्लेति पंच मृद्भिदः ।

षष्ठी देश विशेषोत्था मृत्ना पांडुरिति श्रुता ॥६॥

नद्यादि पूरापगमे देशे तत्रातिपिच्छले ।

मृदुश्लक्षणा पंकरूपा सप्तमी पनकाभिधा ॥७॥युग्मं।

इत्यर्थतः प्रज्ञापना वृत्तौ ॥

वे सात-सात भेद इस प्रकार हैं - १- काला, २- हरा, ३- पीला, ४- लाल, ५- सफेद, ६- किसी देश में पांडु रंग होता है और ७- नदी आदि की बाढ़ जा जाने से अत्यन्त नमी वाला प्रदेश हो गया हो उसकी कोमलता, चिकना, पंकरूप 'पनक' नाम के होते हैं । (६-७)

इनका भावार्थ पत्रवना सूत्र की वृत्ति में कहा है।

उत्तराध्ययन वृत्तौ तु- "पांडुत्ति ॥ पांडु पांडुरा इषत् शुक्लत्ववती इध्यर्थः। इति वर्ण भेदेन षड्विधत्वं उक्तम्। इह च पांडुर ग्रहणं कृष्णादि भेदानामपि स्व स्थाने भेदान्तर सम्भव सूचकम्। पनकः अत्यन्त सूक्ष्मरजो रूपः स एवं मृत्तिका पनक मृत्तिका। पनकस्य च नभसि विवर्तमानस्य लोके पृथ्वीत्वेन रूढत्वात् भेदेन उपादानम् ॥ इत्यादि उक्तम् ॥"

श्री उत्तराध्ययन सूत्र की वृत्ति में तो इस तरह कहा है कि- पांडु अर्थात् पांडुर अर्थात् कुछ श्वेत-सफेद होता है। इस प्रकार पृथ्वी के अलग-अलग रंग को लेकर छः भेद कहे हैं। यहां 'पांडुर' क्रहने से इस तरह सूचना होती है कि- कृष्ण आदि भेदों का भी अपने-अपने स्थान में अन्य भेद संभव होता है। पनक अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म रजरूप मिट्टी-मृत्तिका है। आकाश में बिखरे हुए 'पनक' का लोक में पृथ्वीत्व ऐसा रूढ अर्थ हो गया है। इससे इसे पृथ्वी का एक भेद गिना है। इत्यादि!

चत्वारिंशत् खरायाश्च भेदाः प्रज्ञापिताः क्षितेः ।

अष्टादश मणीभेदास्तथा द्वाविंशतिः परे ॥८॥

खर अर्थात् कर्कश-कठोर पृथ्वी के चालीस भेद कहे हैं । उसमें अठारह भेद मणि के हैं और बाईस भेद अन्य हैं। (८)

गोमेघकांक स्फटिकलोहिताक्षा हरिन्मणि ।

षष्ठो मसार गल्ल स्यात्सप्तसो भुजमोचकः ॥९॥

इन्द्र नीलश्चन्द्रनश्च गैरिको हंसगर्भकः ।

सौगन्धिकश्च पुलकस्ततश्चन्द्रप्रभाभिधः ॥१०॥

वैदूर्यं जलकान्तश्च रूचकाकौपलाविति ।

खरक्षमाया एव भेदानन्यान् द्वाविंशतिं बुवे ॥११॥

मणि के अठारह भेद इस तरह हैं - १- गोमेघ, २- कांक, ३- स्फटिक, ४- लोहिताक्ष, ५- नीलम, ६- मसार गल्ल, ७- भुजमोचक, ८- इन्द्रनील, ९- चन्दन, १०- गैरिक (गेरू), ११- हंसगर्भ, १२- सौगन्धिक, १३- पुलक, १४- चन्द्रप्रभ, १५- वैदूर्य, १६- जलकान्त, १७- रूचक और १८- सूर्य कान्त मणि । (६ से ११)

भूर्नदीतटमित्थ्यादेः शर्क रोपलकर्कराः ।

सिकताः सूक्ष्म कणिकाः उपला लघवोऽश्मकाः ॥१२॥

शिला महान्तः क्षाराभूरूषो लवणमब्धिजम् ।

सुवर्णं रूप्यताम्रयस्त्र पुसीसक घातवः ॥१३॥

वज्रं च हरितालश्च हिं गुलश्च मनःशिला ।

प्रवालं पारदश्चापि सौवीराभिधमंजनम् ॥१४॥

पटलं पुनरघ्राणां तथा तन्मिभ्र वालुकाः ।

अन्येऽप्येवंविधा ग्राह्या जेया वणेति वाक्यतः ॥१५॥

इत्यर्थतः प्रज्ञापना वृत्तौ ॥ इति पृथ्वी काय भेदः ॥

दूसरे बाईस भेद इस प्रकार हैं - १- नदी किनारे की दिवाल की मिट्टी, २- मिट्टी की रेत, ३- सूक्ष्म कणी रूप सिकता-रेती, ४- छोटे-छोटे पत्थर समूह उपल, ५- बड़ी शिला, ६- खारी जमीन, ७- समुद्र का नमक, ८- सुवर्ण, ९- रूपा-चान्दी, १०- तांबा, ११- लोहा, १२- जस्ता, १३- सीसा, १४- वज्र, १५- हरताल, १६- हिगुल, १७- मनः शील, १८- प्रवाल, १९- पारद, २०- सौवीर नाम का अंजन-सुरमा, २१- अभ्रक का पड-समुदाय और २२- अभ्रक मिश्रित रेती। तथा प्रज्ञापना सूत्र में 'जेयावणा' ऐसा वाक्य आया है । इससे अन्य भी भेद समझना। (१२ से १५)

इस प्रकार बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय के भेद कहे हैं।

जलभेदां जलं शुद्धं शीतमुष्णं स्वभावतः ।

क्षारमीषदतिक्षारमप्लमीषसथाधिकम् ॥१६॥

हिमावश्यायकरका धूमरीक्षमान्तरिक्षजम् ।

क्ष्यामुदिभद्य तृणाग्रस्थं नाप्ता हरतनूदकम् ॥१७॥

घृतेक्षुवारूणी दुरधोदकं तत्तत्रसाङ्कितम् ।
घनोदध्यादयश्चास्य भेदा येऽन्येपि तादृशाः ॥१८॥

इति अपकाय भेदाः ॥

अब अपकाय (जल) के भेद कहते हैं- स्वाभाविक १- शुद्ध, २- शीतल, ३- ऊष्ण, ४- खारा, ५- थोड़ा खारा, ६- अति खारा, ७- खंड्टा, ८- थोड़ा खंड्टा, ९- अत्यन्त खंड्टा, १०- हिम (बरफ) का पानी, ११- बरफ, १२- ओले, १३- कुहरे का पानी, १४- अंतरिक्ष से गिरता पानी, १५- पृथ्वी का भेदन कर तृण के अग्र भाग पर रहता है वह हरत नाम का जल, १६- घी में रहा घृतवर, १७- मदिरा में रहा इक्षुवर, १८- दूध में रहा रस वाला पानी वारूणीवर और १९- क्षीरवर- समुद्र का रसयुक्त पानी, २०- घनोदधि आदिक तथा इस भेद वाले अन्य कई भेद होते हैं वे । (१६ से १८)

शुद्धाग्निरशनिर्ज्वाला स्फुलिंगांगार विद्युतः ।
अलातोल्कामुर्भुराख्या निर्घात कणकाभिधाः ॥१९॥

काष्ठसंघर्ष सम्भूतः सूर्यकान्तादि सम्भवः ।
बह्निभेदा अमी ग्राह्या ये चान्येऽपि तथा विधाः ॥२०॥

इति अग्नि भेदाः ॥

अब तेउकाय-अग्नि के भेद कहते हैं - १- शुद्ध अग्नि, २- वज्राग्नि, ३- ज्वालाम्नि, ४- स्फुलिंग, ५- अंगार, ६- विद्युत्, ७- अलात् अर्थात् कोलसे की आग, ८- उलका, ९- तणखा, १०- निर्घात की अग्नि, ११- कणिका की अग्नि, १२- काष्ठ के घर्षण से उत्पन्न हुई आग और १३- सूर्यकान्त आदि से उत्पन्न हुई अग्नि तथा अन्य उपाय से उत्पन्न हुई ऐसी और अग्नि होती है वह । (१९-२०)

ये अग्नि के भेद हैं ।

प्राच्योदीच्य प्रतीचीन दाक्षिणात्या विदिग्भवाः ।
ऊर्ध्वाधः सम्भवा वाता उद्भ्रामोत्कलिकानिलाः ॥२१॥

गुंजाझंझाख्य संवर्ता वातो मंडलिकाभिधः ।
घनवातस्तनुवातस्तत्रोद्भ्रामोऽनवस्थितः ॥२२॥

पूर्व का वायु, उत्तर का वायु, पश्चिम का वायु, दक्षिण का वायु, विदिशा का वायु, ऊर्ध्व वायु, ऊधो वायु, उद्भ्राम वायु, उत्कलिक वायु, गुंज वायु, झंझा वायु,

संवर्त वायु, मंडलिक वायु, धन वायु तथा तनु वायु इत्यादि वायु के भेद हैं।
(२१-२२)

लहर्य इव पाथोधेर्वातस्योत्कलिकास्तु याः ।

रेणुकासु स्फुट व्यंग्यास्तद्धानुत्कालिकानिलः ॥२३॥

गुंजन् सशब्दं यो वाति स गुंजावात उच्यते ।

झंझानिलो वृष्टियुक्तः स्याद्वा योऽत्यन्तनिष्ठुरः ॥२४॥

आवर्त्तकस्तृणादीनां वायुः संवर्त्तकाभिधः ।

मंडलाकृतिरामूलात् मंडलीवात उच्यते ॥२५॥

उद्भ्राम अर्थात् अनवस्थित रूप में वायु चलता है, समुद्र की तरंगों के समान वायु की तरंगें होती हैं, वह रेती में स्पष्ट दिखती हैं, वह तरंग वाली वायु हो, वह उत्कलिक वायु है। सशब्द अर्थात् आवाज करते गुंजता हो वह गुंजावात कहलाता है। तथा मेघ की वृष्टि सहित वायु हो अथवा अत्यन्त कठोर हो वह झंझा वायु कहलाता है। तृण आदि को घुमाकर उखाड़ने वाला जो वायु है वह संवर्त्तक वायु है। मूल में से ही गोलाकार फिरती वायु हो, वह मंडलिक वायु है। (२३ से २५)

घनो घन परीणामो धराद्याधार ईरितः ।

विरलः परिणामेन तनुवातस्ततोऽप्यधः ॥२६॥

घन परिणामी और पृथ्वी आदि का आधारभूत वह घन वायु है, और घन वायु से भी नीचे रहने वाला विरल परिणामी वायु तनु वायु है। (२६)

मन्दं मन्दं च यो वाति शीतः स्पर्श सुखावहः ।

स उच्यते शुद्धवात इत्याद्याः स्युर्मरुद्भिदः ॥२७॥

इति वायु काय भेदाः ॥

तथा जो मंद-मंद वायु चलती हो, शीतल हो और सुखकारी हो, वह शुद्ध वायु है। इत्यादि वायु जानना। (२७)

इस प्रकार वायुकाय के भेद होते हैं।

क्रमप्राप्ता निरूप्यन्ते भेदा अथ वनस्पतेः ।

साधारणस्य प्रत्येकवपुषश्च यथा क्रमम् ॥२८॥

अब क्रमानुसार प्रत्येक और साधारण वनस्पति के भेद का निरूपण करने में आता है। (२८)

स्थावराणां सात्मकत्वमनंगी कुर्वतः प्रति ।

आदौ वनस्पति द्वारा स्पष्टं तदुपपाद्यते ॥२६॥

जो स्थावर जीव वाला नहीं गिना जाता उसके लिए प्रथम वनस्पति द्वारा उस बात को स्पष्ट रूप में समझाकर प्रतिपादन करते हैं। (२६)

पृथ्व्यादीनां सात्मकत्वे युक्ति युक्तेऽपि युक्तयः ।

वनस्पतेः सात्मकत्वे गम्याः स्थूलदृशामपि ॥३०॥

दिग्मात्रेणात्र ता एव दर्शयन्ते व्यक्ति पूर्वकम् ।

ततस्तदनुसारे ण ज्ञेयान्येष्वपि चेतना ॥३१॥

पृथ्वीकाय आदि में जीव है, यह बात समझाने में अच्छी युक्ति का उपयोग करना पड़ता है। परन्तु वनस्पति का जीव तत्त्व सिद्ध करने में जो युक्ति लगाने में आती है वह स्थूल दृष्टि वाले को भी समझ में आ सकती है। उन युक्तियों का किंचित् मात्र व्यक्ति पूर्वक दिग्दर्शन कराने में आता है, फिर इसके अनुसार अन्य स्थावरों में जीवत्व-चेतना है, इस तरह विश्वास हो जायेगा। (३०-३१)

मूले सिक्तेषु वृक्षेषु फलादिषु रसः स्फुटः ।

स चोच्छ्वासमन्तरेण कथमूर्ध्वं प्रसर्पति ॥३२॥

वृक्ष के मूल में जल सिंचन करने में आता है, इससे फल आदि में रस दिखता है- यह स्पष्ट है। तब वह रस, यदि उच्छ्वास न हो तो ऊंचे स्थान पर कहाँ से फैलता है ? (३२)

रस प्रसर्पणं स्पष्टं सत्युच्छ्वासेऽस्मदादिषु ।

तदभावे तदभावो दृष्टश्च मृतकादिषु ॥३३॥

अपने मनुष्य में भी श्वास उच्छ्वास के कारण ही स्पष्ट रूप में रस का प्रसार होता है, परन्तु मृतक आदि में उच्छ्वास का अभाव होने के कारण रस का प्रसार होता नहीं दिखता है। (३३)

अन्वय व्यतिरेकाभ्यां ततो रसप्रसर्पणम् ।

उच्छ्वासमाक्षिपति यत् व्याप्यं न व्यापकं विना ॥३४॥

इसलिए अन्वय और व्यतिरेक से रस का प्रसर्पण उच्छ्वास सिद्ध करता है क्योंकि व्यापक बिना व्याप्त नहीं होता है। (३४)

उच्छ्वासश्चात्मनो धर्मो निर्विवादमिदं खलु ।

धर्मश्च धर्मिणं ब्रूते स्वाविनाभावतः स्फूटम् ॥३५॥

तथा उच्छ्वास आत्मा का धर्म है, यह बात भी निर्विवाद है और धर्म है-यही कह देता है कि कोई धर्मी होना ही चाहिए क्योंकि धर्मी के बिना धर्म अकेला नहीं रह सकता है। (३५)

किं चदृश्यते दोह दोत्यत्तिर्द्रुणामपि नृणामिव ।

यत्तत्राप्य फलन्त्येते हृष्टाः शुष्यन्ति चान्यथा ॥३६॥

और वृक्ष को भी मनुष्य के समान दोहद उत्पन्न होता दिखता है । क्योंकि यह दोहद पूर्ण होता है तभी ही हर्षित होकर फल देता है, अन्यथा सूख जाता है। (३६)

दोहदश्चात्मनो धर्मः कथं नात्मानमाक्षिपेत् ।

इच्छा रूपो दोहदो हि नेच्छावन्तं बिना भवेत् ॥३७॥

तथा यह दोहद आत्मा का धर्म है, इसलिए यह दोहद आत्मा-चैतन्य का सद्भाव जिसको कहते हैं क्या उसे सिद्ध नहीं करता ? इच्छा रूप दोहद इच्छा वाले बिना कहीं देखा-सुना है ? (३७)

संज्ञा नियत संकोच विकास प्रमुखा अपि ।

संज्ञिनं कथमात्मानं न ज्ञापयन्ति युक्तिभिः ॥३८॥

तथा वृक्षों का संकोच, विकास आदि नियत संज्ञाएं भी हैं । ये संज्ञा भी क्या युक्ति-पूर्वक अपनी आत्मा को संज्ञी नहीं बताती हैं ? (३८)

यद्वा तारतम्यमेवं द्रुमेष्वपि नरेष्विव ।

केऽप्येरंडादिवत्रीचाः केऽप्याम्नादिवदुत्तमाः ॥३९॥

उत्कटाः कंटकैः केचित् केचिदत्यन्त कोमलाः ।

कुटिलाः केऽपि सरलाः कुब्जा दीर्घाश्च केचन् ॥४०॥

हृद्यवर्णगन्धरस स्पर्शाः केचित्ततोऽन्यथा ।

सविषा निर्विषाः केऽपि सफला निष्फलाः परे ॥४१॥

जाताः केचिदवकरे सूद्यानादौ च केचन् ।

केचिच्चिरायुषः शस्त्राद्यैः केचित्क्षिप्रमृत्युवः ॥४२॥

जैसा अन्य मनुष्यों में होता है वैसा वृक्षों में भी तारतम्य मिलता है । देखो जैसे कि- कई वृक्ष अरंड आदि के समान कनिष्ठ होते हैं तो कई आम आदि के

समान उत्तम होते हैं कई काटे वाले हैं तो कई अत्यन्त कोमल होते हैं। कई कुटिल होते हैं तो कई सरल हैं। कई कुब्ज होते हैं तो कई दीर्घ होते हैं। कईयों का वर्ण, गंध, रस, स्पर्श मनोहर होता है तो अन्यो का इससे विपरीत होता है। कई विष समान होते हैं तो अन्य विष रहित मीठे होते हैं। कई फलते हैं तो अन्य को फल आते ही नहीं हैं। कईयों का उत्पत्ति स्थान खराब स्थान है तो अन्य वृक्ष का उत्पत्ति स्थान सुन्दर उद्यान आदि है। कई दीर्घायुषी हैं तो कई शस्त्रादि से तुरन्त कटकर गिर जाते हैं। (३६ से ४२)

बिना कर्माणि नानात्वमिदं युक्ति सहं कथम् ।

बिना कारण नानात्वं कार्ये तद्धि न सम्भवेत् ॥४३॥

इस प्रकार विविध रूप कर्मों का सद्भाव बिना कारण कैसे हो सकता है ? नाना प्रकार के कारण बिना ऐसे कार्य संभव नहीं हो सकते। (४३)

कर्माणि च कार्यतयात्मानं कर्त्तारमेव हि ।

आक्षिपन्त्य विना भूताः कुलालं कलशा इव ॥४४॥

कर्म भी कार्य रूप होने से अपना कोई कर्ता है ही, इस तरह सूचना कर रहा है। घड़े का जैसे कर्त्तारूप में कुम्हार को सूचक है वैसे ही। (४४)

वनस्पतेः सात्मकत्वं स्फुटमेव प्रतीयते ।

जन्यादि धर्मोपेतत्वात् मनुष्यादि शरीरवत् ॥४५॥

इसलिए वनस्पति में चैतन्य है, यह स्पष्ट प्रतीति होती है क्योंकि इसमें भी मनुष्य आदि के शरीर समान जन्यादि धर्म विद्यमान हैं। (४५)

अनुमानं पुरस्कृत्य साधयत्यागमोऽपि च ।

वनस्पतेः सचैतन्यमाचारांगे यथोदितम् ॥४६॥

तथा आगम में भी अनुमान को आगे करके वनस्पति का चेतनत्व सिद्ध करने में आया है, आचारांग सूत्र में कहा है कि। (४६)

“इमं पि जाइ धम्मयं एयं पि जाइ धम्मयं। इमं पि बुद्धि धम्मयं एयं पि बुद्धि धम्मयं। इमं पि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं। इमं पि छिन्नं मिलायइ, एयं पि छिन्नं मिलायइ। इमं पि आहारंग एयं पि आहारंग। इमं पि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं। इमं पि असासयं एयं पि असासयं। इयं पि चओववइयं एयं पि चओववइयं। इमं पि विपरिणाम धम्मयं एयं पि विपरिणाम धम्मयं। इत्यादि॥”

(अत्रैकं इदं शब्द वाच्यं मनुष्य शरीरं। द्वितीयं च एतच्छब्द वाच्यं वनस्पति शरीरम्। इत्यनयो दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक योजना)

‘इसमें उत्पत्ति धर्म है वैसे इसमें भी है, इसमें वृद्धि धर्म है वैसे इसमें भी वृद्धि धर्म है, इसका चित्त है इस तरह इसे भी है, यह जैसे छेदने के बाद मिल जाता है वैसे यह भी मिल जाता है, यह आहारक है वैसे यह भी है, यह अनित्य है इस तरह यह भी अनित्य है, यह नश्वर है वैसे यह भी नश्वर है, इसे चयोपचय है वैसे इसे भी चयोपचय होता है, इसका विपरीत परिणामी धर्म है वैसे ही इसका भी विपरीत परिणामी धर्म है। इत्यादि। (यहाँ जहाँ-जहाँ यह शब्द है वह मनुष्य शरीर वाचक समझना और दूसरा यह शब्द है वह वनस्पति कायवाचक शब्द समझना। इसी तरह दोनों का दृष्टान्त दार्ष्टान्त रूप योजना है।)’

वनस्पतेः सचैतन्यमेवं सिद्धं नरांगवत् ।

ततोऽस्य योनि जातत्वमपि सिद्धं तदुच्यते ॥४७॥

इस प्रकार वनस्पतिकाय का मनुष्य के शरीर समान सचेतन रूप सिद्ध किया है और इससे यह ‘योनिज’ है इस तरह भी सिद्ध होता है। (४७)

तथाहि बीजस्य द्विविधावस्था योन्यवस्था तथापरा ।

तन्मध्ये योन्यवस्था या सा चैवं परिभाव्यते ॥४८॥

वह इस प्रकार है- बीज की दो प्रकार की अवस्था है। उसमें १- योनि अवस्था और २- अयोनि अवस्था होती हैं। इसमें जो योनि अवस्था है वह इस प्रकार समझना। (४८)

जन्तुत्पत्ति क्षणे पूर्व जन्तुना स्याद्यदुन्डितम् ।

अत्यक्तयोन्यवस्थं च तद् बीजं योनिभूतकम् ॥४९॥

जन्तु की उत्पत्ति के समय अव्यक्त योनि की अवस्था वाला जो बीज पूर्व के जन्तु ने छोड़ा हो वह बीज योनिभूत कहलाता है। (४९)

तत्र चजन्तुन्डितं निश्चयेनाधुना ज्ञातुं न शक्यते ।

ततोऽनतिशयी बीजं सचेतनमुतेतरत् ॥५०॥

परन्तु जन्तु द्वारा छोड़ा वह बीज उस समय में निश्चयपूर्वक नहीं जान सकते हैं। इससे वह सचेतन है या अचेतन है, वह नहीं कह सकते हैं। (५०)

योनिभूतं व्यवहरे द्यावदध्यस्तयोनिकम् ।

ध्वस्तयोनि त्वजीवत्वाद्योनिभूतमेव हि ॥५१॥

और जब तक योनि का ध्वंस (नाश) नहीं होता तब तक उसका योनिभूत रूप में व्यवहार होता है और जब योनि का ध्वंस होता है तब तो वह अजीव होने से वह अयोनिभूत ही कहलाता है। (५१)

यत्रष्टेऽपि सजीवत्वे योनित्वे जातुच्चिद्भवेत् ।

परिभ्रष्टे तु योनित्वे सजीवत्वं न सम्भवेत् ॥५२॥

क्योंकि सजीवत्व नष्ट होने पर भी कदाचित् योनित्व तो हो परन्तु योनित्व नष्ट होने पर सजीवत्व संभव नहीं है। (५२)

एवं च उत्पत्ति स्थानकं जतोर्यदविध्वस्तशक्तिकम् ।

सा योनिस्तत्र शक्तिस्तु जन्तुत्पादनयोग्यता ॥५३॥

इस प्रकार होने से जिसकी शक्ति का विनाश नहीं हुआ हो उसकी जन्तु की उत्पत्ति का जो स्थानक है वह योनि है और उसमें जन्तु-जीव उत्पन्न होने की जो योग्यता है वह शक्ति है। (५३)

तथोक्तं प्रज्ञापना वृत्तौ “अथ योनिरिति किमभिधीयते। उच्यते। जन्तोः उत्पत्ति स्थानं अविध्वस्तशक्तिकं तत्रस्थजीव परिणाम न शक्ति संपन्नम्।” इति॥

इस सम्बन्ध में पत्रवना सूत्र की वृत्ति में कहा है कि-योनि किसको कहते हैं? जिससे शक्ति का नाश होते जन्तु की उत्पत्ति स्थान हो वह योनि कहलाती है और उसमें रहे जीव का परिणाम आने की शक्ति से वह संपन्न होता है।

अतएव श्रुतेऽपि-

यवायवयवाश्चापि गोधूम व्रीहि शालयः ।

धान्यानां श्री जिनैषामुक्ता योनिस्त्रिवार्षिकी ॥५४॥

इस कारण से श्रुत सिद्धान्त में भी कहा है कि यव, यवयव, गोधूम, चावल और शाल- इतने अनाज की योनि तीन वर्ष की श्री जिनेश्वर भगदन्त ने कही है। (५४)

कलादमाष चपलतिलमुद्गमसूरकाः ।

तुलस्थ तुवरी वृत्त चणका वल्लकास्तथा ।

प्रज्ञप्ता योनिरैतेषां श्रीजिनैः पंच वार्षिकी ॥५५॥ षट्पदी।

तथा कलाद, उलद, चपल, तिल, मूंग, मसूर, अरहर, तुलस्थ, मटर और बाल-राजमा आदि अनाज की पांच वर्ष की योनि कही है। (५५)

लघ्नातसी शण कंगुकोरदूषक कोद्रवाः ।

बीजानि मूलकानां सर्षपा बरट्टरालकाः ।

प्रज्ञप्ता योनिरेतेषामागमे सप्त वार्षिकी ॥५६॥षट्पदी॥

तथा लघ्नातसी, सण, कांग, कोरदूषण, कोदरा, मूली के बीज, सरसों, वरह और शलक- ये अनाज की योनि आगम में सात वर्ष की कही है। (५६)

इयमत्र भावना-

कोष्टकादिषु निक्षिप्यैतेषां विधान शालिनाम् ।

लिप्तानां मुद्रितानां चोत्कृष्टैषा योनि संस्थितिः ॥५७॥

उसकी भावना इस तरह है- ये जो गिनाये हैं उन अनाज को कोठार आदि में डालकर ऊपर मजबूत ढक्कन से ढककर और ऊपर लिपाई कर तथा सील करके रखने में आये तो उसकी पूर्व कही उत्कृष्ट स्थिति रहती है। (५७)

तदनुक्षीयते योनिरंकुरोत्पत्ति कारणम् ।

भवेद्बीजमबीजं तन्नोसमंकुरितं भवेत् ॥५८॥

उसके बाद अंकुरों की उत्पत्ति का कारण रूप उसकी वह योनि नष्ट हो जाती है और वह बीज अबीज रूप हो जाता है और बोने पर उगता नहीं है। (५८)

अन्तर्मुहूर्तं सर्वेषामेषां योनिर्जघन्यतः ।

यत्केषांचिद चित्तत्वं जायतेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥५९॥

इन सर्व की योनि जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त की है क्योंकि कई तो अन्तर्मुहूर्त में अचित्त हो जाती है। (५९)

परं तत्सर्वं विद्वेष्टं व्यवहार पथे तु न ।

व्यवहारान्तु पूर्वोक्तैः कालमानैरचित्ता ॥६०॥

इदमर्थतः पंचभागे प्रवचन सारोद्दारे च ॥

परन्तु यह अचित्त रूप सर्वज्ञ परमात्मा से ही जान सकते हैं, व्यवहार मार्ग में इस तरह नहीं है क्योंकि व्यवहार दृष्टि से तो जो पूर्व में कहा है उतने काल के बाद ही अचित्त रूप होती है। (६०)

इस भावार्थ को पांचवें अंग भगवती सूत्र में तथा प्रवचन सारोद्धार में कहा है।

ततश्च बीजे च योनि भूते व्युत्क्रामति सैव जन्तुरपरो वा ।

मूलस्य यश्च कर्ता स एव तत्प्रथम पत्रस्य ॥६१॥

और इससे योनिभूत बीज के अन्दर इसी अथवा दूसरे जन्तु का संक्रमण होता है और जो मूल का कर्ता है वही प्रथम पत्र का कर्ता होता है। (६१)

बीजस्य निर्वर्त्तकेन जीवेन स्यायुषः क्षयात् ।

यद्बीजं स्यात्परित्यक्तमथ बीजस्य तस्य च ॥६२॥

अम्बु कालक्षमादि रूप सामग्री सम्भवे सति ।

स एव जातु बीजांगी बद्धतादृशं कर्मकः ॥६३॥

उत्पद्यते तत्र बीजौऽन्यो वा भूकायिकादिकः ।

निबद्ध मूलादि नामगोत्र कर्मात्र जायते ॥६४॥

स एव निर्वर्त्तयति मूलं पत्रं तथादिमम् ।

मूल प्रथम पत्रे च तत एवैककर्तृके ॥६५॥कलापकम्॥

इसकी भावना इस तरह है- बीज को बनाने वाले जीव का अपना आयुष्य क्षय हो जाने से जिस बीज को छोड़ा हो उस बीज का जल, काल और पृथ्वी रूप सामग्री मिलने से तथा ऐसा कर्म जिसने बन्धन किया हो वही बीज का जीव किसी समय में उस बीज में उत्पन्न होता है, अथवा पृथ्वीकाय आदि किसी अन्य मूलादि नामगोत्र कर्म वाला जीव उत्पन्न होता है। वही जीव मूल को तथा प्रथम पत्र को बनाता है और इससे मूल और प्रथम पत्र इन दोनों का एक ही कर्ता है। (६२ से ६५)

यदागमः- "जो विय मूले जीवो सोविय पत्ते पढमयाएत्ति ॥"

अर्थात् आगम में कहा है कि- "मूल में जो जीव है वही जीव पहले पत्र में है।"

अत्राह परः- नन्वेवमादिमदले मूल जीव कृते सति।

उद्गच्छत्किशलेऽनन्तकायिकत्वं विरुध्यते ॥६६॥

यहां कोई शंका करते हैं कि- यदि इस तरह से प्रथम पत्र मूल जीव से बना हुआ कहोगे तो, जो अंकुर निकलते हैं उसके अन्दर अनन्त कायित्व में विरोध आयेगा। (६६)

क्योंकि यदागमः- "सक्को वि किसलओ खलु उग्गममाणो अणंतओ भणि ओत्ति।" अर्थात् आगम में सर्व किसलिय- अंकुर को अनन्तकाय कहा है।

अत्र उच्यते बीजे मूलतयोत्पद्य बीज जीवोऽथवापरः ।

करोत्युत्सूनतावस्थां ततोऽनन्तर भाविनीम् ॥६७॥

धुवं किसलयया वस्थां सृजन्त्यनन्त जन्तवः ।

ततश्च तेषु जीवेषु विनष्टेषु स्थितिक्षयात् ॥६८॥

स एव मूल जीवस्तां तनूमनन्तदेहिनाम् ।

समाप्याद्यस्वांगतया तावद्द्वयते किल ॥६९॥

यावत्प्रथम पत्रं स्यात्ततश्च न विरूढ्यते ।

किशलेऽनन्तकायित्वमेक कर्तृकतायि च ॥७०॥ कलापकम् ।

इस शंका का समाधान करते हैं- बीज का जीव अथवा कोई अन्य जीव बीज में मूल रूप में उत्पन्न होकर विकसित अवस्था प्राप्त करता है । उस समय अनन्तर भावी किसलय (अंकुर) अवस्थान में अनन्तकाय जन्तुओं को ही उत्पन्न करता है और उसके बाद जब उसका स्थिर काल पूर्ण होता है अतः वे नष्ट हो जाते हैं । तब यही मूल जीव उस अनन्त कार्मिक के शरीर को अपने आद्य अंग रूप में ग्रहण करके जहाँ तक प्रथम पत्र होता है वहाँ तक वृद्धि करता जाता है और इससे किसलय (अंकुर) के अनन्त कायित्व में तथा एक कर्तृत्व में कुछ भी विरोध नहीं आता है। (६७ से ७०)

अन्येतुव्याचक्षते-

इह बीज समुत्सूनावस्थैव प्रतिपाद्यते ।

प्रथम पत्र शब्देन तस्याः प्रथममुद्भवात् ॥७१॥

अन्य कई तो इस तरह कहते हैं कि यहाँ 'प्रथम पत्र' इस शब्द का 'बीज की विकसित अवस्था' ऐसा ही भावार्थ लेना, क्योंकि यह प्रथम उत्पन्न होता है । (७१)

ततश्च..... मूलं बीज समुत्सूनावस्था चेत्येक कर्तृके ।

अनेन चैवं नियमो लभ्यते सूत्र सूचितः ॥७२॥

एक जीव कृते एव मूलं चोत्सूनता दशा ।

नावश्यं मूल जीवोत्थं शेषं किसलयादिकम् ॥७३॥

और इससे मूल और बीज की विकसित अवस्था दोनों का एक कर्ता है इससे सूत्र में सूचना नियम लभ्य होता है कि-मूल और विकसित अवस्था दोनों

एक जीव कृत ही हैं, अंकुर आदि मूल के जीव से अवश्य उत्पन्न होता है- ऐसा नहीं है। (७२-७३)

ततश्च उभयमपि अविहृद्धम् (१) जोविय मूले जीवो सोवियं पत्ते पढम- याए त्ति, (२) सब्बो वि किसलयो खलु उगममाणो अणंतओ भणिओ ।इति॥

इसलिए १- मूल का ही जीव प्रथम पत्र का जीव है और २- उत्पन्न होते सर्व किसलय-अंकुर को अनन्तकायिक कहा है। यह मत अविरोधी है।

एतच्चार्यतः प्रज्ञापनावृत्तौ ॥ आचारसंगवृत्तावपि तथैव ॥ यद् उक्तम्- यश्च मूलतया जीवः परिणमते स एव प्रथम पत्रतया अपि इति। एक जीव कर्तृके मूल प्रथम पत्रे इति यावत्। प्रथम पत्रकं च यासौ बीजस्य समुत्सूनावस्था भूजलकालापेक्षा सैवोच्यते। इति ॥ नियम प्रदेशनमेतत् ॥ शेष तु किसलयादि सकलं न मूल जीव परिणामाविर्भावितमेव इति अवगन्तव्यम् ॥

यह भावार्थ पत्रावणा सूत्र की वृत्ति में कहा है। आचारांग सूत्र की वृत्ति में भी यही भावार्थ कहा है। वह इस तरह- जो जीव मूल रूप में परिवर्तित होता है वही जीव प्रथम पत्र रूप में भी परिवर्तित होता है अर्थात् मूल और प्रथम पत्र दोनों का एक जीव कर्ता है। पृथ्वी, जल और काल की अपेक्षा वाली यह जो बीज की विकसित अवस्था है वही प्रथम पत्र कहलाता है। इस सूत्र में नियम का सूचना की है तथा शेष किसलय आदि सर्वथा मूल जीव के परिणाम से प्रकट नहीं होते हैं। ऐसा समझना।

उद्गच्छन प्रथमांकुरः सर्व साधारणो भवेत् ।

वर्धमानो यथा योगं स्यात्प्रत्येकोऽथवापरः ॥७४॥

सर्व प्रथम अंकुर फूटता है । तब वह सर्व साधारण होता है और फिर योगानुसार वृद्धि होती है तब वह प्रत्येक या साधारण होता है। (७४)

तत्र साधारण लक्षणं सामान्यतः एवम्-

शरीरोच्छ्वासनिःश्वासाहाराः साधारणाः खलु ।

येषामनन्त जीवानां ते स्युः साधारणांगिनः ॥७५॥

साधारण का सामान्यतः लक्षण इस प्रकार है- जो अनन्तकाय जीव का शरीर है, उच्छ्वास, निःश्वास और आहार साधारण होता है वह साधारण कहलाता है। (७५)

विशेषतः तल्लक्षणं चैवम्-

मूलादि दशकस्येह यस्य भंगो समो भवेत् ।

अनन्त जीवं तद् ज्ञेयं मूलादि दशके खलु ॥७६॥

इसका विशेष प्रकार का लक्षण इस प्रकार है: मूल आदि दस प्रकार के विभाग करते समय जिसका भंग सम अर्थात् समान होता है उसके मूल आदि दस प्रकार अनन्तकायिक जानना। (७६)

वनस्पति सप्ततौ सम भंग लक्षणं एवं उक्तम्-

खडि आईं चुन्न निष्फाडि याडि वत्तीडि जारिसो भंगो ।

सवत्थ समसरूवो केआरतरीडि तुल्लो वा ॥११॥

इत्थ पुण विसेसोयं समभंगा हुंति जे सयाकालम् ।

तेच्चिय अणत्त कायां न पुणो जे कोमल सेण ॥२॥

वनस्पति सप्तति नामक ग्रन्थ में समभंग का लक्षण इस प्रकार कहा है: खडी आदि का चूर्ण करके उसकी वाट-बत्ती बनाकर उसे तोड़ने से यदि भंग होता है तो वह समभंग होता है अथवा केआर की तरह का विभाग हो वह भी समभाग होता है। यहां इतना विशेष है कि जो हमेशा समभंग होता है वह अनन्तकाय होता है। परन्तु उसकी कोमलता के कारण उसका समभंग नहीं होता है। (१-२)

मूलादि दशकं तु एवम्-

मूले कंदे खंधे तथा य साले पवालपत्ते य ।

पुप्फे फल बीए विय पत्तेयं जीवठाणाडिं ॥७७॥

पूर्व में मूल आदि भेद कहे हैं। वे इस प्रकार हैं: १- मूल, २- कंद, ३- स्कंध, ४- त्वचा, ५- पर्व, ६- प्रवाल, ७- पत्र, ८- पुष्प, ९- फल और १०- बीज। ये दसों प्रत्येक जीव के स्थान हैं। (७७)

मूलादेर्यस्य भग्नस्य मध्येहीरो न दृश्यते ।

अनन्तजीवं तद् ज्ञेयं यदन्यदपि तादृशम् ॥७८॥

हीरो नाम विषमः छेदः उद्दन्तुरो वा ॥

जिसके मूल आदि विभाग से बीच में 'हीर' न दिखे वह और अन्य भी जो वैसा हो वह अनन्तकाय जानना (७८)

यहां हीर नाम अर्थात् विषम छेदन अथवा दांते हैं।

यत्र स्कन्धकंदमूल शाखासु खलु वीक्ष्यते ।

त्वचा स्थूलतरा काष्ठात् सा त्वचानन्तजीविका ॥७६॥

स्कंध, कंद, मूल और शाखा की छाल मूल काष्ठ से अधिक स्थूल होती है। वह छाल अनन्तकायिक होती है ऐसा समझना ॥ (७६)

येषां मूलकंद पत्र फल पुष्प त्वचां भवेत् ।

चक्राकारः समच्छेदो भंगेऽनन्तात्मकं हि तत् ॥८०॥

तथा जो मूल, कंद, पत्र, फल, पुष्प और छाल को तोड़ने परचक्राकार समच्छेदन होता हो वह भी अनन्तकायिक जानना ॥ (८०)

ग्रन्थिः पर्वात्मिका भंगस्थानं सामान्यतोऽथवा ।

रजसा छुरितं यस्य भंगेऽनन्तात्मकं हि तत् ॥८१॥

अथवा सामान्यतः पर्वरूप ग्रन्थि- भंग स्थान हो, वह भंग स्थान छेदन करने से यदि अन्दर का भाग रज द्वारा आच्छादित दिखता हो तो वह भी अनन्तकाय कहलाता है ॥ (८१)

केदार शुष्क तरिका पुटवद्भिद्यते चयत् ।

प्रागुक्त लक्षणाभ्रवेऽप्यनन्तकायिकं हि तत् ॥८२॥

इसके सिवाय क्यारी की सूखी- तड़ की पपड़ी के समान जिसका भंग होता है वह चाहे कभी पूर्व लक्षणों से रहित हो फिर भी अनन्तकाय जानना ॥ (८२)

यदागमः- चक्रांभ्रजमाणसस गंठी चुण्णधणो भवे ।

पुढवीसरिस भ्रेण अणंतजीवं वियाणा हि ॥८३॥

आगम में कहा है कि- तोड़ने से जिसका चक्र समान आकार हो, जिसकी गांठ परांग चूर्ण से घन-भरी हुई हो और जिसका मिट्टी के समान भंग होता हो वह अनन्तकाय समझना ॥ (८३)

सक्षीरं वापि निःक्षीरं पत्र गूढशिरं च यत् ।

अलक्ष्यमाणपत्रार्द्धं द्वय सन्धि च यद् भवेत् ॥८४॥

अनन्त जीवं तत्सर्वं ज्ञेयमित्यादिलक्षणैः ।

बहुश्रुतेभ्योः ज्ञेयानि लक्षणा नयपराण्यपि ॥८५॥युग्मं।

क्षीर वाले अथवा क्षीर बिना के, गुत नस वाले और जिसकी दो आधी बीच में संधि दिखती न हो ऐसे लक्षणों वाले पत्ते सभी अनन्तकायिक जानना । इसके

और भी लक्षण कहे हैं । वह बहुत श्रुत-विद्वानों के पास से जान लेना चाहिए।
(८४-८५)

अयोगोलो यथाध्मातो जातस्तप्त सुवर्णरुक् ।

सर्वोऽप्यग्नि परिणतो निगोदोऽपि तथाङ्गिभिः ॥८६॥

एक लोहे का गोला हो और उसे तपाकर सुवर्ण समान पूरा गरम कर दे, तब वह जैसे सर्वत्र अग्नि से व्याप्त होता है वैसे सर्व निगोद भी जीव से व्याप्त होता है।

(८६)

तत्रापि बादरानन्तकायिकाः स्युरनेकधा ।

मूलक शृंगबेराद्या प्रत्यक्षा जन चक्षुणाम् ॥८७॥

तथा ऐसे कई बादर अनन्तकाय भी होते हैं । मूली, प्याज आ अदरक आदि हैं जो कि हम लोग प्रत्येक जानते हैं। (८७)

तथाहि.....सव्वाड कंद जाई सूरण कंदो य वज्रकंदो य ।

अल्लहलिहा य तहा अइं तह अल्लकच्चूरो ॥८८॥

सत्तावरी विराली कुआरि तह थोहरी गलो इअ ।

लसणं वंस करिल्ला गज्जर लूणओ लोढो ॥८९॥

गिरिकत्रि किसलपत्ता धिरि सुआ थेग अल्लमुत्था य ।

तह लूण रूखखल्ली खिल्लहडो अमयवल्ली य ॥९०॥

मूला तह भूमि रूहा विरूहा तह टक्कवत्थुलोपडमो ।

सूअर वल्लो अ तहा पल्लंको कोमलंबिलिया ॥९१॥

आलू तह पिंडालू हरवं ति एए अणंतनामे हिं ।

अन्नमणंतं नेयं लख्खण जुत्तीइ समयओ ॥९२॥

वह बादर अनन्तकाय शास्त्र में इस तरह कहा है- सर्व जाति के कंद, सूरणकंद, वज्रकंद, हरी हलदी, हरी अदरक, हरा कचुरा, सतावरी, विरली कुआर, थोर, गलो, लहसुन, बांस, करेला, गाजर, लुणी, लोदर, गिरिकर्णी, किसलय पत्र, खीर सुआ, थेग, हरा मोथ, लूणी वृक्ष की छाल, खीलोडा, अमर बेल, मूली, भूमि फोड़ा, विरुआ, टांका का प्रथम पत्र, सूकरवेल-लता, पलाक की भाजी, कोमल इमली, आलू, पिंडालू तथा हरवंती- ये और ऐसे लक्षण वाले अन्य भी जो शास्त्र में कहे हैं इत्यादि । (८८ से ९२)

अन्येऽपि स्नुही प्रभृतयोऽनन्तकायिका अवएपणए इत्यादि प्रज्ञापनोक्त वाक्य प्रबन्धतो ज्ञेयाः॥ इति साधारण वनस्पति भेदाः ।

तथा पत्रवण्णा सूत्र में कहा है- 'अवए पणए' इत्यादि वाक्य से स्नुही आदि भी इस तरह अनन्तकाय जानना।' इस तरह से साधारण वनस्पति के भेद कहे हैं।

प्रत्येक लक्षणं चैवम् :-

यत्र मूलादि दशके प्रत्यंगं जन्तवः पृथक् ।

प्रत्येक नाम कर्माद्यास्तत्प्रत्येकमिहोच्यते ॥६३॥

अब प्रत्येक वनस्पति का लक्षण कहते हैं: जहां मूल आदि दस के विषय में प्रत्येक नाम कर्मादि वाला अलग-अलग जन्तु होता है वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाता है। (६३)

तथा च आहुः जीव विचारे:-

एग सरीरे एगो जीवों जेसिं तुते उ पत्तेया ।

फल फुल्लन छल्लिकड्डा मूला पत्ताणि बीअणि ॥६४॥

इस सम्बन्ध में जीव विचार में कहा है कि- जिसके एक शरीर में एक जीव होता है वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कहलाता है जैसे कि फल, फूल, त्वचा-छाल, काष्ठ, मूल, पत्ते और बीज हैं। (६४)

किंच..... मूलादेर्यस्य भग्नस्य मध्ये हीरः प्रदृश्यते ।

प्रत्येक जीवं तद्विन्द्याद्यदन्यदपि तादृशम् ॥६५॥

ये मूल आदि गिनाए गये हैं, उस विभाग से बीच में हीर जैसा वर्तन होता है। इसलिए ये सब तथा इनके समान अन्य भी सभी वनस्पतिकाय हैं। (६५)

यत्र मूलस्कन्धकन्द शाखासुदृश्यते स्फुटम् ।

त्वचा कनीयसी काष्ठात् सा त्वक् प्रत्येक जीविका ॥६६॥

जहां मूल, कंद, स्कंध और शाखाओं और काष्ठ पर स्पष्ट रूप में पतली छाल दिखती है, वह भी प्रत्येक वनस्पतिकाय है। (६६)

तस्य द्वादश भेदाः स्युः प्रत्येकस्य वनस्पतेः ।

यथा प्रसिद्धितान् कांश्चित् दर्शयामि समासतः ॥६७॥

इस तरह जो प्रत्येक वनस्पति के बारह भेद हैं, इनका समास से जैसा प्रसिद्ध है वैसा कुछ वर्णन करते हैं। (६७)

वृक्षा गुच्छा गुल्मा लताश्च वल्ल्यश्च पर्वगाश्चैव ।

तृणवलय हरीत कौषधि जलरूह कुहणाश्च विज्ञेयाः ॥६८॥

वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, पर्व, तृण, वलय, हरीतक औषधि, जलरूह और कुहण- ये बारह प्रत्येक वनस्पति के भेद हैं। (६८)

वृक्षास्तत्र द्विभेदाः स्युः फलोद्यद्बीज भेदतः।

एक बीज फलाः केचित् भूरि बीज फलाः परे ॥६९॥

इसमें पहले प्रकार का जो वृक्ष है वह इसके फल में से निकलते एक या विशेष बीज की गिनें तो दो प्रकार का होता है; १- एक बीज युक्त फलवाला और २- अनेक बीज युक्त फल वाला। (६९)

अंकुल्लजम्बू निम्बाग्राः प्रियालसाल पीलवः ।

सल्लकी शैलुब कुलभिल्लातक विभीतकाः ॥१००॥

हरीतकी पुत्रजीवाः करंजारिष्टा किंशुकाः।

अशोक नागपुत्राग प्रमुखा एकं बीजकाः ॥१०१॥ (युग्मं)

अंकोल, जामुन, नीम, आमवृक्ष, प्रियाल, साल, पीलु, सल्लकी, शैलुबकुल, भिल्लातक, विभीतका, हरीतकी, पुत्रजीवा, करंज, अरीठा, किंशुक, अशोक, नाग, पुत्राग इत्यादि एक बीज युक्त फल वाले होते हैं। (१००-१०१)

कपित्थतिन्दुक प्लक्षध्वन्यग्रोध दाडिमाः ।

कदम्ब कुटजा लोधः फणसश्चन्दनार्जुनाः ॥१०२॥

काकोदुम्बरिका मातुलिंगस्तिलक संज्ञक ।

सपूपर्णदधिपर्ण प्रमुखा बहु बीजकाः ॥१०३॥ (युग्मं)

और कपित्थ, तिन्दुक, प्लक्ष, धावडी, न्यग्रोध (बड़), अनार, कदम्ब, कुटज, लोध, फणस-कटहल (पनस), चंदन, अर्जुन, काकोदुम्बरी, मातुलिंग, तिलक, सपूपर्ण, दीर्घपर्ण इत्यादि बहुबीजयुक्त फल होते हैं। (१०२-१०३)

प्रत्येकमेषां वृक्षाणां प्रत्येकासंख्य जीवकाः ।

मूलकन्द स्कन्ध शाखा त्वक् प्रवाला उदीरिताः ॥१०४॥

इन वृक्षों में प्रत्येक के मूल, स्कंध, शाखा, छाल तथा प्रवाल में प्रत्येक में असंख्य जीव रहते हैं। (१०४)

पुष्पाण्यनेक जीवानि एकैकोऽङ्गी दले दले ।

प्रत्येकमेक जीवानि बीजानि च फलानि च ॥१०५॥

पुष्प में अनेक जीव हैं, पत्ते-पत्ते में एक जीव है तथा प्रत्येक बीज और फल में भी एक जीव होता है। (१०५)

एकः पूर्णतरुस्कन्ध व्यापी भवति चेतनः ।

मूलादयो देशाप्यस्य भवन्त्यवयवा किल ॥१०६॥

सम्पूर्ण वृक्ष स्कंध में भी एक जीव व्यापी रहता है । पूर्व में जो मूल आदि दस कह गये हैं वही दस इसके अवयव हैं। (१०६)

तथोक्तं सूत्रकृतांग वृत्तौ श्रुत स्कन्ध २ अध्ययन ३-“आहावर-मित्याद्यालापकस्य अर्थः - अथ अपरं एतद् आख्यातं तद् दर्शयति- इह अस्मिन् जगति एके न तु सर्वे तथा कर्मोदय वर्तिनो वृक्ष योनिकाः सत्त्वा भवन्ति। तदवयवाश्रिताः च अपरे वनस्पति रूपा एव प्राणिनो भवन्ति। तथाहि। यो हि एकः वनस्पति जीवः सर्व वृक्षावयव व्यापी भवति तस्य च अपरे तदवयवेषु मूलकन्द स्कन्धत्वक् शाखा प्रवाल पुष्प पत्र फल बीज भूतेषु दशसु स्थानेषु जीवाः समुत्पद्यन्ते। ते च तत्रोत्पद्यमाना वृक्ष योनिका वृक्ष व्युत्क्रमाश्च उत्पद्यन्ते ॥”

इस सम्बन्ध में सूत्रकृतांग सूत्र की वृत्ति में द्वितीय श्रुत स्कंध के अध्ययन दूसरे में 'आहावर' इत्यादि से प्रारम्भ होने वाले 'आलावा' आलापक में इस प्रकार कहा है- इस जगत् में कई अमुक कर्मों के उदय वाले वृक्ष योनि जीव हैं और कई इसके अवयवों के आश्रित रहे वनस्पति रूप ही जीव हैं। वह इस तरह- वनस्पति का जो एक जीव है वह पूरे वृक्ष के अवयवों में व्याप्त रहता है और इसके अन्य जीव इसके मूल, कंद, स्कंध, छिलका, शाखा प्रवाला, पुष्प, पत्र, फल और बीज - इन दस स्थान रूप अवयवों में उत्पन्न होते हैं और वह वहां उत्पन्न होने से वृक्ष योनिक होता है और वृक्ष में संक्रमण होता है।

मूलं स्थात् भूमि सम्बद्धं तत्र कन्दः समाश्रितः ।

तत्र स्कन्ध इति मिथो बीजान्ताः स्युर्युताः समे ॥१०७॥

वृक्ष का मूल भूमि के साथ सम्बद्ध होता है, कंद इससे आश्रित रहता है और स्कंध उस कंद के आश्रित रहता है । इस तरह बीज पर्यन्त सर्व परस्पर जुड़े हुए हैं। (१०७)

अतः पृथ्वीगत रसमाहरन्ति समेऽप्यमी ।

यावत् फलानि पुष्पस्थं बीजानि फलसंगतम् ॥१०८॥

इस तरह होने से जहां तक पुष्प पर फल आते हैं वहां तक पुष्पद्वार और जहां तक फल में बीज उत्पन्न होते हैं वहां तक फलद्वार है। ये सब साथ में ही पृथ्वी में रहे रस का आहार करते हैं। (१०८)

श्रावणादि चतुर्मास्यां प्रावृद्ध वर्षासु भूरुहः ।

सर्वतो बहुलाहारा अपां बाहुल्यतः स्मृताः ॥१०९॥

श्रावण आदि चार महीने की वर्षा ऋतु में पानी बहुत अधिक होने से बहुत आहार मिलता है। (१०९)

ततः शरदि हेमन्ते क्रमादत्याल्प भोजिनः ।

यावद्दसन्तेऽल्पाहारा ग्रीष्मेऽत्यन्त मितशानाः ॥११०॥

उसके बाद शरद् और हेमन्त ऋतु से लेकर आखिर वसन्त ऋतु तक उनको अल्प-अल्प आहार मिलता है और ग्रीष्म ऋतु में उनको बहुत थोड़ा आहार मिलता है। (११०)

यत्तु ग्रीष्मेऽपि हुमाः स्युर्दल पुष्प फलाद्भूताः ।

तदुष्णा योनि जीवानामुत्पादात्तत्र भूयसाम् ॥१११॥

इति भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश ३ ॥

फिर भी ग्रीष्म ऋतु में उनके पत्ते, पुष्प और फल सुन्दर होते हैं; वह उष्ण योनि के पुष्कल-विशाल जीवों की उत्पत्ति का प्रताप ही है। (१११)

इस तरह श्री भगवती सूत्र में सातवें शतक के तीसरे उद्देश में कहा है।

ननु च मूलादयो दशाप्येवं यदि प्रत्येक देहिभिः ।

जाता अनेकैस्तत्तस्मिन्नेकमूलादिधीः कथम् ॥११२॥

कोई यहां शंका करते हैं कि- जब मूलादि दस अवयव इस प्रकार से अनेक प्रत्येक जीवों से उत्पन्न होते हैं तब इसे एक मूलादिक क्यों कहते हैं ? (११२)

अत्र उच्यते-

श्लेषण द्रव्य संमिश्रैर्घटितानेक सर्षपैः ।

भूरि सर्षपरूपापि वर्तिरेकैव भासते ॥११३॥

यथा ते सर्षपाः सर्वे स्वस्वमानाः पृथक्-पृथक् ।

वर्त्तेर्बुद्धि सृजन्तोऽपि स्थिताः स्वस्वावगाहना ॥११४॥

तथा प्रत्येक जीवास्ते पृथक् स्वस्ववपुर्भूतः ।

सृजन्त्येकत्र मिलिता एक मूलादिवासनाम् ॥११५॥ (युग्मं।)

इस शंका का समाधान करते हैं कि- बहुत सरसों को किसी चिकनाई वाले पदार्थ में मिश्र करके इसकी बत्ती बनाने पर यह बत्ती यद्यपि बहुत सरसों रूप होती है फिर भी वह एक ही दिखती है अर्थात् अलग-अलग अपने-अपने मान वाले वे सर्व सरसों के दाने बत्तीरूप गिने जाते हैं, फिर भी वे सब अपने-अपने अवगाहन में रहते हैं, वैसे ही ये सब प्रत्येक जीव अपना-अपना अलग-अलग शरीर होने पर भी जब एकत्रित मिलते हैं तब एक मूलादि है- ऐसी बुद्धि उत्पन्न करते हैं। (११३-११५)

इह यद् द्वेष रागाभ्यां संचितं पूर्वं जन्मनि ।

हेतुरेकत्र सम्बन्धे तत्कर्म श्लेषणोपमम् ॥११६॥

कृतैर्विध कर्माणो जीवास्ते सर्षणोपमाः ।

मूलादि वर्ति स्थानीयमिति दृष्टान्त योजना ॥११७॥(युग्मं।)

यहां पूर्व जन्म में राग- द्वेषादि से बंधन किये जो कर्म एकत्रता का हेतुभूत हैं उन्हें चिकनाई वाले पदार्थ के समान समझना, उस प्रकार के कर्मों का जिसने बन्धन किया है ऐसे जीवों को सरसों के समान समझना और मूल आदि को बत्ती के समान समझना। (११६-११७)

तिल शष्कुलिका पिष्टमयी तिल विमिश्रिता ।

अनेक तिल जातापि यथैका प्रतिभासते ॥११८॥

इहापि दृष्टान्त योजना प्राग्वत् ॥

तथा तिल मिश्रित शक्कर की तिलपपड़ी-तिलशकरी यद्यपि तिल के दानों से बनी होती है फिर भी वह एक जैसी वर्तन होती है। (११८)

यह दूसरा दृष्टान्त है। इसमें भी पूर्व के समान दृष्टान्त योजना करना । (अद्वानर्वे श्लोक में प्रत्येक वनस्पति के बारह भेद गिनाए हैं उनमें से यह प्रथम वृक्ष का भेद इस प्रकार ६६ श्लोक से ११८ श्लोक तक में विवेचन किया है। अब उसके आगे कहते हैं-

अथ गुच्छादयः

वृन्ताकी बदरी नीली तुलसी करमर्दिकाः ।

यावासाघाड निर्गुडय इत्याद्या गुच्छ जातयः ॥११९॥

अब दूसरे गुच्छ आदि भेद के विषय में विवेचन करते हैं- रींगणी, बेरी, गली, तुलसी, करमदी, जवासा, अघाड, निर्गुन्डी इत्यादि गुच्छ की जातियां हैं। (११९)

मल्लिका कुन्द कोरिंट यूथिका नवमल्लिका : ।

मुद्गरः कणवीरश्च जात्याद्या गुल्म जातयः ॥१२०॥

मल्लिका, कुंड, कोरिंट, यूथिका, नवमल्लिका, मोगरा, कणेर, जई इत्यादि गुल्म की जातियां होती हैं। (१२०)

अशोक चम्पक लता नागपद्मलता अपि ।

अतिमुक्तक वासन्ती प्रमुखाः स्युर्लता इमाः ॥१२१॥

अशोकलता, चंपकलता, नागलता, पद्मलता, अतिमुक्तलता, वासन्ती इत्यादि लताएं होती हैं। (१२१)

एकैव शाखा यत्कन्धे महत्यूर्ध्वं विनिर्गता ।

नैवान्यास्तादृशः स स्याल्लताख्यश्चम्पकादिकः ॥१२२॥

जिसके स्कंध में एक ही बड़ी शाखा ऊंची निकली हो और इसके समान दूसरी एक भी शाखा न हो वह लता कहलाती है। (१२२)

कुष्मांडी त्रपुषी तुम्बी कालिंगी चिमटी तथा ।

गोस्तनी कारवेल्ली च वल्ल्य कर्कोटिकादिकाः ॥१२३॥

कुम्हड़ा (कदू), त्रपुषी (तरबूज), तुम्बड़ा, कालिंगडी, आरिया-फूट, द्राक्ष, कारेली तथा खरखोडी आदि वल्ली की जाति कहलाती हैं। (१२३)

इक्षुः वंशः वीरणानि द्रक्कुडः शर इत्यपि ।

वेत्रः नडश्च काशश्च पर्वगा एवमादयः ॥१२४॥

इक्षु, बांस, वीरण, द्रक्कुड, शर, नेतर-बेंत, नड, काश आदि पर्वग अर्थात् संधिस्थान (जोड़) वाली वनस्पति होती हैं। (१२४)

दूर्वादभार्जुनैरंडाः कुरुविन्दकरोहिषाः ।

सुकल्याख्यं क्षीर बिसमित्याद्याः तृण जातयः ॥१२५॥

दूर्वा, दर्भ, अर्जुन, एरंड, कुरुविंदक, रोहिष, सुंकली, क्षीर, बिस आदि जाति के तृण (घास) कहलाते हैं। (१२५)

पूग खजूर सरला नालिकेर्यश्च केतकाः ।

तमालतालकन्दल्यः इत्याद्याः वलयाभिघाः ॥१२६॥

सुपारी, खजूर, सरल, नारियल, केतक, तमाल, ताल, केला आदि वलय कहलाते हैं। (१२६)

आर्यकदमनकं मरूबक मन्दुकी सर्षपाभिधौ शाकौ ।

अपि तन्दुलीय वास्तुकमित्याद्या हरितका ज्ञेयाः ॥१२७॥

आर्यक, दमनक, मरूबक, मंडुकी, सर्षप, तांदलजा तथा वास्तुक इत्यादि हरितक कहलाते हैं। (१२७)

औषध्यः फलपाकान्ताः ताः स्फुटा धान्यजातयः ।

चतुर्विंशतिस्त्वानि तानि प्राधान्यतः किल ॥१२८॥

पक कर तैयार हुए सभी प्रकार के अनाज औषाधि रूप हैं । इनकी मुख्य चौबीस जाति हैं। (१२८)

तथाहि धन्नाइं चउव्वीसं जव गोहुम सालि वीहि सट्टिका ।

कोद्व अणुया कंगू रायल तिल मुग्ग मासा य ॥१२९॥

अयसि हरिमंथं त्रिउडग निष्फाव सिलं रायमासा य ।

उख्खू मसूर तुवरी कुलत्थ तह धन्नय कलाया ॥१३०॥ इति।

वह चौबीस प्रकार का अनाज इस प्रकार का है- जौ-जव, गेहूं, शाल, चावल, सादी चावल, कोद्व, अणुक, कांग, खिरनी, तिल, मूंग, उड़द, अलसी, हरिमंथ, तिरुडग, निष्फाव, सिल; राजमा, उख्खू, मसूर, अरहर, कुलथी, धनिया और चने। (१२९-१३०)

रूहन्ति जलमध्ये ये ते स्युर्जलरूहा इमे ।

कदम्ब शैवल कशेरूकाः पद्मभिदो मताः ॥१३१॥

जो-जल के अन्दर उत्पन्न होता है वह जलरूह होता है । जैसे कदम्ब, शैवल, केशरुक तथा कमल की जाति होती हैं। (१३१)

कुहणा अपि बोधव्या नामान्तर तिरोहिताः ।

स्फुटा देश विशेषेषु चतुर्थोपांग दर्शिताः ॥१३२॥

कुहण भी जलरूह की जाति विशेष है । किसी देश में प्रसिद्ध होगी । इसके विषय में स्पष्ट रूप में चौथे उपांग में विवेचन मिलता है। (१३२)

तद्यथा- "से किति कुहणा। कुहणा अणेग विहा पण्णत्ता। तं जहां। आएकाए कुहणे कुण्णके दव्वहलिया सप्पाए सज्जाए सत्ताए वंशीण हिया कुरूए। जेया वण्णे तहप्पगारा सेत्तं कुहणा। इत्यादि॥"

वहां इस प्रकार से कहा है- 'कुहण क्या है ? कुहण अनेक प्रकार का होता है । इसके वर्णन के अनुसार उसका रंग होता है । इसी प्रकार से अलग-अलग तरह का कुहण होता है । इत्यादि ।'

गुच्छादीनां च मूलाद्या अपि षट् संख्य जीवकाः ।

सूत्रे हि वृक्ष मूलादेरेवोक्ताऽसंख्य जीवता ॥१३३॥

गुच्छ आदि का मूल आदि छुपे हुए संख्यात् जीव वाला होता है । सूत्र में वृक्ष मूलादि को ही असंख्य जीवों वाला कहा है। (१३३)

तथोक्तं वनस्पति सप्ततौ-

रूखखाणमसंखजिआ मूला कंदा तथा य खंधा य ।

साला तथा पवाला पुढो पुढो हुंति नायव्या ॥१३४॥

गुच्छाईणं पुण संख जीवया नज्जये इमं पायम् ।

रूखखाणं चिटा जमसंख जीव भावो सुए भणिओ ॥१३५॥

तथा वनस्पति सप्ततिका में कहा है कि वृक्ष का मूल, कंद, छिलका, स्कंध, शाखा तथा प्रवाल; इनके विषय में अलग-अलग प्रत्येक के अन्दर असंख्य जीव है, गुच्छ आदि में प्रायः संख्यात जीव हैं और वृक्ष आदि में असंख्य जीव हैं। इस प्रकार सूत्र में कहा है। (१३४-१३५)

अत्रायं विशेषः- तालश्च नालिकेरी च सरलश्च वनस्पतिः ।

एक जीव स्कन्ध एषां पत्र पुष्पादि सर्ववत् ॥१३६॥

इसमें इतना विशेष है कि- ताड़, नारियल और सरल वनस्पति के स्कंध में एक जीव है; इसके पत्र, पुष्प आदि में सर्व के समान हैं। (१३६)

तथा पंचमांगे त्रिधा वृक्षाः प्रज्ञप्ता गणधारिभिः ।

अनन्तासंख्य संख्यात जीवकास्ते क्रमादिमे ॥१३७॥

तत्राद्याः शृंगवेराद्याः कपित्याम्नादिकाः परे ।

संख्यात जीवका ये च ज्ञेया गाथा द्वयेन ते ॥१३८॥

तथा पांचवें अंग भगवती सूत्र में गणधर के कहने के अनुसार तीन प्रकार के वृक्ष हैं; १- अनंत जीव वाले, २- असंख्य जीव वाले और ३- संख्यात जीव वाले। इसमें शृंगवेर आदि प्रथम प्रकार का है; कपित्थ, आम वृक्ष आदि दूसरे के प्रकार हैं,

और जो तीसरा प्रकार का है उसके लिए आगे दो गाथा में जैसा कहा है उसके अनुसार है। (१३७-१३८)

तच्छेदम् - ताले तमाले तक्कलि तेतलिसाले य साल कल्लाणे ।

सरले जीवइ केयइ कंदलि तह चम्मरुखे य ॥१३६॥

चुअरुखइहिगुरुखे लवंगुरुखे य होइ बोधव्वे।

पूय फली खजूरी बोधव्वा नालिएरी य ॥१४०॥

वह इस तरह से- ताल, तमाल, तक्कलि, तेतलि साल, साल कल्याण, सरल, जीवंती, केतकी, कं दली, चर्मवृक्ष, हिगुंवृक्ष, लवंग वृक्ष, सुपारी वृक्ष, खजूर और नारियल। (१३६-१४०)

तथा प्रज्ञापना वृत्तौ अपि- "ताल सरल नालिकेरीग्रहणं उपलक्षणम्। तेन अन्येषां अपि यथागमं एक जीवाधिष्ठितत्वं स्कन्धस्य प्रतिपत्तव्यम्"। इति॥

तथा प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में भी कहा है कि- 'ताड़, सरल और नारियल का जो ग्रहण किया है वह उपलक्षण के रूप में है। इसलिए अन्य वृक्षों के स्कंध भी आगम में कहे अनुसार एक जीव से अधिष्ठित हैं। इस तरह समझना है।'

शृंगारकस्य गुच्छः स्यादनेक जीवकः किल ।

पत्रापयेकैक जीवानि द्वौ द्वौ जीवौ फलं प्रति ॥१४१॥

सिंघाड़ा के गुच्छ में अनेक जीव होते हैं, इसके प्रत्येक पत्ते में एक जीव है और इसके प्रत्येक फल में दो-दो जीव हैं। (१४१)

पुष्पाणां तु अयं विशेषः

जलस्थलोद्भूततया द्विधा सुमनसः स्मृताः ।

नाल बद्धा वृन्तबद्धाः प्रत्येकं द्विविधास्तु ताः ॥१४२॥

याः काश्चिन्नालिकाबद्धास्ताः स्युः संख्येयजीवकाः।

अनन्त जीवका ज्ञेयाः स्नुही प्रभृतिजाः पुनः ॥१४३॥

और पुष्पों के सम्बन्ध में इस तरह विशेष है- पुष्प दो प्रकार के कहे हैं, १- जलरूह और २- स्थलरूह। उसमें फिर प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं- नालबद्ध और वृन्तबद्ध। इसमें जो कई नालबद्ध हैं वे संख्यात जीव वाले होते हैं और दूसरे स्नुही-थोर आदि वृन्तबद्ध हैं वे अनन्त जीव वाले हैं। (१४२-१४३)

किं च- पद्मोत्पल नलिनानां सौगन्धिक सुभग कोकनदका नाम ।

अरविन्दानां च तथा शतपत्र सहस्रपत्राणाम् ॥१४४॥

वृन्तं बाह्य दलानि च सकेसराणि स्युरेक जीवस्य ।

पृथगेकैक जीवान्यन्तर्दल केसराणि बीजानि ॥१४५॥युग्मं।

(तथा पद्म उत्पल, नलिन, सौगन्धिक, सुभग, कोकनद, अरविन्द) शतपत्र तथा सहस्रपत्र- ये पुष्पों के वृन्त तथा सकेसर बाह्य दल एक जीव का है, और अन्तर्दल केसरा तथा बीज प्रत्येक अलग-अलग एक जीव वाला है। (१४४-१४५)

पर्वगाणां तृणानां च अयं विशेषः

द्रक्कुडीक्षु नडादीनां सर्व वंशभिदां तथा ।

भवन्त्येकस्य जीवस्य पर्वाक्षिपरिमोटकाः ॥१४६॥

तत्राक्षि प्रोच्यते ग्रन्थिः प्रतीतं पर्व सर्वतः ।

चक्राकारं पर्वपरिवेष्टनं परिमोटकः ॥१४७॥

पत्राणि प्रत्येकमेषामेक जीवाश्रितानि वै ।

पुष्पाण्यनेक जीवानि प्रोक्तानि परमर्षिभिः ॥१४८॥

पर्वग और तृण के सम्बन्ध में यह विशेष है- द्रक्कुडी, इक्षु और नड आदि के तथा सर्व जाति के बांसना, पर्व अक्षि और परिमोटक एक जीव का होता है। यहां अक्षि अर्थात् गांठ समझना, पर्व अर्थात् सन्धि स्थान और परिमोट अर्थात् पर्व के ऊपर चक्राकार वेष्टन। इस प्रकार पत्ते-पत्ते में एक जीव होता है, और पुष्प-पुष्प में अनेक जीव होते हैं। (१४६-१४८)

फलेषु च एषामयं विशेषः

पुष्पफलं कालिंगं तुम्बं चिर्मटमथ त्रपुषसंज्ञम् ।

घोषातकं पटोलं तिन्दूकं चैव तेन्दूषम् ॥१४९॥

एतेषां च वृन्तगर्भ कटाहा नामेको जीवः समर्थकः ।

पृथग्जीवानि पत्राणि बीजानि केसराण्यपि ॥१५०॥

इसके फलों में इस प्रकार विशेषता है: पुष्प, कालिंग, तुम्ब, चिमडा, त्रपुष, घोषातक, पटोल, तिन्दुक और तंदुष- इनके वृन्त, गर्भ और कटाह का एक जीव होता है और पत्र, बीज तथा केसर का अलग-अलग जीव होता है। (१४९-१५०)

‘एतच्च सर्वं अर्थतः क्वचित् पाठतश्च प्रायः प्रज्ञापनागतमेव॥’

इसका भावार्थ पत्रवणा सूत्र में कहा है और उस सम्बन्धी पाठ भी क्वचित् ऐसा ही मिलता है।

श्री हेमचन्द्र सूरिभिश्च अभिधान चिन्तामणौ इत्युक्तम्-

कुरंटद्या अग्रबीजा मूलजास्तृत्पलादयः ।

पर्वयोनय इक्ष्वाद्याः स्कन्धजाः सल्लकी मुखाः ॥१५१॥

शाल्यादयो बीजरूहाः संमूर्छजास्तृणादयः ।

स्युर्वनस्पति कायस्य षडेता मूलजातयः ॥१५२॥

तथा श्री हेमचन्द्राचार्य कृत अभिधान चिन्तामणि में इस प्रकार कहा है कि- १- कुरंट आदि अग्र बीज वाले, २- उत्पल आदि मूलोत्पन्न, ३- गन्ना आदि पर्व योनिक, ४- सल्लकी आदि के स्कंध से उत्पन्न हुए, ५- शाल आदि बीजोत्पन्न और ६- तृण आदि संमूर्छिमा इस तरह वनस्पति काय की छः मूल जाति हैं। (१५१-१५२)

इदमर्थतः प्रथमार्गेऽपि दशवैकालिकेऽपि जीवाभिगमे तु-

प्रथम अंग श्री आचारण सूत्र में और दशवैकालिक सूत्र में भी यही भावार्थ कहा है परन्तु जीवाभिगम में तो इस तरह कहा है:-

चतस्रो मुख्य वल्ल्यः स्युः तावच्छताश्च तद्भिदः ।

व्यमता मुख्यलता अष्टौ तावच्छताश्च तद्भिदः ॥१५३॥

मुख्य वल्ली चार हैं और उसके चार सौ प्रकार- भेद हैं । मुख्य लता आठ हैं और उसके आठ सौ भेद हैं।

नाम ग्राहं तु ता नोक्ताः प्राक्तनैरपि पंडितैः ।

ततो न तत्र दोषो नः तत्पदव्यनुसारिणाम् ॥१५४॥

परन्तु उनका नामठाम पूर्वाचार्यों ने भी कहीं दिया नहीं है इसलिए उनके कदमों पर चलने वाला मेरे जैसा नाम नहीं दे सका, उसमें कोई दोष नहीं है।

(१५४)

त्रयो हरितका याः स्युः जल स्थलोभयोद्भवाः ।

भेदाः शतानि तावन्ति तदवान्तर भेदजाः ॥१५५॥

अब हरितक अर्थात् हरियाली (साग-पात) तीन प्रकार की है,

१- जलोत्पन्न, २- स्थलोत्पन्न और ३- जल स्थल-उभयत्र उत्पन्न । इन भेदों के और तीन सौ अवान्तर भेद हैं। (१५५)

सहस्रं वृन्तबद्धानि वृन्ताकादि फलान्यथ ।

सहस्रं नालबद्धानि हरितेष्वेव तान्यपि ॥१५६॥

एक सहस्र प्रकार के वृन्तबद्ध वृन्ताकादि फल हैं तथा एक सहस्र प्रकार के नालबद्ध फल हैं । इन सबका हरियाली में ही समावेश होता है। (१५६)

किं च मूलत्वक्काष्ठ निर्यास पत्र पुष्प फलान्यपि ।

गन्धांग भेदाः सप्तमी जिनैरुक्ता वनस्पतौ ॥१५७॥

तथा मूल, छिलका, काष्ठ, रस, पत्र, पुष्प और फल- ये सातों वनस्पति के सुगंध वाले अंग भेद कहे हैं। (१५७)

मूलमौशीर वालादि त्वक् प्रसिद्धा तंजादिका ।

काष्ठं च काक तुंडादि निर्यासो घनसारवत् ॥१५८॥

पत्रं तमाल पत्रादि प्रियंग्वादि सुमान्यपि ।

कक्को लैलालवंगादि फले जाति फलाद्यपि ॥१५९॥ (युग्मं)

जैसे कि - मूल खश तथा वाला (जो पूजा में उपयोग होते हैं) आदि सुगंधित हैं, उसके छिलके दाल चीनी सुगंधमय है, काष्ठ काकतुंड की और रस घनसार की सुगंध होती है। पत्र तमालपत्र का सुगंध होता है, पुष्प प्रियंगु आदि की सुगंध होती है और फल में कक्कोल, इलायची, लौंग और जायफल आदि सुगन्धमय होते हैं। (१५८-१५९)

मूलादयस्ते सप्तापि नाना वर्णा भवन्त्यतः ।

गुणिताः पंचभिर्वर्णः पंच त्रिंशत् भवन्ति हि ॥१६०॥

तथा इन मूल आदि सातों अंगों के विविध पांच वर्ण-रंग होते हैं इसलिए इनको पांच से गुना करने पर इनके $७ \times ५ = ३५$ पैंतीस भेद होते हैं। (१६०)

दुर्गन्धाभावतः श्रेष्ठगन्धेनैकेन ताडिताः ।

ते पंचत्रिंशदेव स्युरेकेन गुणितं हि तत् ॥१६१॥

इनमें दुर्गन्ध का तो अभाव होता है, केवल एक श्रेष्ठ सुगन्ध ही होती है। इसलिए इस पूर्वोक्त पैंतीस की संख्या को एक द्वारा गुना करने पर भी उतने ही भेद रहते हैं, अधिक नहीं होते। (१६१)

नानारसाश्च ते सर्वे ततः पंचरसा हताः ।
संजातः शतमेकं ते पंच सप्तति संयुतम् ॥१६२॥

तथा इनमें नाना प्रकार के पांच रस होते हैं इसलिए जो वह पैंतीस भेद हैं उन्हें पांच द्वारा गुना करने पर एक सौ पचहत्तर (१७५) भेद होते हैं। (१६२)

स्पर्शास्तु यद्यप्यष्टापि संभवन्त्येव वस्तुतः ।
तथाप्येषां प्रशस्तत्वात् गृह्यन्ते तेऽपि तादृशाः ॥१६३॥

वास्तविक रूप में तो रस आठ होते हैं फिर भी प्रस्तुत गंधांग प्रशस्त होने से ये रस भी इसके समान प्रशस्त हैं, इस लिए ही पांच ग्रहण किए हैं। (१६३)

तल्लघूष्णा मृदुस्निग्धैः स्पर्शैरिते चतुर्गुणाः ।
शतानि सप्त जातानि गन्धाङ्गानां दिशानया ॥१६४॥

तथा लघु, ऊष्ण, मृदु और स्निग्ध- इस तरह चार प्रकार के स्पर्श हैं तो इन चार की संख्या द्वारा गंधांग से गुना करने पर- $१७५ \times ४ = ७००$ सात सौ भेद होते हैं। (१६४)

उक्तं च जीवाभिगम वृत्तौ-

मूलतय कट्टुनिज्जासपत्त पुष्पफलमाइ गन्धंगा ।
वणादुत्तर भेया गन्धंगसया मुणोयव्वा ॥१६५॥

इस सम्बन्ध में जीवाभिगम सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- मूल, छलिका, काष्ठ, निर्यास-रस, पत्र, पुष्प और फल- इतने गंधांग हैं और इसके वर्ण आदि लेकर उत्तरोत्तर भेद सौ गंधांग हैं अर्थात् $१०० \times ७ = ७००$ सात सौ होते हैं। (१६५)

सूत्रालापश्च- कतिपयं भंते गंधंगा। गोयम सत्त गंधंगा। सत्तगंधंगसया।
इत्यादि॥ एवं वल्ल्यादि सूत्रालापा अपि वाच्याः।

इस सम्बन्ध में सूत्र में यह आलाप है कि- गौतम गणधर पूछा- हे भगवन्त ! गंधांग कितने हैं ? तब वीर परमात्मा ने उत्तर दिया- हे गौतम ! गंधांग सात हैं और इसके सब मिलाकर सात सौ भेद होते हैं, तथा वल्ली आदि के सम्बन्ध में भी इसी तरह ही सूत्रालाप हैं।

लौकैश्च - शून्यसप्तांक हस्ताश्च सूर्येन्दु वसुवह्वयः।

एतत्संख्यांक निर्दिष्टो वनभारः प्रकीर्तितः ॥१६६॥

तीन सौ इक्यासी करोड़ बारह लाख बहत्तर हजार नौ सौ सत्तर

(३८११२७२६७०)- इतने वनस्पति के भेद कहे हैं। (१६६)

पाठान्तरे च - रामोवसवश्चन्द्रः सूर्यो भूमिस्तथैव च ।

मुनिः शून्यं समादिष्ट भार संख्या निगद्यते ॥१६७॥

जबकि पाठान्तर के अनुसार तीन करोड़ इक्यासी लाख बारह हजार एक सौ सत्तर (३८११२१७०)- इतने वनस्पति के भेद कहे हैं। (१६७)

एकै कजातेरेकैक पत्र प्रचयतो भवेत् ।

प्रोक्त संख्यैर्मणैर्भारस्ते त्वष्टादश भूरुहाम् ॥१६८॥

प्रत्येक जाति के एक-एक पत्र को एकत्रित करते हुए जो संख्या कही है, उतने मन होती है तब एक भार होता है। ऐसे अठारह भार वनस्पति हैं। (१६८)

तथा..... चत्वारोऽपुष्पका भारा अष्टौ च फल पुष्पितः।

स्युर्वल्लीनां च षड् भाराः शेषनागेन् भाषितम् ॥१६९॥

इत्यादि उच्यते ॥ इति बादराणां भेदः ॥१॥

उसमें पुष्प रहित का चार भार होता है, फूल- पुष्प वाली का आठ भार होता है तथा वल्ली का छह भार होता है। इस तरह शेषनाग का अर्थात् निश्चय निर्णय पूर्वक वचन है। (१६९)

इस तरह लोकोक्ति है। इस प्रकार बादर के भेद में विवेचन सम्पूर्ण हुआ। यह प्रथम द्वार है।

प्रसिद्धाः सप्तयाः पृथ्व्यः वसुमत्यष्टमी पुनः ।

ईषत्प्राग्भारभिधा स्यात्तासु स्व स्थानतोऽष्टसु ॥१७०॥

अधोलोके च पाताल कलशा वलिभित्तिषु ।

भवनेष्वसुरादीनां नारका वसथेसु च ॥१७१॥

ऊर्ध्वलोके विमानेषु विमानप्रस्तटेषु च ।

तिर्यग्लोके च कूटाद्रि प्राग्भार विजयादिषु ॥१७२॥

वक्षस्कारवर्ष शैल जगती वेदिकादिषु ।

द्वार द्वीप समुद्रेषु पृथिवी कायि कोद्भवः ॥१७३॥ कलापकम् ॥

इति पृथ्वीकाय स्थानानि ॥

अब बादर पृथ्वीकायिक जीवों के स्थान के विषय में कहते हैं- सात पृथ्वी प्रसिद्ध हैं और आठवीं इषत् प्राग्भार नाम की है। इन आठ पृथ्वी में

अधोलोक में, पाताल कलश के अन्दर, असुर आदि के भवनों में और नारकों के स्थान में, ऊर्ध्वलोक में विमानों के अन्दर तथा विमानों के प्रस्तरों में, तिर्यग्लोक में कूट पर्वतों में, प्राग्भार विजय आदि में, वक्षस्कार पर्वतों में, वर्ष शैल जगती के कोट-वेदिका आदि द्वार-द्वीप और समुद्रों में, स्वस्थानत पृथ्वीकायिक जीवों की उत्पत्ति होती है। (१७० से १७३)

स्वस्थानतोऽम्बुकायानां स्थानान्युक्तानि सूरिभिः ।

घनोदधि वलयेषु घनोदधिषु समसु ॥१७४॥

अधः पाताल कुम्भेषु भवनेष्वासुरेषु च ।

ऊर्ध्वलीके विमानेषु स्वर्ग पुष्करणीषु च ॥१७५॥

तिर्यग्लोके च कूपेषु नदीनद सरसु च ।

निर्झरौर्झर वापीषु गर्त्ताकेदार पंक्तिषु ॥१७६॥

जलाशयेषु सर्वेषु शाश्वताशाश्वतेषु च ।

द्वीपेषु च समुद्रेषु बादराप्काय सम्भवः ॥१७७॥ कलापकम् ।

इति अप्काय स्थानानि ॥

अब बादर अप्काय जीवों के स्थान के विषय में कहते हैं- स्वस्थानतः अप् (पानी) काय के स्थान आचार्य कहते हैं- घनोदधि के वलय में सात घनोदधि में होता है, अधः लोक के अन्दर, पाताल कलशों में तथा असुरों के भवनों में, ऊर्ध्वलोक के अन्दर विमानों में, तथा स्वर्ग की पुष्करणियों में तथा तिर्यक लोक के अन्दर-कुओं में, नदी- नद और तलाबों में, झरने वाली वावों में, खाई तथा क्यारियों की हारों में तथा शाश्वत- अशाश्वत सर्व जलाशयों में तथा द्वीप और समुद्रों में स्वस्थानतः बादर अप्काय संभव होता है। (१७४ से १७७)

स्वस्थानतोऽग्नि कायानां स्थानमाहुर्जिनेश्वराः ।

नरक्षेत्रं द्विपाथोधि सार्धं द्वीपद्वयात्मकम् ॥१७८॥

तथापि..... काले युगलि नामग्निः काले च विलवासिनाम् ।

विदेहेष्वेव सर्वासु कर्मभूषु ततोऽन्यदा ॥१७९॥

बादर अग्निकाय जीव के स्थान विषय में श्री जिनेश्वर भगवंत ने कहा है- स्व स्थान से अग्निकाय का स्थान दो समुद्र और अढाई द्वीपात्मक मनुष्य क्षेत्र है । उसमें भी युगलियों को तथा विलवासी को अमुक काल में अग्नि होती है,

विदेह में हमेशा अग्नि होती है तथा सर्व कर्म भूमियों में कुछ काल में अग्नि होती है। (१७८-१७९)

किं च ऊर्ध्वाधोलोकयोर्नायं तिर्यग्लोकऽप्यसौ भवेत् ।

सदा विदेहे भरतैरवतेषु च कर्हिचित् ॥१८०॥

तथा उर्ध्व और अधोलोक में यह अग्नि नहीं होती, तिर्यग् लोक में होती है। विदेह में हमेशा होती है तथा भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में किसी समय में होती है। (१८०)

पाक दाहादि संतापं तनु ते नरकेषु यः ।

स नाग्निः किन्तु तत्तुल्यांस्ते विकुर्वन्ति पुद्गलान् ॥१८१॥

या चोष्ण वेदना तेषु श्रुयतेऽत्यन्त दारुणा ।

पृथिव्यादि पुद्गलानां परिणामः स तादृशः ॥१८२॥

और नरक के अन्दर जो पाक, दाह आदि दुःखों का अनुभव करवाते हैं वह कोई अग्नि नहीं होती परन्तु परमाधामी द्वारा तैयार किए अग्नि पुद्गल होते हैं और वह नरक के जीवों को जो उष्ण वेदना होती कर्हलाती है वह पृथ्वी आदि पुद्गलों के इस प्रकार के परिणाम हैं। (१८१-१८२)

तथोक्तम्- "ननु सप्तस्वपि पृथ्वीषुतेजस्कायिक वर्जं पृथ्वीकायिकादि स्पर्शां नारकाणां युक्तः तेषां तासु विद्यमानत्वात् । तेजस्काय स्पर्शास्तु कथम् । बादर तेजसां समय क्षेत्रे एव सद्भावात् । सूक्ष्म तेजसां पुनस्तत्र सद्भावेऽपि स्पर्शान्द्रिया विषयत्वात् इति ॥ अत्रोच्यते । इह तेजस्कायिकस्येव परमाधार्मिक निर्मित ज्वलन सदृश वस्तुनः स्पर्शाः तेजस्कायिक स्पर्शाः इति व्याख्येयम् । न तु साक्षात्तेजस्कायिकस्यैव ॥ अथवा भवान्तरानुभूत तेजस्कायिक पर्याय पृथिवी-कायिक स्पर्शापेक्षया व्याख्येयम् ॥" इति भगवती शतक १३ उद्देश ४ वृत्ती ॥

तथा इस सम्बन्ध में भगवती सूत्र में तेरहवें शतक के चौथे उद्देश की वृत्ति में इस प्रकार कहा है- कोई व्यक्ति यहां शंका करता है- सातों पृथ्वी में नरक के जीवों को तेजस्काय के अलावा अन्य तीन अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय और वायुकाय का स्पर्श होता है, इस तरह जो कहते हो वह तो युक्त है क्योंकि वहां वे तीन विद्यमान हैं परन्तु उनको तेजस्काय का स्पर्श किस तरह होता है ? नहीं होता क्योंकि बादर तेजस्काय मनुष्य क्षेत्र में ही होती है और सूक्ष्म तेजस्काय वहां होती है। वास्तविक रूप में वह स्पर्शान्द्रिय का विषय नहीं है। इस शंका का समाधान इस

तरह करते हैं- यहां तेजस्काय में जो तेजस् का अर्थ 'परमाधार्मिक कृत अग्नि सदृश-वस्तु, अर्थात् 'तेजस्काय का स्पर्श' कहा है, उसका अर्थ इस तरह है कि- परमाधार्मिक द्वारा उत्पन्न अग्नि समान वस्तु का स्पर्श- जो तेजस्काय का ही मानो स्पर्श होता है, वैसा लगता है। अतः साक्षात् तेजस्काय का स्पर्श-करता है- इस तरह हमारा कहना नहीं है अथवा 'किसी अन्य जन्म में अनुभव किये तेजस्कायिक के पर्यायों के समान पृथ्वीकायिक का स्पर्श होना' इस तरह समझना।

स्वर्गा दौधूप घटयादि श्रुयते यत्किलागमे ।

तत्तुल्याः पुद्गलास्तेऽपि कृत्रिमा कृत्रिमात्मकाः ॥१८३॥

एतच्च अर्थतः प्रायः तृतीय तुर्योपांगयोरेव ॥

स्वर्ग आदि में धूप घटा- आदि होने का जो आगम में कहा गया है वह भी इस तेजस्काय सदृश कृत्रिम तथा अकृत्रिम पुद्गल है। (१८३)

यही भावार्थ तीसरे और चौथे उपांग में ही कहा हैं।

ग्रन्थान्तरेऽपि-

पंचिदियाएगिदिय उद्वे य अहे य तिरियलोए य ।

विगलिंदिय जीवा पुणतिरिय लोए मुणेयव्वा ॥१८४॥

पुढवी आयु वणस्सह वारस कण्णे सुसम पुढवीसु ।

पृथ्वी जा सिद्धि सिला तेउ नर खित्ति रि लोए ॥१८५॥

सुरलोअवापि मन्झे मच्छाइ नत्थि जलयरा जीवा ।

गेविज्जे न हु वावी वाविअभावे जलं नत्थि ॥१८६॥

इति अग्निकाय स्थानम् ॥

अन्य ग्रन्थ में भी कहा है कि- पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव ऊर्ध्व, अधो, और तिर्यग् लोक में होते हैं परन्तु विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय और चौइन्द्रिय वाले तो तिर्यग् लोक में ही समझना। पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय बारह देवलोक में तथा सात पृथ्वियों में होती हैं। इसमें यह पृथ्वीकाय सिद्ध शिला तक होती है और तेउकाय अर्थात् तेजस्काय-अग्निकाय तिर्यग्लोक के अन्दर मनुष्य क्षेत्र में होती है, तथा देवलोक की बावडी में मछली आदि जलचर जीव नहीं होते, ग्रैवेयक में वाव नहीं होती और वाव के अभाव में जल भी नहीं होता । (१८४-१८६)

इस तरह अग्निकाय का वर्णन हुआ ।

घनानिलवलयेषु घनानिलेषु समसु ।
तनुवात वलयेषु तनुवातेषु समसु ॥१८७॥
अधोलोके च पाताल कुम्भेषु भवनेषु च ।
छिद्रेषु निष्कुटेष्वेवं स्व स्थानं वायुकायिनाम् ॥१८८॥ युग्मं।

अब बादर वायुकाय के स्थान कहते हैं- घनवायु के वलय में, सात घन-वायु में, तनुवायु के वलय में, सात तनुवायु में, अधोलोक में, पातालकुंभ के अन्दर, भवन में छिद्रों के अन्दर और निष्कुटों में वायुकाय के स्वस्थान होते हैं (१८७-१८८)

ऊर्ध्वलोके च कल्पेषु विमानेषु तदालिषु ।
विमानप्रस्तट छिद्र निष्कुटेषु तदुद्भवः ॥१८९॥

ऊर्ध्वलोक के अन्दर, सर्वदेव लोक-विमानों में और इनकी श्रेणियों में और विमानों के प्रस्तट, छिद्र और निष्कुटों में वायुकाय जीवों की उत्पत्ति होती है। (१८९)

तिर्यग्लोके दिक्षु विदिक्ष्वद्यश्चोर्ध्वं च तज्जनिः ।
जगत्यादिगवाक्षेषु लोक निष्कुटकेषु च ॥१९०॥

इति वायुकाय स्थानम् ॥

और तिर्यग्लोक में, दिशा के अन्दर तथा विदिशाओं में और नीचे तथा जगती आदि के गवाक्षों में, लोक के गृहोद्यानों में भी वायुकाय की उत्पत्ति होती है। (१९०)

इस तरह वायुकाय के भेद हुए ।

प्रत्येकः साधारणश्च द्विविधोऽपि वनस्पतिः ।
प्रायोऽप्यायसमः स्थानैः जला भावेह्यसौ कृतः ॥१९१॥

इति वनस्पति स्थानम् ॥

अब बादर वनस्पतिकाय जीवों के स्थान के विषय में कहते हैं- जो अप्काय के स्थान हैं वही प्रत्येक और साधारण- दोनों प्रकार की वनस्पति के स्थान हैं क्योंकि जहां जल होता है वहीं वनस्पति होती है। (१९१)

इस तरह वनस्पतिकाय के उत्पत्ति स्थान हुए ।

उपापात समुद्रघात निज स्थानैः भवन्ति हि ।

लोकासंख्यातमे भागे पर्याप्ता बादरा इमे ॥१६२॥

इन पर्याप्त बादर जीवों का उपघात, समुद्रघात और स्वस्थान लोक के असंख्यवें भाग में होता है। (१६२)

तत्र वायोः तु अयं विशेषः पंच संग्रह वृत्तौ- "वायर पवणा । असंखेजेत्ति ॥ लोकस्य यत्किमपि शुषिरं तत्र सर्वत्र पर्याप्त बादर वायवः प्रसर्पन्ति । यत्पुनः अतिनिबिड निचिन्नतया शुषिरहीनं कनक गिरि मध्यादि तत्र न । तच्च लोकस्यासंख्येय भागधात्रम् । तत्रः एकमसंख्येय भागमुक्त्वा शेषेषु सर्वेषु अपि असंख्येयेषु वायवो वर्तन्ते" । इति ॥

परन्तु इसमें वायु के सम्बन्ध में पंच संग्रह वृत्ति में विशेषता बताई है । वह इस प्रकार- 'लोक में जहां खाली जगह है वहां सर्वत्र पर्याप्त बादर-वायु का विस्तार है। परन्तु मेरु पर्वत के मध्य भाग आदि जो-जो प्रदेश अत्यन्त निबिड और निचिन्न होने से खाली न हो वहां उस वायु का प्रचार नहीं है । वह प्रदेश लोक के असंख्यवें भाग जितना है । अतः इतने प्रदेश के अलावा अन्य सर्व स्थान पर इस वायु का संचार है।'

"पर्याप्त बादर वनस्पतयः उपपात समुद्रघाताभ्यां सर्वलोक व्यापिनः स्वस्थानतो लोकासंख्येय भागे।" इति प्रज्ञापना वृत्तौ ॥

तथा पर्याप्त वनस्पति का उपाघात और समुद्रघात सर्वलोक में होता है और इसके स्व स्थान लोक के असंख्यातवें भाग में होते हैं। इस तरह पत्रवना सूत्र की वृत्ति के कर्ता ने कहा है।

अपर्याप्तस्तु सर्वे स्वस्थानैः पर्याप्तसन्निभाः।

उपपात समुद्रघातैस्त्यशेष लोक वर्त्तिनः ॥१६३॥

सर्व अपर्याप्त के स्वस्थान पर्याप्त के समान ही हैं और इनका उपपात और समुद्रघात सर्वलोक में होता है। (१६३)

नवरम्- वह्नि कायस्त्व पर्याप्तस्तिर्यग्लोकस्य तद्दुके ।

उपपातेन निर्दिष्टो द्वयोर्लोक कपाटयोः ॥१६४॥

यहां कुछ विशेषता है । वह इस तरह- अपर्याप्त अग्निकाय उपपात से तिर्यग् लोक के तट पर दो लोक के कपाट रूप में रहा है । वह इस प्रकार से । (१६४)

तच्चैवम्-

आलोकान्तं दीर्घं सार्धद्वीपाम्बुधिद्वय विशाले ।

अध ऊर्ध्वं लोकान्तस्पर्शी कपाटे अभे कल्प्ये ॥१६५॥

अन्तिम लोकान्त तक दीर्घ, अर्धद्वीप सहित दो सगरोपम जितना विस्तृत तथा उत्तर और दक्षिण दिशा में लोकांत को जो स्पर्श करते हैं, ऐसे दो कपाट की कल्पना करनी । (१६५)

तथोः कपाटयोः तिर्यग्लोकेऽन्याम्भोधि सीमनि ।

योजनाष्टादशशत बाहृत्ये सर्वतोऽपि हि ॥१६६॥

अपर्याप्त बादराग्रेः स्थानं स्यादुपपाततः ।

तिर्यग्लोकं कपाटस्थमेव केऽप्यत्रमन्वते ॥१६७॥

इन दोनों कपाटों में तथा- अन्तिम समुद्र तक के और सर्वतः अठारह शत योजन की मोटाई वाले तिर्यग्लोक में उपपात से अपर्याप्त बादर अग्निकाय का स्थान है। यद्यपि कई इस तरह कहते हैं कि कपास्थ तिर्यग्लोक ही इसका स्थान है। (१६६-१६७)

त्रिधा बादर पर्याप्ताः तेजस्कायिक देहिनः ।

स्युरेक भविका बद्धायुषश्चाभ्युदितायुषः ॥१६८॥

बादर पर्याप्त अग्निकाय के जीव के तीन भेद होते हैं; १- एक भवी, २- बद्धायु और ३- उदितायु। (१६८)

तत्रयेऽनन्तर भवे उत्पन्नस्यन्तेऽग्निकायिषु ।

अपर्याप्त बादरेषु त एकं भविकाः स्मृताः ॥१६९॥

इसमें जो भविष्य के अनन्तर भव में अपर्याप्त बादर अग्निकाय में उत्पन्न होने वाला हो वह एकभवों कहलाता है। (१६९)

ये तु पूर्वभवसत्कृतीयांशादिषु ध्रुवम् ।

बद्ध स्थूलाऽपर्याप्त्याग्न्यायुष्का बद्धायुषश्च ते ॥२००॥

जिसने गए जन्म के तृतीयांश में बादर अपर्याप्त अग्निकाय का आयुष्य बंधन किया हो, वह बद्धायु कहलाता है। (२००)

ये तु पूर्वभवं त्यक्त्वा साक्षादनुभवन्ति वै ।

स्थूला पर्याप्त वह्नयायुस्ते भवन्त्युदितायुषः ॥२०१॥

तथा जो पूर्वजन्म छोड़कर बादर अपर्याप्त अग्निकाय का आयुष्य अनुभव करता है वह उदितायु कहलाता है। (२०१)

तत्रैक भविका बद्धायुषश्च द्रव्यतः किल ।

स्थूला पर्याप्ताग्रयः स्युः भाव तस्तूदितायुषः ॥२०२॥

इन तीन में प्रथम और दूसरा द्रव्य से बादर अपर्याप्त अग्निकाय है और तीसरे प्रकार का भाव से है। (२०२)

अत्र च द्रव्यतो बादराऽपर्याप्ताग्निभिः प्रयोजनम् ।

स्थूला पर्याप्तसाग्रयो ये भावतः तैः प्रयोजनम् ॥२०३॥

और यहां द्रव्य से जो बादर अपर्याप्त अग्निकाय है उसके साथ अपना कोई प्रयोजन नहीं है, भाव से जो है उसके साथ प्रयोजन है। (२०३)

ततश्च- यद्युप्युक्त कपाटाभ्यां तिर्यग्लोकाच्च ये वहिः।

उदित बादरा पर्याप्ताग्र्यायुष्का भवन्ति हि ॥२०४॥

तेषुच्यन्ते तथात्वेन ऋजु सूत्रनयाश्रयात् ।

तथापि व्यवहारस्य नयस्याश्रयणादिह ॥२०५॥

ये स्वस्थानसम श्रेणिकपाटद्वयसंस्थिताः ।

स्व स्थानानुगते ये च तिर्यग्लोके प्रविष्टकाः ॥२०६॥

ते एव व्यपदिश्यन्तेऽपर्याप्त बादराग्रयः।

शेषाः कपाटान्तरालस्थिता नैव तथोदिताः ॥२०७॥ कलापकम् ॥

और इससे यद्यपि पूर्वोक्त कपाट से और तिर्यग् लोक से बाहर जो उदित बादर अपर्याप्त अग्निकाय के आयुष्य वाले होते हैं वे भी ऋजु सूत्र नय से उसी प्रकार के कहलाते हैं, फिर भी व्यवहार नय से जो स्वस्थान सम श्रेणि वाले दो कपाट में रहते हैं तथा जिन्होंने स्वस्थानानुगत तिर्यग् लोक में प्रवेश किया हो वही प्रकार जात के कहलाते हैं। कपाट के अन्दर रहे शेष इस प्रकार के नहीं कहलाते हैं। (२०४-२०७)

येनाद्याप्यागतस्तिर्यग् लोकेऽथवा कपाटयोः ।

ते प्राक्तन भवावस्था एव गण्या मनीषिभिः ॥२०८॥

और जो आज के दिन तक भी तिर्यग् लोक में प्रवेश नहीं कर सका, उसकी तो पूर्वजन्म की ही अवस्था है, ऐसा समझ लेना चाहिए। (२०८)

उक्तं च प्रज्ञापना वृत्तौ-

पणयाललख्ख पिहुला दुत्रि कवाडा य छ दिसिं पुट्टा ।
लोगंते तेसिं तो जे तेउ तेऊ धिप्पन्ति ॥२०६॥

इस विषय में प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में इस तरह कहा है कि- पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाले दो कपाट की छः दिशा में लोकांत तक कल्पना करना; उसके अन्दर जो अग्रिकाय जीव रहते हैं वह यहाँ ग्रहण करना या समझना। (२०६)
तत उक्तम्- "उववाएणं दोसु कवाडे सु तिरियलोअ तट्टे यः"

और इससे ही आगम में कहा है- 'दो कपाटों के अन्दर तथा तिर्यग् लोक के तट पर उपघात रहता है।'

पृथ्व्यादिषु चतुर्ष्वेकपर्याप्त निश्रया मताः।
असंख्येया अपर्याप्ता जीवा वनस्पतेः पुनः ॥२१०॥
पर्याप्तस्य चैकैकस्य पर्याप्ता निश्रया स्मृताः ।
असंख्येयाश्च संख्येया अनन्ता अधि कुत्रचित् ॥२११॥ युग्मं।

पृथ्वी आदि चार में अर्थात् पृथ्वीकाय, अपृकाय, तेरुकाय और वायुकाय में एक पर्याप्त की निश्रायें में असंख्य अपर्याप्त होते हैं और वनस्पतिकाय में एक पर्याप्त की निश्रा में १- असंख्य, २- संख्यात् और ३- अनन्त- इस तरह से तीन प्रकार के अपर्याप्त होते हैं। (२१०-२११)

तत्र च संख्यासंख्यास्तु पर्याप्त प्रत्येक तरुनिश्रया ।
अनन्ता एव पर्याप्त साधारण वनश्रिताः ॥२१२॥
इति बादराणां स्थानानि ॥२॥

और इसमें भी एक पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति की निश्रा में अपर्याप्त संख्यात और असंख्यात जितने होते हैं जबकि एक पर्याप्त साधारण वनस्पतिकाय की निश्रा में वे अनन्त होते हैं। (२१२)

इस तरह बादर के स्थानों के विषय में विवेचन सम्पूर्ण हुआ। (२)

पर्याप्तयस्त्रिचतुरा अपर्याप्तान्य भेदतः ।
प्राणश्चत्वारोऽङ्गबल श्वासायूषि त्वग्निन्द्रियम् ॥२१३॥

इति पर्याप्तिः ॥३॥

अब पर्याप्ति के विषय में कहते हैं- उन बादर एकेन्द्रियों की पर्याप्ति तीन अथवा चार होती हैं, अपर्याप्त को तीन और पर्याप्त को तीन और उसके प्राण चार - कायबल, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शेन्द्रिय हैं। (२१३)

इति पर्याप्ति (३)

पृथ्व्यम्बुवह्निमरुतां प्रत्येकं परिकीर्त्तिताः ।

योनि लक्षाः सप्त सप्त सप्त सप्तिसप्त प्रथैः ॥२१४॥

योनीनां दश लक्षाणि स्युः प्रत्येक महीरुहाम् ।

साधारण तरूणां च योनि लक्षाश्चतुर्दश ॥२१५॥

योनि संख्या के विषय में कहते हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय- इन प्रत्येक की सात-सात लाख योनि होती हैं और प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख और साधारण वनस्पतिकाय की चौदह लाख योनि शास्त्र में कही हैं। (२१४-२१५)

इस तरह योनि विषय कहा है। (४)

द्वादश सप्त त्रीणि च समाष्टाविंशतिश्च लक्षाणि ।

कुल कोटीनां पृथ्वीजलाग्न्यनिल भूरुहां क्रमतः ॥२१६॥

एवं च सप्तपंचाशत्लक्षाणि कुल कोटयः ।

एकेन्द्रियाणां जीवानां संग्रहण्यनुसारतः ॥२१७॥

अब उनकी कुल संख्या कहते हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय- इन पांचों की कुल कोटि अनुक्रम से बारह लाख, सात लाख, तीन लाख, सात लाख और अठ्ठाईस लाख होती हैं। इस तरह कुल मिलाकर सत्तावन लाख कुल कोटि संग्रहणी ग्रन्थ में एकेन्द्रिय जीवों की कही हैं। (२१६-२१७)

आचारांग वृत्तौ तु-

कुल कोडि सयस हस्सा बत्तीसद्वुन व य पणवीसा ।

एगिंदिय बिति इन्दिय चउरिंदिय हरिय कायाणम् ॥२१८॥

अद्धत्तेरस बारसदसदसनव चेव कोडि लख्खाई ।

जलयरपखिख चउ पयउरभुअपरिसप्प जीवाणं ॥२१९॥

पणवीसां छव्वीसं च सय सहस्साइं नारय सुराणं ।

वारस य सयसहस्सा कुल कोडीणं मणुस्साणं ॥२२०॥

परन्तु आचारांग सूत्र के अन्दर कुल कोटि इस तरह कही हैं- एकेन्द्रिय के बत्तीस लाख, दोन्द्रिय के आठ लाख, तेइन्द्रिय के आठ लाख, चउरिन्द्रिय के नौ लाख और वनस्पतिकाय के पच्चीस लाख, जलचरों के साढ़े बारह लाख, पक्षियों के बारह लाख, चतुष्पद (चार पैर वाले) के दस लाख, उरपरिसर्प के दस लाख और भुजपरिसर्प के नौ लाख तथा नरक के पच्चीस लाख, देवों के छब्बीस और मनुष्यों के चौदह लाख के कही हैं। (२१८ से २२०)

'एवं द्वीन्द्रियादिष्वपि संग्रहण्यभिप्रायेण वक्ष्यमाणामु कुल कोटि संख्यासु मतान्तरं अत एवाभ्यूह्यम् ॥'

इस तरह मतान्तर है तथा दोन्द्रिय आदि जीवों की कुल कोटि जो अब कही जायेगी, उस संख्या सम्बन्धी भी दोनों में मतभेद है।

तथा.....लक्षाणि कुल कोटीनां षोडशोक्तानि तात्तिकैः ।

केवलं पुष्प जातीनां तृतीयोपांग देशिभिः ॥२२१॥

तथा तीसरे उपांग में तत्त्व सम्बन्धी उपदेशक में जैसा कहा है - वहां केवल पुष्प की जातियां ही सोलह लाख कुल कोटि गिनाई हैं। (२२१)

तानि चैवम्-

चतस्रो लक्ष कोटयोऽम्भोरुहाणां जाति भेदतः ।

कोरिटकादि जातीनां चतस्रः स्थल जन्मनाम् ॥२२२॥

चतस्रो गुल्म जातीनां जात्यादीनां विशेषतः ।

मधूकादि महावृक्षजानां तत्संख्य कोटयः ॥२२३॥

इति कुलानि ॥५॥

वह इस तरह- चार लाख जलरुह- कमल जाति वाले, चार लाख भूमिरुह- कोरिट आदि की जाति के, चार लाख जाइ आदि गुल्म जाति के और चार लाख मुहरा आदि बड़े वृक्षों के पुष्प की जातियां होती हैं। (२२२-२२३)

इस तरह कुल संख्या हैं। (५)

मिश्रा सचिताऽचिता च योनिरेषां भवेस्त्रिधा ।

उष्णा शीतोष्ण शीताग्रीन् बिना ते ह्युष्णयोनयः ॥२२४॥

पंचाप्येते विनिर्दिष्टा जिनैः संवृतयो नयः ।

उत्पत्ति स्थानमेतेषां स्पष्टं यत्रोपलभ्यते ॥२२५॥

इति योनि संवृतत्वादि ॥६॥

अब इसकी योनि के संवृतत्व आदि विषय में कहते हैं- यह बादर एकेन्द्रिय की योनि तीन प्रकार की हैं १- सचित, २- अचित और ३- मिश्र अर्थात् शीत, उष्ण और शीतोष्ण और अग्रिकाय के सिवाय अन्य सबकी तीन प्रकार की है और अग्रिकाय की उष्ण योनि ही है। पांच प्रकार की योनि संवृत है। इस तरह श्री जिनेश्वर भगवन्त कह गये हैं क्योंकि उनका उत्पत्ति स्थान स्पष्ट दिखता नहीं है। (२२४-२२५)

इस तरह योनि संवृतत्व है। (६)

द्वाविंशतिः सहस्राणि वर्षाणामोघतो भवेत् ।

पृथ्वीकाय स्थितिर्येष्टा विशेषस्तत्र दृश्यते ॥२२६॥

अब उसकी भवस्थिति के विषय में कहते हैं- १- पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट भवस्थिति ओघ से अर्थात् एकत्रित रूप से बाईस हजार वर्ष की होती है। उसकी अलग-अलग स्थिति इस प्रकार है। (२२६)

एकं वर्षसहस्रं स्यात् स्थितिर्येष्टा मृदुक्षितेः ।

द्वादशाब्द सहस्राणि कुमार मृत्तिका स्थितिः ॥२२७॥

चतुर्दश सहस्राणि सिकतायास्तु जीवितम् ।

मनः शिलायश्चोत्कृष्टं षोडशाब्द सहस्रकाः ॥२२८॥

अष्टादश सहस्राणि शर्कराणां गुरु स्थितिः ।

द्वाविंशतिः सहस्राणि स्यात्साश्मादि खरक्षिते ॥२२९॥

जो मृदु-कोमल पृथ्वीकाय हो उसकी उत्कृष्ट स्थिति एक हजार वर्ष की है, कुमारी मिट्टी की उत्कृष्ट बारह हजार वर्ष की, रेती सदृश की चौदह हजार वर्ष की, मनःशिल की सोलह हजार वर्ष की, पत्थर के टुकड़ों के समान हो तो उसकी अठारह हजार वर्ष की है और कठोर पत्थर हो उसकी बाईस हजार वर्ष की उत्कृष्ट भवस्थिति होती है। (२२७-२२८)

सप्त वर्ष सहस्राणि ज्येष्टा स्यादम्भसां स्थितिः ।

त्रयो वर्ष सहस्राश्च मरुतां परमा स्थितिः ॥२३०॥

अहोरात्रास्त्रयोऽग्नीनां दस वर्ष सहस्रकाः ।

प्रत्येकभूरुहामन्येषां तु सान्तर्मुहूर्त्तकम् ॥२३१॥

२- अपुकाय अर्थात् जल की उत्कृष्ट भवस्थिति सात हजार वर्ष की है, ३- वायुकाय की तीन हजार वर्ष उत्कृष्ट भवस्थिति है और ४- अग्निकाय की तीन अहोरात्रि की और ५- प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की तथा साधारण वनस्पतिकाय की अन्तर्मुहूर्त्त की उत्कृष्ट भवस्थिति है। (२३०-२३१)

ऊनितेऽन्तर्मुहूर्त्ते च स्व स्वोत्कृष्ट स्थितेः खलु ।

पंचानामप्यमीषां स्यात् ज्येष्ठा पर्याप्ततास्थितिः ॥२३२॥

अन्तर्मुहूर्त्तं सर्वेषां यतोऽपर्याप्ततास्थितिः ।

अन्तर्मुहूर्त्ते क्षिप्तेऽस्मिन् स्थित तस्याः स्युरोघतः ॥२३३॥

उनकी उत्कृष्ट भवस्थिति में से अन्तर्मुहूर्त्त कम करने से इन पांचों की उत्कृष्ट पर्याप्तता की स्थिति आ जाती है। क्योंकि सर्व की अपर्याप्त स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है, अतः इसके अन्दर अन्तर्मुहूर्त्त मिलाने में आए तब ओघ से वह स्थिति होती है। (२३२-२३३)

पंचानामप्यथै तेषां जघन्यतो भवस्थितिः ।

अन्तर्मुहूर्त्तमानैव दृष्टाद्दृष्ट जगन्त्रयैः ॥२३४॥

तथा इन पांचों की जघन्य भवस्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त्त ही है, इस तरह तीन जगत् के दृष्टा श्री जिनेश्वर भगवान् ने देखा है और कहा है। (२३४)

अपर्याप्तानां पंचनामप्येषां स्यात् भवस्थितिः ।

अन्तर्मुहूर्त्तं प्रमिता जघन्या परमापि च ॥२३५॥

इति भवस्थिति ॥१७॥

तथा इन पांचों अपर्याप्त की भवस्थिति जघन्य से तथा उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। (२३५)

इस तरह भवस्थिति होती है। (७)

स्थूलक्ष्मादीनां चतुर्णां स्थूल द्वेधवनस्य च ।

सप्ततिः कोटि कोटयोऽभ्यधीनां कायस्थितिः पृथक् ॥२३६॥

ओघतो बादरत्वे सा बादरे च वनस्पती ।

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः यावत्यः ता स्रवीम्यथ ॥२३७॥

अब इनकी कायस्थिति के विषय में कहते हैं- बादर पृथ्वीकाय चार व दो प्रकार की बादर वनस्पति-इन सब की कायस्थिति ओघ से सत्तर कोडा कोडी

सागरोपम की है और वह ओघ से बादर रूप में है। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी के अन्दर बादर वनस्पति में कितने होते हैं? वह अब कहते हैं। (२३६-२३७)

अंगुलासंख्यांशमान नभस्थाभ्रप्रदेश कैः ।

प्रतिक्षणं हृतैर्याः स्युः तावतीः ता विचिन्तय ॥२३८॥

एक अंगुल के असंख्यवें भाग जितने आकाश में रहे आकाश प्रदेश के समय में से समय निकालते जितनी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी होती है, उतने वह होते हैं- इस प्रकार आनना। (२३८)

निगोदेत्वोघतः सूक्ष्म बादरत्वा विवक्षया ।

द्वौ पुद्गलपरावर्तौ साधौ कायस्थितिः भवेत् ॥२३९॥

तथा निगोद में तो ओघ से सूक्ष्मत्व अथवा बादरत्व की विवक्षा बिना ही अढाई पुद्गल परावर्तन की कायस्थिति होती है। (२३९)

पर्याप्तत्वे क्षमादीनां प्रत्येकं काय संस्थितिः ।

संख्येयाब्द सहस्रात्मा वह्नेः संख्यादिनात्मिका ॥२४०॥

तथा पर्याप्त रूप में पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक की संख्यात संख्या हो सकती है अर्थात् जितने हजार वर्षों की कायस्थिति है और अग्निकाय की संख्यात दिनों की काय- स्थिति होती है। (२४०)

विशेषश्चात्रपर्याप्तत्वे बादराया क्षितेः कायस्थितिर्भवेत् ।

वत्सराणां लक्षमेकं षट्सप्तति सहस्रयुक् ॥२४१॥

तथाहि भवेदष्ट भवान् यावत् ज्येष्ठा युः स्थितिकायिकः ।

ज्येष्ठायुष्कक्षितित्वे नोत्पद्यमानः पुनः-पुनः ॥२४२॥

अब अलग-अलग रूप में कहते हैं- पर्याप्त रूप में बादर पृथ्वीकाय की स्थिति एक लाख और छिहत्तर हजार वर्षों की है। वह इस तरह- उत्कृष्ट आयुष्य वाला, आयुष्य वाला, पृथ्वीकाय जीव यावत् आठ जन्म तक उत्कृष्ट आयुष्य वाले पृथ्वीकाय रूप में अर्थात् इसी योनि में बार-बार उत्पन्न होता है। (२४१-२४२)

यदुक्तं भगवत्याम्- " भवादेसेणं जहण्णेणं दो भवगाहणाइं उक्कोसेणं अद्दुभवगाहणाइं । " इति॥

इस सम्बन्ध में भगवती सूत्र में कहा है कि- भव आदेश से जघन्य दो भव-जन्म और उत्कृष्ट आठ भव-जन्म करता है।

स्थितिरुत्कर्षतश्चैक भवे प्रौक्ता क्षमाङ्गिनाम् ।
 दाविशान्ति सहस्राब्दलक्षणा परमर्षिभिः ॥२४३॥
 अष्टभिर्गुणने चास्या भवत्येव यथोदितम् ।
 षट् सप्तति वर्ष सहस्राधिकं वर्ष लक्षकम् ॥२४४॥

और एक भव के पृथ्वीकाय जीवों की कायस्थिति उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की है, इस तरह पूर्व के महा ऋषियों ने कहा है। अतः इस कारण से आठ जन्म में एक लाख छिहत्तर हजार (१७६०००) वर्ष की हुई, यह बात स्पष्ट है। (२४३-२४४)

षट् पंचाशद्वर्ष सहस्राण्येव जलकायिनाम् ।
 स्युश्चतुर्विंशती रात्रि दिवानि वह्निकायिनाम् ॥२४५॥
 स्युश्चतुर्विंशतिवर्ष सहस्राण्यनिलाङ्गिनाम् ।
 अशीतिश्च सहस्राणि वर्षाणां वनकायिनाम् ॥२४६॥

और अपूकाय जीवों की कायस्थिति छप्पन हजार वर्ष की है तथा अग्निकाय जीवों की स्थिति चौबीस दिन रात की है और वायुकाय जीवों की स्थिति चौबीस हजार वर्ष की है एवं वनस्पतिकाय की स्थिति अस्सी हजार वर्ष की है। (२४५-२४६)

एषु सर्वेषु परमा लब्ध पर्याप्तता स्थितिः ।
 अन्तर्मुहूर्त्तं प्रमिता वच्मि तत्रापि भावनाम् ॥२४७॥

परन्तु इन सबमें लब्धि अपर्याप्तपने की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। यहां भावना इस प्रकार की है। (२४७)

क्षमाद्यन्यतरत्वेनोत्पद्य यद्यल्प जीवितः ।
 असकृत्कोऽप्यपर्याप्त एव याति भवान्तरम् ॥२४८॥
 भवांश्च तादृशान् कांश्चित् कुर्यादन्तर्मुहूर्त्तकान् ।
 तैर्लब्ध्वन्तर्मुहूर्त्तैश्च स्याद् गुर्वन्तर्मुहूर्त्तकम् ॥२४९॥
 अन्तर्मुहूर्त्तमानाश्च सर्वा एता जघन्यतः ।
 प्ररूपिताः श्रुते कायस्थितयः पुरुषोत्तमैः ॥२५०॥
 इति कायस्थिति ॥८॥

कोई भी जीव पृथ्वीकाय आदि की प्रत्येक योनि में उत्पन्न होकर अल्पायुषी हो, यदि बारम्बार अपर्याप्त अवस्था में ही जन्मान्तर में जाये और इसी तरह के

अन्तर्मुहूर्त्त वाले कई जन्म ले तो सब लघु अन्तर्मुहूर्त्त को मिलाकर एक गुरु अन्तर्मुहूर्त्त होता है और यह सर्व कायस्थिति जो ज्ञानियों ने अन्तर्मुहूर्त्त की कही है वह जघन्यतः अर्थात् कम से कम इतनी ही है- इस तरह समझना। (२४८-२५०)

इस तरह कायस्थिति है। (८)

औदारिकं सतैजसं कार्मणामेतद्वपुस्त्रयं होषाम् ।

मरुतां च वैक्रियाद्यं चतुष्टयं संभवेद्वपुषाम् ॥२५१॥

इति देहा ॥६॥

अब इनके देह के विषय में कहते हैं- पृथ्वीकाय आदि का देह-शरीर तीन प्रकार का है - १. औदारिक, २. तैजस और ३. कार्मण। वायुकाय का चार प्रकार का शरीर है, तीन जो पूर्व कहे हैं वे ओर चौथा वैक्रिय शरीर होता है। (२५१)

ऐसा देह है। (६)

मसूरचन्द्र संस्थानं बादराणां भुवा वपुः ।

जलानां स्तिबुकाकारं सूच्योग्राकृति तेजसाम् ॥२५२॥

मरुतां तद् ध्वजाकारं द्वैधानामपि भूरुहाम् ।

स्युः शरीराण्यनियत संस्थानानीति तद्विदः ॥२५३॥

इति संस्थानम् ॥१०॥

अब इनके संस्थान के विषय में कहते हैं- बादर पृथ्वीकाय जीव का शरीर मसूर और चन्द्र के आकार वाला है। अप्काय का स्तिबुक की आकृति वाला है, अग्निकाय का सुई के समूह की आकृति वाला और वायुकाय का ध्वजा के आकार के समान है और दोनों प्रकार की वनस्पतिकाय के शरीर का आकार अनिर्णय रूप है। इस तरह ज्ञानियों ने कहा है। (२५२-२५३)

यह संस्थान है। (१०)

असंख्येयोऽङ्गुलस्यांशः क्षमादीनां देह संमितिः ।

जघन्यादुत्कर्षतश्च स एव हि महान् भवेत् ॥२५४॥

अब इनका देहमान कहते हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय और तेजसकाय का देहमान जघन्य से एक अंगुल के असंख्यवें भाग जितना है और उत्कृष्ट भी उतना ही है, परन्तु जघन्य की अपेक्षा से उत्कृष्ट बड़ा होता है। (२५४)

जघन्यादुत्कर्षतश्च वायोर्धट्टैक्रियं वपुः ।

स्यात्तदप्यंगुलासंख्यं भागमात्रावगाहनम् ॥२५५॥

वायुकाय का वैक्रिय शरीर भी पृथ्वीकाय आदि के समान जघन्य तथा उत्कृष्ट से एक अंगुल के असंख्यवें भाग जितना है। (२५५)

अंगुलासंख्यांश मानं प्रत्येकद्रोर्जघन्यतः ।

उत्कर्षतो योजनानां सहस्र साधिकं वपुः ॥२५६॥

उत्सेधांगुल निष्पन्न सहस्रयोजनोन्मिते ।

जलाशये यथोक्तांगाः स्युर्लताकमलादयः ॥२५७॥

इसी तरह प्रत्येक वनस्पतिकाय का शरीर भी जघन्यतः एक अंगुल के असंख्यवें भाग के समान है परन्तु उत्कृष्ट से हजार योजन से कुछ अधिक होता है क्योंकि उत्सेधांगुल के माप से सहस्र योजन गहरे जलाशय में यह कहा है, इतने अंगमान वाले कमल और लता आदि होती हैं। (२५६-२५७)

प्रमाणांगुल मानेषु यानि वार्धिकदादिषु ।

भौमान्ये वाब्जानि तानि विरोधः स्यान्मिथोऽन्यथा ॥२५८॥

तद्यथा - उद्वेधः क्व समुद्राणां प्रमाणां जो महान् ।

क्व लघून्यब्जनालानि मितान्यौत्सेधितांगुलैः ॥२५९॥

प्रमाण अंगुल के मान-माप वाले समुद्र और द्रव आदि होते हैं, उनमें कमल भौम पृथ्वीकाय है क्योंकि इस तरह न हो तो परस्पर विरोध आता है । क्योंकि प्रमाण अंगुल निष्पन्न समुद्र की महान् गहाई कहा और उत्सेधांगुल से निष्पन्न लघुता वाले को कमलनाल कहा है ? अर्थात् इन दोनों के बीच में महान् अन्तर है। (२५८-२५९)

किं च -- शाल्यादि धान्य जातीनां स्यान्मूलादिषु समसु ।

धनुः पृथक्त्व प्रमिता गरीयस्यवगाहना ॥२६०॥

उत्कृष्टैर्वा बीज पुष्य फलेषु त्ववगाहना ।

पृथक्त्वमंगुलानां यत प्रोक्तं पूर्वं महर्षिभिः ॥२६१॥

तथा शाल आदि जाति वाले अनाज के मूल आदि जो सात भेद हैं उनकी अवगाहना अर्थात् देहमान पृथक्त्व धनुष्य प्रमाण होता है और उनके बीज, पुष्य और फल की अवगाहना पृथक्त्व अंगुल प्रमाण होता है, ऐसा पूर्व महा ऋषियों ने कहा है। (२६०-२६१)

मूले कन्दे खंडे तथा य साले पखाल पत्ते य ।

सत्त सु वि धणुपुहत्तं अंगुल जो पुष्पफल बीए ॥२६२॥

इति भगवती शतक २१ वृत्ती तत्सूत्रेऽपि ॥

श्री भगवती सूत्र में और इसकी इक्कीसवें शतक की वृत्ति में भी कहा है कि-मूल, कंद, स्कंध, छिलके, साल, प्रवाल और पत्र; इन सातों की अवगाहना पृथकत्व धनुष्य की होती है और पुष्प, फल और बीज की पृथकत्व अंगुल की होती है। (२६२)

शालिं कल अयसि वंसे इच्छु दम्भे अ अभ्भ तलसी य ।

अट्टे ते दस वग्गा असीति पुण होति उद्देसा ॥२६३॥

एकैकस्मिन् वर्गे मूलादयो दस दशोद्देशका इत्यर्थः ।

और शाल, कल, अतसी, बांस, इक्षु, दर्भ, अब्ज और तुलसी- इन आठ को दस से गुना करने से अस्सी होता है। ये अस्सी उद्देश होते हैं, इसका अर्थ यह है कि एक-एक वर्ग के अन्दर मूल आदि दस-दस उद्देश होते हैं। (२६३)

सर्वेऽमी शालि वज्जयेष्ठमिहापेक्ष्यावगाहनाम् ।

शाल्यादयोऽमी सर्वेऽब्द पृथकत्व परमायुषः ॥२६४॥

यह सर्व यहाँ उत्कृष्ट अवगाहना की अपेक्षा से शाल समान हैं और इन शाल आदि सर्व का उत्कृष्टतः पृथकत्व वर्षों का आयुष्य है। (२६४)

किं च -- ताले गट्टि य बहु बीयगा य गुच्छा य गुम्मवल्ली य ।

छ दस वग्गा एए सट्ठि पुण होति उद्देसा ॥२६५॥

तथा-ताड़, गंडी, बहुबीज, गुच्छ, गुल्म और वल्ली- ये छह दस से वर्गित करने से अर्थात् इनको दस से गुना करने से साठ उद्देश होते हैं। (२६५)

तालादीनां ज्येष्ठावगाहना मूल कंद किसलेषु ।

चाप पृथकत्वं पत्रेऽप्येवं कुसुमे तु कर पृथकत्वं सा ॥२६६॥

इन ताल आदि के मूल (जड़), कंद और किसलय की अवगाहना उत्कृष्टतः पृथकत्व धनुष्य की होती है, पत्तों की अवगाहना भी इसी ही तरह से है परन्तु पुष्प की पृथकत्व कर प्रमाण होती है। (२६६)

स्कन्ध शाखात्वचासु स्यात् गव्यूतानां पृथक्त्वकम् ।

अंगुलानां पृथक्त्वं च सा भवेत्फल बीजयोः ॥२६७॥

इनके स्कन्ध, शाखा और छिलके की अवगाहना पृथक्त्व गव्यूत प्रमाण है, और फल तथा बीज की अवगाहना पृथक्त्व अंगुल है। (२६७)

तालादीनां च मूलादि पंचकस्य स्थितिर्गुरुः ।

दस वर्ष सहस्राणि लघ्वी चान्तर्मुहूर्ति की ॥२६८॥

और इनके मूल आदि पांचों की उत्कृष्ट स्थिति दस हजार वर्ष की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की है। (२६८)

प्रवालादि पंचकस्य त्वेषामुत्कर्षतः स्थितिः ।

नव वर्षाणि लघ्वी तु प्राग्बदान्तर्मुहूर्तिकी ॥२६९॥

तालादयश्च तालेतमाले इत्यादि गाथा युग्मतः ज्ञेयाः ॥

तथा इनके प्रवाल आदि पांच की स्थिति उत्कृष्टतः नौ वर्ष की है और जघन्यतः पूर्व के समान अन्तर्मुहूर्त है। (२६९)

यहां ताड़ आदि जो कहा है वह ताले तमाले इत्यादि दो गाथा पूर्व इसी सर्ग के अन्दर १३६-१४०वीं गाथा में कह गये हैं, उससे जान लेना ।

एकास्थिक बहुबीजक वृक्षाणामाप्रदाडिमादीनाम् ।

मूलादेः दशकस्यावगाहना तालवत्स्थितिश्चापि ॥२७०॥

अब एक बीज वाले आम वृक्ष तथा बहुबीज वाले अनार वृक्ष आदि के मूल-जड़ आदि दसों की अवगाहना तथा स्थिति ताड़ वृक्ष के समान समझना। (२७०)

गुच्छानां गुल्मानां स्थितिरुत्कृष्टावगाहना चापि ।

शाल्यादिवदवसेया वल्लीनां स्थितिरपि तथैव ॥२७१॥

और गुच्छ और गुल्म की उत्कृष्ट स्थिति और अवगाहना तथा वल्ली की स्थिति- ये सब शाल आदि वृक्षों के समान जानना। (२७१)

वल्लीनां च फलस्यावगाहना स्यात्पृथक्त्वमिह धनुषाम् ।

शेषेषु नवसु मूलादिषु ताल प्रभृति वद् ज्ञेया ॥२७२॥

और वल्ली के फल की अवगाहना पृथक्त्व धनुष्य की जानना, शेष मूल आदि नौ की अवगाहना ताल वृक्ष के समान समझना। (२७२)

एवं च -- अंगुलासंख्यांश मानमेकाक्षाणां जघन्यतः ।

उत्कर्षतोऽङ्गमधिकं योजनानां सहस्रकम् ॥२७३॥

इसी तरह और एकेन्द्रिय के शरीर का मान जघन्य से एक अंगुल के असंख्यातवें अंश जितना है और उत्कृष्ट से एक हजार से कुछ अधिक होता है। (२७३)

देहः सूक्ष्म निगोदानामंगुलासंख्य भागकः ।

सूक्ष्मानिलाग्न्यम्बु भुवामसंख्येय गुणः क्रमात् ॥२७४॥

वाय्वादीनां बादराणां ततोऽसंख्यगुणः क्रमात् ।

बादराणां निगोदानामसंख्येय गुणस्ततः ॥२७५॥

इसमें भी सूक्ष्म निगोद का देहमान एक अंगुल के असंख्यवें अंश के सदृश है और इससे सूक्ष्म वायुकाय, अग्निकाय, अप्काय और पृथ्वीकाय के जीवों का देहमान अनुक्रम से असंख्य- असंख्य गुणा है और इससे भी बादर वायुकाय आदि चार का अनुक्रम से असंख्य से असंख्य गुणा है और इससे भी बादर निगोद का देहमान असंख्य गुणा है। (२७४-२७५)

स्व स्व स्थाने तु सर्वेषामंगुलासंख्य भागता ।

अंगुलासंख्यभागस्य वैचित्र्यादुपपद्यते ॥२७६॥

तथा अपने-अपने स्थान में तो वे सर्व एक अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने हैं क्योंकि अंगुल का असंख्यवां भाग विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार का है, और इसी प्रकार ही घट सकता है। (२७६)

पर्याप्ता के बादराणां मरुतां यत्तु वैक्रियम् ।

जघन्यादुत्कर्षतश्च तदप्येतावदेव हि ॥२७७॥

और पर्याप्त बादर वायुकाय का जो वैक्रिय शरीर है वह जघन्य से तथा उत्कृष्ट से जितना भी है वह एक अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना है। (२७७)

विशेषतश्च- निगोद पचनाग्न्यम्बु भुवः पंचाप्यमी द्विधा ।

सूक्ष्माश्च बादरास्तेऽपि पर्याप्तान्यभिदा द्विधा ॥२७८॥

एवं विंशतिरप्येते जघन्योत्कृष्ट भूधना ।

जाताश्चत्वारिंशदेवमथ प्रत्येक भूरुहः ॥२७९॥

अब इस सम्बन्ध में विशेष रूप में कहते हैं- निगोद के जीव, वायुकाय, तेउकाय, अपकाय और पृथ्वीकाय- इन ये पांचों के १-सूक्ष्म और २- बादर, इस तरह दो भेद होते हैं और इनके फिर १- पर्याप्त और २- अपर्याप्त, इस तरह दो उपभेद हैं। इस प्रकार होने से $५ \times २ \times २ = २०$ बीस भेद होते हैं। इन बीस के जघन्य और उत्कृष्ट भेद करने से $२० \times २ = ४०$ चालीस भेद होते हैं। (२७८-२७९)

पर्याप्तापर्याप्त हीनोत्कृष्ट भूघन भेदतः ।

चतुर्थैवं चतुश्चत्वारिंशदेकेन्द्रियांगिन ॥२८०॥

और प्रत्येक वनस्पतिकाय के पर्याप्त और अपर्याप्त- इस तरह दो भेद हैं और दोनों जघन्य तथा उत्कृष्ट होने से चार प्रकार के होते हैं। वे इन चालीस में मिलाने से चौवालीस(४४) एकेन्द्रिय प्राणियों के भेद होते हैं। (२८०)

अथावगाहनास्वेषां तारतम्यमितीरितम् ।

पंचमांगैकोन विंशशतोद्देशे तृतीययके ॥२८१॥

अब इनकी अवगाहना के सम्बन्ध में तारतम्य है। वह पांचवें अंग के उन्नीसवें शतक में तीसरे उद्देश में कहा है। वह इस प्रकार है। (२८१)

अपर्याप्त निगोदस्य स्यात्सूक्ष्मस्यावगाहना ।

सर्वं स्तोका ततोऽष्टानाम संख्येय गुणाः क्रमात् ॥२८२॥

अपर्याप्तानिलाग्न्यम्बु भुवां सूक्ष्मगरीयसां ।

ततोऽपर्याप्तयोः स्थूलानन्त प्रत्येक भूरुहोः ॥२८३॥

असंख्येय गुणे तुल्ये मिथोऽवगाहने लघू ।

ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तस्यावगाहना ॥२८४॥

असंख्येय गुणा लघ्वी क्रमात्ततोऽधिकाधिके ।

अपर्याप्त पर्याप्तस्योत्कृष्टे तस्यावगाहने ॥२८५॥ कलापकम् ।

सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद की अवगाहना (१) सब से कम है तथा उससे और सूक्ष्म तथा बादर अपर्याप्त वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीकाय की जघन्य अवगाहना (८) अनुक्रम से असंख्य- असंख्य गुनी है और इससे असंख्य गुनी और परस्पर तुल्य अपर्याप्त बादर अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय की (२) है तथा इससे असंख्य गुना पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की जघन्य अवगाहना (१) है और इस तरह करते अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की उत्कृष्ट अवगाहना (२) अधिक से अधिक समझना। (२८२ से २८५)

ततः सूक्ष्म वायु बृहद्यम्भो भुवां स्युर्यथाक्रमम् ।
पर्याप्तानां जघन्यापर्याप्तां च गरीयसी ॥२८६॥

पर्याप्तानां यथोत्कृष्टा क्रमेणासंख्य संगुणा ।
विशेषाभ्यधिका चैव विशेषाभ्यधिका पुनः ॥२८७॥ युग्मं ।

इससे सूक्ष्म पृथ्वी, अप्, तेज और वायुकाय यदि पर्याप्त होती है तो उसकी जघन्य अवगाहना चार होती हैं, अपर्याप्त हो उसकी उत्कृष्ट चार हैं और पर्याप्त हो उसकी उत्कृष्ट चार अवगाहना हैं और अनुक्रम से असंख्य गुणा विशेष अधिक और विशेष अधिक हैं। (२८६-२८७)

एवं स्थूलानिलाग्न्यम्भः पृथ्वी निगोदिनापि ।
प्रत्येकं त्रितयी भाव्याऽवगाहनाभिदां क्रमात् ॥२८८॥

इत्येकचत्वारिंशत्स्युः किलावगाहनाभिदः ।
पर्याप्त स्थूल निगोद ज्येष्ठावगाहनावधि ॥२८९॥

इसी ही तरह अर्थात् जैसा सूक्ष्म के सम्बन्ध में कह गये हैं उसी ही तरह बादर वायुकाय, अग्निकाय, अपकाय, पृथ्वीकाय और निगोद के जीव- प्रत्येक की भी अवगाहना के भेदों के त्रिपुटी भाव का विचार करना ($५ \times ३ = १५$) । इस तरह पर्याप्त बादर निगोद की उत्कृष्टी अवगाहना तक गिनने पर कुल मिलाकर अवगाहना के एकतालिस ($१+८+२+१+२+४+४+४+१५=४१$) भेद होते हैं। (२८८-२८९)

पर्याप्त प्रत्येक तरोर्लघ्व्यसंख्य गुणा ततः ।
तस्यापर्याप्तस्य गुर्वी स्याद संख्यगुणा ततः ॥२९०॥

और इससे पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की जघन्य अवगाहना एक असंख्य गुणा है तथा इससे अपर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना एक असंख्य गुणा है। (२९०)

ततोऽसंख्यगुणा तस्य पर्याप्तस्यावगाहना ।
सातिरेकं योजनानां सहस्र सा यतो भवेत् ॥२९१॥

इससे अधिक असंख्य गुणा पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना एक है क्योंकि वह एक हजार योजन से अधिक होता है। इस तरह कुल चौवालीस ($४१+१+१+१ = ४४$) भेद होते हैं। (२९१)

यत्तु श्री जिनवल्लभ सूरिभिः स्वकृत देहाल्पबहुत्वोद्दारे अपर्याप्त प्रत्येक तरुत्कृष्टावगाहनातः पर्याप्त तरुत्कृष्टावगाहना विशेषाभ्यधिका उक्ता तत् चिन्त्यम्।

अंगुलासंख्येय भाग माना पर्याप्त प्रत्येक तरुत्कृष्टावगाहनातः सातिरेक योजन सहस्र मानायाः पर्याप्त तरुत्कृष्टावगाहनायाः विशेषाधिकत्वस्य असंगतत्वात् भगवती सूत्रेण सह विरोधाच्च । तथा च तद्ग्रन्थः-

पते अ सरीर बादर वणस्सइ काइयस्स पज्जत्तगस्स जहणिण आ ओगाहणा असंखेज्ज गुणा । तस्य च्चेव अपज्जत्त गस्स उक्कोसिआ ओगाहणा असंखिज्ज गुणा । तस्स च्चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा असंखिज्ज गुणा । इति शतक १६ तृतीयोद्देशके । भावार्थस्तु यंत्रकात् ज्ञेयः ॥

अत्र जीवभेदाः चतुश्चत्वारिंशत् । अवगाहना भेदाश्च त्रिचत्वारिंशदेव । अपर्याप्त बादरनिगोद जघन्यावगाहनाया अपर्याप्त प्रत्येक वनस्पति जघन्यावगाहनायाश्च मिश्रस्तुल्यत्वात् ॥ अतएव कोष्ठकाः चतुश्चत्वारिंशत् अंकाः त्रिचत्वारिंशदेव । पंचमैक चत्वारिंशयोः कोष्ठयोर्दशकस्यैव सद्भावात् । इति ध्येयम् ॥

इति अंगमानम् ॥११॥

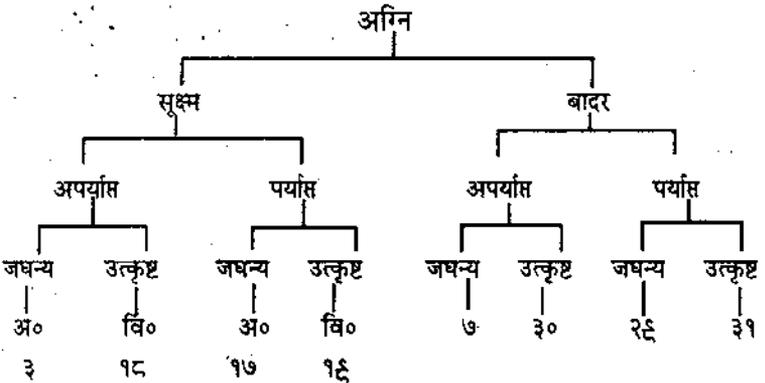
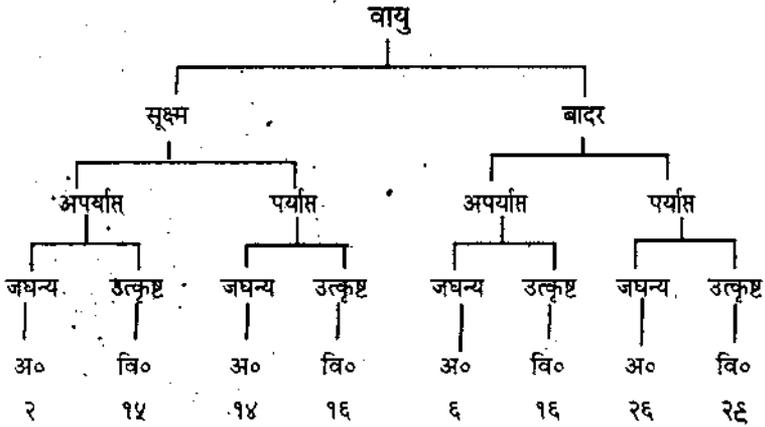
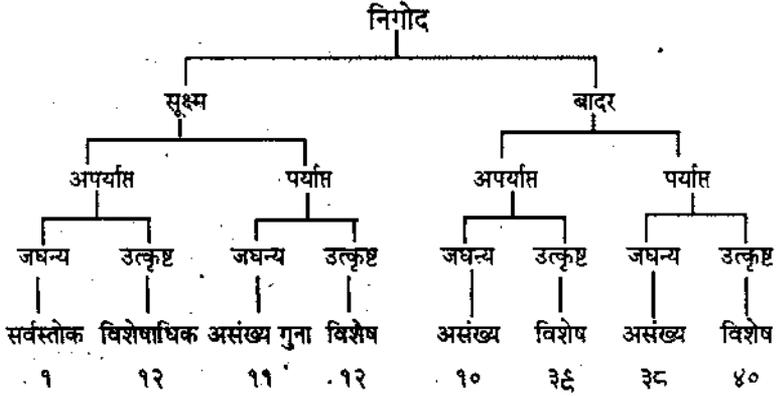
और श्री जिन वल्लभ सूरीश्वर जी स्वरचित "देहाल्पबहुतो द्वार" नामक ग्रन्थ में अपर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना करते हुए पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की सविशेष अवगाहना कही है। वह विचार करने योग्य है। क्योंकि एक अंगुल के असंख्यवें भाग जितने अपर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना करते, हजार योजन से कुछ अधिक मान वाली पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट अवगाहना विशेष रूप में अधिक होना असंभावित है और इस तरह कहने से भगवती सूत्र के साथ भी विरोध आता है क्योंकि भगवती सूत्र में भी कहा है कि-

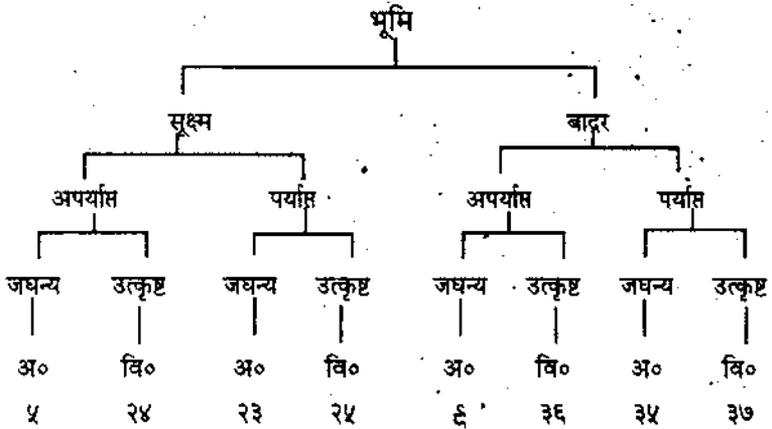
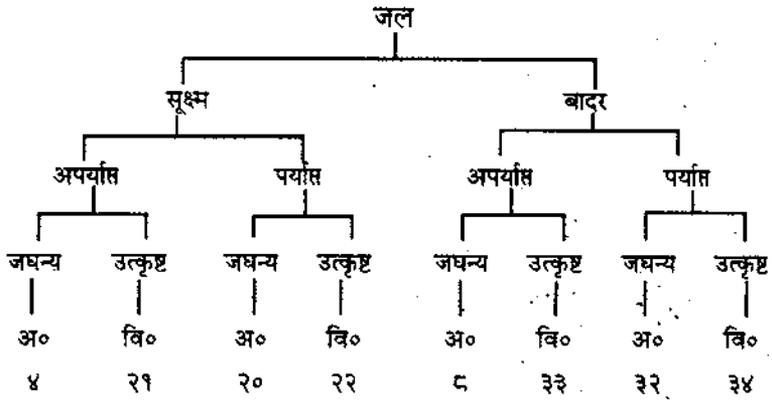
पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय की जघन्य अवगाहना असंख्य गुणा है, और वह करते ऐसे ही अपर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्य गुणा होती है और इससे भी ऐसे ही पर्याप्त की उत्कृष्ट अवगाहना असंख्य गुणा है । यह बात श्री भगवती सूत्र में उन्नीसवें शतक के तीसरे उद्देश में कही है । इसका भावार्थ इसके साथ दिये यंत्र पर से समझ लेना।

यंत्र में जीव के भेद चौवालीस हैं और अवगाहना के भेद तैंतालीस हैं । इसका कारण यह है कि अपर्याप्त बादर निगोद की जघन्य अवगाहना और अपर्याप्त प्रत्येक वनस्पति की जघन्य अवगाहना परस्पर तुल्य है और इस तरह होने से ही कोष्ठक चौवालीस हैं और अंक से तैंतालीस हैं । पांचवें और इकतालीसवें कोष्ठक में दस का अंक ही है। इस तरह देहमान विषय का वर्णन किया है। (११)

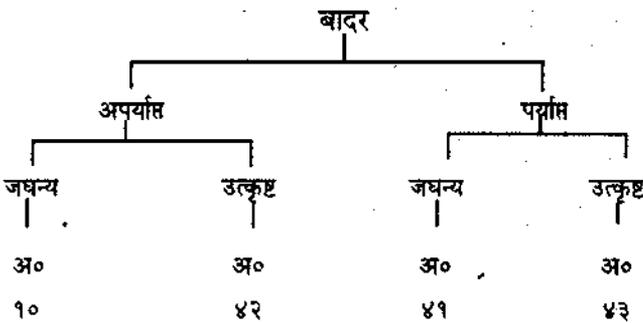
अवगाहनाओं का यंत्र

उत्तरोत्तर एक-एक से असंख्य गुणा और विशेषाधिक यह अवगाहना समझाते हैं।





प्रत्येक वनस्पति



इस यंत्र में संज्ञाए रखी हैं, उनकी समझ इस तरह है:-

अ०= असंख्य गुणा। वि०=विशेषाधिक। स०=सर्वस्तोक--सबसे कम।

एषां त्रयः समुद्घाता आद्याः स्युर्वेदनादयः ।
क्ष्मादीनां तेऽनिलानां तु चत्वारः स्युः सवैक्रियाः ॥२६२॥

इति समुद्घातः ॥१९२॥

अब समुद्घात के विषय में कहते हैं- इन पृथ्वीकाय आदि जीवों को वेदना आदि प्रथम तीन समुद्घात होते हैं, और वायुकाय जीवों को ये तीन और चौथा वैक्रिय, इस तरह चार समुद्घात होते हैं। (२६२)

यह बारहवां समुद्घात पूर्ण हुआ। (१२)

बादरक्षिति नीराणि प्रत्येकान्यद्रुमा अपि ।
मृत्योत्यद्यन्तेऽखिलेषु तिर्यक्ष्वेकेन्द्रियादिषु ॥२६३॥
पंचाक्षेष्वपि तिर्यक्षु गर्भसंमूर्च्छं जन्मसु ।
नरेष्वपि द्वि भेदेषु संख्येयायुष्कशालिषु ॥२६४॥ युग्मं ।

अब गति के विषय में कहते हैं- बादर पृथ्वीकाय, अप्काय तथा प्रत्येक और साधारण वनस्पति-इन सब जीवों की मृत्यु के बाद एकेन्द्रिय आदि सर्व तिर्यच में, गर्भज तथा संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच में तथा संख्यात् आयुष्य वाले दोनों प्रकार के मनुष्य में उत्पन्न होते हैं। (२६३-२६४)

गच्छतो वह्निवायु तु सर्वेष्वेषु नरान्विना ।
ततः पूर्वे द्विगतयोऽमूर्त्वेक गति कौ स्मृतौ ॥२६५॥

इति गतिः ॥१९३॥

तथा अग्निकाय और वायुकाय के जीव मनुष्य गति के सिवाय उपयुक्त सर्व गति में जाते हैं। इस तरह होने से पूर्वोक्त जीवों की दो गति हैं और यों तो एक ही गति है। (२६५)

ऐसा गति का स्वरूप है। (१३)

एकद्वित्रिचतुरक्षाः पंचक्षाः संख्य जीविनः ।
तिर्यचो मनुजाश्चैव गर्भं संमूर्च्छनोद्भवाः ॥२६६॥
अपर्याप्ताश्च पर्याप्ताः सर्वेऽप्येते सुरास्तथा ।
भवन व्यन्तर ज्योतिष्काद्यकल्प द्वयोद्भवाः ॥२६७॥
मृत्वा प्रत्येक विटपिबादर क्षितिवारिषु ।
आयान्ति तेषु देवास्तु पर्याप्तेष्व परेषु न ॥२६८॥ त्रिभिर्विशेषं ।

अब आगति के विषय में कहते हैं; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौरिन्द्रिय तथा संख्य जीव, गर्भज, समूच्छिम पंचेन्द्रिय, तिर्यच और मनुष्य, सर्व पर्याप्ता और अपर्याप्ता तथा भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क व प्रथम दो देवलोक के देव- ये सब जीव मृत्यु के बाद प्रत्येक वनस्पतिकाय में तथा बादर पृथ्वीकाय और अष्काय में आते हैं। अपवाद से जो देव है वे पर्याप्त जाति में ही आते हैं, अपर्याप्त में नहीं आते। (२६६ से २६८)

अपर्याप्तेषु त्रिष्वेषु निगोदाग्न्यनिलेषु च ।

उत्पद्यन्ते च पूर्वोक्ताः प्राणिनो निर्जरान्विना ॥२६६॥

और देवों के अलावा पूर्वोक्त सर्व प्राणी मृत्यु के बाद अपर्याप्त निगोद, अग्निकाय और वायुकाय- इन तीन योनि में आते हैं- उत्पन्न होते हैं। (२६६)

निर्जरोत्पत्ति योग्यानामुक्तः प्रत्येकभूरुहाम् ।

विशेषः पंचमांगस्यैक विंशादि शत द्वये ॥३००॥

तथा देव जाति में उत्पन्न होने की योग्यता वाले प्रत्येक वनस्पतिकाय का विशेष वर्णन पांचवें अंग भगवती सूत्र में इक्कीसवें तथा बाईसवें शतक में कहा है (३००)

शाल्यादिधान्य जातीनां पुष्ये बीजे फलेषु च ।

देव उत्पद्यन्तेऽन्येषु न मूलादिषु सप्तसु ॥३०१॥

देव मृत्यु के बाद शाल आदि जाति वाले अनाजों के पुष्प, बीज और फल में आकर उत्पन्न होते हैं, इसके शेष मूल-जड़ आदि सात में उत्पन्न नहीं होते हैं। (३०१)

कोरंटकादि गुल्मानां देवः पुष्पादिषु त्रिषु ।

उत्पद्यन्ते न मूलादि सप्तके किल शालिवत् ॥३०२॥

इसी तरह कोरंटक आदि गुल्म के पुष्प-फूल, बीज और फल- इन तीन में देव उत्पन्न होते हैं, इसके मूल आदि सात में उत्पन्न नहीं होते हैं। शाल आदि के समान ही समझना। (३०२)

इक्षुवाटिक मुख्यानां मूलादि नवके सुरः ।

उत्पद्यन्ते नैव किन्तु स्कन्धे उत्पद्यन्ते परम् ॥३०३॥

इक्षु वाटिका अर्थात् गन्ने के बाग आदि के मूल आदि नौ में देव उत्पन्न होते ही नहीं हैं, वे केवल स्कंध में ही उत्पन्न होते हैं। ॥३०३॥

“इक्षु वाटिका दयस्त्वमी पंचमांगे प्रायो रूढि गम्याः पर्वक विशेषाः ॥ अह भंते उख्खु वाडिय वीरण इक्कडत्रामासंवत्त सत्त वत्त तिमिर सेसय चोर गतलाण एएसिणं जे जीवा मूलत्ताए वक्कपंति एव जहेव वंसग्गे तहेव एत्थवि मूलादीया दसउद्देशगा। नवरं। खंघहेसाए देवो उववज्जइ चत्तारि लेसाओ ॥”

इक्षु वाटिका आदि के सम्बन्ध में पांचवें अंग भगवती सूत्र में इस तरह कहा है कि- ‘यह प्रायः रूढिगम्य पर्वक विशेषण है। इक्षु वाटिका, वीरण, इक्कड इत्यादि में जीव मूल रूप में संक्रमण करता है। इस तरह होने से पूर्व में बांस के सम्बन्ध में और कह गये हैं इसी तरह यहां भी मूल आदि दस उद्देश समझना, अन्तर इतना है कि स्कंध देश के अन्दर चार लेश्यायुक्त देव उत्पन्न होता है।’

ताल प्रभृति वृक्षाणां तथैकास्थिक भूरुहाम् ।

तथैव बहु बीजानां वल्लीनामप्यनेकधा ॥३०४॥

उत्पद्यते प्रवालादिष्वेव पंचसु निर्जरः ।

न मूलादि पंचकेऽथ नोक्त, शेष वनस्पतौ ॥३०५॥

और ताड़ आदि वृक्ष के, एकास्थिक वृक्षों के, बहुबीज वृक्षों के और अनेक प्रकार की वल्ली-लताओं के प्रवाल आदि पांच अंगों में देव उत्पन्न होते हैं। मूल-जड़ आदि पांच अंगों में उत्पन्न नहीं होते। वैसे ही उत्पन्न नहीं होते जैसे वे पूर्व कहे अनुसार वनस्पति में उत्पन्न नहीं होते हैं। (३०४-३०५)

तथोक्तम्-

पत्तपवाले पुष्पे फले य बीए य होइ उववाओ ।

रूख्खेसु सुरगणाणं पसत्थर सवण्ण गंधेसु ॥

इति भगवती द्वाविंशशत वृत्तौ ॥

तथा इस सम्बन्ध में श्री भगवती सूत्र के बाईसवें शतक की वृत्ति में कहा है कि-सुरगण-देव समुदाय की उत्पत्ति प्रशस्त रस, वर्ण, गंध युक्त वृक्षों के पुष्प, फल और बीज में होती है।

एक सामायिकी संख्योत्पत्तौ च मरणोऽपि च ।

विज्ञेया सूक्ष्म वज्रास्ति विरहोऽत्रापि सूक्ष्मवत् ॥३०६॥

इत्यागतिः ॥१४॥

तथा इन बादर में एक समय में होने वाले जन्म मरण की संख्या सूक्ष्म के अनुसार ही समझना क्योंकि यहां भी सूक्ष्म की तरह विरह नहीं है। (३०६)

यह आगति का वर्णन है। (१४)

विषद्यानन्तर भवे तिर्यक्पंचाक्षयतां गताः ।

सम्यक्त्वं देश विरतिं लभन्ते भूदकहुमाः ॥३०७॥

विषद्यानन्तर भवे प्राप्य गर्भजमर्त्यताम् ।

सम्यक्त्वं विरतिं मोक्षमप्याप्नुवन्ति केचन ॥३०८॥

अब अनन्तरा के विषय में कहते हैं- पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पति-काय के जीव मृत्यु के बाद अनन्तर भव में तिर्यच पंचेन्द्रिय रूप प्राप्त करके देश विरति सम्यक्त्व प्राप्त करता है और कोई मृत्यु के बाद अनन्तर जन्म में गर्भज मनुष्य रूप प्राप्तकर समकित सर्व विरति और मोक्ष भी प्राप्त करता है। (३०७-३०८)

विषद्यानन्तर भवे न लभन्तेऽग्निवायवः ।

सम्यक्त्वमपि दुष्कर्मतिमिरावृत लोचनाः ॥३०९॥

इत्यनन्तरा राप्तिः ॥१५॥

दुष्कर्म रूपी तिमिर से आवृत बने हैं लोचन जिनके- ऐसे अग्निकाय और वायुकाय के जीव मृत्यु के बाद अनन्तर जन्म में समकित नहीं प्राप्त करते हैं। (३०९)

यह अनन्तरा कहा है। (१५)

पृथ्व्यम्बुकायिका मुक्तिं यान्त्यनन्तर जन्मनि ।

चत्वार एक समये षड् वनस्पतिकायिकाः ॥३१०॥

इति समये सिद्धिः ॥१६॥

पृथ्वीकाय और अप्काय के जीव अनन्तर जन्म में एक समय के अन्दर चार की संख्या में मोक्ष जाते हैं। वनस्पतिकाय जीव एक समय में छः मोक्ष जाते हैं। (३१०)

यह समय सिद्धि का वर्णन है। (१६)

पृथ्व्यम्बु प्रत्येक तरुष्वाद्यलेश्या चतुष्टयम् ।

आद्यं लेश्यात्रयं साधारणद्रुमाग्नि वायुषु ॥३११॥

चतुर्थलेश्या सम्भवस्तु एवम्-

अब लेश्या के विषय में कहते हैं- पृथ्वीकाय के जीव, अप्काय के जीव तथा प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों को प्रथम चार लेश्या होती हैं और अग्निकाय, वायुकाय तथा साधारण वनस्पतिकाय के जीवों को प्रथम तीन लेश्या होती हैं। (३११)

यहां कईयों ने चार लेश्या कहीं हैं, तो इसमें चौथी लेश्या का संभव है। वह इस तरह समझना -

तेजोलेश्यावतां येषु नाकिनां गतिसंभवः ।

आद्यमन्तर्मुहूर्त्तं स्यात्तेजोलेश्यापि तेषु वै ॥३१२॥

इति लेश्या ॥१७॥

तेजोलेश्या- जिन देवों की गति का संभव होता है उनको पहले अन्तर्मुहूर्त्त तक तेजोलेश्या भी होती है। (३१२)

यह लेश्या द्वार है। (१७)

एषां स्थूलक्षमादीनामाहारः षड्दिगुदभः ।

स्थूलानिलस्य त्रिचतुः पंचदिक् संभवोऽप्यसौ ॥३१३॥

इति आहारदिक् ॥१८॥

अब आहार के सम्बन्ध में कहते हैं- बादर पृथ्वीकाय आदि को छः दिशाओं का आहार होता है और बादर वायुकाय का तो तीन, चार अथवा पांच दिशा का भी आहार होता है। (३१३)

यह आहार द्वार है। (१८)

एकोनविंशति तमादीन्येकादश सूक्ष्मवत् ।

द्वाराणि स्थूल पृथ्व्यादि जीवानां जगुरीधराः ॥३१४॥

इस तरह उन्तीसवें से उन्तीसवें तक के ग्याहर द्वार सूक्ष्म पृथ्वीकाय आदि के द्वार के समान समझ लेना। (३१४)

आद्यं गुण स्थानमेषु मतं सिद्धान्तिना मते ।

कर्मग्रंथ मते त्वाद्यं तदद्वयं भूजलद्रुषु ॥३१५॥

गुण स्थान इनको प्रथम ही होता है, इस तरह सिद्धान्त मत के अनुसार है, जबकि कर्म ग्रंथ के मतानुसार पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय को पहले दो गुण स्थान होते हैं। (३१५)

स्युस्तथा स्थूल मरुतां योगाः पंच यतोऽधिकौ ।

एषां वैक्रिय तन्मिश्रौ त्रयोऽन्येषां च पूर्ववत् ॥३१६॥

एवं द्वाराणि ॥१६-३१॥

बादर वायुकाय के योग पांच होते हैं क्योंकि इसे वैक्रिय और मिश्रवैक्रिय-ये दो योग अधिक होते हैं। अन्य को पूर्व के समान तीन योग होते हैं। (३१६)

इस तरह १६ से ३१ तक के तेरह द्वार के विषय कहे हैं।

अंगुलासंख्यांश माना यावन्तोशा भवन्ति हि ।

एकस्मिन् प्रतरे सूचीरूपा लोके घनीकृते ॥३१७॥

तावन्तः पर्याप्ता निगोद प्रत्येक तरु धराश्चापः ।

स्युः किञ्चिन्न्यूनावधिघन समयमितास्त्वनर्ल जीवाः ॥३१८॥ युगं।

अब मान-प्रमाण के विषय में बत्तीसवां द्वार कहते हैं। घनीभूत लोकाकाश में एक प्रतर के अन्दर सूचीरूप अंगुल के असंख्यवें भाग प्रमाण जितना अंश होता है उतना पर्याप्त निगोद प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वी और, अपकाय के जीव होते हैं और कुछ कम आवलि के सदृश घन समय हो उतने अग्निकाय के जीव होते हैं। (३१७-३१८)

अत्र च..... यद्यपि पूर्वार्धोक्तक्ताश्चत्वारस्तुल्य मानका प्रोक्ताः ।

तदपि..... यथोत्तरमधिकाः प्रत्येतत्या असंख्य गुणाः ॥३१९॥

उक्तोऽङ्गुलासंख्यभागो यः सूचीखण्ड कल्पने ।

तस्यासंख्येय भेदत्वात् घटते सर्वमप्यदः ॥३२०॥

और यहां आधे श्लोक में चार पर्याप्त कहे हैं उनको तुल्यमान वाले कहे हैं, फिर उनको उत्तरोत्तर असंख्य असंख्य गुणा समझना। सूचि खंड की कल्पना करने में अंगुल का जो असंख्यवां भाग कहा है, इसका भेद असंख्य होने से यह सब घट सकता है। (३१९-३२०)

घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येय भाग वर्तिषु ।

असंख्य प्रतरेषु स्युः यावन्तोऽधप्रदेशकाः ॥३२१॥

तावन्तो बादराः पर्याप्तकाः स्युः वायुकायिकाः ।

इदं प्रज्ञापना वृत्ता वाद्यांगा विवृतौत्वदम् ॥३२२॥ युग्मं।

घन रूप किये लोकाकाश के असंख्यवें भाग में रहे असंख्य प्रतर में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने बादर पर्याप्त वायुकाय के जीव होते हैं। इस तरह प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में कहा है। परन्तु आचारांग सूत्र के विवरण में इस तरह कहा है कि- (३२१-३२२)

सुसंवर्तित्लोकैक प्रतरासंख्यभागकैः ।

प्रदेशैः प्रमिताः स्थूला पर्याप्तक्षमाम्बु वायवः ॥३२३॥

क्षेत्र पत्योपमासंख्य भाग प्रदेश सम्मिताः ।

पर्याप्ता बादर हविर्भुजः प्रोक्ताः पुरातनैः ॥३२४॥

संवर्तित लोक के एक प्रतर के असंख्य भाव वाले प्रदेश जितने हैं उतने स्थूल अपर्याप्त पृथ्वी, अप् और वायुकाय के जीव हैं और क्षेत्र पत्योपम के असंख्यावतें भाग में जितने प्रदेश हैं उतने पर्याप्त बादर अग्निकाय के जीव हैं। (३२३-३२४)

संवर्तित चतुरस्त्रीकृत लोकश्रेण्यसंख्यभागगतैः।

वियदंशैः पर्याप्तास्तुल्याः द्रत्येकतरु जीवाः ॥३२५॥

तथा संवर्तित और चौरस किये लोक श्रेणि के असंख्यवें भाग में रहे आकाश प्रदेश के सदृश पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति के जीव हैं। (३२५)

संवर्तित चतुरस्त्री कृतस्य लोकस्य यः प्रतर एकः।

तदसंख्य भागखांश प्रमिताः पर्याप्त बादर निगोदाः ॥३२६॥

अतः परं तु ग्रन्थ द्वयेऽपि तुल्यमेव ॥

और संवर्तित तथा चौरस किये लोकाकाश का एक प्रतर होता है, उस प्रतर के असंख्य भाग प्रमाण आकाश प्रदेश जितने पर्याप्त बादर निगोद हैं। (३२६)

इसके बाद की बातें दोनों ग्रन्थों की समान हैं।

बादराः स्थावराः सर्वेऽप्येते पर्याप्तकाः पुनः ।

स्युः प्रत्येकमसंख्येय लोका भांशामिताः खलु ॥३२७॥

ये सर्व पर्याप्त बादर स्थावर प्रत्येक लोकाकाश के असंख्यातवें अंश समान निश्चय ही हैं। (३२७)

लोकामानाभ्रखंडा नामनन्तानां प्रदेशकैः ।

तुल्याः स्थूलानन्तकाय जीवाः प्रोक्ता जिनेश्वरैः ॥३२८॥

इति मान् ॥३२॥

तथा बादर अनंतकाय जीव लोक प्रमाण अनंत आकाश खंडों के प्रदेशों के जितने होते हैं ऐसा जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है। (३२८)

यह मान अधिकार पुरा हुआ । (३२)

पर्याप्ताः बादरः सर्वस्तोकः पावक कायिकाः ।

असंख्येय गुणास्तेभ्यः प्रत्येक धरणीरुहः ॥३२९॥

असंख्येय गुणास्तेभ्यः स्युर्बादर निगोदकाः ।

तेभ्यो भूकायिकास्तेभ्यश्चापस्तेभ्यश्च वायवः ॥३३०॥

तेभ्योऽनन्ता गुणाः स्थूलाः स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।

सामान्यतो बादरश्चाधिकाः पर्याप्तिकास्ततः ॥३३१॥

अब अल्प बहुत्व के विषय में कहते हैं- पर्याप्त बादर अग्निकाय के जीव सबसे अल्प हैं। इससे भी प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव असंख्य गुणा हैं, इससे असंख्य गुणा बादर निगोद के जीव हैं, इससे भी पृथ्वीकाय के जीव हैं, इससे अपूकाय हैं और इससे वायुकाय जीव असंख्य गुणा हैं तथा इससे भी बादर वनस्पतिकाय के जीव अनन्ता गुणा हैं और इससे भी सामान्य बादर पर्याप्त अधिक हैं। (३२९ से ३३१)

स्वस्व जातीय पर्याप्तकेभ्योऽसंख्य गुणाधिकाः ।

अपर्याप्ताः स्वजातीय देहिनः परिकीर्तिताः ॥३३२॥

यद्बादरस्य पर्याप्त कस्यैकैकस्य निभ्रया ।

असंख्येयाः अपर्याप्ताः तज्जातीयाः भवन्ति हि ॥३३३॥

तथा अपनी-अपनी जाति वाले अपर्याप्त स्व स्व जातीय पर्याप्त करते असंख्य गुणा हैं, क्योंकि प्रत्येक बादर पर्याप्त की निभ्रया में असंख्य बादर अपर्याप्त होते हैं। (३३२-३३३)

तथोक्तं प्रज्ञापनायाम्- "पञ्जत्तग निस्साए अपञ्जत्तगा वक्कमन्ति। जत्थएगो तत्थ नियमा असंखेज्जा ॥"

इति अल्पबहुत्वम् ॥३३॥

इस सम्बन्ध में प्रज्ञापना सूत्र में कहा है कि- “पर्याप्त की निश्रा में एक अपर्याप्त उत्पत्ति होती है अर्थात् जहां पर्याप्त एक हो वहां अपर्याप्त निश्चय अंशख्य होते हैं।”

यह अल्पबहुत्व द्वार पूर्ण हुआ ॥३३॥

सर्वस्तोका दक्षिणस्यां भूकायादिगपेक्षया ।

उदक् प्राक् चततः प्रत्येक क्रमातिशेषतोऽधिकाः ॥३३४॥

अब दिग् अपेक्षा से अल्प बहुत्व कहते हैं- दक्षिण दिशा में सर्व से कम पृथ्वीकाय जीव होते हैं । इससे अधिक-अधिक अनुक्रम से उत्तर दिशा में, फिर पूर्व दिशा में और फिर पश्चिम दिशा में होते हैं । (३३४)

उपपत्तिश्चात्र-

यस्यां दिशि घनं तस्या बहवः क्षितिकायिकाः ।

यस्यां च शुषिरं तस्यां स्तोका एव भवन्त्यमी ॥३३५॥

दक्षिणस्यां च नरक निवासा भवनानि च ।

भूयांसि भवनेशानां प्राचुर्यं शुषिरस्य तत् ॥३३६॥

अल्पा उदिच्यां नरका भवनानीति तत्र ते ।

घन प्राचुर्यं तोऽनल्पाः स्युर्याम्यदिगपेक्षया ॥३३७॥

इसका कारण इस तरह है- जिन दिशाओं में घन हों वहां पृथ्वीकाय के जीव बहुत होते हैं और जहां खाली स्थान हो वहां वह थोड़ा होता है और दक्षिण दिशा में नरकावास और भवनपति के भवन बहुत होने से वहां खाली स्थान बहुत है; उत्तर दिशा में नरकावास एवं भवन थोड़े हैं इसलिए दक्षिण दिशा की अपेक्षा विशेष घनत्व-मोटापन होने से पृथ्वीकाय जीव बहुत होते हैं । (३३५ से ३३६)

प्राच्यां रवि शशिद्वीप सद्भावत् घनमूरिता ।

उत्तरापेक्षया तत्र बहवः क्षितिकायिकाः ॥३३८॥

तथा पूर्व दिशा में सूर्य द्वीप और चन्द्र द्वीप आने के कारण वहां उत्तर दिशा से विशेष घनता-मोटापन है, इसलिए वहां इससे भी अधिक विशेष रूप में पृथ्वीकाय के जीव होते हैं । (३३८)

प्राक् प्रतीच्योः रवि शशिद्वीप साम्येऽपि गौतमः ।

द्वीपोऽधिकः प्रतीच्यां स्यात्तस्तेऽत्राधिकाः स्मृताः ॥३३९॥

पूर्व और पश्चिम दिशा में सूर्य द्वीप और चन्द्र द्वीप यद्यपि समान ही हैं फिर भी पश्चिम में गौतम द्वीप विशेष है, इसलिए वहां घनता भी विशेष रूप है अतः वहां पृथ्वीकाय जीव भी विशेष ही हैं। (३३६)

ननु प्रतीच्यामधिको द्वीपो यथास्ति गौतमः ।

तथात्र सन्त्यधोग्रामाः सहस्र योजनोण्डताः ॥३४०॥

तत्खात पूरित न्यायात् घनस्य शुषिरस्य च ।

साम्यात् पृथ्वीकायिकानां प्रत्यक् प्रचूरता कथम् ॥३४१॥ युग्मं ।

यहां कोई शंका करता है कि- जैसे पश्चिम दिशा में गौतम द्वीप विशेष है वैसे ही वहां सहस्र योजन गहरा अधोग्राम भी है, इसलिए खातपूरित न्याय से घनता और खाली जगह समान हो जाती है तो फिर पृथ्वीकाय जीवों की विशेषता किस तरह से हो सकती है ? (३४०-३४१)

अत्र उच्यते-

यथा प्रत्यगधोग्रामस्तथा प्राच्यामपि ध्रुवम् ।

गर्तादि संभवोऽस्त्येव किं च द्वीपोऽपि गौतमः ॥३४२॥

वक्ष्यमाणोच्छ्रयायाम व्यासः प्रक्षिप्यते धिया ।

यद्यधोग्राम शुषिरे तदप्येषोऽतिरिच्यते ॥३४३॥ युग्मं ।

एवं च घनं बाहुल्यात् प्रतीच्यां प्रागपेक्षया ।

पृथ्वीकायिकं बाहुल्यं युक्तमेव यथोदितम् ॥३४४॥

इस शंका का समाधान करते हैं- जैसे पश्चिम में अधोग्राम की खाली जगह है वैसे ही पूर्व में भी गर्तादिक की खाली जगह होनी संभव है और यहां बड़ा विस्तार वाला यह गौतम द्वीप है और यदि उसे अधोग्राम की खाली जगह में भर लिया जाय फिर भी वह बढ़ जाता है, अतः पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में घनता बढ़ जाती है। इसलिए पृथ्वीकायिक जीवों की वहां विशेष रूप से जो अधिकता कही है वह युक्त ही है। (३४२-३४४)

भवन्त्यप्कायिकाः स्तोकाः पश्चिमायां ततः क्रमात् ।

प्राच्यां याम्यामुदीच्यां च विशेषेणाधिकाधिकाः ॥३४५॥

अपकाय के जीव पश्चिम दिशा के अन्दर सब से कम हैं और इससे अधिक पूर्व में, इससे अधिक दक्षिण में और इससे अधिक उत्तर दिशा में हैं। (३४५)

उपपत्तिश्च अत्र-

प्रतीच्यां गौतम द्वीप स्थाने वारामभावतः ।
 सर्वस्तोका जिनैरुक्ता युक्तमेवाम्बुकायिका ॥३४६॥
 पूर्वस्यां गौतम द्वीपा भावाद्विशेषतोऽधिकाः ।
 दक्षिणस्यां चन्द्र सूर्य द्वीपा भावात्ततोऽधिकाः ॥३४७॥
 उदिच्यां मानससरः सद्भावात्सर्वतोऽधिकाः ।
 अस्ति ह्यस्यां तदसंख्ययोजनायतविस्तृतम् ॥३४८॥

इसका कारण इस तरह है- पश्चिम दिशा में गौतम द्वीप का स्थान होने से उस जगह में जल का अभाव होने से वहां अप्काय के जीव थोड़े होते हैं, ऐसा जिनेश्वर ने कहा है । यह बात निश्चय है और पूर्व में गौतम द्वीप नहीं है अतः वहां जल अधिक होने से जीव भी अधिक बढ़ जाते हैं तथा दक्षिण दिशा में सूर्य चन्द्र द्वीप न होने से वहां जल का प्रमाण बढ़ने से वहां जीव विशेष अधिक होते हैं, वैसे ही उत्तर दिशा में मानस सरोवर आया है अतः जल की बहुत अधिकता होने से अप्काय के जीव वहां सर्व से अधिक होते हैं क्योंकि मानस सरोवर का विस्तार असंख्य योजनाओं में है। (३४६-३४८)

याम्युदीच्योर्वह्निकायाः स्तोकाः प्रायो मिथः समाः ।
 अग्न्यारंभक बाहुल्यात् प्राच्यां संख्यगुणाधिकाः ॥३४९॥
 तत्रः प्रतीच्यामधिका वह्नयाद्यारंभकारिणाम् ।
 ग्रामेष्वधोलौकिकेषु बाहुल्याद्भरणीस्पृशाम् ॥३५०॥

अग्निकाय के जीव दक्षिण और उत्तर दिशा में थोड़े हैं और दोनों दिशाओं में समान हैं । पूर्व में अग्नि का आरम्भ विशेष होने से संख्य गुणा विशेष हैं और पश्चिम दिशा में इससे अधिक होते हैं, क्योंकि अघोग्राम में अग्नि आदिक आरम्भ वाले प्राणी अधिक होते हैं । (३४९-३५०)

पूर्वस्यां मरुतः स्तोकास्ततोऽधिकाधिका मताः ।
 प्रतीच्यामुत्तरस्यां च दक्षिणस्यां यथाक्रमम् ॥३५१॥
 यस्यां स्यात् शुधिरं भूरि तस्यां स्युर्भूरयोऽनिलाः ।
 घन प्राचुर्ये च तेऽल्पास्तच्च प्रागेव भावितम् ॥३५२॥
 स्युर्यदधि खातपूरित युक्त्या प्रत्यग् धराधिका तदपि ।
 प्रत्यगधोग्राम भुवां निम्नत्वाद्वास्तवी शुधिर बहुता ॥३५३॥

वायुकाय के जीव पूर्व दिशा में सब से अल्प हैं और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में अनुक्रम से अधिक से अधिक होते जाते हैं। जहां खाली विभाग होगा वहां वायुकाय जीव विशेष प्रकार से होगा, यह स्वाभाविक है और जहां घनता-मोटापन विशेष होगा वहां यह अल्प होता है, यह स्पष्ट है। यह पहले भी कहा है कि 'खातपूरित' न्याय की गिनती से यद्यपि पश्चिम दिशा की पृथ्वी अधिक होती है फिर भी वहां अधोग्राम की भूमि नीची होने से खाली जगह वास्तविक रूप में बहुत ही रहती है, इससे वहां वायुकाय के जीव भी बहुत होते हैं। (३५१ से ३५३)

वनानामल्प बहुता भाव्याप्कायिक वदबुधैः ।

तरूणां ह्यल्पबहुता जलाल्पबहुतानुगा ॥३५४॥

सामान्यतोऽपि जीवानामल्पता बहुतापि च ।

वनाल्प बहुतापेक्षा ह्यनन्ता एत एव यत् ॥३५५॥

इति दिगपेक्षयाल्प बहुता ॥३४॥

वनस्पतिकाय के जीवों का अल्प बहुत्व अप्काय के जीवों के अनुसार समझना क्योंकि वनस्पतिकाय सर्वत्र जल के अनुसार होता है। सामान्य रूप में भी जीवों का अल्प अधिकत्व वनस्पतिकाय के जीव के अल्प अधिकत्व का पूर्व कहे अनुसार आधार रखता है क्योंकि अकेला वनस्पतिकायिक जीव ही अनन्त है। (३५४-३५५)

इस तरह दिग् से अल्प बहुत्व पूर्ण हुआ (३४)

कायस्थितिर्या सूक्ष्माणां प्रागुक्ता तन्मितं मतम् ।

सामान्यतो बादराणां बादरत्वे किलान्तरम् ॥३५६॥

सूक्ष्म का पूर्व कथित कायस्थिति के समान ही सामान्यतः बादर के बादरत्व में अन्तर होता है। (३५६)

स्थूलक्ष्माभोग्निपवन प्रत्येक द्रुषु चान्तरम् ।

अनन्त कालो ज्येष्ठं स्याल्लघु चान्तर्मुहूर्त्तकम् ॥३५७॥

कालं निगोदेषु यत्तेऽनन्तं चान्तर्मुहूर्त्तकम् ।

स्थित्वा स्थूलक्ष्मादि भावं पुनः केचिदवाप्नुयुः ॥३५८॥

बादर पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीवों में उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का है और जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है

क्योंकि वे अनन्तकाल पर्यन्त और अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त निगोद में रहकर पुनः बादर पृथ्वी- कायादि में उत्पन्न होते हैं। (३५७-३५८)

बादरस्य निगोदस्यान्तरमुत्कर्षतो भवेत् ।

कालोऽसंख्यः पृथिव्यादि कायस्थितिमितश्च सः ॥३५६॥

बादर निगोद का उत्कृष्ट अन्तर असंख्य काल का है और इसका मान पृथ्वीकाय आदि की स्थिति के समान है। (३५६)

सामान्यतः स्थूलवनकायत्वेऽप्येतदन्तरम् ।

जघन्यतस्तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्त्तमेव तत् ॥३६०॥

इत्यन्तरम् ॥३५॥

सामान्यतः बादर वनस्पतिकाय के विषय में भी इतना ही अन्तर है परन्तु जघन्य अन्तर तो सर्व का अन्तर्मुहूर्त्त के अनुसार है। (३६०)

इस तरह अन्तर द्वार पूर्ण हुआ। (३५)

स्वरूपमेकेन्द्रिय देहिनां मयाधियाल्पया किञ्चिदिदं समुध्यतम् ।

श्रुतादगाथादिषु दुग्ध वारिधेः जलं स्व चञ्च्वा शिशुना पतत्रिणा ॥३६१॥

जिस तरह एक पक्षी का बच्चा अपनी चोंच द्वारा अगाध समुद्र में से अल्प जल ग्रहण करता है वैसे ही मैंने अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार श्रुत सागर में से यह एकेन्द्रिय जीवों का किञ्चित् मात्र स्वरूप ग्रहण करके कहा है। (३६१)

विश्वाश्चर्यद कीर्ति-कीर्तिविजय श्री वाचकेन्द्रान्तिष-

द्राज श्री तनयोऽतनिष्ठ विनयः श्रीतेजपालात्मजः ।

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे

सर्गो निर्गलितार्थ सार्थ सुभगः पूर्णः सुखं पंचमः ॥३६२॥

॥ इति पंचम सर्गः ॥

जिसकी कीर्ति सम्पूर्ण विश्व में आश्चर्य उत्पन्न करने वाली है, ऐसे श्रीमान् कीर्तिविजय उपाध्याय के अन्तेवासी और माता राजश्री और पिता तेजपाल के सुपुत्र विनय विजय उपाध्याय ने जो इस जगत् के निश्चित तत्त्वों को दीपक सदृश प्रकट करने वाले ग्रन्थ की रचना की है, उसके अन्दर से झरते सार के कारण सुभग पांचवां सर्ग विघ्न रहित पूर्ण हुआ है। (३६३)

॥ पांचवां सर्ग समाप्त ॥

छठा सर्ग

विकलान्यसमग्राणि स्युर्येषामिन्द्रियाणि वै ।

विकलेन्द्रिय संज्ञास्ते स्युर्द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः ॥१॥

जिन जीवों की इन्द्रिय विकल अर्थात् कम हों- सम्पूर्ण रूप में न हों, वह विकलेन्द्रिय कहलाता है अर्थात् दो इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले और चार इन्द्रिय वाले जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। (१)

तत्र प्रथमं भेदाः ॥१॥

प्रथम यह विकलेन्द्रिय जीव के भेद हैं । (१)

अन्तर्जा कृमयो द्वेषा कुक्षिपायु समुद्भवाः ।

विष्टाद्यमेधजाः कीटाः काष्ठ कीटा घुणाभिधाः ॥२॥

गंडोला अलसा वंशीमुखी मातुवहा अपि ।

जलौकसः पूतरका मेहरा जातका अपि ॥३॥

नाना शंखा शंखानकाः कपर्दशुक्ति चन्दनाः ।

इत्याद्या द्वीन्द्रियाः पर्यासापर्यासया द्विधा ॥४॥

इति द्वीन्द्रिय भेदाः ।

कुक्षि में उत्पन्न होने वाले और गुदा द्वार में उत्पन्न होने वाले- इस तरह दो प्रकार के शरीर ही कृमि, विष्टा आदि अमेध्य पदार्थों में उत्पन्न होते कीड़े; लकड़ी में उत्पन्न होता घुण नामक कीड़ा, गंडोला केचुआ, वंशीमुखी मातुवहा, जलोपुरा मेहरा, जातक, नाना प्रकार के शंख, शंखला, कौड़ी, सीप, चंदन, जौक आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव होते हैं। ये पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के होते हैं।

(२ से ४)

ये द्वीन्द्रिय के भेद हैं।

पीपिलिका बहुविधा धृतेत्यश्रौपदेहिकाः ।

लिखा मर्कोटका यूका गर्दभा मत्कुणादयः ॥५॥

इन्द्र गोपेलिका सावा गुल्मी गोमय कीटकाः ।

चौरकीटा धान्य कीटाः पंच वर्णाश्च कुन्धवः ॥६॥

तृण काष्ठ फलाहाराः पत्रवृन्ताशना अपि ।

इत्याद्यास्त्रीन्द्रियाः पर्यासापर्यास तया द्विधा ॥७॥

इति त्रीन्द्रिय भेदाः ॥

अनेक जाति की चीटियां, धीमेल, उधेय, लीख, मकोड़ा, जूं, गद्दइयां, खटमल, गोकलगाय, इयल, सावा, गुल्मी, गोबर का कीड़ा, चोर कीड़ा, अनाज का कीड़ा, पांचों रंग के कंथुआ, तृण-काष्ठ तथा फल का आहार करने वाले तथा पत्तों आदि का आहार करने वाले इत्यादि त्रीन्द्रिय जीव होते हैं । ये भी पर्याप्त और अपर्याप्त दो प्रकार के होते हैं। (५ से ७)

ये त्रीन्द्रिय के भेद हैं।

वृश्चिका ऊर्णनाभाश्च भ्रमर्योभ्रमरा अपि ।
कंसार्यो मसकास्तिड्डा मक्षिका मधुमक्षिकाः ॥८॥
पतंगा झिल्लिका दंशाः खद्योता ढिकणा अपि ।
रक्तपीत हरित्कृष्णाचित्र पक्षाश्च कीटकाः ॥९॥
नन्दावर्ताश्च कपिलडोलाद्याश्चतुरिन्द्रियाः ।
भवन्ति तेऽपि द्विविधाः पर्याप्तान्यतयाखिलाः ॥१०॥

इति चतुरिन्द्रिय भेदाः ॥

बिच्छू, मकड़ा, भौर, भ्रमर, कंसारी, मच्छर, टिड्डी, मक्खी, मधुमक्खी, पतंगा, जील्लिका, डांस, जुगनु, ढीकणा, लाल, पीली, हरी, काली तथा चित्तकवरे चित्र वाले कीड़े, नन्दावर्त, खड भाकडी इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं । इनके भी पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद हैं । (८ से १०)

ये चतुरिन्द्रिय के भेद हैं।

अथ स्थानम् -

ऊर्ध्वाधोलोकयोरेकदेश भागे भवन्ति ते ।
तिर्यग्लोके नदी कूपतटाकदीर्घिकादिषु ॥११॥
द्वीपाम्भोधिषु सर्वेषु तथा नीराश्रयेषु च ।
षोढापि विकलाक्षाणां स्थानान्युक्तानि तात्विकैः ॥१२॥
उपपातात्समुद्रघातान्निज स्थानादपि स्फुटम् ।
असंख्येयतमे भागे ते लोकस्य प्रकीर्तिताः ॥१३॥

इति स्थानम् ॥२॥

अब इनके स्थान के विषय में कहते हैं- छह प्रकार के विकलेन्द्रिय जीव ऊर्ध्वलोक के एक देश भाग के अन्दर होते हैं तथा तिर्यग् लोक में नदी, कुएं, तलाब, बावड़ी आदि में भी होते हैं तथा सर्व द्वीपों, समुद्र और जलाशयों में भी होते हैं। उपघात से, समुद्रघात से और स्व-स्व स्थान से भी वे लोक के असंख्यवें भाग में रहते हैं। (११ से १३)

ये स्थान द्वार है। (२)

आहारान्गेन्द्रियोच्छ्वास भाषाख्या एषु पंच च ।

पर्याप्तयस्तथा प्राणाः षट् सप्ताष्टौ यथाक्रमम् ॥१४॥

चत्वारः स्थावरोक्तास्ते जिह्वावागबलवृद्धितः ।

षड्द्वीन्द्रियेष्वथैकैकेन्द्रिय वृद्धिस्ततो द्वयोः ॥१५॥

इति पर्याप्तयः ॥३॥

अब पर्याप्ति के विषय में कहते हैं- इनकी पांच पर्याप्ति हैं - १. आहार पर्याप्ति, २. शरीर पर्याप्ति, ३. इन्द्रिय पर्याप्ति, ४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति और ५. भाषा पर्याप्ति। तथा प्राण दो इन्द्रिय वालों के छः, तीन इन्द्रिय वालों के सात और चार इन्द्रिय वालों के आठ होते हैं। स्थावर के चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय को पांचवां जीभ-इन्द्रिय और छठा वचन बल- ये छः प्राण होते हैं। त्रीन्द्रिय को एक इन्द्रिय बढ़ जाती है- पूर्व की ६ और १=७ सात प्राण हैं। चतुरिन्द्रिय को एक और इन्द्रिय बढ़ने से अर्थात् ७+१=८ आठ प्राण होते हैं। (१४-१५)

यह पर्याप्ति द्वार है। (३)

लक्षद्वयं च योनीनामेषु प्रत्येकमिष्यते ।

लक्षाणि कुलकीटीनां सप्ताष्ट नव च क्रमात् ॥१६॥

इति योनि संख्या कुल संख्या च ॥४-५॥

अब योनि संख्या और कुल संख्या कहते हैं- इन प्रत्येक की दो लाख योनियां हैं और कुल कोटि द्वीन्द्रिय की सात लाख, त्रीन्द्रिय की आठ लाख और चतुरिन्द्रिय की नौ लाख होती हैं। (१६)

यह चौथा योनि द्वार और पांचवां कुल कोटि द्वार कहा है। (४-५)

विवृत्ता योनिरतेषां त्रिविधा सा प्रकीर्तिता ।

सचित्ताचित्त मिश्राख्या भावना तत्र दर्शयते ॥१७॥

जीवद्गवादिदेहोत्थ कृम्यादीनां सचित्तता ।
 अचित्त काष्ठाद्युत्पन्न घृणादीनाम चित्तता ॥१८॥
 सचित्ताचित्त काष्ठादि संजातानां तु मिश्रका ।
 उष्ण शीता च शीतोष्णोत्पि सा त्रिविधा मता ॥१९॥

इति योनि स्वरूपम् ॥६॥

अब योनि का स्वरूप कहते हैं- जिसकी योनि विवृत्त होती है और वह सचित, अचित और मिश्र इस तरह तीन प्रकार की है । जीते बैल आदि के शरीर से निकलते कीड़े आदि की योनि सचित है अचित काष्ठ आदि के कीड़ों की अचित योनि होती है तथा सचित अचित काष्ठ आदि कीड़ों की मिश्र योनि है तथा उष्ण, शीत व शीतोष्ण- इस तरह भी तीन प्रकार की योनि कही है। (१७ से १९)

यह योनि द्वार है। (६)

द्वयक्षाणां द्वादशाब्दानि भवेज्येष्ठा भवस्थितिः ।
 त्र्यक्षाणां पुनरेकोनपंचाशदेव वासराः ॥२०॥
 षण्मासाश्चतुरक्षाणां जघन्यान्तर्मुहूर्त्तकम् ।
 सान्तर्मुहूर्त्तानां त्वेषां स्यात्पर्याप्ततया स्थितिः ॥२१॥

इति भवस्थितिः ॥७॥

अब भवस्थिति का स्वरूप कहते हैं- द्वीन्द्रिय वाले जीवों की उत्कृष्ट भव स्थिति बारह वर्ष की है। त्रीन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट भवस्थिति उनचास दिन की है, चतुरिन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट भवस्थिति छः मास की है और जघन्य भव स्थिति तो सर्व विकेलेन्द्रिय की अन्तर्मुहूर्त्त की है और उनके पर्याप्त रूप की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त से कम है। (२०-२१)

यह भव स्थिति द्वार है। (७)

औघतो विकलाक्षेषु कायस्थितिरूरी कृता ।
 संख्येयाब्द सहस्राणि प्रत्येकं च तथा त्रिषु ॥२२॥
 पर्याप्तत्वे तु नवरं द्वयक्षकाय स्थितिर्मिता ।
 संख्येयान्येव वर्षाणि श्रूयतां तत्र भावना ॥२३॥
 भवस्थिति द्वीन्द्रियाणामुत्कृष्टा द्वादशाब्दिकी ।
 तादृग् निरन्तर कियद् भवादाना दसौ भवेत् ॥२४॥

एवमग्रेऽपि..... संख्येयदिन रूपा च पर्याप्ता त्रीन्द्रियांगिनाम् ।

पर्याप्त चतुरक्षाणां संख्येय मास रूपिका ॥२५॥

इति कायस्थितिः ॥८॥

अब कायस्थिति का स्वरूप कहते हैं- तीन प्रकार के विकलेन्द्रिय जीवों को ओघ से काय स्थिति प्रत्येक की तथा तीनों प्रकार की मिलाकर संख्यात सहस्रों वर्षों की है। परन्तु इसमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय की कायस्थिति संख्यात वर्षों की ही कही है क्योंकि द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट भवस्थिति बारह वर्ष की है और ऐसी एक के बाद एक लगातार कई जन्म करने से काय स्थिति होती है। इसी प्रकार पर्याप्त त्रीन्द्रिय जीवों की संख्यात दिनों की होती है और पर्याप्त चतुरिन्द्रियों की संख्यात मास की काय- स्थिति रहती है। (२२ से २५)

यह काय स्थिति द्वार है। (८)

कार्मणं तैजसं चौदारिकमेतत्तनुत्रयम् ।

इति देहाः॥९॥

केवल हुंड संस्थानमेतेषां परिकीर्तितम् ॥२६॥

इति संस्थानम् ॥१०॥

इनके शरीर तीन प्रकार के हैं- कार्मण, तैजस और औदारिका

यह देहमान द्वार है। (९)

संस्थान केवल हुंडक संस्थान ही कहा है। (२६)

यह संस्थान द्वार है (१०)

योजनानि द्वादशैषां त्रिगव्यृत्येक योजनम् ।

ऋमाञ्ज्येष्ठा तनुर्लघ्व्यंगुलासंख्यवोन्मिता ॥२७॥

देहमान उत्कृष्ट द्वीन्द्रिय का बारह योजन है, त्रीन्द्रिय का तीन कोस और चतुरिन्द्रिय का एक योजन होता है। जघन्यतः शरीरमान तीनों का अंगुल के असंख्यतवें भाग जितना होता है। (२७)

आहुश्च- "बारस जोअण संखो तिकोस गुम्मी य जो अणं भमरो ॥इति॥"

इति अंगमानम् ॥११॥

इस सम्बन्ध में अन्यत्र स्थान पर कहा है- 'उत्कृष्टतः शंख बारह योजन का, गुल्मी तीन कोस की, और भौरा एक योजन का होता है।' यह देहमान द्वार है। (११)

वेदनोत्थः कषायोत्थो मरणान्तिक इत्यपि ।

विकलेन्द्रिय जीवानां समुद्घाता अमी त्रयः ॥२८॥

इति समुद्घाता ॥१२॥

इन विकलेन्द्रिय जीवों का समुद्घात तीन प्रकार का होता है - १. वेदना से उत्पन्न होता है, २. कषाय से उत्पन्न होता है और ३. मरणान्तिक से होता है। (२८)

यह समुद्घात द्वार है। (१२)

पृथ्व्याद्याः स्थावराः पंच द्वीन्द्रियाद्यास्त्रयः पुनः ।

संख्येयजीविनः पंचेन्द्रिय तिर्यग् नरा अपि ॥२९॥

स्थानकेषु दशस्वेषु गच्छन्ति विकलेन्द्रियाः ।

दशभ्य एवैतेभ्यश्चोत्पद्यन्ते विकलेन्द्रियाः ॥३०॥ युग्मं ।

अब गति और आगति के विषय में कहते हैं- पृथ्वीकाय आदि पांचों स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय तथा संख्यात आयुष्य वाले पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्य, इन दसों स्थानकों के अन्दर विकलेन्द्रिय जीवों की गति है और इन्हीं दसों स्थानों में से इनकी आगति होती है। असंख्यात् आयुष्य वाले तिर्यच और मनुष्य की गति में वे जाते नहीं हैं, वैसे ही वहां से आते भी नहीं हैं। (२९-३०)

न देव नारकासंख्य जीवतिर्यगनरेषु च ।

एषां गम गमौ तस्मात् द्विगता द्वयागता इति ॥३१॥

देवता अथवा नारकी में भी उनकी गति या आगति नहीं है । इसलिए उनको मनुष्य और तिर्यच की दो ही गति और दो ही आगति रहती हैं। (३१)

उपपात च्यवनयोर्विरहो द्वीन्द्रियादिषु ।

अन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टो जघन्यः समयावधिः ॥३२॥

उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते चैकेन समयेन ते ।

एको द्वौ वा त्रयः संख्या असंख्या विकलेन्द्रियाः ॥३३॥

इति गतागती ॥१३-१४॥

विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति और च्यवन का विरह उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्त्त का है और जघन्यतः एक समय का कहा है। इन विकलेन्द्रिय जीवों की एक समय

में जन्म- मरण की संख्या एक, दो, तीन बार, आखिर में तो संख्य तक और इससे भी विशेष असंख्यात हो सकती है। (३३)

ये गति आगति द्वार है । (१३-१४)

लब्ध्या नृत्वादि सामग्रीं केचिदासादयन्त्यमी ।

यावद् दीक्षां भवे गम्ये न तु मोक्षं स्वभावतः ॥३४॥

इति अनन्तरासिः ॥१५॥

विकलेन्द्रिय जीव मनुष्यत्व आदि सामग्री के योग से अनन्तर भव में यावत् सर्व विरति रूप दीक्षा प्राप्त कर सकता है, परन्तु स्वभावतः मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। (३४)

यह अन्तरासि द्वार है। (१५)

एकस्मिन् समये सिद्धिर्विकलानां न सम्भवेत् ।

ग्रामो नास्ति कृतः सीमा मोक्षी नास्तीति सा कुत ॥३५॥

इति एक समय सिद्धिः ॥१६॥

विकलेन्द्रिय जीव को मोक्ष ही नहीं है अतः एक समय सिद्धि के समान कुछ नहीं रहता क्योंकि गांव के बिना सीमा किस तरह हो सकती है? (३५)

यह एक समय सिद्धि द्वार है। (१६)

कृष्ण नीला च कापोतीत्येषां लेश्या त्रयं स्मृतम् ।

इति लेश्या ॥१७॥

त्रसनाड्डचन्तरे सत्त्वादाहारः षड्दिगुद्भवः ॥३६॥

इति आहारादिक् ॥१८॥

विकलेन्द्रिय जीव की लेश्या तीन होती हैं - १. कृष्ण, २. नील और ३. कपोत।

यह लेश्या द्वार है। (१७)

ये जीव त्रस नाडी के अन्दर होने से इनको छः दिशाओं का आहार होता है। (३६)

यह आहारादिक द्वार है। (१८)

एषां संहननं चैकं सेवार्त्तं परिकीर्तितम् ।

इति संहननम् ॥१६॥

मान माया क्रोध लोभ कषाया एषु वर्णिताः ॥३७॥

इति कषायाः ॥२०॥

विकलेन्द्रिय जीवों को एक सेवार्त्त नामक संहनन ही होता है । यह संहनन द्वार है । (१६)

इनको क्रोध, मान, माया और लोभ- ये चारों कषाय होते हैं । (३७)

यह कषाय द्वार है । (२०)

आहार प्रमुखाः संज्ञाश्च तस्त्र एषु दर्शिताः ।

इति संज्ञाः ॥२१॥

द्वयक्षाणां स्पर्शनं जीह्वेत्याख्यातमिन्द्रियं द्वयम् ॥३८॥

तत् त्र्यक्ष चतुरक्षाणां क्रमाद् घ्राणेक्षणाधिकं ।

इति इन्द्रिय ॥२२॥

असत्त्वाद्वयक्त संज्ञानां ते निर्दिष्टा असंज्ञिनः ॥३९॥

विकलेन्द्रिय जीवों को आहार आदि चार संज्ञा होती हैं ।

यह संज्ञा द्वार है । (२१)

द्वीन्द्रिय जीव को स्पर्शेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय होती हैं । त्रीन्द्रिय जीव को पूर्व की दो और तीसरी घ्राणेन्द्रिय, और चतुरिन्द्रिय जीव को पूर्व की तीन और चौथी चक्षुरिन्द्रिय होती है ।

यह इन्द्रिय द्वार है । (२२)

विकलेन्द्रिय जीव को प्रगट रूप में संज्ञा नहीं होती है इसलिए उन्हें असंज्ञी कहा है । (३८-३९)

यद्वा..... न दीर्घं कालिकी नापि दृष्टि वादोपदेशिकी ।

स्याद्भेतु वादिकी ह्येषां न तथा संज्ञिता पुनः ॥४०॥

इति संज्ञिता ॥२३॥

अथवा इनको दीर्घकालिक अथवा दृष्टिवाद उपदेशक संज्ञा नहीं होती है, केवल हेतुवादि संज्ञा होती है, परन्तु इससे उनमें संज्ञित्व नहीं कहलाता । अतः उनको असंज्ञी कहा जाता है। (४०)

यह संज्ञिता द्वार है । (२३)

केवलं क्लीबवेदाश्च मिथ्यादृष्टय एव ते ।

सम्यग् दृशो ह्यल्पकालं विद्युज्ज्योतिर्निदर्शनात् ॥४१॥

अब इनका वेद और दृष्टि विषय कहते हैं- विकलेन्द्रिय जीव का केवल नपुंसक वेद होता है और वे मिथ्या दृष्टि ही होते हैं क्योंकि उनको विद्युत की ज्योति के समान अल्पकाल तक ही सम्यक् दृष्टि रहती है। (४१)

सास्वादानाख्य सम्यक्त्वे किञ्चित् शेषे मृतिं गताः ।

विकलाक्षेषु जायन्ते ये केचित्तदपेक्षया ॥४२॥

अपर्याप्त दशायां स्युः सम्यग् दृशोऽपि केचन ।

पर्याप्तत्वे तु सर्वेऽपि मिथ्यादृष्टय एव ते ॥४३॥ युग्मं ।

इति वेदः दृष्टिश्च ॥२४-२५॥

सास्वादन समकित कुछ शेष रह जाय तब मृत्यु प्राप्त कर यदि कोई प्राणी विकलेन्द्रिय में उत्पन्न होता है, इस अपेक्षा से अपर्याप्त दशा में कई सम्यक् दृष्टि जीव भी होते हैं परन्तु पर्याप्त दशा में तो सर्व मिथ्या दृष्टि ही होते हैं। (४२-४३)

ये वेद और दृष्टि द्वार हैं। (२४-२५)

मतिश्रुताभिधं ज्ञानद्वयं सम्यग्दृशां भवेत् ।

मत्यज्ञान श्रुताज्ञाने तेषां मिथ्यात्विनां पुनः ॥४४॥

इति ज्ञानम् ॥२६॥

अब ज्ञान के विषय में कहते हैं- सम्यक् दृष्टि विकलेन्द्रिय जीव को मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान ये दो ज्ञान होते हैं परन्तु उनमें जो मिथ्यात्वी हैं उनको मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान होता है। (४४)

यह ज्ञान द्वार है । (२६)

अचक्षुर्दर्शनोपेता द्वित्र्यक्षाश्चतुर्निन्द्रियाः ।

सचक्षुर्दर्शना चक्षुर्दर्शनाः कथिता जिनैः ॥४५॥

इति दर्शनम् ॥२७॥

द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीव को अचक्षुदर्शन होता है जबकि चतुरिन्द्रिय जीव को चक्षुदर्शन तथा अचक्षुदर्शन दोनों जिनेश्वर देव ने कहे हैं। (४५)

यह दर्शन द्वार है। (२७)

स्युः साकारोपयोगास्ते ज्ञानाज्ञानव्यपेक्षया ।

निराकारोपयोगास्ते दर्शनापेक्षया पुनः ॥४६॥

इति उपयोग ॥२८॥

विकलेन्द्रिय जीव को ज्ञान और अज्ञान की अपेक्षा से साकार उपयोग होता है जबकि दर्शन की अपेक्षा से निराकार उपयोग होता है। (४६)

यह उपयोग द्वार है। (२८)

द्विवक्रस्त्रिषणान्तश्च संभवत्येषु विग्रहः।

ततस्तत्रैक समयं व्यवहाराद नाहतिः ॥४७॥

निश्चयात् द्वि समया स्यादनाहारिता किल ।

विग्रहे विकलाक्षणामाहारकत्वमन्यदा ॥४८॥

विकलेन्द्रिय जीव को दो वक्र घाले और तीन समय तक का विग्रह संभव हो सकता है और इस विग्रह गति में व्यवहार नय की अपेक्षा से वे एक समय अनाहारी रहते हैं परन्तु निश्चय नय की अपेक्षा से दो समय तक अनाहारी रहते हैं। अन्यदा ये आहारक होते हैं। (४७-४८)

एते प्रागोज आहारास्ततः पर्याप्त भावतः ।

लोमाहाराः कावलिकाहारा अपि भवन्त्यमी ॥४९॥

संचिताचित मिश्राख्य एषामाहार इष्यते।

अन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टमाहारस्यान्तरं मतम् ॥५०॥

इति आहारः ॥२९॥

पहले तो इनको ओज आहार होता है, परन्तु फिर भाव प्राप्त करते हैं तब उनको लोभ आहार और कवल आहार भी होते हैं। और उनको सचित, अचित और मिश्र- इस तरह तीन आहार होते हैं। इनके दो आहार के बीच का उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है। (४९-५०)

यह आहार द्वार है। (२९)

पर्याप्तानां गुणस्थानमेतेषामुक्तमादिमम् ।

अपर्याप्तामां तदाद्यं द्वितीयमपि जातुचित् ॥५१॥

इति गुणाः ॥३०॥

इसके गुण स्थान कहते हैं- विकलेन्द्रिय जीवों में जो पर्याप्त होते हैं उनको प्रथम गुण स्थान होता है और जो अपर्याप्त होते हैं उनको पहला और क्वचित् दूसरा गुण स्थान भी होता है। (५१)

यह गुण द्वार है । (३०)

औदारिकः काय योग तन्मिश्रः कर्मणस्तथा ।

वाग सत्यामृषा चेति योगाश्चत्वार एष्वमी ॥५२॥

इति योगः ॥३१॥

योग के विषय में कहते हैं- विकलेन्द्रिय जीवों को चार योग होते हैं- १. औदारिक काय योग, २. औदारिक मिश्रयोग, ३. कर्मण काय योग और ४. असत्य मृषा वचन योग । (५२)

यह योग द्वार है। (३१)

एकस्मिन् प्रतरे सूच्योऽङ्गुल संख्यांशकायति ।

तावन्तो द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पर्याप्तकाः पृथक् ॥५३॥

एकस्मिन् प्रतरे सूच्योऽङ्गुलासंख्यांशकायति ।

अपर्याप्ता द्वित्रिचतुरक्षास्तावन्त ईरिता ॥५४॥

इसके मान अर्थात् प्रमाण के विषय में कहते हैं- एक अंगुल के संख्यातवें भाग जितनी लम्बाई वाले एक प्रतर के अन्दर जितनी सूचियां होती हैं उतने अलग-अलग पर्याप्त द्वीन्द्रिय, जीव त्रीन्द्रिय जीव और चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं और एक अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी लम्बाई वाले एक प्रतर के अन्दर जितनी सूचियां हों उतने अलग-अलग अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं। (५३-५४)

उक्तं च..... पञ्जतापजत्ता विति चउ अस्सत्रिणो अवहरन्ति ।

अंगुल संखसांखप्पएस भइयं पुढो पररं ॥५५॥

इति मानम् ॥३२॥

कहा है कि- जैसे अंगुल के संख्यात और असंख्यात प्रदेश से भरे हुए अलग-अलग प्रतर का पर्याप्त है वैसे ही अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव तथा संज्ञी अवहरता है। (५५)

यह मान प्रमाण द्वार है। (३२)

सर्वस्तोकाः चतुरक्षाः पर्याप्ताः परिकीर्तिताः ।

पर्याप्त द्वीन्द्रियास्तेभ्योऽधिकास्तेभ्यस्त्रिस्वास्तया ॥ ५६ ॥

अब अल्पबहुत्व के विषय में कहते हैं- पर्याप्त चतुरिन्द्रिय सबसे थोड़े हैं, इससे अधिक पर्याप्त द्वीन्द्रिय हैं और इससे भी अधिक पर्याप्त त्रीन्द्रिय होते हैं। (५६)

असंख्येय गुणास्तेभ्योऽपर्याप्त चतुरिन्द्रियाः ।

त्रिद्वीन्द्रिया अपर्याप्तास्ततोऽधिकाधिकाः क्रमात् ॥ ५७ ॥

इति अल्पबहुत्व ॥ ३३ ॥

इससे असंख्यात गुणा अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय हैं, इससे अधिक अपर्याप्त त्रीन्द्रिय हैं और इससे विशेष रूप में अधिक द्वीन्द्रिय होते हैं। (५७)

यह अल्पबहुत्व द्वार है। (३४)

इमे प्रतीच्यामत्यल्पाः प्राच्यां विशेषतोऽधिकाः ।

दक्षिणस्यामुत्तरस्यामेभ्योऽधिकाधिकाः क्रमात् ॥ ५८ ॥

अल्पतां बहुतां चानुसरन्त्येतेऽम्बु कायिनाम् ।

प्रायो जलाशयेष्वेषा भूम्नोत्यत्तिः प्रतीयते ॥ ५९ ॥

द्वयक्षाः पूतर शंखाद्याः स्युः प्रायो बहवो जले ।

शेवालादौ च कुन्धवाद्या भृंगाद्याश्चाम्बुजादिषु ॥ ६० ॥

इति दिगपेक्षया अल्पबहुत्वम् ॥ ३४ ॥

अब दिगपेक्षया अल्पबहुत्व कहते हैं- पश्चिम दिशा में बहुत अल्प विकलेन्द्रिय होते हैं, पूर्व में इससे अधिक होते हैं, दक्षिण दिशा में इससे अधिक और उत्तर दिशा में और भी अधिक होते हैं। इनका अल्पत्व अथवा बहुत्व अप्पकाय जीवों के अनुसार जानना। क्योंकि प्रायः इनकी उत्पत्ति अधिकतः जलाशयों में ही दिखती है, पुरे, शंख आदि द्वीन्द्रिय जीव प्रायः जल में बहुत होते हैं। कुंथु आदि

सेवार-काई में बहुत होते हैं और भौर आदि कमल पुष्प में बहुत होते हैं। (५८ से ६०)

यह दिगपक्षेया अल्प बहुत्व द्वार है। (३४)

अल्पमन्तर्मुहूर्तं स्यात् कालोऽनन्तोऽन्तरं महत् ।

वनस्पत्यादिषु स्थित्वा पुनर्विकलताजुषाम् ॥६१॥

इति अन्तरम् ॥३५॥

इनके अन्तर के विषय में कहते हैं- जो जीव वनस्पति आदि में रहकर पुनः विकलेन्द्रिय रूप प्राप्त करता है उन दोनों की स्थिति के बीच का अन्तर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टतः अनन्तकाल प्रमाण है। (६१)

यह अन्तर द्वार कहा है। (३५)

इस तरह इकसठ श्लोकों के द्वारा विकलेन्द्रिय जीवों का स्वरूप समझाया गया है। अब पंचेन्द्रिय जीवों का स्वरूप कहते हैं-

तिर्यचो मनुजा देवा नारकाश्चेति तात्त्विकैः ।

स्मृता पंचेन्द्रिया जीवाश्चतुर्धा गणधारिभिः ॥६२॥

तत्त्व के जानकार श्री गणधर भगवन्त ने पंचेन्द्रिय जीवों के चार भेद कहे हैं-

१. तिर्यच, २. मनुष्य, ३. देव और ४. नारकी। (६२)

त्रिधा पंचाक्ष तिर्यचो जल स्थल ख चारिणः ।

अनेकधा भवन्त्येते प्रति भेद विवक्षया ॥६३॥

पंचेन्द्रिय तिर्यच के तीन भेद होते हैं- जलचर, स्थलचर और खेचर; तथा इसके भी उपभेद हैं, यह देखते अनेक भेद कहलाते हैं। (६३)

दृष्टा जलचरास्तत्र पंचधा तीर्थपार्थिवैः ।

मत्स्याश्च कच्छपा ग्राहा मकरा शिशुमारकाः ॥६४॥

जलचर जीव के पांच भेद हैं- मत्स्य, कछुआ, ग्राह, मकर और शिशुमार।

(६४)

तत्रानेक विधा मत्स्याश्लक्षणास्तिमितिमिंगलाः ।

नक्रास्तंडुल मत्स्याश्च रोहिताः कणिकाभिघाः ॥६५॥

पीठ पाठीनशकुलाः सहस्रदंष्ट्र संज्ञकाः ।

नलमीना उलूपी च प्रोष्ठी च मदगुरा अपि ॥६६॥

चटाश्रटकराश्चापि पताकातिपतातिकाः।

सर्वे ते मत्स्य जातीया ये चान्येऽपि तथा विधाः ॥६७॥

इसमें भी मत्स्य-मछली के अनेक भेद होते हैं। वह इस प्रकार- श्लक्षण, तिमि, तिमिंगल, नक्र, तंडुल, रोहित, कणिक, पीठ, पीठन, शकुल, सहस्रदंष्ट्र, नलमीन, उलूपी, प्रोष्टी, मुद्गर, चट, चटकर, पताका और अतिपतातिका- ये सर्व तथा ऐसे अन्य भी होते हैं, वे सब मत्स्य की जातियां होती हैं। (६५-६७)

कच्छपा द्विविधा अस्थिकच्छपा मांसकच्छपाः ।

ज्ञेया संज्ञाभिरेताभिः ग्राहाः पंचविधा पुनः ॥६८॥

॥ दिल्ली, वेढला, सुद्धला, पुलगा, सीसागारा इति ॥

कच्छप- कछुआ के दो भेद हैं - १. अस्थिकच्छप और २. मांसकच्छप। ग्राह पांच प्रकार के हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- 'दिली, वेढला, सुद्धला, पुगला और सीसागारा।' (६८)

द्विविधा मकर शोंडा मट्टा इति विभेदतः ।

एकाकाराः शिशुमाराः सर्वेऽपि जलचारिणः ॥६९॥

इति जलचराः ॥

मकर-मगर या घड़ियाल दो जाति के होते हैं- शोंड और मट्ट। शिशुमार-सूस नामक जल जन्तु कहलाता है। इसकी एक ही जाति होती है। (६९)

ये सब जलचर जीव होते हैं।

चतुष्पदाः परिसर्पा इति स्थलचरा द्विधा ।

चतुष्पदाश्चतुर्भेदैस्तत्र प्रोक्ता विशारदैः ॥७०॥

केचिदेक खुराः केचिद् द्विखुरा अपरे पुनः ।

गंडीपदाश्च सनखपदा अन्ये प्रकीर्तिताः ॥७१॥

अब स्थलचर-भूमि पर चलने वाले जीव के विषय में कहते हैं- स्थलचर के दो भेद हैं- १. चौपैर और २. परिसर्पक। उसमें भी चार पैर वाले के चार प्रकार हैं- १. एक खुर (नख) वाला, २. दो खुर वाला, ३. गंदी पद और ४. नखुर वाले होते हैं। (७०-७१)

अभिन्नाः स्यु खुरा येषां ते स्युरेक खुराभिधाः ।

गर्दभाश्चादयस्ते तु रोमन्थं रचयन्ति न ॥७२॥

जिसमें खुर में अलग विभाग न हो- एकत्र जुड़ा हुआ हो वह एक खुर वाला कहलाता है, उदाहरण रूप में गधा, अश्व आदि हैं जो जुगाली नहीं करते हैं। (७२)

भिन्न येषां खुरास्ते स्युर्द्विखुरा बहुजातयः ।

महिषा गवया उष्ट्रा वराहछगलैडकाः ॥७३॥

रुखः शरभाश्चापि चमरा रोहिषा मृगाः ।

गोकर्णाद्या अमी सर्वे रोमन्थं रचयन्ति वै ॥७४॥ युग्मं ।

जिसके खुर भिन्न हों अर्थात् बीच में फटे हुए हों वे दो खुर वाले कहलाते हैं जैसे भैंस, गाय, ऊंट, सुअर, बकरी, मेंढा, रुख, शरभ, चमर गाय, रोहिष मृग, गोकर्ण इत्यादि जुगाली करने वाले प्राणी होते हैं। (७३-७४)

स्यात्पद्म कर्णिका गंडी तद्वद्येषां पदाश्च ते ।

हस्ति गडक खड्गाद्या गंडीपदाः प्रकीर्तिताः ॥७५॥

गंडी अर्थात् पद के बीचकोश अथवा वृक्ष की जड़-मूल के समान जिसके पैर हो वह गंडी पद कहलाता है। उदाहरण रूप में हाथी, गेंडा, खंडक आदि हैं। (७५)

इति उत्तराध्ययन वृत्तौ ॥ प्रज्ञापना वृत्तौ तु- "गंडी सवर्णकाराधिकरण स्थान-मिति ॥"

गंडी शब्द का यह अर्थ उत्तराध्ययन सूत्र की वृत्ति में किया है। प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में तो 'गंडी अर्थात् सोनी की ऐरण' कहा है। वर्तमान कोषकार तो गंडी अर्थात् वृक्ष की जड़ कहते हैं। ऐरण के लिये तो वे गंडु शब्द उपयोग करते हैं।

येषां पदा नखैर्दीर्घैः संयुताः स्युः शुनामिव ।

तीर्थकरैस्ते सनखपदा इति निरूपिताः ॥७६॥

सिंहा व्याघ्रा द्वीपिनश्च तरक्षा ऋक्षका अपि ।

शृगालाः शशकाश्चित्राः श्वानश्चान्ये तथा विधाः ॥७७॥

इति चतुष्पदा ॥

जिनके पैर श्वान के समान दीर्घ नख वाले होते हैं उनको नाखून-नहोर वाले तीर्थकर देव ने कहा है। जैसे कि सिंह, व्याघ्र, गीदड़, तरस, भालू, सियार, चीता, श्वान और ऐसे और भी जो हों वह नाखून वाले कहलाते हैं। (७६-७७)

इतने चार पैर वाले होते हैं।

भुजोरः परिसर्पत्वात् परिसर्पा अपि द्विधा ।

तत्रोरः परिसर्पाश्च चतुर्धा दर्शिता जिनैः ॥७८॥

अह्योऽजगरा आसालिका महोरगा इति ।

अह्यो द्विविधा दर्वीकरा मुकुलिनस्तथा ॥७९॥

अब स्थलचर के दूसरे भेद परिसर्पक के विषय में कहते हैं- परिसर्पक के दो भेद हैं; १- भुजा से चलने वाले और २- पेट से चलने वाले। पेट से चलने वाले चार प्रकार के जिनेश्वर ने कहे हैं। सर्प, अजगर, आसालिका और महोरगा। इनमें भी सर्प दो प्रकार होते हैं- दर्वीकर और मुकुली। (७८-७९)

दर्वीकरा फणभृतो या देहावयवाकृतिः ।

फणाभावो चित्ता सा स्यात् मुकुलं तद्युताः परे ॥८०॥

जिसकी देहावयव की आकृति फण वाली हो वह दर्वीकर, दर्वी- फण को करने वाला; और जिसकी देहावयव की आकृति मुकुल अर्थात् फण का अभाव हो वह मुकुली नामक सर्प होता है। (८०)

दर्वीकरा बहुविधा दृष्ट दृष्टा जगन्त्रयैः ।

आशीविषा दृष्टिविषा उग्रभोग विषा अपि ॥८१॥

लालाविषास्त्वग्विषाश्च श्वासोच्छ्वासविषा अपि ।

कृष्णसर्पाः स्वेदसर्पाः काकोदरादयोऽपि च ॥८२॥ युगं ।

दर्वीकर अर्थात् फणधर सर्प बहुत प्रकार के होते हैं। आशीविष सर्प, दृष्ट-विष सर्प, उग्रविष सर्प, भोगविष सर्प, लालविष सर्प, त्वग्विष सर्प, श्वासोच्छ्वास विष सर्प, कृष्ण सर्प, स्वेद सर्प, काकोदर आदि नाना प्रकार के सर्प होते हैं। (८१-८२)

तत्र च..... आशीर्दृष्टा विषं तस्यां येषामाशी विषाहिते ।

जम्बूद्वीपमितं देहं विषसात्कर्तुमीश्वराः ॥८३॥

शक्ते विषय एवायं भूतं भवति भाविनो ।

ताद्रक् शरीरासम्पत्त्या पंचमांगेऽर्थतो हृदः ॥८४॥

आशी अर्थात् दाढ़ में जिसको विष हो वह आशीविष सर्प कहलाता है। इसमें जम्बूद्वीप प्रमाण शरीर को भी विषमय करने का सामर्थ्य होता है। यह तो केवल उसकी शक्ति बताने के लिये कहा है परन्तु इतना बड़ा शरीर नहीं होता,

और इस तरह कभी विषमय नहीं होता है और न होने वाला ही है। ऐसा भावार्थ भगवती सूत्र में कहा है। (८३-८४)

घोण साद्या मुकुलिनः इत्येवमहयो द्विधा ।

एकाकारा अजगरा आसालिकानथ बुवे ॥८५॥

मुकुली अर्थात् फण रहित गोनस जाति के सर्प होते हैं। इस तरह दो प्रकार के सर्प हुए। पेट से चलने वाला दूसरी प्रकार का अजगर है। यह एक ही प्रकार का सर्प होता है जो बड़े-बड़े प्राणी को निगल जाता है। (८५)

अन्तर्मनुष्य क्षेत्रस्य केवलं कर्म भूमिषु ।

काले पुनर्युगलिनां विदेहेष्वेव पंच सु ॥८६॥

चक्रचर्धचक्रिरामाणां महानुप महीभृताम् ।

स्कन्धावार निवेशानां विनाशे समुपस्थिते ॥८७॥

एवं च नगर ग्राम निगम खेटादीनामुपस्थिते ।

विनाशे तदधः सम्मूर्च्छन्त्यासालिक संज्ञकाः ॥८८॥ विशेषकं।

अब तीसरे प्रकार के 'आसालिक' नामक सर्प का स्वरूप कहते हैं- भरत क्षेत्र के अन्दर केवल कर्मभूमियों में से १० कर्मभूमियों में जब युगलिया का समय हो तब पांच, महाविदेहों में, चक्रवर्ती वासुदेव तथा बलदेव के समान महान् राजाओं की सेना के समय में तथा नगर, गांव, निगम और द्वीप टापू आदि के विनाश समय में उनकी निश्रा में आसालिक नामक सम्मूर्च्छिम जन्तु उत्पन्न होता है। (८६ से ८८)

अंगुलासंख्य भागांगाः प्रथमुत्पन्नका अमी ।

वर्धमान शरीराश्लोत्कर्षादि द्वादश योजनाः ॥८९॥

बाहुल्य पृथुलत्वाभ्यां ज्ञेयास्तदनुसारतः ।

अज्ञानिनोऽसंज्ञिनश्च ते मिथ्यादृष्टयो भताः ॥९०॥

उत्पन्न एव ते नश्यन्त्यन्तर्मुहूर्त्त जीविताः ।

नष्टेषु तेषु तत्स्थाने गत्वा पतति तावती ॥९१॥

भयंकराथ सा गत्वा राक्षसीव बुभुक्षिता ।

क्षिप्रं ग्रसति तत्सर्वं स्कन्धावार पुरादिकम् ॥९२॥

जब वह प्रथम बार उत्पन्न होता है तब उसका शरीर मात्र अंगुल के असंख्यातवें भाग के समान होता है और फिर बढ़ते हुए आखिर में बारह योजन का

हो जाता है और इसकी मोटाई भी प्रमाण के अनुसार बढ़ जाती है । वह ज्ञान रहित, संज्ञा रहित और मिथ्या दृष्टि वाला होता है। वह उत्पन्न होते ही अन्तर्मुहूर्त्त के अन्दर मर जाता है और मृत्यु के बाद उस स्थान पर उसके शरीर सदृश खड़ा हो जाता है । वह खड़ा होकर मानो एक भयंकर क्षुधातुर राक्षसी हो- इस तरह वह सेना तथा नगर को तुरन्त निगल जाता है। (८६ से ९२)

उक्तं जीव समासे तु स्युरेते द्वीन्द्रिया इति ।

शरीरोत्कर्ष साधर्म्याद्वेद तत्त्वं तु केवली ॥६३॥

इसको जीव समास में तो शरीर के उत्कर्ष के साधर्म्य के कारण द्वीन्द्रिय कहा है। तत्त्व तो केवली भगवन्त जायें। (६३)

महोरगा बहुविधा केचिदंगुल देहकाः ।

तत्पृथक्त्वांगकाः केचिद्विद्वितस्ति तनवः परे ॥६४॥

एवं रत्नि कुक्षि चापैर्योजनैस्तच्छतैरपि ।

पृथक्त्व वृद्धया यावत्ते सहस्रयोजनांगकाः ॥६५॥

चौथे प्रकार का सर्प महोरग नामक होता है । इसके अनेक प्रकार हैं । कोई तो अंगुल के समान होता है, कोई पृथक्त्व अंगुल सदृश होता है, कोई बेंत के समान, कोई हाथ के समान, कोई कुक्षि के समान, कोई धनुष्य के समान, योजन के समान, सौ योजन के समान होता है और आखिर हजार योजन के समान भी होता है। (६४-६५)

स्थले जलेऽपि विचरन्त्येते स्थलोद्भवा अपि ।

नरक्षेत्रे न सन्त्येते बाह्य द्वीप समुद्रगाः ॥६६॥

इति उरः परिसर्पाः ॥

इसकी उत्पत्ति स्थल-जमीन पर होती है परन्तु स्थल और जल दोनों में विचरण होता है। इसकी मनुष्य क्षेत्र में उत्पत्ति नहीं होती परन्तु बाह्य द्वीप समुद्रों में होती है। (६६)

इतना उर परिसर्प-पेट से चलने वाले स्थलचर हैं।

वक्ष्ये भुजपरिसर्पास्ते त्वनेकविधाः स्मृताः ।

नकुला सरटा गोधा ब्राह्मणी गृह गोधिकाः ॥६७॥

छुच्छुंदरी मूषकाश्च हालिनीजाहकादयः ।

एवं स्थलचरा उक्ता उच्यन्ते खचरा अथ ॥६८॥

अब भुजपरिसर्प अथत् भुजा के बल पर चलने वाले भी अनेक प्रकार के होते हैं । नेवला, सरडा, गोधा, ब्राह्मणी, छिपकली, छंछुंदर, चूहा, हालिनी, जहक इत्यादि इस तरह स्थलचर होते हैं । अब खेचर के विषय में कहते हैं। (६७-६८)

ते चतुर्था लोम चर्म समुदगविततच्छदाः ।

तत्र हंसा कलहंसाः कपोत केकि वायसाः ॥६९॥

खेचर चार प्रकार कहे हैं - १. लोमपक्षी, २. चर्मपक्षी, ३. समुद्र पक्षी और ४. विततपक्षी। उसमें प्रथम भेद इस तरह हैं- हंसकल, हंस, कबूतर, मोर, कौआ ॥६९॥

ढंकाः कंकाश्चक्रवाकाश्चकोर क्रौंच सारसाः ।

कपिंजलाः कुर्कटाश्च शुकतित्तिरलावका ॥१००॥

हारीताः कोकिलाश्चाषाः वक चातक खंजनाः ।

शकु निचट कागूथाः सुग्रहश्येन सारिका ॥१०१॥

शतपत्र भरद्वाजाः कुम्भकाराश्च टिट्टिभाः ।

दुर्ग कौशिकदात्यूह प्रमुखा लोम पक्षिणा ॥१०२॥ कलापकम्।

ढंक, कंक, चक्रवाक, चकोर, क्रौंच, सारस, कपिंजल, कुकड़ा, तोता, तीतर, लावरी- लवा, हास्ति- कोयल, चाष- बगुला, चातक, खंजन, समद्री चील, गौरैया, गिद्ध, बया, श्वेत सारिका, शतपत्र, चडोल, कुम्भकार, टिट्टियां, उल्लू और दात्यूह इत्यादि लोम पक्षी होते हैं। (१०० से १०२)

वल्गुली चर्म चटिका आटि भारुंडपक्षिणः ।

समुद्र वायसा जीवजीवाद्याश्चर्मपक्षिणा ॥१०३॥

वागला, चिमगादड़, आटी, भारुंड, समुद्र का कौवा और जीवजीव इत्यादि चर्म पक्षी होते हैं। (१०३)

समुद्रगवत्संघटितौ येषामुडुयनेऽपि हि ।

पक्षो स्यातां ते समुद्र पक्षिणः परिकीर्तिता ॥१०४॥

अवस्थानेऽपि यत्पक्षौ ततो ते विततच्छदाः ।

इमौ स्तः पक्षिणां भेदौ द्वौ बाह्यद्वीपा वार्धिषु ॥१०५॥

उड़ते समय भी जिसके पंख समुद्रग अर्थात् डब्बे के समान बंद रहते हों वह 'समुद्रग पक्षी' कहलाता है और स्थिर रहने पर भी जिसके पंख फैले हुए रहते हों वह वितत पक्षी कहलाता है। ये दोनों जाति वाले पक्षी मनुष्य क्षेत्र से बाहर द्वीप समुद्र में ही रहते हैं। (१०५)

संमूर्छिमा गर्भजाश्चेत्यमी स्युर्द्विविधाः समे ।

बिना ये गर्भ सामग्री जाताः संमूर्छिमाश्च ते ॥१०६॥

तथा गर्भादि सामग्र्या ये जातास्ते हि गर्भजाः ।

आसालिक न्विना संमूर्छिमा एव हि ते ध्रुवम् ॥१०७॥

और ये सब संमूर्छिम और गर्भज दो प्रकार के होते हैं ! जो गर्भ की सामग्री से उत्पन्न होते हैं वह गर्भज कहलाते हैं और जो ऐसी सामग्री बिना उत्पन्न होते हैं वह संमूर्छिम कहलाते हैं। आसालिक जाति संमूर्छिम है। उसके अलावा अन्य सब गर्भज कहलाते हैं। (१०६-१०७)

“यत्तु सूत्र कृतांगे आहार परिज्ञाध्ययने आसालिका गर्भ तथा उक्ताः ते तत्सहस्र नामानो विजातीया एव संभाव्यन्ते। अन्यथा प्रज्ञापनादिभिः सह विरोधापत्तेः॥”

‘सूयगडांग सूत्र के आहार परिज्ञा अध्ययन में ‘आसालिक’ को गर्भज कहा है- वह आसालिका सदृश नाम वाली कोई अन्य जाति होनी चाहिए। ऐसा न हो तो प्रज्ञापना सूत्र में जो कहा है उसका इसके साथ में विरोध आता है।’

अपर्याप्तश्च पर्याप्ताः प्रत्येकं द्विविधा इमे ।

एवं पंचाक्ष तिर्यचः सर्वेऽपिस्युश्चतुर्विधाः ॥१०८॥

इति भेदाः ॥११॥

संमूर्छिम और गर्भज- इन प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त दो भेद होते हैं। इस तरह पंचेन्द्रिय तिर्यच के चार भेद होते हैं। (१०८)

इस तरह से श्लोक ६२ से १०८ तक में पंचेन्द्रिय तिर्यच के भेद समझाये हैं। यह प्रथम द्वार पूर्ण हुआ (१)

विकलाक्ष वदुक्तानि स्थानान्येषां जिनेश्वरैः ।

तत्तत्स्थान विशेषस्तु स्वयं भाव्यो विवेकिभिः ॥१०९॥

इति स्थानानि ॥२॥

अब स्थान के सम्बन्ध में कहते हैं- इनके स्थान विकलेन्द्रिय जीवों को जैसे है, उस स्थान विशेष से बुद्धिमान को स्वयं समझ लेना चाहिए । (१०६)

यह स्थान नामक दूसरा द्वार है।

पंच पर्याप्तयोऽमीषां पर्याप्ति मानसीं बिना ।

संमूर्च्छिमानामन्येषां पुनरेता भवति षट् ॥११०॥

अब पर्याप्ति के विषय में कहते हैं । इन जीवों में जो संमूर्च्छिम हैं उनको मन पर्याप्ति के अलावा पांच पर्याप्ति होती हैं और जो गर्भज हैं उनको छः पर्याप्ति हैं । (११०)

असंज्ञिनोऽमनस्का यत्प्रवर्तन्तेऽशानादिषु ।

आहार संज्ञा सा ज्ञेया पर्याप्तिर्न तु मानसी ॥१११॥

अथवाल्पं मनोद्रव्यं वर्ततेऽसंज्ञिनामपि ।

प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तेऽपीष्टानिष्ट योस्ततः ॥११२॥

संमूर्च्छिमानां प्राणाः स्युर्नवान्येषां च ते दश ॥

इति पर्याप्तयः ॥३॥

संज्ञा अथवा मन एक वस्तु न होने पर भी जिनकी आहार आदि में प्रवृत्ति है उनकी आहार संज्ञा का कारण समझना। यह कोई मनः पर्याप्ति नहीं कहलाती है अथवा असंज्ञी को भी अल्प मनोद्रव्य होता है और इसके कारण इनको इष्ट कर्म में प्रवृत्ति होती है और अनिष्ट कार्य से पीछे हटता है और संमूर्च्छिम जीव के नौ प्राण होते हैं और गर्भज के दस प्राण होते हैं । (१११-११२)

यह पर्याप्ति द्वार है । (३)

लक्षाश्चतस्रो योनीनामेषां सामान्यतः स्मृताः ॥११३॥

इति योनि संख्याः ॥ ४ ॥

तिर्यच पंचेन्द्रिय की योनि संख्या साधारण रूप में चार लाख गिनी जाती है- (११३)

यह योनि संख्या द्वार है (४)

एवं संमूर्च्छिमगर्भोद्भव भेदा विवक्षया ।

लक्षाणि कुल कोटी नामेषामित्याहुरीश्वराः ॥११४॥

अध्यर्धानि द्वादशैव भवन्ति जलचारिणाम् ।
 खचराणां द्वादशाथ चतुष्पदांगिनां दश ॥११५॥
 दशैषोरगजीवानां भुजगानां नवेति च ।
 एषां सार्धं त्रिपंचाशल्लक्षाणि कुल कोटयः ॥११६॥

इति कुल संख्या ॥५॥

अब कुल संख्या के विषय में कहते हैं- श्री तीर्थकर परमात्मा ने तिर्यक, पंचेन्द्रिय, संमूर्छिम अथवा गर्भज के भेद की विवक्षा कही है और वह इस प्रकार- जलचर जीव की साढ़े बारह लाख, खेचर जीव की बारह लाख, चतुष्पद जीव की दस लाख, उरपरिसर्प की दस लाख और भुजपरिसर्प जीव की नौ लाख। इस तरह कुल मिलाकर साढ़े तरेपन लाख होती है। (११४ से ११६)

यह कुल संख्या द्वार है । (५)

विवृत्ता योनिरेतेषां संमूर्छिम शरीरिणाम् ।
 गर्भजानां भवत्येषा योनिर्विवृत्त संवृत्ता ॥११७॥
 संमूर्छितानां त्रैर्धेयं सचित्ताचित मिश्रका ।
 गर्भजानां तु मिश्रैव यदेषां गर्भ सम्भवे ॥११८॥
 जीवात्म सात्कृतत्वेन सचिते शुक्रशोणिते ।
 तत्रोपयुज्यमानाः स्युः अचिताः पुद्गलाः परे ॥११९॥ युग्मं ।
 संमूर्छिमानां त्रिविधा शीतोष्णमिश्र भेदतः ।
 गर्भजाना तिरश्चां तु भवेन्मिश्रैव केवलम् ॥१२०॥
 इति योनि संवृतत्वादि ॥६॥

अब योनि का स्वरूप कहते हैं- इनमें जो संमूर्छिम हैं उनकी 'विवृत' योनि है और जो गर्भज हैं उनकी 'विवृत संवृत' योनि है। तथा संमूर्छिम की १- सचित, २- अचित और ३- सचित्ताचित- इस प्रकार तीन प्रकार की योनि हैं और गर्भज की केवल सचित्ताचित योनि होती है। क्योंकि जब इनको गर्भ की संभावना होती है तब शुक्र व शोणित सचित होता है क्योंकि इसमें से जीव उत्पन्न होता है और इसमें उपयोग में आते अन्य पुद्गल अचित होते हैं तथा संमूर्छिम की शीत, उष्ण और शीतोष्ण- ये तीन प्रकार की योनि होती हैं और गर्भज की केवल शीतोष्ण योनि होती है। (११७ से १२०)

यह योनि संवृत द्वार है। (६)

पूर्व कोटिमितोत्कृष्टा स्थितिः स्याज्जलचारिणाम् ।

चतुष्पदानां चतुरशीतिवर्षं सहस्रका ॥१२१॥

वत्सराणां त्रिपंचाशत् सहस्राण्युरगांगिनाम् ।

भुजगानां द्विचत्वारिंशत्सहस्रा स्थितिर्मता ॥१२२॥

अब इनकी भव स्थिति कहते हैं- इन तिर्यच पंचेन्द्रिय में जो जलचर जीव हैं उनकी भवस्थिति उत्कृष्टतः पूर्व कोटि (करोड़) है। चतुष्पद की चौरासी हजार वर्ष है। उर परिसर्प की तरेपन हजार वर्ष, भुज परिसर्प की बयालीस हजार वर्ष और खेचर की बहत्तर हजार वर्ष की है। यह सब स्थिति उत्कृष्ट रूप में समझना और सब समूर्छिम की जानना। (१२१ से १२३)

गर्भजानां पूर्व कोटिरुत्कृष्टा जलचारिणाम् ।

चतुष्पदानामुत्कृष्टा स्थितिः पल्योपमत्रयम् ॥१२४॥

भुजोरः परिसर्पाणां पूर्व कोटिः स्थितिर्गुरुः ।

खचराणां च पल्यस्या संख्येयांशो गुरु स्थितिः ॥१२५॥

और तिर्यच पंचेन्द्रिय में जो गर्भज जलचर जीव हैं उनकी उत्कृष्ट भवस्थिति पूर्व कोटि की है, चतुष्पद की तीन पल्योपम की है। उस तरह भुजपरिसर्प तथा उरपरिसर्प की पूर्व कोटि की है और खेचर की पल्योपम के असंख्यवें अंश के समान होती है। (१२४-१२५)

गर्भजानां तिरश्चां स्यादोघेनोत्कर्षतः स्थितिः ।

पल्यत्रयं समेषामप्य वरं तर्मुहूर्त्तकम् ॥१२६॥

इति भव स्थिति ॥७॥

गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच की ओघ से उत्कृष्ट तीन पल्योपम की भवस्थिति है। सारे तिर्यच पंचेन्द्रिय की भव स्थिति जघन्यतः तो केवल अन्तर्मुहूर्त्त ही है। (१२६)

यह भव स्थिति द्वार है। (७)

समूर्छिमाणां पंचाक्ष तिरश्चां कायसंस्थितिः ।

सप्तकं पूर्वकोटीनां तदेवं परिभाव्यते ॥१२७॥

मृत्वामृत्वाऽसकृत्संमूर्च्छिमस्तिर्यग् भवेद्यदि ।
 तदासप्त भवान् यावत् पूर्वं कोटीमित स्थितीन् ॥१२८॥
 यद्यष्टमे भवेद्येष तिर्यग् भवमवाप्नुयात् ।
 तदाऽसंख्यायुष्कतिर्यग्गर्भजः स्यात्तत्सुरः ॥१२९॥

अब कायस्थिति का स्वरूप कहते हैं- इस पंचेन्द्रिय तिर्यच में जो संमूर्च्छिम हैं उनकी कायस्थिति सात पूर्व कोटि की है। इस तरह बार-बार मरकर जो उसी संमूर्च्छिम तिर्यच में उत्पन्न होते हैं तो पूर्व कोटी प्रमाण काय स्थिति वाला यावत् सात जन्म तक होते हैं और यदि आठवें जन्म में तिर्यच गति में उत्पन्न होता है तो वह असंख्यात वर्ष की स्थिति वाला गर्भज तिर्यच होता है और उसके बाद देवता होता है। (१२७ से १२९)

कोटयः सप्त पूर्वाणां पल्योपमत्रयान्विताः ।
 कायस्थितिर्गर्भजानां तिरश्चां तत्र भावना ॥१३०॥
 संख्येयायुर्गर्भजेषु तिर्यक्षूत्पद्यतेऽसुमान् ।
 उत्कर्षेण सप्तवारान् पूर्वैक कोटि जीविषु ॥१३१॥
 अष्टम्या यदि बेलायां तिर्यग्भवमवाप्नुयात् ।
 असंख्यासुस्तदा स्यात्तस्थितिः पल्यत्रयं गुरु ॥१३२॥

और इस वर्ग में गर्भज यदि है तो उसकी कायस्थिति तीन पल्योपम और सात पूर्व कोटि की है। वह इस प्रकार-एक कोटि जीने वाला, संख्यात आयुष्य वाला गर्भज तिर्यच में प्राणी उत्कृष्ट सात बार उत्पन्न होता है और यदि आठवीं बार भी तिर्यच का जन्म प्राप्त करे तो वहां असंख्य आयुष्य वाला होता है और इसकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की होती है। (१३० से १३२)

अतएव श्रुतेऽप्युक्तम्-

पंचिंदिय काइ मइगओ उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
 सत्तद्भुभवग्गहणो समयं गोयम मा पमाए ॥१३३॥
 अत्र संख्यातायुर्भवापेक्षया सप्त उभयापेक्षया तु अष्टौ इति ॥

हे गौतम! पंचेन्द्रिय तिर्यच आदि में गया प्राणी उत्कृष्टतः सात- आठ जन्म लेता है, इसलिए एक समय के प्रमाद में नहीं रहना चाहिए। (१३३)

यहां संख्यात आयुष्य वाले जन्म की अपेक्षा से सात जन्म और दोनों को अपेक्षा से आठ जन्म करता है। यह समझना ।

पूर्व कोटयधिकायुस्तु तिर्यक् सोऽसंख्य जीवितः।

तस्य देवगतित्वेन मृत्वा तिर्यक्षु नोद्भवः॥१३४॥

जो तिर्यच का आयुष्य पूर्व कोटि से अधिक हो वह असंख्य आयुष्य वाला कहलाता है। उसकी तो देवगति होने से वह मृत्यु के बाद तिर्यच में उत्पन्न नहीं होता है। (१३४)

अष्ट संवत्सरोत्कृष्टा जघन्यान्तर्मुहूर्त्तिकी ।

गर्भ स्थिति स्तिरश्चां स्यात् प्रसवो वा ततो मृतिः ॥१३५॥

तिर्यच की गर्भ स्थिति उत्कृष्टत आठ संवत्सर हो और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त की हो, उसके बाद उसका जन्म हो अथवा उसकी मृत्यु होती है। (१३५)

संख्याताब्दाधिकं वार्धिसहस्रामोघतो भवेत् ।

पंचेन्द्रिय तथा कायस्थितिरुत्कर्षतः क्रिल ॥१३६॥

ओघ से बोलते इन सबकी पंचेन्द्रिय रूप कायस्थिति उत्कृष्टतः एक हजार सागरोपम के संख्यात वर्ष जितनी होती है। (१३७)

पर्याप्त पंचाक्षतया कायस्थितिर्गरीयसी ।

शतपृथक्त्वमब्धीनां जघन्यान्तर्मुहूर्त्तकम् ॥१३७॥

इति काय स्थितिः ॥८॥

और पर्याप्त पंचेन्द्रिय रूप में इनकी कायस्थिति उत्कृष्ट पृथक्त्व सौ सागरोपम की होती है और जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त होती है। (१३७)

यह कायस्थिति द्वार है। (८)

देहा स्त्रयस्तैजसश्च कार्मणौदारिकाविति ।

सामूर्णाना युग्मिनां च तेऽन्येषां वैक्रियां चिताः ॥१३८॥

इति देहाः ॥९॥

इनकी देह के विषय में कहते हैं- सामूर्त्तम तिर्यच पंचेन्द्रिय और युगालियों के तीन शरीर- तैजस, कार्मण और औदारिक होते हैं। गर्भज तिर्यच पंचेन्द्रिय के ये तीन और चौथा वैक्रिय- इस तरह चार शरीर होते हैं। (१३८)

यह देह द्वार है। (६)

संमूर्च्छिमानां संस्थानं हुडमेकं प्रकीर्तितम् ।
गर्भजानां यथायोगं भवन्ति निखिलान्यपि ॥१३६॥

इति संस्थानम् ॥१०॥

अब इनका संस्थान कहते हैं- संमूर्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय की केवल एक हुडक संस्थान होता है, गर्भज का जैसा योग हो उस तरह से सर्व संस्थान होते हैं। (१३६)

यह संस्थान द्वार है। (१०)

संमूर्च्छिमानामुत्कृष्टं शरीरं जलचारिणाम् ।
सहस्रं योजनान्येतन्मत्स्यादीनामपेक्षया ॥१४०॥

अब देहमान कहते हैं- इसमें जो संमूर्छिम जलचर जीव हैं उनका देहमान उत्कृष्ट से एक हजार योजन होता है। यह मान मछली आदि की अपेक्षा से समझना। (१४०)

चतुष्पदानां गव्यूत पृथकत्वं परिकीर्तितम् ।
भुजगानां खगानां च कोर्दडानां पृथकत्वकम् ॥१४१॥

जो चतुष्पद जीव है उसका देहमान पृथकत्व कोश का है। भुज परिसर्प तथा खेचर का पृथकत्व धनुष्य का है, उरग का पृथकत्व योजन का है। (१४१)

योजनानां पृथकत्वं चोरगाणां स्याद्गुणुर्गु ।
गर्भजानां वाक्षराणां संमूर्च्छिमान्बुचारिवत् ॥१४२॥

चतुष्पदानां गव्यूत षट्कं भुजग देहिनाम् ।
गव्यूतानां पृथकत्वं स्यादुत्कृष्टं खलु भूधनम् ॥१४३॥

तथोरः परिसर्पाणां सहस्रयोजनं वपुः ।
यतोऽनेक विधा उक्ता एतज्जातौ महोरगाः ॥१४४॥

अंगुलेन मिताः केचित्तत्पृथक्त्वांगकाः परे ।
केचित्कमाद्गर्भमानाः सहस्रयोजनोन्मिताः ॥१४५॥

अब गर्भज में जो जलचर जीव हैं उनका उत्कृष्टतः देहमान संमूर्छिम जलचर के समान ही है। चतुष्पद का छः कोस का है। भुजपरिसर्प का पृथकत्व कोस का है और उरपरिसर्प का एक हजार योजन का है क्योंकि इस जाति में अनेक

प्रकार के महोरग हैं, कई तो अंगुल समान हैं, कई पृथक्त्व अंगुल समान होते हैं और कई बढ़ते-बढ़ते एक हजार योजन प्रमाण तक होते हैं। (१४२ से १४५)

गर्भजानां खचराणां धनुः पृथक्त्वमेव तत् ।

अंगुलासंख्यांशमानं सर्वेषां तज्जघन्यतः ॥१४६॥

गर्भज खेचर का उत्कृष्ट शरीरमान पृथक्त्व धनुष्य का है और सर्व का जघन्य शरीर एक अंगुल के असंख्यवें अंश जितना होता है। (१४६)

वैक्रियं योजन शत पृथक्त्व प्रमितं गुरु ।

आरंभेऽङ्गुल संख्यांशमानं तत्त्याजघन्यतः ॥१४७॥

इति देहमानम् ॥११॥

पंचेन्द्रिय तिर्यच का वैक्रिय शरीर उत्कृष्टतः सौ पृथक्त्व योजनों का होता है जो कि आरम्भ में तो यह जघन्यतः एक अंगुल के असंख्यवें भाग जितना होता है। (१४७)

इस तरह यह देहमान है। (११)

आद्यास्त्रयः समुद्घाताः समूर्छिम शरीरिणाम् ।

गर्भजानां तु पंचैते कैवल्यहारकौ बिना ॥१४८॥

इति समुद्घाताः ॥१२॥

अब समुद्घात के विषय में कहते हैं- समूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच को पहले तीन समुद्घात होते हैं। गर्भज को केवली तथा आहारक के सिवाय पांच समुद्घात होते हैं। (१४८)

यह समुद्घात है। (१२)

यान्ति समूर्छिमा नूनं सर्वास्वपि गतिष्वमी ।

तत्रापि नरके यान्तो यान्त्याद्यनरकावधि ॥१४९॥

अब उनकी गति के विषय में कहते हैं- समूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच सर्व गतियों में जाते हैं। इसमें भी यदि नरक में जायें तो पहली नरक तक जा सकते हैं। (१४९)

एकेन्द्रियेषु सर्वेषु तथैव विकलेष्वपि ।

संख्यासंख्यायुर्युतेषु तिर्यक्षु मनुजेषु च ॥१५०॥

ये सब एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में भी जाते हैं, तथा उसी प्रकार ही

संख्यात असंख्यात आयुष्य वाले तिर्यच और मनुष्य में भी जाते हैं। (१५०)

असंख्यायुर्नृतिर्यक्षुत्पद्यमानास्त्वसंज्ञिनः ।

उत्कर्षाद्यान्ति तिर्यचः पल्यासंख्यांश जीविषु ॥१५१॥

असंज्ञिनो हि तिर्यचः पल्यासंख्यांशलक्षणम् ।

आयुश्चतुर्विधमपि वध्नन्त्युत्कर्षतः खलु ॥१५२॥

असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यच में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यच में जाते हैं क्योंकि असंज्ञी तिर्यच उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग वाला चार प्रकार का आयुष्य बंधन करता है। (१५१-१५२)

अन्तर्मुहूर्त्तमानं च नृतिरश्चोर्जघन्यतः ।

देव नारकयोर्वर्षं सहस्रदशकोन्मितम् ॥१५३॥

तत्रापि देवायुर्ह्रस्व पल्यासंख्यांशं संमितम् ।

नृतिर्यग्नारकायुष्य संख्यघ्नानि यथा क्रमम् ॥१५४॥

वह यदि मनुष्य अथवा तिर्यच का आयुष्य बन्धन करे तो जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त बन्धन करता और देव या नरक का आयुष्य बन्धन करे तो दस हजार वर्ष का बन्धन करता है। इसमें भी देवता का आयुष्य जघन्यतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितना होता है और मनुष्य या तिर्यच या नरक का अनुक्रम से असंख्य- असंख्य गुणा होता है (१५३-१५४)

इदम् अर्थतो भगवती शतक १ द्वितीयोद्देशके ॥

यह भावार्थ श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक दूसरे उद्देश में कहा है।

-देवषुत्पद्यमानाः स्युर्भवनव्यन्तरावधि ।

एतद्योग्यायुषोऽभावात् ज्योतिष्कादि नाकिषु ॥१५५॥

वह देवगति प्राप्त करे तो भवनपति और व्यन्तर तक की गति प्राप्त कर सकता है परन्तु ज्योतिष्क आदि गति नहीं प्राप्त करता क्योंकि उसको इस गति के योग्य आयुष्य नहीं होता। (१५५)

यान्ति गर्भजातिर्यचोऽप्येवं गति चतुष्टये ।

विशेषस्तत्र नरक गता वेष निरूपितः ॥१५६॥

गर्भज तिर्यच भी इसी तरह चार गति में जाता है, परन्तु इसमें नरक गति के सम्बन्ध में इस तरह विशेष जानना। (१५६)

सप्तस्वपिक्ष्मासु यान्ति मत्स्याद्या जलचारिणः ।

रौद्रध्यानार्जित महापाप्मानो हिंसका मिथः ॥१५७॥

चतुष्पदाश्च सिंहाद्याश्चत सृष्वाद्यभूमिषु ।

पंच सूरः परिसर्पास्ति सृष्वाद्यासु पक्षिणः ॥१५८॥

भुज प्रसर्पा गच्छन्ति प्रथम द्विक्षमावधि ।

देवेषु गच्छतामेषां सर्वेषां समता गतौ ॥१५९॥

रौद्र ध्यान आदि के कारण जिन्होंने महापाप उपार्जन किया हो और परस्पर हिंसा करने वाले मछली आदि जलचर जीव सातों नरक में जाते हैं। सिंह आदि चार पैर वाले प्रथम चार नरक तक जाते हैं। उरपरिसर्प पांच नरक तक, पक्षी तीन नरक तक और भुजपरिसर्प दो नरक तक जाते हैं। देवगति प्राप्त करते समय वहां एक समान गति प्राप्त करते हैं। (१५७ से १५९)

भवनेव्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च यान्त्वमी ।

वैमानिकेषु चौत्कर्षादष्टमत्रिदिवावधि ॥१६०॥

वे सभी भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क में जाते हैं और वैमानिक में उत्कृष्ट आठवें देवलोक तक जाते हैं। (१६०)

सुरेषु यान्ति सर्वेऽपि तिर्यचोऽसंख्य जीविनः ।

निजायुः समहीनेषु नाधिक स्थितिषु क्वचित् ॥१६१॥

असंख्यात आयुष्य वाले सभी तिर्यच अपने आयुष्य जितनी स्थिति वाला अथवा इससे कम स्थिति वाला देवत्व प्राप्त करते हैं। अपने आयुष्य से अधिक स्थिति वाला प्राप्त नहीं होता है। (१६१)

असंख्य जीविखचरा अन्तरा द्वीपजा अपि ।

तिर्यक पंचेन्द्रिया यान्ति भवन व्यन्तरावधि ॥१६२॥

ततः परं यतो नास्ति पल्यासंख्यांशिका स्थितिः ।

न चैवमीशानादग्रे यान्ति केऽप्यमितायुषः ॥१६३॥

इति गतिः ॥१३॥

तथा असंख्य जीव खेचर और अन्तर द्वीप में उत्पन्न हुए तिर्यच पंचेन्द्रिय भी भवनपति और व्यन्तर तक की गति में जाते हैं क्योंकि इससे आगे तो पल्योपम के

असंख्यातवें भाग वाली स्थिति ही नहीं है। इसी कारण से कोई भी असंख्य जीवी ईशान देवलोक से आगे नहीं जाता है। (१६२-१६३)

यह गति द्वार है। (१३)

एकाक्षा विकलाक्षाश्च तिर्यचः संज्ञ्यसंज्ञिनः ।

संमूर्छिमेषु तिर्यक्ष्वायान्ति नो देव नारकाः ॥१६४॥

अब इनकी आगति के विषय में कहते हैं- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी तिर्यच संमूर्छिम तिर्यच में आते हैं। देव अथवा नरक में नहीं आते। (१६४)

एक द्वि त्रि चतुरक्षाः पंचाक्षा संज्ञ्यसंज्ञिन ।

भवन व्यन्तर ज्योतिः सहस्रारान्त निर्जराः ॥१६५॥

संमूर्छिमा गर्भजाश्च मनुष्याः सर्व नारकाः ।

गर्भोद्भवेषु तिर्यक्षु जायन्ते कर्मयन्त्रिताः ॥१६६॥(युग्म।)

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी- असंज्ञी पंचेन्द्रिय, भवनपति देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, सहस्रारांत देव, संमूर्छिम तथा गर्भज मनुष्य और सारे नारकी - ये सब कर्म के नियंत्रण के कारण गर्भज तिर्यच में आते हैं । (१६५-१६६)

अन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टमुत्पत्ति मरणान्तरम् ।

सामूर्छानां गर्भजानां द्वादशान्तर्मुहूर्त्तकाः ॥१६७॥

संमूर्छिम तिर्यच की उत्पत्ति और मृत्यु के बीच का उत्कृष्ट अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है और गर्भज तिर्यच का अन्तर बारह अन्तर्मुहूर्त्त का है।

समय प्रमितं ज्ञेयं जघन्यं तद् द्वयोरपि ।

एक सामायिकी संख्या ज्ञेयेषां विकलाक्षवत् ॥१६८॥

इति आगतिः ॥१४॥

इन दोनों के सम्बन्ध में जघन्य अन्तर एक समय का है और इनकी एक समय सम्बन्धी संख्या विकलेन्द्रिय प्रमाण है। (१६८)

ये आगति द्वार है । (१४)

लभन्तेऽनन्तर भवे सम्यक्त्वादि शिवावधि ।

ते चैकस्मिन् क्षणे मुक्तिं यान्तो यान्ति दशैव हि ॥१६९॥

इति अनन्तरासिः समये सिद्धिश्च ॥१५॥ १६॥

पंचेन्द्रिय तिर्यच अनन्तर भव में समकित से लेकर मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है तथा एक समय में दस ही मोक्ष में जाते हैं। (१६६)

ये अनन्तर तथा समयसिद्धि द्वार है। (१५-१६)

लेश्यात्रितयमाद्यं स्यात् संमूर्छिमं शरीरिणाम् ।

गर्भजानां यथायोगं लेश्याः षडपि कीर्तिताः ॥१७०॥

इति लेश्याः ॥१७॥

इसमें जो संमूर्छिम होता है उसकी प्रथम तीन लेश्या होती हैं और जो गर्भज होता है उसकी योग्यता अनुसार छः लेश्या होती हैं। (१७०)

यह लेश्या द्वार है। (१७)

षडप्याहार ककुभो द्वयानामन्धमेव च ।

सामूर्छानां संहननमन्येषामखिलान्यपि ॥१७१॥

संमूर्छिम और गर्भज दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यच को आहार छः दिशाओं का होता है। संमूर्छिम को अन्तिम छठा संघयण होता है और गर्भज को छः संघयण होते हैं। (१७१)

इस विषय में कहा है-

“अत्र च जीवाभिगमाभिप्रायेण संमूर्छिमपंचाक्षतिरश्चामेव एकं संहननं संस्थानं च स्यात्। षष्ठं कर्म ग्रन्थाभिप्रायेण तु षडपि तानि स्युः। इति अर्थतः संग्रहणी बृहद् वृत्तौ ॥”

इति आहारदिक् संहननं च ॥१८-१९॥

जीवाभिगम सूत्र के अभिप्राय से संमूर्छिम को एक अन्तिम ही संघयण और संस्थान होता है। छठे कर्मग्रन्थ के मतानुसार तो ये छः होते हैं। इसका भावार्थ संग्रहणी सूत्र की बृहद् वृत्ति में भी कहा है।

ये आहार एवं संहनन द्वार हुए। (१८-१९)

सर्वे कषायाः संज्ञाश्च निखिलानीन्द्रियाणि च ।

द्वयानां संमूर्छिमाः स्युर संज्ञिनः परेन्यथा ॥१७२॥

इति कषाय संज्ञेन्द्रिय संज्ञिताः ॥२०-२३॥

संमूर्छिम तथा गर्भज दोनों पंचेन्द्रिय तिर्यच को सारे कषाय होते हैं । सर्व संज्ञायें होती हैं और समस्त इन्द्रियां होती हैं । संमूर्छिम असंज्ञी होता है जबकि गर्भज संज्ञी होता है। (१७२)

ये कषाय, संज्ञा, इन्द्रिय तथा संज्ञी बीसवें से तेइसवें द्वार तक हैं। (२० से २३)

संमूर्छिमेषु तिर्यक्षु स्त्री पुमांश्च न सम्भवेत् ।

केवलं क्लीबवेदास्ते केवलज्ञानिभिर्मताः ॥१७३॥

अब इनके वेद के विषय में कहते हैं- संमूर्छिम तिर्यचों में स्त्री अथवा पुरुष वेद नहीं होता, परन्तु वे नपुंसक वेदी ही होते हैं। इस तरह केवल ज्ञानियों ने कहा है। (१७३)

स्त्रियः पुमांसः क्लीवाश्च तिर्यच गर्भजास्त्रिधा ।

पुंभ्यः स्त्रिस्त्रिभोरुपैरधिकास्त्रिगुणास्तथा ॥१७४॥

इति वेदाः ॥२४॥

गर्भज तिर्यज को स्त्री, पुरुष और नपुंसक- ये तीनों वेद होते हैं । इसमें पुरुष से स्त्रियां तीन रूप अधिक तीन गुना होती हैं। (१७४)

यह वेद द्वार है। (२४)

विकलेन्द्रियवत् दृष्टि द्वयं संमूर्छिमांगिनाम् ।

तिस्त्रोऽपि दृष्टयोऽन्येषां तत्र सम्यग्दृशो द्विधा ॥१७५॥

केचिद्देशेन विरताः परेत्वविरताभ्रयाः ।

अभावः सर्वविरतेस्तेषां भव स्वभावतः ॥१७६॥

इति दृष्टिः ॥२५॥

अब इनकी दृष्टि के विषय में कहते हैं- संमूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच को विकलेन्द्रिय के समान दो दृष्टि होती हैं, गर्भज को तीनों दृष्टि होती हैं । इसमें सम्यक् दृष्टि वाले दो प्रकार के होते हैं । कई देश विरति होते हैं, अन्य अविरति होते हैं। सर्व विरति कोई नहीं होता । (१७५-१७६)

यह दृष्टि द्वार है। (२५)

संमूर्छिमाः स्युद्धर्यज्ञाना द्विज्ञाना अपि केचन ।

(द्वित्राज्ञाना गर्भजा द्वित्रज्ञाना अपि केचन ॥१७७॥)

इति ज्ञानम् ॥२६॥

अब इनका ज्ञान कहते हैं- समूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच में कई को दो ज्ञान होते हैं तथा कई दो अज्ञान युक्त होते हैं। गर्भज में कई को दो अथवा तीन ज्ञान होते हैं जबकि कई दो या तीन अज्ञान वाले भी होते हैं । (१७७)

यह ज्ञान द्वार है । (२६)

दर्शन द्वयमाद्यं स्यादुभयेषामपि स्फुटम् ।

अवधिज्ञानभाजां तु गर्भजानां त्रिदर्शनी ॥१७८॥

इति दर्शनम् ॥२७॥

अब इनके दर्शन के विषय में कहते हैं- समूर्छिम तथा गर्भज दोनों पंचेन्द्रिय को प्रथम दो दर्शन होते हैं। अवधि ज्ञान युक्त गर्भज तिर्यच को तीन दर्शन होते हैं। (१७८)

यह दर्शन द्वार है (२७)

समूर्छिमाना चत्वार उपयोगाः प्रकीर्तिताः ।

गर्भजानां तु चत्वारः षट् पंचौघान्नवापि ते ॥१७९॥

यदेषां केवल ज्ञानं मुक्त्वा केवल दर्शनम् ।

ज्ञानं मनः पर्ययं च सर्वेऽन्ये सम्भवन्ति ते ॥१८०॥

इति उपयोगाः ॥२८॥

इनके उपयोग के विषय में कहते हैं- समूर्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच के चार उपयोग कहे हैं परन्तु गर्भज को चार, पांच, छः और ओघ से नौ भी कहे हैं क्योंकि इनको केवल ज्ञान, केवल दर्शन और मनः पर्यवज्ञान- इनके अलावा शेष सभी उपयोग होते हैं। (१७९-१८०)

यह उपयोग द्वार है। (२८)

स्यादनाहारिता त्वेषामेक द्वि समयवधि ।

ओज आद्रि स्त्रिधाहारः सचितादिरपि त्रिधा ॥१८१॥

प्रथमं त्वोज आहारो लोभकावलिकौ ततः ।

अन्तरं द्वौ दिनौ ज्येष्ठं लघु चान्तर्मुहूर्त्तकम् ॥१८२॥

ज्येष्ठं चैतत्कावलिकाहारस्य स्मृतमन्तरम् ।

स्वाभाविकं त्रिपल्यायुर्युक्ततिर्यगपेक्षया ॥१८३॥

इति आहारः ॥२६॥

अब इनके आहार के विषय में कहते हैं- पंचेन्द्रिय तिर्यच एक दो समय अनाहारी रहते हैं, इनको ओजस आहार आदि तीन प्रकार का आहार होता है तथा सचित आहार आदि तीन प्रकार का आहार भी होता है। प्रथम ओज आहार होता है, फिर लोम आहार और उसके बाद कवल आहार होता है। आहार का उत्कृष्ट अन्तर दो दिन का और जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त का होता है। यह जो उत्कृष्ट अन्तर कहा है वह कवलाहार का समझना और वह तीन पल्लोपम के आयुष्य वाले तिर्यच की अपेक्षा से स्वाभाविक होता है। (१८१ से १८३)

यह आहार द्वार है । (२६)

गुणस्थान द्वयं संमूर्छिमानां विकलाक्षवत् ।

गर्भजानां पंच तानि प्रथमानि भवन्ति हि ॥१८४॥

इति गुणा ॥३०॥

अब इनके गुण के विषय में कहते हैं - संमूर्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय को विकलेन्द्रिय के समान दो गुण स्थान होते हैं जबकि गर्भज को प्रथम के पांच गुण स्थान होते हैं। (१८४)।

यह गुण स्थान द्वार है। (३०)

संमूर्छिमानां चत्वारो योगाः स्युर्विकलाक्षवत् ।

आहारकद्वयं मुक्त्वा गर्भजानां त्रयोदश ॥१८५॥

इति योगाः ॥३१॥

संमूर्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय को विकलेन्द्रिय के समान चार योग होते हैं जबकि गर्भज को दो आहारक योग के अलावा अन्य तेरह योग होते हैं। (१८५)

यह योग द्वार है । (३१)

प्रतरासंख्यभागस्थाऽसंख्येय श्रेणिवर्तित्रिः ।

नयः प्रदेशः प्रमितास्तिर्यचः खचराः स्मृता ॥१८६॥

एवमेव स्थलचरास्तथा जलचरा अपि ।

भवन्ति किन्तु संख्येय गुणाधिकाः क्रमादिमे ॥१८७॥

यदसौ प्रतरासंख्य भागः प्रागुदितः खलु ।

यथाक्रमं श्रुते प्रोक्तो बृहत्तर बृहत्तमः ॥१८८॥

अब इनके मान-माप के विषय में कहते हैं- प्रतर के असंख्यातवें भाग में रही असंख्यात श्रेणि में जितने आकाश प्रदेश हैं उतने खेचर तिर्यच हैं। स्थलचर और जलचर भी उतने ही हैं, परन्तु ये अनुक्रम से संख्यात गुणा अधिक हैं क्योंकि यह जो प्रतर का असंख्यातवां भाग कहा है, इस सिद्धान्त में अनुक्रम से विशेष से विशेष बड़ा कहा गया है। (१८६-१८८)

षट्पंचाशांगुलशतद्वयमानानि निश्चितम् ।

यावन्ति सूचिखंडानि स्युरेक प्रतरे स्फुटम् ॥१८६॥

तावज्ज्योतिष्कदेवेभ्यः स्युः संख्येयगुणाः क्रमात् ।

तिर्यक् पंचेन्द्रियाः षंडा नभः स्थलाम्बुचारिणः ॥१८७॥ (युगम्)

एतत्संमूर्छिम गर्भोत्थानां समुदितं खलु ।

क्लीवानां मानमाभाव्यं श्रुते पृथगनुक्तितः ॥१८९॥

इति मानम् ॥३२॥

एक प्रतर के अन्दर दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण जितने सूची खंड हों उतने ज्योतिष्क देवों के द्वारा अनुक्रम से संख्यात गुणा नपुंसक खेचर, स्थल और जलचर होते हैं। यह मान नपुंसक संमूर्छिम और गर्भज दोनों का एकत्र-मिला समझना सिद्धान्त में भी दोनों का एक ही कहा है, अलग नहीं कहा। (१८६ से १८९)

यह मान द्वार है। (३२)

एष्वल्पाः खचरास्तेभ्यः संख्यघ्ना खचरस्त्रियः ।

ताभ्यः स्थलचरास्तेभ्यः संख्यघ्नाः स्युस्तदंगनाः ॥१८२॥

ताभ्यो जलचरास्तेभ्यो जलचर्यस्ततः क्रमात् ।

नपुंसकाः संख्यगुणाः नभः स्थलाम्बुचारिणः ॥१८३॥

एते च संमूर्छिम युक्ता इति ज्ञेयम् ॥

इति लघ्वल्प बहुता ॥३३॥

अब इनका लघु अल्प बहुत्व विषय कहते हैं- पंचेन्द्रिय तिर्यच में सबसे थोड़े खेचर होते हैं। इससे संख्य गुणा खेचरी होती है। इससे संख्य गुणा स्थलचर होते हैं और इससे भी संख्य गुणा स्थलचरी होती है। स्थलचरी से अनुक्रम से संख्य-संख्य गुणा जलचर, जलचरी, नपुंसक खेचरी, नपुंसक स्थलचर और नपुंसक जलचर हैं। ये तीनों नपुंसक संमूर्छिम नपुंसक समझना। (१८२-१८३)

यह अल्प बहुत्व द्वार है । (३३)

स्तोकाः पंचाक्षतिर्यचः प्रतीच्यां स्तुस्ततः क्रमात् ।

प्राच्यां याम्यामुदीच्यां च विशेषतोऽधिकाधिकाः ॥१६४॥

इति दिगपेक्षयाल्प बहुत्व ॥३४॥

अब दिशा की अपेक्षा से इनका अल्प बहुत्व विषय कहते हैं- पंचेन्द्रिय तिर्यच पश्चिम दिशा में सबसे थोड़े हैं । फिर अनुक्रम से अधिक से अधिक पूर्व, दक्षिण और उत्तर दिशा में होते हैं । (१६४)

यह दिशा की अपेक्षा से अल्प बहुत्व है । (३४)

तिर्यक् पंचेन्द्रियाणां स्यादन्तर्मुहूर्त्तं संमितम् ।

जघन्यमन्तरं ज्येष्ठं त्वनन्तकाल सम्मितम् ॥१६५॥

एतत् वनस्पतेः काय स्थितिं भुक्त्वा गरीयसीम् ।

पुनः पंचाक्षतिर्यक्त्वं लभमानस्य सम्भवेत् ॥१६६॥

इति अन्तरम् ॥३५॥

अब इनके अन्तर के विषय में कहते हैं- पंचेन्द्रिय तिर्यच का जघन्य अन्तर अन्त- मुहूर्त्त का होता है, उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का है। वनस्पति की उत्कृष्ट कायस्थिति भोगकर वापिस प्राणी पंचेन्द्रिय तिर्यच में आए, उतने समय में उत्कृष्टतः अनन्तकाल तक वहीं रहना संभव होता है । (१६५-१६६)

यह अन्तर द्वार है । (३५)

द्वयक्षादितिर्यक्तनु भृत्स्वरूपमेवं मयोक्तं किल लेश मात्रम् ।

विशेष विस्तार रसार्थिना तु सिद्धान्तवारां निधयोऽवगाह्याः ॥१६७॥

इस तरह हमने द्वीन्द्रिय आदि तिर्यच प्राणियों का अल्प स्वरूप कहा है। जिसे विशेष विस्तारपूर्वक जानने की इच्छा हो उसे सिद्धान्त रूपी समुद्र का अवगाहन करना चाहिए । (१६७)

विश्वाश्चर्यं कीर्तिं कीर्तिं विजय श्रीवाचकेन्द्रान्तिष-

द्राज श्री तनयोऽतनिष्ट विनयः श्री तेजपालात्मजः ।

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे ।

सर्गो निर्गलितार्थं सार्थं सुभगः षष्ठः समाप्तः सुखम् ॥१६८॥

इति षष्ठः सर्गः

जिनकी कीर्ति श्रवण करके सारा विश्व आश्चर्य में लीन हो गया है ऐसे श्रीमान् कीर्ति विजय उपाध्याय भगवन्त के अन्तेवासी शिष्य और माता राजश्री तथा पिता तेजपाल के पुत्र रत्न श्री विनय विजय उपाध्याय ने जो इस जगत् के निश्चित तत्त्व को दीपक के समान प्रकाश में लाने वाले काव्य ग्रंथ की रचना की है। उनका सुभग अर्थ परम्परा से झरता छठा सर्ग विघ्न रहित समाप्त हुआ है। (१६८)

छठा सर्ग समाप्त

सातवां सर्ग

संमूर्छिमा गर्भजाश्च द्विविधा मनुजा अपि ।

वक्ष्ये संक्षेपतस्तत्र प्रथमं प्रथमानिह ॥१॥

अब सातवां सर्ग आरम्भ होता है । मनुष्य भी दो प्रकार का है, १- संमूर्छिम और २- गर्भज। उसमें प्रथम संमूर्छिम का संक्षिप्त में वर्णन करता हूँ। (१)

अन्तर्द्वीपेषु षट्पंचाशत्यथो कर्मभूमिषु ।

पंचाधिकान्सु दशसु त्रिंशत्यकर्मभूमिषु ॥२॥

पुरीषे च प्रश्रवणे श्लेष्मसिंघाणयोरपि ।

वान्तेपित्ते शोणिते च शुक्ले मृत कलेवरे ॥३॥

पूये स्त्रीपुंस संबोगे शुक्रपुद्गल विच्युतौ ।

पुरनिर्गमने सर्वेष्वपवित्र स्थलेषु च ॥४॥

स्युर्गर्भज मनुष्याणां सम्बन्धिष्वेषु वस्तुषु ।

संमूर्छिम नराः सैकं शतं ते क्षेत्र भेदतः ॥५॥कलापकम्।

इति भेदाः ॥१॥?

अब इसमें संमूर्छिम मनुष्यों के भेद कहते हैं- १- छप्पन अन्तर्द्वीप के अन्दर, २- पंद्रह कर्म भूमियों में, ३- तीस अकर्म भूमियों में, ४- विष्टा में, ५- मूत्र में, ६- श्लेष्म में, ७- कफ-बलगम में, ८- वमन में, ९- पित्त में, १०- खून में, ११- वीर्य में, १२- मृत कलेवर में, १३- पीब में, १४- स्त्री पुरुष के संयोग में, १५- शुक्रस्त्राव में, १६- नगर की गटर में तथा १७- सर्व प्रकार के अपवित्र स्थानों में। इस तरह गर्भज मनुष्यों के सम्बन्ध वाली सर्व वस्तुओं में होती है। इसके क्षेत्र के कारण से एक सौ एक भेद होते हैं। (२-५)

यह भेद प्रथम द्वार है (१)

स्थानमेषां द्विपाथोधि सार्धद्वीप द्वयावधि ।

स्थानोत्पाद समुद्घातैः लोकासंख्यांशगा अमी ॥६॥

इति स्थानम् ॥२॥

इस मनुष्य का स्थान दो समुद्र और अढाई द्वीप तक में है। स्व स्थान उत्पाद और समुद्घात को लेकर ये इस लोक के असंख्यवें भाग में रहते हैं। (६)

यह स्थान द्वार है। (२)

आरभ्य पंच पर्याप्तीस्ते प्रियन्तेऽसमाप्य ताः ।

प्राणा भवन्ति सप्ताष्टावेषां वाङ्मनसे बिना ॥७॥

नव प्राण इति तु संग्रहण्यवचूर्णौ ॥

इति पर्याप्तः ॥३॥

ये पांच पर्याप्त आरम्भ कर इसे पूर्ण करने के पहले ही मृत्यु प्राप्त करते हैं इनको वाचा और मन बिना सात- आठ प्राण होते हैं। संग्रहणी की अवचूर्णों। इनको नव प्राण कहा है। (७)

यह तीसरा द्वार है। (३)

संख्या योनि कुलानां च नैषां गर्भजतः पृथक् ।

योनि स्वरूपं त्वेतेषां विज्ञेयं विकलाक्षवत् ॥८॥

इति द्वार त्रयम् ॥४ से ६॥

इनकी योनि संख्या और इनकी कुल संख्या गर्भज से पृथक् नहीं है इनका योनि स्वरूप विकलेन्द्रिय के समान समझना। (८)

ये तीन द्वार हैं। (४ से ६)

जघन्योत्कर्षयोरन्तर्मुहूर्त्तं स्यात् भवस्थितिः ।

पृथकत्वं च मुहूर्त्तानामेषां कायस्थितिर्मता ॥९॥

इति द्वार द्वयम् ॥७-८॥

इनकी भवस्थिति जघन्य तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की है और कायस्थिति पृथकत्व अन्तर्मुहूर्त्त की है। (९)

ये दो द्वार हैं। (७-८)

आद्या त्रिदेही संस्थानं हुडं देहोद्गुलस्य च ।

असंख्यांशमितः पूर्वं समुदघातास्त्रयो मताः ॥१०॥

इति द्वार चतुष्टयम् ॥९-१२॥

इनके प्रथम तीन शरीर होते हैं हुंडक संस्थान होता है, अंगुल के असंख्यवें भाग जितना देहमान होता है और पहले तीन समुदघात होते हैं। (१०)

ये चार इनके द्वार हैं। (९ से १२)

एषां गतिर्विकलवत्तथैवागतिरप्यहो ।
किन्त्वमी वह्नि वायुभ्यां नागच्छन्ति नरत्वतः ॥११॥
अष्ट चत्वारिंशदेषां नाड्यो जन्मात्ययान्तरम् ।
एक सामायिकी संख्या विज्ञेया विकलाक्षवत् ॥१२॥
इति गत्यागती ॥१३-१४॥

इनकी गति और आगति दोनों विकलेन्द्रिय के अनुसार हैं परन्तु ये अग्निकाय, वायुकाय और मनुष्य में से नहीं आते। इनका जन्म और मृत्यु के बीच का अन्तर अड़तालिस नाडिया का होता है। यह उपघात विरह काल है अर्थात् कुछ काल तक उस जाति में कोई भी जन्म नहीं लेता। वह काल ४८ नाडी का अर्थात् घड़ी- २४ मुहूर्त्त का कहा है। इनकी एक सामयिकी संख्या विकलेन्द्रिय प्रमाण समझना। (११-१२) ये दो द्वार हैं। (१३-१४)

अनन्तरासिः समये सिद्धयतां गणनापि च ।
पृथग् न लक्ष्यते ह्येषां सा विज्ञेया बहुश्रुतात् ॥१३॥
इति द्वारद्वयम् ॥१५-१६॥

इनकी अनन्तरासि और समयसिद्धि की गणना पृथक् नहीं दिखती, अतः ये बहुश्रुत ज्ञानी के पास से जान लेना। (१३)

ये दो द्वार हैं। (१५-१६)

द्वाराणि लेश्यादीन्यष्टावेतेषां विकलाक्षवत् ।
उक्तानि किन्त्विन्द्रियाणि पञ्चैतेषां श्रुतानुगैः ॥१४॥
इति द्वाराष्टकम् ॥१७-२४॥

इनकी लेश्या आदि आठ द्वार अर्थात् सत्तरह से लेकर चौबीस तक के द्वार विकलेन्द्रिय के अनुसार जानना। परन्तु ज्ञानियों ने इनको इन्द्रियां पांच कही हैं। (१४)

ये आठ द्वार हैं। (१७ से २४)

मिथ्यादर्शोऽमी एतेषामाद्याज्ञान द्वयं तथा ।
आद्ये द्वे दर्शने तस्मादुपयोग चतुष्टयम् ॥१५॥
इति द्वारचतुष्टयम् ॥२५-२८॥

इनकी दृष्टि मिथ्यादृष्टि होती है। इनके ज्ञान में प्रथम के दो अज्ञान होते हैं, दर्शन में पहले दो दर्शन होते हैं और इससे इनके चार उपयोग होते हैं। (१५)

ये चार द्वार हैं। (२५ से २८)

साकार न्योपयोगाश्चाज्ञान दर्शन वत्तया ।

विकलाक्षवदाहारकृतः कावलिक बिना ॥१६॥

इति आहारः ॥२६॥

इनको ज्ञान और दर्शन दोनों से ये उपयोग साकार और निराकार दोनों होते हैं। आहार की बात विकलेन्द्रिय से मिलती है, अन्तर इतना है कि इनको कवलाहार नहीं होता। (१६)

यह आहार द्वार है। (२६)

आद्यं गुणस्थानमेषामिदं योगत्रयं पुनः ।

औदारिकस्तन्मिश्रश्च कार्मणश्चेति कीर्तितम् ॥१७॥

इति द्वारद्वयम् ॥३०-३१॥

इनका प्रथम गुण स्थान होता है और इनको तीन योग होते हैं- औदारिक, मिश्र औदारिक और कार्मण। (१७)

ये दो द्वार हैं। (३०-३१)

अंगुल प्रमित क्षेत्र प्रदेश राशिवर्तिनि ।

तृतीय वर्गमूलघ्ने वर्गमूले किलादिमे ॥१८॥

यावान् प्रदेश राशिः स्यात् खंडास्तावत् प्रदेशकाः ।

यावन्त एकस्यामेक प्रादेशिक्यां स्युरावली ॥१९॥

तावन्तः संमूर्च्छिमा हि मनुजा मनुजोत्तमैः ।

निर्दिष्टा दृष्टविस्पष्टसचराचर विष्टपैः ॥२०॥ त्रिभिर्विशेषकम्।

इति मानम् ॥३२॥

अब इनके मान-माप के विषय में कहते हैं- अंगुल प्रमाण क्षेत्र के प्रदेश की राशि के रहते तीन वर्गमूल करके पहले वर्ग मूल को तीसरे वर्गमूल के साथ गुणा करने से जितना प्रदेश आता है उतने प्रदेश वाला, एक प्रदेशी, एक श्रेणी के अन्दर जितने खण्ड हों उतने संमूर्च्छिम मनुष्य होते हैं। इस प्रकार श्री जिनेश्वर भगवन्त का वचन है। (१८ से २०)

यह मान द्वार है। (३२)

द्वारण्यथोक्त श्लेषाणि पंचैतेषां मनीषिभिः ।

भाव्यानीह वक्ष्यमाणगर्भोद् भव मनुष्यवत् ॥२१॥

इति द्वार पंचकम् ॥३३-३७॥

इनके शेष पांच द्वार ३३ से ३७ तक के गर्भज मनुष्य के अनुसार जानना जो वह आगे कहे जायेंगे। (२१)

इस तरह संमूर्छिम मनुष्य के ३७ द्वारों के विषय में कहा है। अब गर्भज मनुष्यों के द्वार के विषय में कहते हैं:-

कर्माकर्म धरान्तद्वीप भवा गर्भजा नरास्त्रिविधाः ।

स्युः पंचदश त्रिंशत् षट्पंचाशद्विधाः क्रमतः ॥२१॥

अब गर्भज मनुष्य का प्रथम द्वार कहते हैं। वह इस प्रकार-गर्भज मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं; १- कर्मभूमि में उत्पन्न होने वाले, २- अकर्म भूमि में उत्पन्न होने वाले और ३- अन्तद्वीप में उत्पन्न होने वाले। इन तीनों के अनुक्रम से पंद्रह, तीस और छप्पन भेद होते हैं। (२२)

म्लेच्छा आर्या इति द्वेधा मनुजाः कर्म भूमिजाः ।

म्लेच्छाः स्युः शक यवनमुरुंड शबरादयः ॥२३॥

कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य दो प्रकार के होते हैं- म्लेच्छ और आर्या। इनमें शक, यवन, मुरुंड और शबर आदि म्लेच्छ जाति हैं।

आर्याः पुनर्द्विधाः प्रोक्ता ऋद्धि प्राप्तास्तथापरे ।

ऋद्धि प्राप्तास्तत्र षोढा प्रज्ञप्ताः परमेश्वरैः ॥२४॥

अर्हन्त सार्वभौमाश्च महेश्वर्य मनोहराः ।

बलदेवा वासुदेवा स्युर्विद्याधर चारणाः ॥२५॥

आर्य के दो भेद हैं। समृद्धिशाली और समृद्धि के बिना। इसमें समृद्धिशाली छः प्रकार के होते हैं; १- महान् ऐश्वर्यशाली श्री अर्हत भगवंत, २- चक्रवर्ती, ३- बलदेव, ४- वासुदेव, ५- विद्याधर और ६- चारणा। (२४-२५)

अनुद्धयो नवविधाः क्षेत्र जाति कुलार्यकाः ।

कर्मशिल्प ज्ञान भाषा चारित्र दर्शनार्यकाः ॥२६॥

तथा समृद्धि से रहित नौ प्रकार के कहे हैं- १- क्षेत्र आर्य, २- जाति आर्य, ३- कुल आर्य, ४- कर्म आर्य, ५- शिल्प आर्य, ६- ज्ञान आर्य, ७- भाषा आर्य, ८- चारित्र आर्य और ९- दर्शन आर्य। (३६)

तत्र च..... क्षेत्रार्या आर्यदेशात्थास्ते सार्धा पंचविंशतिः ।

अंगा बंगा कलिंगाश्च मगधाः कुरु कोशलाः ॥२७॥

काश्यः कुशार्ताः पंचाला विदेहा मलयास्तथा ।

वत्साः सुराष्ट्रः श्याण्डिल्या वराटा वरणास्तथा ॥२८॥

दशार्णा जंगला वेद्यः सिन्धु सौवीरका अपि ।

भंग्यो वृत्ताः सूरसेनाः कुणाला लाट संज्ञकाः ॥२९॥

के कयार्थमिमे सार्धं पंचविंशतिरीरिताः ।

नामानि राजधानीनां ब्रवीम्येषु क्रमादथ ॥३०॥

इसमें जो आर्य देश में उत्पन्न हुआ हो वह क्षेत्र आर्य कहलाता है । आर्य सार्धपच्चीस देश हैं । वह इस प्रकार- १- अंग, २- बंग, ३- कलिंग, ४- मगध, ५- कुरु, ६- कोशल, ७- काशी, ८- कुशार्त, ९- पंचाल, १०- विदेह, ११- मलय, १२- वत्स, १३- सुराष्ट्र, १४- शाण्डिल्य, १५- वराड, १६- वरण, १७- दर्शाण, १८- जंगल, १९- वेदी, २०- सिन्धु सौवीर, २१- भंगी, २२- वृत्त, २३- सूरसेन, २४- कुणाल, २५- लाट तथा आधा केकय देश । अब इन देशों की राजधानी के नाम अनुक्रम से कहते हैं। (२७-३०)

चम्पा तथा ताम्रलिप्ती स्यात्कांचन पुरं पुरम् ।

राजगृहं गजपुरं साकेतं च वाराणसी ॥३१॥

शौर्यपुरं च कांपिल्यं मिथिला महिलपुरम् ।

कौशाम्बी च द्वारवती नन्दिवत्साभिधे पुरे ॥३२॥

अच्छापुर मृत्तिकावत्यहिच्छत्राभिधा पुरी ।

शुक्ति भती वीतभयं पापा माषापुरं पुरम् ॥३३॥

माथुरा नगरी चैवभ्रावस्ती नगरी वरा ।

कोटि वर्ष श्वेताम्बिका राजधान्यः क्रमादिकाः ॥३४॥

१- चम्पापुरी, २- ताम्रलिप्ती, ३- कांचनपुर, ४- राजगृह, ५- गजपुर-हस्तिनापुर, ६- साकेतपुर, ७- वाराणसी, ८- शौर्यपुर, ९- कांपिल्यपुर, १०- मिथिला, ११- महिलपुर, १२- कौशाम्बी, १३- द्वारिका, १४- नंदिपुर,

१५- वत्सपुर, १६- अच्छापुर, १७- मृत्तिकावती, १८- अहिच्छत्रा, १९- शुक्तिमति, २० वीतभय, २१- पावापुरी, २२- माषपुर, २३- मथुरा, २४- श्वावस्ती, २५- कोटिवर्ष और श्वेताम्बिका। ये क्रमशः राजधानी हैं। (३१ से ३४)

एष्वेवार्हच्चक्रिराम वासुदेवोद्भवो भवेत् ।

आर्यास्तत इमेऽन्ये च तद भावादनार्यकाः ॥३५॥

इन देशों में ही अर्हत भगवन्त, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेवों का जन्म होता है इसलिये ये आर्य देश कहलाते हैं। अन्य सब अनार्य देश कहलाते हैं। (३५)

सूत्र कृतांग वृत्तौ च अनार्य लक्षणमेवं उक्तं - " धम्मैत्ति अख्खराइं जे सुवि सुमिणे न सुच्चंति ॥ "

कृतांगसूत्र की वृत्ति में अनार्य का लक्षण इस प्रकार कहा है- जिसने 'धर्म' शब्द स्वप्न में भी नहीं सुना हो वह देश अनार्य देश है।

विज्ञेयास्तत्र जात्यार्या ये प्रशस्तेभ्य जातयः ।

उग्रभोगादि कुलजाः कुलार्यास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥३६॥

जो प्रशस्त सभ्य जाति है वह आर्य जाति कहलाती है। उग्रभोग आदि कुल में जन्म लेने वाले कुल आर्य कहलाते हैं। (३६)

कर्मार्याः वास्त्रिकाः सौत्रिकाद्याः कार्पासिकादयः।

शिल्पार्यास्तु तुत्रकारास्तनुवायादयोऽपि च ॥३७॥

और वस्त्र का व्यापार करने वाले, सुत्त (धागे) का व्यापार करने वाले कपास का व्यापार करने वाले आदि कर्म आर्य हैं, दरजी, संगतराश-पत्थर काटने वाला या गढ़ने वाला आदि शिल्प आर्य कहलाता है। (३७)

भाषार्या येऽर्धमागध्या भाषान्ते भाषायात्र ते ।

ज्ञान दर्शन चारित्र्यार्यास्तु ज्ञानादिभिर्युताः ॥३८॥

जो अर्धमागधी आदि श्रेष्ठ भाषा बोलता है वह भाषा आर्य कहलाता है और जो ज्ञानयुक्त हो वह ज्ञान आर्य है, श्रद्धा-दर्शन वाला हो वह दर्शन आर्य है और चारित्रवान् हो वह चारित्र आर्य कहलाता है। (३८)

अत्र भूयान् विस्तरोऽस्ति स तु प्रज्ञापनादितः ।

विज्ञेयो विबुधैर्नेह प्रोच्यते विस्तृतेर्भयात् ॥३९॥

इतिः भेदाः ॥१॥

इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहने को है, परन्तु विस्तार के भय से कहा नहीं है। इसलिए बुद्धिमान जीवों को प्रज्ञापना सूत्र आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। (३६)

यह प्रथम भेद द्वार है। (१)

एषां तिर्यग् नरक्षेत्रावधि जन्मात्ययादिकम् ।

योजनानां दशशतीमथो न परतः पुनः ॥४०॥

इति स्थानम् ॥२॥

अब गर्भज मनुष्य के स्थान के विषय में कहते हैं— इसमें इतना ही है कि इनका जन्म मरण केवल तिर्यच लोक में मनुष्य क्षेत्र तक ही होता है, और अधोलोक में एक सहस्र योजन पर्यन्त होता है। इससे आगे नहीं होता। (४०)

यह दूसरा द्वार है। (२)

एषां पर्याप्तयः सर्वाः पर्याप्तानां प्रकीर्तिताः ।

यथा सम्भवमन्येषां प्राणाश्च निखिला अपि ॥४१॥

इति पर्याप्तयः ॥३॥

इसके पर्याप्त विषय कहते हैं— पर्याप्त गर्भज मनुष्यों को सर्व पर्याप्त कही हैं, अपर्याप्त गर्भज मनुष्यों को जितनी संभव हो उतनी कही हैं तथा प्राण तो इनको सारे होते हैं। (४१)

यह पर्याप्त द्वार है। (३)

चतुर्दशयोनिलक्षा एषां संमूर्च्छिमैः सह ।

द्वादश स्युः कुल कोटयो योनिर्विवृत संवृता ॥४२॥

मिश्रा सचित्ताचित्त्वात् शीतोष्णात्वाच्च सा भवेत्।

वंशीपत्रा तथा शंखावर्ता कूर्मोन्नतापि च ॥४३॥

इति द्वारत्रयम् ॥४ से ६॥

संमूर्च्छिम की और इसकी मिलाकर चौदह लाख योनि संख्या है। जबकि कुल कोटि संख्या बारह लाख है। इसकी योनि विवृत संवृत है तथा यह 'सचित्ताचित' है और शीतोष्ण है अर्थात् दोनों प्रकार से इनकी मिश्र योनि कहलाती है एवं इनकी वंशीपत्रा, शंखावर्ता तथा कूर्मोन्नता ऐसी तीन प्रकार की योनि होती है। (४२-४३)

ये तीन द्वार हैं । (४ से ६)

पत्योपमानां त्रितयमुत्कृष्टैषां भवस्थितिः ।

सा युग्मिनां परेषां तु पूर्वकोटिः प्रकीर्तिता ॥४४॥

अब इसकी भवस्थिति के विषय में कहते हैं-- गर्भज मनुष्यों की भवस्थिति उत्कृष्ट तीन पत्योपम की है, परन्तु यह स्थिति केवल युगलियों की है अन्य मनुष्यों की करोड़पूर्व की है। (४४)

जघन्या नर गर्भस्य स्थितिरान्तर्मुहूर्त्तकी ।

उत्कृष्टा द्वादशाब्दानि विज्ञेया मध्यमाऽपरा ॥४५॥

मनुष्य के गर्भ की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति बारह वर्ष की है। इसके अलावा बीच की स्थिति मध्यम समझना। (४५)

पित्तादि दूषिणः पापी कार्मणादि वशोऽथवा ।

द्वादशाब्दानि गर्भान्तस्तिष्ठेत् सिद्धनुपादिवत् ॥४६॥

पित्त आदि दोष वाला पापी अथवा कामण दुमण आदि के वश कारण प्राणी सिद्धराज के समान बारह वर्ष तक भी गर्भ में रहता है। (४६)

चतुर्विंशतिवर्षां च गर्भं कायस्थितिर्नृणाम् ।

उत्कृष्टस्थिति गर्भस्य मृत्योत्पन्नस्य तत्र सा ॥४७॥

मनुष्य के गर्भ की कायस्थिति चौबीस वर्ष की भी होती है, परन्तु वह मृत्यु प्राप्त कर पुनः उत्पन्न हुआ उत्कृष्ट स्थिति वाला गर्भ होता है। (४७)

स्थित्वा द्वादश वर्षाणि गर्भं कश्चिन्महापवान् ।

विपद्योत्थ तत्रैव तावत्तिष्ठत्यसौ यतः ॥४८॥

इति भवस्थितिः ॥७॥

इत्यर्थतो भगवती शतक २ पंचमोद्देशके ॥

क्योंकि कोई महापापी जीव बारह वर्ष गर्भ में रहकर मृत्यु प्राप्त कर पुनः वहीं उत्पन्न होता है, वह उतना समय वहीं रहता है। (४८)

यह भव स्थिति द्वार है । (७)

यही भावार्थ श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पांचवें उद्देश में कहा है।

पूर्वाणां कोटयः सप्त तथा पल्योपमत्रयम् ।

भाव्या गर्भजतिर्यग्वदेषां कायस्थितिर्गुरुः ॥४६॥

इति कायस्थितिः ॥८॥

इनकी कायस्थिति का वर्णन कहते हैं- उत्कृष्टतः गर्भज तिर्यच के समान तीन पल्योपम और सात कोटि पूर्व की समझना ॥ (४६)

यह कायस्थिति द्वार है । (८)

संख्येय जीविनां देहाः पंचासंख्येय जीविनाम् ।

भवेत् देहत्रयमेव विनाहारक वैक्रिये ॥५०॥

इति देहाः ॥६॥

अब देह-शरीर के विषय में कहते हैं- संख्यात आयुष्य वाले मनुष्य को पांच होते हैं। असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्यों को आहारक और वैक्रिय- ये दो शरीर नहीं होते, केवल तीन शरीर ही होते हैं। (५०)

यह देह द्वार है । (६)

संख्येय जीविनां नृणां संस्थानान्यखिलान्यपि ।

चतुरस्र भवेदेतदसंख्येयायुषां पुनः ॥५१॥

इति संस्थानम् ॥९०॥

संस्थान के विषय में कहते हैं- संख्यात आयुष्य वाले मनुष्यों को सब ही होते हैं, असंख्यात आयुष्य वाले को केवल 'समचतुरस्र' अर्थात् समचौरस होता है । (५१)

यह संस्थान द्वार है । (१०)

शतानि पंच धनुषां षपुः संख्येय जीविनाम् ।

गध्युत्त्रयमन्येषामुत्कर्षेण प्रकीर्त्तितम् ॥५२॥

जघन्यतोऽङ्गुलासंख्य भागमानमिदं भवेत् ।

उभयेषां तदारम्भकाल एवास्य सम्भवः ॥५३॥

अब देहमान कहते हैं- संख्यात आयुष्य वाले मनुष्य का उत्कृष्ट पांच सौ धनुष्य का होता है, असंख्य आयुष्य वाले मनुष्य का केवल तीन कोस का कहा है। परन्तु दोनों का जघन्य देहमान तो अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना होता है, वह इसके आरम्भ काल में ही संभव है। (५२-५३)

संख्यायुषां वैक्रियं साधिकैक लक्षयोजनम् ।

उत्कर्षेण जघन्याच्चांगुल संख्यांश संमितम् ॥५४॥

संख्यात् आयुष्य वाले मनुष्य का वैक्रिय शरीर उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ अधिक होता है और जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना होता है। (५४)

आहारक शरीरं यत् स्यादेषां लब्धिशालिनाम् ।

श्रुतकेवलिनां तत्तु मानतो हस्तसंमितम् ॥५५॥

इति अंगमानम् ॥११॥

और लब्धिशाली श्रुत केवली का जो आहारक शरीर होता है, वह केवल एक हस्तप्रमाण होता है। (५५)

यह अंगमान द्वार है। (११)

स्युः सप्तपि समुद्घाता नृणां संख्येय जीविनाम् ।

असंख्येयायुषामाद्यास्त्रय एव भवन्ति ते ॥५६॥

इति समुद्घाताः ॥१२॥

अब समुद्घात के विषय में कहते हैं- संख्यात जीव मनुष्य को सात के सात पूरे होते हैं, असंख्य आयुष्य वाले मनुष्य को पहले तीन होते हैं। (५६)

यह समुद्घात द्वार है। (१२)

यान्ति सर्वे सुरेष्वेव नरा असंख्य जीविनः ।

त्रिजायुः समहीनेषु नाधिक स्थितिषु क्वचित् ॥५७॥

ततोन्तर द्वीप जाता भवन व्यन्तरावधि ।

यान्तीशानदिवं यावत् हरिवर्षादि जास्तु ते ॥५८॥

सौधर्मान्तं हैमवतहैरण्यवतजा इमे ।

जघन्यापि यदीशानेऽधिक पल्योपमा स्थितिः ॥५९॥

अब इनकी गति के विषय में कहते हैं - असंख्य आयुष्य वाले सर्व मनुष्य अपने जितनी ही आयुष्य वाले अथवा अपने से कम आयुष्य वाले देवता में जाते हैं, अपने से अधिक स्थिति वाले देव में नहीं जाते हैं। इस तरह होने से अन्तरद्वीप में जन्मे हुए भवनपति और व्यन्तर तक जाते हैं, और हरिवर्ष आदि क्षेत्र में जन्म हुए इशान देवलोक तक जाते हैं तथा हैमवत और हिरण्यवत क्षेत्र में जन्म हुए सौधर्म

देवलोक तक जाते हैं क्योंकि ईशान देवलोक में जघन्य स्थिति भी पल्योपम से अधिक होती है। (५७ से ५६)

सर्व संसारि गतिषु नराः संख्येय जीविनः ।

गच्छन्ति कर्म विगमादेति मुक्ति गतावधि ॥६०॥

संख्यात आयुष्य वाले मनुष्य सर्व संसारी गति में जाते हैं और कर्म रहित बने मोक्ष में भी जाते हैं। (६०)

तत्र च..... तीव्र रोषास्तपोमत्तास्तथा बालतपस्विनः ।

द्वैपायनादिवद्वैरपरा यान्त्य सुरेश्वमी ॥६१॥

परन्तु इनमें यदि तीव्र रोष वाला हो और तपस्या के कारण उन्मत्त तथा बाल तपस्वी हो वह द्वैपायन ऋषि के समान वैर रखने से असुरों में भी जन्म लेता है। (६२)

जलाग्नि झंपासंपात गलपाश विषाशनैः ।

तृष क्षुदाद्यैर्मृतास्ते स्युर्व्यन्तराः शुभ भावतः ॥६२॥

तथा जल में गिरकर, झंपापात-पहाड़ आदि से गिरकर, अग्नि में पड़कर, गले में फांसी खाकर, विषपान करके अथवा भूख-प्यास के कारण जिसकी मृत्यु हो जाती है और उसका शुभ भाव रहे तो वह व्यन्तर होता है। (६२)

अविराद्ध चारित्राणां जघन्यादाद्यताविषः ।

उत्कर्षेण च सर्वार्थ सिद्धिः स्याद्विषयो गते ॥६३॥

जो चारित्र लेकर विराधना नहीं करता वह कम से कम देवलोक में जाता है और अधिक से अधिक सर्वार्थसिद्धि में भी जाता है। (६३)

विराद्ध संयमानां तु भवनेशाद्यताविषौ ।

क्रमाजघन्योत्कर्षाभ्यामेवमग्रेऽपि भाव्यताम् ॥६४॥

परन्तु जो चारित्र लेकर विराधना करता है वह जघन्यतः भवनपति में और उत्कर्षतः प्रथम देवलोक में जाता है। (६४)

आराद्ध देशविरतिः सौधर्माच्युत ताविषौ ।

विराद्ध देशविरतेः भवन ज्योतिरालयौ ॥६५॥

जो देश विरति धर्म का आराधक होता है वह जघन्यतः सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होता है और उत्कृष्टतः अच्युत देवलोक में जाता है और जो देश विरति

का विराधक होता है वह जघन्यतः भवनपति और उत्कर्षतः ज्योतिष देवलोक में जाता है। (६५)

तापसानामपि तथा तावेष गति गोचरौ ।

कांदर्पिकाणां भवनधिष सौधर्मताविषौ ॥६६॥

तथा तापसी की भी इसी तरह ही गति होती है, जब कांदर्पिक जघन्यतः भवनपति में और उत्कर्षतः सौधर्म देवलोक में जाता है। (६६)

चरकाणां परिव्राजां भवन ब्रह्मताविषौ ।

सौधर्मलांतकौ कल्पौ ख्यातौ किल्बिषिकांगिनाम् ॥६७॥

विमानेषूत्पद्यमानापेक्षयेदं यतोऽन्यथा ।

सन्ति किल्बिषिका देवा भवनाधिपतिष्वपि ॥६८॥

चरक परिव्राजक जघन्यतः भवनपति में और उत्कृष्टतः ब्रह्म देवलोक में जाता है और किल्बिषि जीव जघन्य से सौधर्म देवलोक और उत्कृष्ट से लांतक देवलोक में जाता है । यह जो कहा है कि यह वैमानिक में उत्पन्न होता है, वह इसकी अपेक्षा से कहा है, क्योंकि ऐसा न होता हो तो भवनपति में किल्बिष देव हैं। (६७-६८)

आजीविकाभियोगानां भवनाच्युतताविषौ ।

निह्वानां च भवनेशान्त्य ग्रैवेयकौ किल ॥६९॥

आजीविका मति से वेष धारण किया हो और अभियोगिक जाति वाले को जघन्यतः भवनपति में और उत्कृष्टतः अत्युत देवलोक में स्थान मिलता है तथा निह्व की गति जघन्यतः भवनपति तक और उत्कर्ष से अन्तिम ग्रैवेयक तक होती है। (६९)

भव्यानामप्यभव्यानां साधुवेष गुणा स्पृशाम् ।

अपि मिथ्यादृशामेष विषयः सत्क्रिया बलात् ॥७०॥

तथा भव्य अथवा अभव्य साधु के वेष वाला हो और साधु के गुण वाला हो, वह चाहे मिथ्या दृष्टि हो फिर भी उसकी सत्क्रिया के कारण वही गति होती है। (७०)

निग्रंथ गुणवत्त्वेऽपि ते स्युः मिथ्यादृशो यतः ।

अब्रह्मधन् पदमपि मिथ्यात्वी सूत्र भाषितम् ॥७१॥

निर्ग्रन्थ के सर्व गुणों से युक्त हो फिर भी मिथ्यादृष्टि कहलाता है, इसका कारण यह है कि एक भी पद में जिसकी अश्रद्धा हो उसे मिथ्यादृष्टि समझना। ऐसा सूत्र वचन है। (७१)

सूत्र लक्षणं चैवमाहुः-

सुत्तं गणहर रइयं तहेव पत्ते अबुद्धरइयं च ।

सुअ केवलिणा रइयं अभिन्न दस पुव्विणा रइयं ॥७२॥

सूत्र का लक्षण इस तरह से समझना- जो गणधर ने रचना की हो, प्रत्येक बुद्ध द्वारा रचना हुई हो, श्रुत केवली भगवन्त ने रचना की हो अथवा पूर्ण दस पूर्वधारी ने रचना की हो, वह सूत्र कहलाता है। (७२)

देवेषु गच्छतामेषां स्यादुक्तो गति गोचरः ।

न त्वेषां गतिरेषैवेत्याशक्यं मति शालिभिः ॥७३॥

यह सब जो गति कही हैं उसी ही गति में सब मनुष्य जाते हैं ऐसा मेरा कहने का भावार्थ नहीं है। भावार्थ तो इस प्रकार है कि जो मनुष्य देवगति में जाने वाला होता है वह उसी जाति की देवगति में जाता है। (७३)

कांदर्पिकादिलक्षणं चैवम्-

कंदर्पः परिहासोऽस्ति यस्य कांदर्पिकश्च सः ।

कंदर्प विकथाशंसी तत्प्रशंसोपदेश कृत् ॥७४॥

नाना हास कलाः कुर्वन् मुख तूर्यांग चेष्टितैः ।

अहसन् हासयंश्चान्यान् नाना जीवरूतादिभिः ॥७५॥ युग्मं।

पूर्वोक्त कांदर्पिक आदि के लक्षण इस तरह हैं- कंदर्प अर्थात् परिहास, यह जिसमें हो वह कांदर्पिक कहलाता है। कंदर्प अर्थात् काम सम्बन्धी विकथा करने वाला, इसकी प्रशंसा और उपदेश देने वाला, मुख की आवाज से अथवा शरीर की चेष्टा से नाना प्रकार का हास्य- कुतूहल उत्पन्न करने वाला, स्वयं गंभीर रहकर नाना प्रकार के प्राणियों के समान आवाज निकालकर दूसरों को हंसाने वाला कांदर्पिक कहलाता है। (७४-७५)

किल्बिषं पापमस्यास्ति स किल्बिषिक उच्यते ।

मायावी ज्ञान सद्धर्माचार्य साध्यादि निन्दकः ॥७६॥

किल्बिष अर्थात् पाप, यह जिसमें हो वह किल्बिषिक है। माया- कपट

वाला और ज्ञान, धर्म, साधु तथा आचार्य आदि का निन्दक 'कित्त्विक' कहलाता है। (७६)

वर्तयेद्यस्तु नटवत् वेषभाजीविका कृते ।

बाह्योपचार चतुरः स आजीविक उच्यते ॥७७॥

आजीविका के लिये नृत्यकार के समान वेश धारण करे और बाह्य उपचार में चतुर हो वह आजीविक कहलाता है। (७७)

अभियोगः कार्मणादिस्तत्प्रयोक्ताभियोगिकः ।

द्रव्यानुयोग मंत्रादिः सद्विद्या द्रव्य भावतः ॥७८॥

अभियोग अर्थात् कामण दुमण करने वाला हो वह अभियोगिक कहलाता है। जिसमें प्रयोग और मंत्र-यंत्र करने पड़ें वह अभियोग दो प्रकार का है - १- द्रव्य से और २- भाव से। (७८)

तथोक्तम्-

दुविहो खलु अभियोगो द्रव्ये भावे य होइ नायव्वो ।

द्रव्यं मि होइ जोगा विज्जामता य भावं मि ॥७९॥

इति भगवती वृत्ति प्रथम शतक द्वितीयोद्देशके ॥

इस सम्बन्ध में श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक के दूसरे उद्देश की वृत्ति में कहा है कि- द्रव्य और भाव से-इस तरह दो प्रकार का अभियोग है। जिसमें प्रयोग करने पड़ते हैं वह द्रव्य अभियोग है और जिसमें विद्या-मन्त्र की साधना करनी पड़े वह भाव अभियोग है। (७९)

व्यवहारेण चारित्रवन्तोऽप्येतेऽचरित्रिणः ।

लभन्तइदृशीः संज्ञा दोषैरेतयैर्धोदितैः ॥८०॥

इस लोक व्यवहार में चारित्र वाला होने पर भी अचारित्रवान कहलाता है। उनको ऐसा उपनाम मिलने का कारण उनका यथोदित दोष है। (८०)

प्रयान्ति नरकेष्वेव नियमादर्धं चक्रिणः ।

तथैव च गतिर्ज्ञेया प्रत्यर्धं चक्रिणामपि ॥८१॥

आधा चक्रवती वासुदेव नियम रूप में नरक में ही जाता है और प्रति वासुदेव की भी गति (नरक) जानना चाहिए। (८१)

चक्रिणो येऽत्यक्त राज्याः प्रयान्ति नरकेषु ते ।

सप्तस्वपि यथा कर्मोत्कृष्टायुस्कतया परम् ॥८२॥

परन्तु जिसने राज्य का त्याग न किया हो वह चक्रवर्ती अपने कर्मों के अनुसार उत्कृष्ट आयु वाले सातवें नरक में जाता है। (८२)

यथोक्तं भगवती शतक १२ नवमोद्देशक वृत्तौ चक्रवर्तित्वान्तरनिरूपणाधिकारे- "जहणेणं सातिरेगं सागरोपमं ति कथम्। अपरित्यक्तसंगाः चक्रवर्तिनो नरक पृथिवीषु उत्पद्यन्ते तासु च यथास्थं उत्कृष्ट स्थितयो भवन्ति। ततश्च नरदेवो मृतः प्रथमं पृथिव्यामुत्पन्नः तत्र च उत्कृष्टां स्थितिं सागरोपमं प्रमाणांम् अनुभूय नर देवो जायते इत्येवं सागरोपमम् ॥ सातिरेकत्वं च नरदेवभवे चक्र रत्नोत्पत्तेः अर्वाचीन कालेन दृष्टव्यमिति ॥"

इस सम्बन्ध में श्री भगवती सूत्र के बारहवें शतक के नौवें उद्देश में चक्रवर्ती रूप के आन्तरा के अधिकार में इस तरह कहा है कि- 'जघन्य रूप में सागरोपम से कुछ अधिक होता है' वह किस तरह ? इसका उत्तर- 'जिसने राज्य का त्याग नहीं किया वह चक्रवर्ती नरक में जाता है और वहां अपने कर्म के अनुसार उत्कृष्ट काल तक स्थित होकर रहता है' इस तरह है, इसलिए नरदेव अर्थात् चक्रवर्ती मरकर पहले नरक में उत्पन्न होकर वहां उत्कृष्ट सागरोपम प्रमाण वाली स्थिति भोगकर पुनः चक्रवर्ती होता है। इसलिए सागरोपम की अन्तरा सार्धकता तो सिद्ध हुई। और 'अधिक' जो कहा है वह उस चक्रवर्ती के जन्म में चक्ररत्न की उत्पत्ति से पहले का जो काल है उस काल को लक्ष्य में रखकर कहा है।'

'श्री हरिभद्र सूरिकृत दश वैकालिक वृत्तौ हैमवीर चरित्रे नवपद प्रकरण वृत्तौ च चक्रिणः सप्तम्यामेव अत्यक्त राज्या यान्ति इति उक्तम् ॥'

श्री हरिभद्र सूरि जी रचित दशवैकालिक सूत्र की वृत्ति में, श्री हेमाचार्य रचित वीर चरित्र के अन्दर तथा 'नवपद प्रकरण' की वृत्ति में 'जिसने राज्य नहीं छोड़ा वह चक्री सातवें नरक में ही जाता है।' इस तरह कहा है।

त्यक्त राज्यास्तु ये सार्व भौमास्ते यान्ति ता विषम् ।

मुक्तिं वाथ सीरिणोऽपि ध्रुवं स्वर्मुक्तिं गामिनः ॥८३॥

इति गतिः ॥१३॥

जिसने राज्य-पाट का त्याग किया है वह चक्रवर्ती देवलोक में अथवा मोक्ष में जाता है। इसी तरह बलदेव भी स्वर्गगामी अथवा मोक्षगामी होता है। (८३)

इस तरह यह गति द्वार पूरा हुआ। (१३)

असंख्यायुनृतिरश्चः सप्तमक्षिति नारकान् ।

वाय्वग्नी च बिना सर्वेऽप्युत्पद्यन्ते नृ जन्मसु ॥८४॥

अब आगति के विषय में कहते हैं- असंख्य आयुष्य वाले मनुष्य तथा तिर्यच, सातवें नरक के जीव, वायुकाय के जीव तथा अग्निकाय के जीव- इनके अलावा अन्य सर्व प्राणी मनुष्य गति में आते हैं। (८४)

अर्हन्तो वासुदेवाश्च बलदेवाश्च चक्रिणः ।

सुरनैरयिकेभ्यः स्युर्नृतिर्यग्भ्योर्न कर्हिचित् ॥८५॥

और जो अर्हत, वासुदेव, बलदेव और चक्रवर्ती होते हैं वे देवता और नरक के जन्म में से ही निकलकर होते हैं, मनुष्य या तिर्यच के जन्म से नहीं होते (८५)

तत्रापि-प्रथमावेव नरकात् जायन्ते चक्रवर्तिणः ।

द्वाभ्यामेव हरिबलाः त्रिभ्यः एव च तीर्थपाः ॥८६॥

उसमें भी चक्रवर्ती पहले ही नरक में से, वासुदेव तथा बलदेव दो नरक में से और अर्हत तीन नरक में से निकलकर आते हैं। (८६)

चतुर्विधाः सुराश्च्युत्वा भवन्ति बलवर्तिणः ।

जिना विमानिका एव हरयोऽप्यननुत्तराः ॥८७॥

चार प्रकार के देव च्यवन कर बलदेव अथवा चक्रवर्ती होते हैं, वैमानिक देव ही च्यवन कर जिन होते हैं और अनुत्तर विमान रहित देव ही च्यवन कर वासुदेव होता है। (८७)

एवं मनुष्यरत्नानि यानि स्युः पंच चक्रिणाम् ।

तान्यागत्या विभाष्यानि सामान्येन मनुष्यवत् ॥८८॥

इसी ही तरह चक्रवर्ती के पांच मनुष्य रत्न होते हैं। इनकी आगति सामान्य रूप में मनुष्य के अनुसार समझना। (८८)

वैमानिकेभ्यश्च यदि भवन्ति तानि तर्हि च ।

अनुत्तर सुरान् मुक्त्वाऽन्येभ्यः स्युर्वासुदेववत् ॥८९॥

और ये यदि कभी वैमानिक में से आए तो वासुदेव के समान अनुत्त विमान के देवों को छोड़कर अन्य देवों में से आते हैं। (८६)

मुहूर्त्ता द्वादशोत्कृष्टं समयो लघु चान्तरम् ।

तिर्यग्घदेकसमय संख्या संमूर्च्छिमः सह ॥६०॥

इनका उत्कृष्ट अन्तर बारह अन्तर्मुहूर्त्त का है और जघन्य अन्तर एक समय का है। तथा इनकी एक समय संख्या और संमूर्च्छिम की एक समय संख्या एकत्र मिलकर तिर्यच के जितनी होती है। (६०)

उक्तं च..... नानांगि नाम पर्याप्त नृव्वे नोत्पत्तिरीरिता ।

उत्कर्षताऽविच्छेदेन पल्यासंख्यलवावधि ॥६१॥

अपर्याप्त नरत्वेनोत्पत्तिरेकस्य चांगिनः ।

उत्कर्षतो जघन्याच्चान्तर्मुहूर्त्त निरन्तरम् ॥६२॥

इत्यर्थतः पंच संग्रहो ॥

इति आगतिः ॥१४॥

इसके सम्बन्ध में पंच संग्रह में इस तरह भावार्थ कहा है- अपर्याप्त मनुष्यत्व के कारण नाना प्रकार के प्राणियों की सतत उत्कृष्ट उत्पत्ति पत्योपम के असंख्यवें भाग तक होती है और इसी कारण से एक प्राणी की लगातार उत्पत्ति जघन्य तथा उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्त्त तक होती है। (६१-६२) यह आगति द्वार है। (१४)

सम्यक्त्वं देशविरतिं चारित्रं मुक्तिमप्यमी ।

लभन्तेऽनन्तर भवे लब्ध्वा नर भवादिकम् ॥६३॥

अनन्तेऽनन्तरभवे लभन्ते कदाचन ।

अर्हत्वं चक्रवर्तित्वं बलत्वं वासुदेवतां ॥६४॥

अब इनकी अनन्तर राप्ति के विषय में कहते हैं- यह गर्भज मनुष्य अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व आदि प्राप्त कर सम्यक्त्व देश, विरति, चारित्र और मोक्ष प्राप्त करता है, परन्तु कभी भी अर्हत्, चक्रर्ता, बलदेव अथवा वासुदेव का अनन्तर जन्म नहीं होता है। (६३-६४)

लब्धिष्वष्टाविंशतौ या येषामिह नृजन्मनि ।

संभवन्ति प्रसंगेन दृश्यन्ते ता यथागमम् ॥६५॥

अट्टाईस लब्धियां होती हैं । उनमें से मनुष्य जन्म में जिस-जिस को जितनी-जितनी संभव हों उतनी होती हैं। प्रसंग को लेकर आगम में कहे अनुसार उनके नाम कहते हैं। (६५)

कफ विपुष्पलामर्शसर्वौषधिमहर्द्धयः ।
संभिन्न श्रोतोलब्धिश्च विपुलर्जुधियावपि ॥६६॥

चारुणाशीविषवधिसार्वज्ञ्य गणधारिताः ।
चक्रिताहृत्त्व बलता विष्णुत्वं पूर्वधारिता ॥६७॥

क्षीरमध्वाज्याश्रवाश्च बीज कोष्ठधियौ तथा ।
पदानुसारिता तेजोलेश्याहारकवैक्रिये ॥६८॥

शीतलेश्याक्षीण महानंसी पुलाक संज्ञिता ।
इत्यष्टाविंशतिर्भव्य पुंसां सल्लब्धयो मताः ॥६९॥ कलापकम् ।

कफ, थूक, मल, आमर्ष, सर्वौषधि, संभिन्न श्रोत, विपुलमति, ऋजुमति, चारुण, आशीविष, अवधि, सर्वज्ञत्व, गणधरत्व, चक्रवर्तीत्व, अर्हतत्व, बलदेवत्व, वासुदेवत्व, पूर्वधारित्व, क्षीर मधुआजय आश्रव, बीजधी, कोष्ठधी, पदानुसारिता, तेजोलेश्या, आहारक, वैक्रिय, शीतलेश्या, अक्षीण महानंसी, और पुलाक- ये अट्टाईस उत्तम लब्धियां भव्य पुरुषों को होती हैं। (६६ से ६९)

चक्रचर्हद्विष्णु बल संभिन्न श्रोतस्त्व पूर्विताः ।
गण भृत्त्वं चारणत्वं पुलाकाहारके अपि ॥१००॥

विना दशामूः स्त्रीष्वन्याः स्युरष्टादश लब्धयः ।
आस्वाहृन्त्य कदाचिद्यत्तत्त्वाश्चर्यं तयोदितम् ॥१०१॥ युग्मं ।

उपरोक्त अट्टाईस लब्धियों में की संभिन्न श्रोतत्व, चारणत्व, गणधरत्व, चक्रवर्तीत्व, अर्हतत्व, बलदेवत्व, वासुदेवत्व, पूर्वधारित्व, आहारकत्व और पुलाक लब्धि- इन दस के अलावा शेष अठारह स्त्रियों में भी होती हैं। कभी स्त्री को अर्हतत्व प्राप्त होता है, परन्तु वह एक आश्चर्य-अपवादरूप है। (१००-१०१)

दशैताः केवलित्वं च विपुलर्जुधियावपि ।
अभव्य पुंसां नैवैताः संभवन्ति त्रयोदशः ॥१०२॥

तथा उपरोक्त दस तथा केवलित्व, विपुलमति और ऋजुमति इस प्रकार तेरह अभव्य पुरुषों को नहीं होती हैं। (१०२)

अभव्ययोषिताः क्षीराद्याश्रव संयुताः ।
न स्युश्चतुर्दशै तासां ततोऽज्ञेयाश्चतुर्दश ॥१०३॥

इति अनन्तरासिः ॥१५॥

और अव्यय स्त्रियों को ये तेरह तथा क्षीरमधुआज्य आश्रव लब्धि- इस तरह चौदह नहीं होती परन्तु शेष चौदह होती हैं। (१०३)

यह अनन्तरासि द्वार है। (१५)

अनन्तरभवे चैते प्राप्य मानुष्यकादिकम् ।
सिद्ध्यन्त्येकत्र समये विंशतिर्नाधिकाः पुनः ॥१०४॥
तत्रापि पुंमनुष्येभ्यो जाता सिद्ध्यन्ति ते दश ।
नारीभ्योऽनन्तरं जाताः क्षणे ह्येकत्र विंशतिः ॥१०५॥

इति समये सिद्धिः ॥१६॥

अब इनकी समय सिद्धि के विषय में कहते हैं- यह गर्भज मनुष्य अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व प्राप्त करके एक समय में केवल बीस की संख्या में सिद्धि प्राप्त कर सकता है, विशेष नहीं। इसमें भी पुरुषों में से अनन्तर जन्म में मनुष्य में आये हों तो दस ही सिद्ध होते हैं, स्त्रियों में से अनन्तर जन्म में मनुष्यत्व प्राप्त किया हो वहाँ बीस सिद्ध होते हैं। (१०४-१०५)

यह समय सिद्ध द्वार है। (१६)

लेश्याहारदिशः सर्वा एषां संहननान्यपि ।
सर्वे कषायाः स्युः संज्ञाश्वेन्द्रियाण्यखिलान्यपि ॥१०६॥
लेश्याश्चतस्रः कृष्णाद्या भवन्त्य संख्य जीविनाम् ।
एषामाद्यं संहननमेकमेव प्रकीर्तितम् ॥१०७॥

इति द्वारषट्कम् ॥१७-२२॥

अब छः द्वार का वर्णन एक साथ करते हैं - गर्भज मनुष्य को सर्वलेश्या होती हैं, सर्व दिशाओं का आहार होता है सर्व प्रकार का संघयण होता है, सर्व कषाय होते हैं, सर्व संज्ञायें होती हैं, और सर्व इन्द्रियाँ होती हैं। अपवाद से असंख्यात आयुष्य वाले को कृष्ण आदि चार ही लेश्या होती हैं और केवल पहला संघयण होता है। (१०६-१०७)

ये छः द्वारों का वर्णन है। (१७ से २२)

सद्भावाद्ब्रह्मसंज्ञानामेते संज्ञितया मताः ।

दीर्घकालिक्यादि कानामपि सत्त्वात्तथैव ते ॥१०८॥

इति संज्ञिता ॥२३॥

अब इनकी संज्ञा के विषय में कहते हैं- इन मनुष्यों को सर्व संज्ञा व्यक्त होने से वे 'संज्ञित' कहलाते हैं तथा इनको 'दीर्घकालिकी' आदि संज्ञायें भी होती हैं, इसलिए वे 'संज्ञित' कहलाते हैं। (१०८)

यह संज्ञा द्वार है। (२३)

एतेषु भवतः पुंस्त्री वेदावसंख्य जीविषु ।

पुंभिस्तुल्याः स्त्रियश्चैषु स्युर्गुणित्वेन सर्वदा ॥१०९॥

अब वेद के विषय में कहते हैं- इन गर्भज मनुष्यों में जो असंख्य आयु वाले होते हैं उनको पुरुषवेद और स्त्रीवेद- ये दो वेद होते हैं और ये हमेशा युग्म होने से स्त्री और पुरुषों की संख्या समान होती है। (१०९)

पुंस्त्री क्लीवास्त्रिधान्ये स्युस्तत्रपुंभ्यः स्त्रियो मताः ।

सप्तविंशत्यतिरिक्ताः सप्तविंशति संगुणाः ॥११०॥

तथा इसमें जो संख्यात आयुष्य वाले हैं वे स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीन जाति के हैं। इसमें स्त्रियां पुरुषों से सत्ताईस गुणा से उपरांत सत्ताईस हैं। (११०)

"गर्भजा क्लीवास्तु पुमाकार भाजः पुंसु स्त्रयाकार भाजस्तु स्त्रीषु गणयन्ते इति वृद्धवादः ॥"

इति वेदाः ॥२४॥

और वृद्ध वादियों का कहना है कि- 'नपुंसकों में जो पुरुषाकार वाले हों वे पुरुषों में गिने जाते हैं और जो स्त्री आकार वाली हो वह स्त्रियों में गिनी जाती है।'

यह वेद द्वार है। (२४)

तिस्रो दृशो ज्ञानाज्ञान दर्शनान्यखिलान्यपि ।

द्वादशेत्युपयोगाः स्युस्त्रि धौजः प्रमुखा हतिः ॥१११॥

अब सात द्वारों का वर्णन करते हैं- इन गर्भज मनुष्य को दृष्टियां तीन होती

हैं, ज्ञान व अज्ञान सब होते हैं, उपयोग बारह होते हैं और आहार में ओजस् आदि तीन प्रकार का आहार होता है । (१११)

आहारस्य कावलिकस्यान्तरं स्यात्स्वभावजम् ।

ज्येष्ठं दिन त्रयं प्राग्बदनाहार कतापि च ॥११२॥

द्विक्षणा विग्रह गतौ समुद्घाते तु सप्तमे ।

भवत्यनाहारकता तृतीयादि क्षण त्रये ॥११३॥ -युग्मं।

अयोगित्वे पुनः सा स्याद संख्य समयात्मिका ।

गुणस्थानानि निखिलान्येषु योगास्तथाखिलाः ॥११४॥

इति द्वार सप्तकम् ॥२५ से ३१॥

उनका केवल आहार का उत्कृष्ट स्वाभाविक अन्तर तीन दिन का होता है । इनको अशरीर गति में पूर्व के समान दो समय अनाहारकता भी होती है तथा सातवें समुद्घात में तृतीय आदि तीन क्षण अर्थात् तीसरे, चौथे और पांचवें क्षण में वे अनाहारी होते हैं तथा अयोगित्व में तो वह असंख्य समय तक अनाहारी होते हैं । इनको गुण स्थान सर्व अर्थात् सम्पूर्ण चौदह होते हैं एवं योग सम्पूर्ण होते हैं । (११२ से ११४)

ये सात द्वार हैं । (२५ से ३१)

गर्भजानां मनुष्याणामथ मानं निरूप्यते ।

एकोनत्रिंशतांकैस्ते मिता जघन्यतोऽपि हि ॥११५॥

अब इनके मान-माप के विषय में कथन करते हैं- गर्भज मनुष्य की संख्या में जघन्य से उन्तीस अंक आते हैं । (११५)

‘ते च अमी’

वह इस प्रकार:-

छ ति ति ख षण नव तिग चउ षण तिग नव पंच सग ति तिग चउरो ।

छ दु चउ इग षण दु छ इग अड दु दु नव स्म जहन्न नरा ॥११६॥

इति पर्यन्त वर्तिनोक स्थानात् आरभ्य अंकस्थान संग्रहः ॥

छः, तीन, तीन, शून्य, पांच, नौ, तीन, चार, पांच, तीन, नौ, पांच, सात, तीन, तीन, चार, छः, दो, चार, एक, पांच, दो, छः, एक, आठ, दो, दो, नौ और सात- इस तरह उलटा करते अर्थात् ७६२२८१६२५१४२६४३३७५६३५४३६५०३३६

इतनी संख्या होती है । वह गर्भज मनुष्यों की जघन्य संख्या है ।

“एकं, दसं, सयं, सहस्सं, दस सहस्सं, लख्खं, दह लख्खं, कोडिं, दह कोडिं, कोडिं सयं, कोडि सहस्सं, दसकोडि सहस्सं, कोडि लख्खं, दह कोडि लख्खं, कोडा कोडि, दह कोडा कोडि, कोडा कोडि सयं, कोडा कोडि सहस्सं, दह कोडा कोडि सहस्सं, कोडा कोडि लख्खं, दह कोडा कोडि लख्खं, कोडा कोडि कोडि, दह कोडा कोडि कोडि, कोडा कोडि कोडि सयं, कोडा कोडि कोडि सहस्सं, दह कोडा कोडि कोडि सहस्सं, कोडा कोडि कोडि लख्खं, दह कोडा कोडि कोडि लख्खं, कोडा कोडि कोडि कोडि, इत्यादि अंक वाचन प्रकारः ॥”

जो अंक बोले जाते हैं वह इस प्रकार से- एक, दस, सौ, हजार, लाख, दस लाख, करोड़, दस करोड़, सौ करोड़, हजार करोड़, दस हजार करोड़, लाख करोड़, दस लाख करोड़, करोड़ करोड़, दस करोड़ करोड़, सौ करोड़ करोड़, हजार करोड़ करोड़, दस हजार करोड़ करोड़, लाख करोड़ करोड़, दस लाख करोड़ करोड़, करोड़ करोड़ करोड़ करोड़ इत्यादि संख्या के भेद हैं ।

एतेषामेव एकोनत्रिंशतांक स्थानानां पूर्वं पुरुषैः पूर्वं पूर्वांगैः परि संख्यां कृतम् । तद् उपदर्शयन्ते । तत्र चतुरशीतिर्लक्षाणि पूर्वांगाम् । चतुरशीतिलक्षाः चतुरशीत लक्षैः गुण्यन्ते ततः पूर्वं भवति । तस्य परिमाणं सप्ततिः कोटि लक्षाणि षट्पंचाशत् कोटि सहस्राणि (७०५६००००००००००) । एतेन पूर्वोक्तांकराशेः भागो हियते ततः इदम् आगतम्-

पूर्व कहे उन्तीस अंक स्थानों की संख्या का पूर्वाचार्यो ने पूर्व और पूर्वांग निकाला है । वह इस प्रकार- पूर्वांग अर्थात् चौरासी लाख; चौरासी लाख को चौरासी लाख द्वारा गुणा करने पर जो संख्या आती है वह पूर्व है । यह गुणाकार ७०५६०००००००००००० अर्थात् सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ होता है । इस परिमाण द्वारा पूर्वोक्त उन्तीस अंक की संख्या का पूर्व और पूर्वांग आता है । वह इस तरह-

मणुआणं जहन्नपदे एगारस पूव्वकोडि कोडिओ ।

बावीस कोडि लख्खा कोडि सहस्सा च चुलसीइ ॥१॥

अट्टेव य कोडिसया पुव्वाण दसुत्तरा तओ हुंति ।

एक्कासीइ लख्खा पंचाण ओइ सहस्सा य ॥२॥

छप्पन्ना तित्रि सया पुक्खाणं पुक्खवणिआ अणे ।
 एत्तो पुक्खंगाइं इमाइं अहि आइं अणाइं ॥३॥
 लख्खाइं एगवीसं पुक्खंगाण सयरीसहस्साइं ।
 छच्चेवेगूणद्दा पुक्खंगाणं सया होति ॥४॥
 तेसीइ सय सहस्सा पणासं खलु भवे सहस्सा य ।
 तित्रि सया छत्तीसा एव इया अविगला मणुआ ॥५॥

ग्यारह कोटा कोटी बाईस लाख करोड़ चौरासी हजार करोड़ आठ सौ करोड़ दस करोड़ इकासी लाख पंचानवें सौ छप्पन- इतने पूर्व हैं, इक्कीस लाख सत्तर हजार सात सौ छः-इतने पूर्वांग कहलाते हैं और इसके ऊपर तिरासी लाख पचास हजार तीन सौ छत्तीस- इतनी जघन्यतः गर्भज मनुष्य की संख्या है। (१ से ५)

उत्कर्षेण समुदिता गर्भं समूर्छिजा नराः ।
 असंख्येय कालचक्र समयैः प्रमिता मताः ॥११७॥

समूर्छिम और गर्भज मनुष्य की एकत्रित संख्या उत्कृष्ट असंख्यात काल चक्रों में जितना समय हो, उतनी होती है। (११७)

“मनुष्याहि उत्कृष्ट पदेऽपि श्रेष्य संख्येय भागगत प्रदेश राशि प्रमाणा लभ्यन्ते इति तु प्रज्ञापना वृत्तौ॥”

इति मानम् ॥३२॥

पत्रावणा सूत्र की वृत्ति में कहा है- ‘उत्कृष्ट पद से भी मनुष्य श्रेणि के असंख्यतावें भाग में रही प्रदेश राशि के समान है।’

यह मान द्वार है । (३२)

गर्भजाः पुरुषाः स्तोकास्ततः संख्यगुणाः स्त्रियः ।
 ततोऽसंख्यगुणाः बन्धनराः समूर्छिमैर्युताः ॥११८॥

इति लघ्व्यल्पबहुता ॥३३॥

इनकी लघु अल्प बहुता के विषय में कहते हैं- सब से अल्प गर्भज पुरुष हैं, इससे संख्य गुणा स्त्रियां हैं। इससे असंख्य गुणा समूर्छिम सहित नपुंसक हैं। (११८)

यह तेतीसवां द्वार है। (३३)

दक्षिणोत्तरयोः स्तोकाः स्युर्मनुष्या मिथः समाः ।
 प्राच्यां ततः संख्य गुणाः प्रतीच्यां च ततोऽधिकाः ॥११६॥
 भरतैरवतादीनि क्षेत्राण्यल्पान्यपागुदग् ।
 ततः संख्य गुणानि स्युः पूर्वं पश्चिमयोर्दिशोः ॥१२०॥
 किन्त्वधोलौकिक ग्रामेष्वनल्पाः स्युर्नरा यतः ।
 ततः प्रतीच्यामधिका मनुष्याः प्राच्यपेक्षया ॥१२१॥

इति दिगपेक्षयाल्पबहुता ॥३४॥

अब इनकी दिगपेक्षी अल्प-बहुता कहते हैं । सबसे अल्प मनुष्य दक्षिण और उत्तर में हैं और इन दोनों दिशाओं में समान है। पूर्व दिशा में इससे संख्यात गुणा हैं और इससे अधिक पश्चिम दिशा में हैं। दक्षिण और उत्तर में भरत, ऐरावत आदि क्षेत्रों में अल्प बस्ती है और पूर्व व पश्चिम में इससे संख्य गुणा बस्ती है। परन्तु अधोलोक के गांवों में बहुत मनुष्य होते हैं, इसलिए पूर्व दिशा की अपेक्षा पश्चिम दिशा में विशेष मनुष्य होते हैं। (११६-१२१)

यह दिशा अनुसार अल्प बहुत्व द्वार है। (३४)

अन्तर्मुहूर्त्तमल्पिष्टं मनुष्याणां महान्तरम् ।
 कालोऽनन्तः स चोत्कृष्टा कायस्थितिर्वनस्पतेः ॥१२२॥
 चक्रित्वे चान्तरं प्रोक्तं साधिकाब्धिमितं लघु ।
 ष्येष्ठं च पुद्गल परावर्त्तार्धं पंचमांगके ॥१२३॥

इत्यन्तरम् ॥३५॥

अब इनका अन्तर कहते हैं-मनुष्य में जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है तथा उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का है, और वह वनस्पति की उत्कृष्ट कायस्थिति के समान है। चक्रीवत रूप में जघन्य अन्तर एक सागरोपम से कुछ ही अधिक है और उत्कृष्ट अन्तर अर्धपुद्गल परावर्तन का कहा है। (१२२-१२३)

यह अन्तर द्वार है। (३५)

नृणाभिति व्यतिकरा विवृता मयैवम् ।
 सम्यग् विविच्य समयात् स्वगुरु प्रसत्या ॥
 पूर्णापणादिव कणाः कलमौक्तिकानाम् ।
 दीपत्विषाम् वणिजा मणि जाति वेत्रा ॥१२४॥

अनेक प्रकार की मणियों के गुण पहिचानने वाला व्यापारी जैसे पूर्ण भरी हुई दुकान में से, दीपक की ज्योति से सुन्दर-सुन्दर मोतियों को छांट-छांट कर ग्रहण करता है वैसे ही मैंने श्री गुरुदेव की कृपा से सिद्धांत में से यह मनुष्य सम्बन्धी बातें छांटकर इनका सम्यक् प्रकार से वर्णन किया है। (१२४)

विश्वाश्चर्यद कीर्ति कीर्ति विजय श्री वाचकेन्द्रां तिष-

द्राज श्री तनयोऽतनिष्ठ विनयः श्री तेजपालात्मजः।

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे ।

सर्गो निर्गलितार्थ सार्थ सुभगः पूर्णः सुखं सप्तमः ॥१२५॥

इति मनुष्याधिकार रूपः सप्तमः सर्गः।

तीन जगत् के मनुष्यों को आश्चर्यचकित करने वाली कीर्ति के स्वामी वाचकवर्य के स्वामी श्री कीर्ति विजय जी के शिष्य और माता राजश्री तथा पिता तेजपाल के कुलदीपक विनय विजय उपाध्याय ने सारे जगत् के सत्यपूर्ण तत्वों को प्रकाशमय करने वाला जो यह लोकप्रकाश ग्रन्थ रचा है, उसके अन्दर से सारांश शब्दार्थ के कारण मनोरंजक सातवां सर्ग विघ्न रहित समाप्त हुआ। (१२५)

॥ सातवां सर्ग समाप्त ॥

आठवां सर्ग

सुराश्चतुर्धा भवनव्यन्तर ज्योतिषा अपि ।
वैमानिका इति प्रोक्तास्तान्प्रभेदैरथ ब्रुवे ॥१॥

आठवें सर्ग में चार प्रकार के देवों का वर्णन है - १- भवनपति, २- व्यन्तर, ३- ज्योतिषी और ४- वैमानिक तथा इनके उपभेद भी हैं । अब उसे कहेंगे। (१)

वशथा भवनेशाश्चासुरनाग सुपर्णकाः ।
विद्युदग्नि द्वीप वार्धिदिग्वायुस्तनिता इति ॥२॥

एते च सर्वे कुमारोपपदा इति ज्ञेयम् ॥

भवनपति के दस भेद हैं- वह इस प्रकार, १- असुर कुमार, २- नाग कुमार, ३- सुपर्ण कुमार, ४- विद्युत कुमार, ५- अग्नि कुमार, ६- द्वीप कुमार, ७- समुद्र कुमार, ८- दिग् कुमार, ९- वायु कुमार और १०- मेघ कुमार। (२)

यहां सब में कुमार शब्द उपयोग होता है।

परमाधार्मिकाः पंचदशधाः परिकीर्तिताः ।
यथार्थैर्नामभिः ख्याता अम्बप्रभृतयश्च ते ॥३॥

अम्बाम्बरीषशबल श्याम रौद्रीपरुद्रकाः ।
असिपत्र धनुः कुम्भा महाकालश्च कालकः ॥४॥

वैतरणो वालुकश्च महाघोषः खरस्वरः ।
एतेऽसुर निकायान्तर्गताः पंचदशोदिताः ॥५॥

उसमें प्रथम असुर कुमार में पंद्रह प्रकार के जो परमाधामी देव होते हैं उनका समावेश होता है । इनके यथार्थ नाम इस प्रकार हैं- १- अम्ब, २- अम्बरीष, ३- शबल, ४- श्याम, ५- रौद्र, ६- उपरुद्र, ७- असिपत्त, ८- धनु, ९- कुम्भ, १०- महाकाल, ११- काल, १२- वैतरण, १३- वालुका, १४- महाघोष और १५- खरस्वर। ये सब असुर कुमार के अन्तर्गत पंद्रह भेद हैं। (३ से ५)

नीत्वोर्ध्वं पातयत्याद्यो नारकान् खंडशः परः ।
करोति भ्राष्ट्रपाकार्हान् तृतीयोऽन्नहृदादिभित् ॥६॥

शतनादि करस्तेषां तुरीयः पंचमः पुनः ।
कुन्तादौ प्रोतकस्तेषां षष्ठोऽङ्गोपांग भंग कृत् ॥७॥

अस्याकार पत्र युक्तं वनं त्वजति सप्तमः ।
 धनुर्मुक्तार्धचन्द्रादि वाणैर्विध्यति चाष्टमः ॥८॥
 नवमः पाककृत्तेषां कुम्भादौ दशमः पुनः ।
 खण्डयित्वासकृत् श्लक्ष्ण मांसखण्डानि स्वादति ॥९॥
 तान् कण्ड वादौ पचत्येकादशश्च द्वादशः सृजेत् ।
 नदीं वैतरणीं तसरक्त पूयादि पूरिताम् ॥१०॥
 कदम्ब पुष्पाद्याकार वाल्कासु पचेत्परः ।
 नश्यतस्तान् महाशब्दो निरूणद्धि चतुर्दशः ॥११॥
 आरोप्य शाल्मलीवृक्षं वनकंटक भीषणाम् ।
 खर स्वरः पंचदश समकर्षति नारकान् ॥१२॥

सबसे पहला परमाधामी नारकी जीव को ऊँचा उठाकर पछाड़ता है। दूसरा उसको भट्टी में पकाया जा सके इस प्रकार टुकड़े करता है, तीसरा उसके आंत तथा हृदय आदि का भेदन करता है। चौथा उनको काटता है, पांचवां उनको भालें में पिरोता है, छठा उसके अंगोपांग तोड़ता है, सातवां तलवार जैसे पत्तों का बन बनाता है। आठवां धनुष में से छोड़े हुए अर्ध चन्द्राकार बाणों से उनका छेदन करता है, नौवां उनको पकाता है, दसवां उनके नरम मांस के टुकड़े-खंडन कर खाता है, ग्यारहवां इनको कुंड आदि में पकाता है, बारहवां गरमागरम खून-पीब आदि से भरी वैतरणी नदी बनाता है, तेरहवां कदम्बपुष्प आदि के आकार वाली रेती में उनको भूनता है, चौदहवां भागने का प्रयत्न करने वाले को जोर से आवाज देकर रोकता है और पंद्रहवां वज्र से घबड़ाये हुए को भयंकर शाल्मली वृक्ष के ऊपर चढ़ाकर फिर खींचता है।

परमाधर्मिकास्ते च संचितानन्त पातकाः ।
 मृत्वाण्डगोलिकासयोत्पद्यन्तेऽत्यन्तदुःखिताः ॥१३॥

ये परमाधार्मिक इस प्रकार अनन्त पाप संचित कर अत्यन्त दुःख में मृत्यु प्राप्त कर अंडगोलक उत्पन्न होता है। (१३) वह इस प्रकार -

यत्र सिन्धुः प्रविशति नदी लवण वारिधिम् ।
 योजनैर्दिशि याम्यायां पंचपंचाशता ततः ॥१४॥
 अस्ति स्थलं वेदिकान्तः प्रतिसन्तापदायकम् ।
 प्रमाणतो योजनानि सार्धानि द्वादशैव तत् ॥१५॥

योजनानि त्रीणि सार्धान्यद्वेधोऽत्र महोदधेः ।

सप्त चत्वारिंशदत्र गुहाः सन्त्यति तामसाः ॥१६॥

आद्यं संहनननास्तासु वसन्त्युरुपराक्रमाः ।

नरा जलचरा मद्य मांस स्त्री भोग लोलुपाः ॥१७॥

दुर्वणाः कठिन स्पर्शाः भीषणा घोरदृष्टयः ।

अद्भ्यर्थं द्वादश कर देहाः संख्येय जीविताः ॥१८॥

जहां सिन्धु नदी व लवण समुद्र मिलता है, वहां से दक्षिण की ओर पचपन योजन ऊपर आयी एक वेदिका के अन्दर साढ़े बारह योजन प्रमाण एक भयानक स्थान है, वहां साढ़े तीन योजन समुद्र की गहराई है और सैतालिस अन्धकारमय गुफाएं हैं । उसके अन्दर प्रथम संघयण वाले, पराक्रमी, मद्य, मांस और स्त्री लोलुप जलचर मनुष्य रहते हैं । उनका रंग काला है, स्पर्श कठोर है और दृष्टि घोर भयानक है, साढ़े बारह हाथ की उनकी काया होती है और संख्यात वर्ष का उनकी आयुष्य होता है । (१४ से १८)

तत्र रत्नद्वीपमस्ति स्थलात् संतापदायकात् ।

वारिधौ योजनैरेकत्रिंशता भूरिमानवम् ॥१९॥

घरट्टान् वात्रिकांस्तेऽथ मनुष्यास्तत्रिवासिनः ।

लिप्यन्ति मद्यमांसैश्च तेषु तानि क्षिपन्ति च ॥२०॥

मद्यमांसालाबुपात्रैः प्रपूर्य बहनानि ते ।

गच्छन्ति जलधौ मद्य मांसैस्तान् लोभयन्ति च ॥२१॥

मद्यमांसास्वाद् लुब्धास्ततस्तदनुपातिनः ।

निपतन्ति घरट्टेषु कमात्ते जल मानुषा ॥२२॥

इस सन्तापदायक स्थान से इक्कीस योजन दूर, समुद्र के बीच अनेक मनुष्यों की बस्ती वाला रत्नद्वीप नामक द्वीप है । वहां के मनुष्य के पास वज्रमय बनी चक्की होती है, उस चक्की को वे मद्य-मांस से लेप करते हैं और वे वस्तुएं उसमें डालते भी हैं । मद्य-मांस भरी हुई जुम्बी के वाहन भरकर वे समुद्र में जाते हैं और उस मद्य-मांस द्वारा उन जलचर मनुष्यों को आकर्षित करते हैं । अतः इन वस्तुओं के स्वाद में लुब्ध होकर ये जल- मनुष्य इनके पीछे पड़कर क्रमशः इन घाटियों में गिरते हैं । (१९ से २२)

मांसानि वह्निपक्वानि जीर्णं मद्यानि ते नराः ।
 यावद्दिनानि द्वित्राणि भुंजानाः सुखमासते ॥२३॥
 तावद् भटाः सुसन्नद्धाः रत्नद्वीपनिवासिनः ।
 संयोजितान् घरट्टांस्तान् वेष्टयन्ति समन्तत् ॥२४॥
 वर्षं यावद्वाहयन्ति घरट्टानतिदुःसहान् ।
 तथापि तेषामस्थीनि न स्फुटन्ति मनागपि ॥२५॥
 ते दारुणानि दुःखानि सहमाना दुराशयाः ।
 प्रपीड्यमाना वर्षेण म्रियन्तेऽत्यन्तदुर्भराः ॥२६॥

परन्तु वे अग्नि में पकाये हुए मांस को तथा पुराने मद्य को दो- तीन दिन तक सुखपूर्वक आनंद में खाते रहते हैं, इतने में रत्नद्वीपवासी सशस्त्र सुभट वहां आकर उस चक्री को चलाकर चारों तरफ से घेर लेते हैं वे घूम नहीं सकते फिर भी उन्हें वर्ष दिन तक घुमाया करते हैं, फिर भी उनकी अस्थि लेश मात्र टूटती नहीं। ऐसे भयंकर दुःखों को सहन करते हुए वे एक वर्ष के अन्त में मृत्यु प्राप्त करते हैं। (२३ से २६)

अथाण्डगोलकांस्तेषां जनास्ते रत्नार्काक्षिणः ।
 चमरी पुच्छवालागैर्गुम्फित्वा कर्णयोर्द्वयोः ॥२७॥
 निबद्धय प्रविशन्त्यब्धौ तानन्ये जलचारिणः ।
 कुलीरतन्तु मीनाद्याः प्रभवन्ति न बाधितुम् ॥२८॥ युग्मं ।
 इति महानिशीथ चतुर्थाध्ययनेऽर्थतः ॥

फिर रत्न प्राप्ति की इच्छा वाले वे इनके अडंगोलकों को चमरी पूंछ के बाल से गूँथकर दोनों कानों में लटकाकर समुद्र में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार करने से कुलीर, मछली, तंतु आदि जलचर जीव उनको कुछ नुकसान नहीं कर सकते हैं। (२७-२८)

यह भावार्थ 'महानिशीथ' सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा है।

पिशाचा भूतयक्षाश्च राक्षसाः किन्नरा अपि ।
 किंपुरुषा महोरगा गन्धर्वा व्यन्तरा इमे ॥२९॥

देवों का दूसरा प्रकार जो व्यन्तर का है, उसके भेद इस प्रकार है -
 पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्वा (२९)

पिशाचास्तत्र सहजसुरूपाः सौम्य दर्शनाः ।

रत्नाभरणवद् ग्रीवा हस्ताः षोडशधा मताः ॥३०॥

कुष्माण्डाः पटक जाषा अह्निकाः कालका अपि ।

चोक्षाचोक्षमहाकालास्तथा वन पिशाचका ॥३१॥

तूष्णीकास्ताल मुखर पिशाचा देह संज्ञकाः ।

विदेहाश्च महादेहास्तथाधस्तारका इति ॥३२॥

पिशाच का स्वाभाविक सुन्दर रूप होता है, सौम्य दर्शन होते हैं, और उसके गले तथा हाथ में रत्न के आभूषण धारण किए होते हैं। इनके सोलह भेद हैं- कुष्मांड, पटक, जोष अह्निक, काल, चोक्ष, अचोक्ष, महाकाल, वन पिशाच, तूष्णीक, ताल पिशाच, मुखर पिशाच, देह, विदेह, महादेह तथा अधस्तारका। (३० से ३२)

सुरूप प्रतिरूपातिरूपा भूतोत्तमा इति ।

स्कन्दिकाक्षा महावेगा महास्कन्दिक संज्ञका ॥३३॥

आकाशकाः प्रतिच्छन्ना भूता नवविधा अमी ।

सौम्यानाः सुरूपाश्च नाना युक्ति विलेपनाः ॥३४॥

भूत नौ जाति के होते हैं- सुरूप, प्रतिरूप, अतिरूप, भूतोत्तम, स्कन्दिकाक्ष, महावेग, महास्कन्दिक, आकाशक और प्रतिच्छन्ना। इनकी सुन्दर आकृति है, उत्तम रूप है और अपने अंग-शरीर पर विविध प्रकार का विलेपन करते हैं। (३२-३४)

मानोन्मान प्रमाणोपपन्न देहा विशेषतः ।

रक्तपाणि पादतल तालु जिह्वीष्ट पाणिजाः ॥३५॥

किरीट धारिणो नाना रत्नात्मक विभूषणाः ।

यक्षास्त्रयोदशविधा गम्भीराः प्रियदर्शनाः ॥३६॥

पूर्णमणिश्चेत हरि सुमनो व्यतिपाकतः ।

भद्राः स्युः सर्वतोभद्राः सुभद्रा अष्टमाः स्मृताः ॥३७॥

यक्षोत्तमा रूपयक्षा धनाहार धनाधिपाः ।

मनुष्य यक्षा इत्येवं सर्वेप्येते त्रयोदश ॥३८॥

यक्ष तेरह प्रकार के होते हैं - पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरिभद्र, सुमनभद्र, व्यतिपाक भद्र, सर्वतोभद्र, सुभद्र, यक्षोत्तम, रूप यक्ष, धनाहार, धनाधिप तथा मनुष्य यक्ष। उनका शरीर मानोन्मान के अनुसार होता है। इनके हाथ, पैर, तलिया,

तालु, जीभ, होठ और नखून लाल होते हैं । ये मस्तक पर मुकुट और विविध आभूषण धारण करते हैं। इनका स्वभाव गम्भीर होता है और इनका दर्शन मनोहर होता है। (३५-३८)

करालरक्तलम्बोष्ठास्तपनीय विभूषणाः ।

राक्षसाः सप्तधा प्रोक्तास्तेऽमी भीषण दर्शनाः ॥३६॥

विघ्ना भीम महाभीमास्तथा राक्षस राक्षसाः ।

परे विनायका ब्रह्माराक्षसा जल राक्षसाः ॥४०॥

राक्षस सात प्रकार के होते हैं- विघ्न भीम, महाभीम, राक्षस, अराक्षस विनायक, ब्रह्माराक्षस और जल राक्षस। इनके विकराल लाल लटकते होठ होते हैं और ये सभी सुवर्ण के आभूषण पहनते हैं। (३६-४०)

मुखेष्वधिक रूपाठ्याः किन्नरा दीपमौलयः ।

दशधा किन्नरा रूपशालिनो हृदयंगमाः ॥४१॥

रतिप्रिया रतिश्रेष्ठाः किं पुरुषा मनोरमाः ।

अनिन्दिताः किं पुरुषोत्तमाश्च किन्नरोत्तमाः ॥४२॥

किन्नर के दस भेद होते हैं- किन्नर, रूपशाली, हृदयंगम, रतिप्रिय, रतिश्रेष्ठ, किंपुरुष, मनोरथ अनिन्दिता, किंपुरुषोत्तम और किन्नरोत्तम। इनके मुख आदि अवयव अधिक सौन्दर्यवान होते हैं और ये सब तेज चमकता मुकुट धारण करते हैं। (४१-४२)

मुखोरूवाहृद्यद्वाश्रित्रस्त्रगनुलेपनाः ।

दस किंपुरुषास्ते सत्पुरुषाः पुरुषोत्तमाः ॥४३॥

यशस्वन्तो महादेवा मरुन्मेरुप्रभा इति ।

महातिपुरुषाः किं च पुरुषाः पुरुषर्षभाः ॥४४॥

किंपुरुष के भी दस भेद होते हैं- सत्पुरुष, पुरुषोत्तम, यशस्वान, महादेव, मरुत, मेरुप्रभ, महापुरुष, अति पुरुष और पुरुष-ऋषभा। ये रूपवान होते हैं, इनके हाथ और मुख मनोहर होते हैं, ये विचित्र प्रकार की माला धारण करते हैं और अनेक प्रकार का विलेपन करते हैं। (४३-४४)

महोरगा दशविधा भुजगा भोगशालिनः ।

महाकाया, अतिकाया भास्वन्तः स्कन्ध शालिनः ॥४५॥

महेश्वक्षा मेरुकान्ता महावेगा मनोरमाः ।

सर्वेऽप्यमी महावेगा महांगाश्चित्र भूषणाः ॥४६॥

इसी तरह महोरग के भी दस भेद होते हैं- भुजग, भोगशाली, महाकाय, अतिकाय, भास्वन्त, स्कंधशाली, महेश्वक्ष, मेरुकांत, महावेग और मनोरम । ये सब महावेग वाले होते हैं, महान् शरीर वाले होते हैं और शरीर पर चित्र- विचित्र आभूषण धारण करते हैं। (४५-४६)

गन्धर्वा द्वादशविधाः सुस्वराः प्रियदर्शनाः ।

सरूपा मौलिमुकुटधरा हार विभूषणाः ॥४७॥

हाहा हूहू तुम्बरवो नारदा ऋषि वादिकाः ।

भूत वादिककादम्बा महाकदम्बरैवताः ॥४८॥

विश्रावसु गीत रति सद्गीत यशसस्तथा ।

सप्ताशीतिरिमे सर्वे तृतीयांगेऽष्ट तेत्वमी ॥४९॥

गन्धर्व के बारह प्रकार होते हैं- हाहा, हूहू, तुम्बरू, नारद, ऋषि वादक, भूत वादक, कदम्ब, महाकदम्ब, रैवत, विश्रावसु, गीत रति और सद्गीतयश । इनका सुन्दर स्वर है, प्रिय दर्शन है, उत्तम रूप है । ये मस्तक पर मुकुट और गले में हार धारण करते हैं। इस प्रकार से व्यन्तर जाति के देव की भेद प्रभेद को लेकर सत्तासी जाति होती हैं और तीसरे अंग के विषय में जो आठ भेद कहे हैं वह इस प्रकार। (४७-४९)

अणपत्री पणपत्री इसीवाई भूअवाइए चैव ।

कंदी य महाकंदी कोहंडे चैव पयए य ॥५०॥

अणपत्री, पणपत्री, ऋषिवादी, भूतवादी, कंदी, महाकंदी, कुष्मांड और पतंग ये आठ भेद हैं। (५०)

तथा..... अन्नपान वस्त्र वेश्म शय्यापुष्प फलोभये ।

येऽल्पानल्पत्व सरस विरसत्वादि कारकाः ॥५१॥

अन्नादि जृम्भकास्तेऽष्टौ स्युविद्याजृम्भकाः परे ।

येत्वन्नाद्य विभागेन जृम्भन्तेऽव्यक्त जृम्भकाः ॥५२॥

तथा अन्न, पान, वस्त्र, वसति, शय्या, पुष्प और फल- इन वस्तुओं की कमी होती हो तो पूर्ण करने वाले और कम रसवाली हो तो रस भर कर पूर्ण करने वाला एक प्रकार का देव होता है जो जृम्भक जाति का देव कहलाता है । इनके भी

दस भेद होते हैं। उसमें आठ अत्रादि जृम्भक-अत्र आदि की वृद्धि करने वाले हैं। एक प्रकार विद्या जृम्भक देव है और एक प्रकार अव्यक्त जृम्भक देव है। इस तरह कुल दस भेद होते हैं। अव्यक्त जृम्भक अर्थात् सामान्य रूप में सभी वस्तुओं की वृद्धि करने वाले होते हैं। (५१-५२)

विचित्र चित्रयमकवैताढय कांचनादिषु ।
वसन्ति शैलेषु दशाप्यमी पल्योपमायुषः ॥५३॥
नित्ये प्रभुदिताः क्रीडापराः सुरत सेविनः ।
स्वच्छन्दचारित्वादेते जृम्भन्त इति जृम्भकाः ॥५४॥

ये दस प्रकार के चित्र, विचित्र, यमक, समक, वेताढय और मेरु आदि पर्वतों पर निवास करने वाले हैं। इनका पल्योपम का आयुष्य होता है। ये हमेशा प्रभुदित रहते हैं, क्रीडा करते रहते हैं और सुरत समागम में लीन रहते हैं। इनका स्वच्छंदाचार नित्य विजृम्भ होते-बढ़ते जाने से वे जृम्भक कहलाते हैं। (५३-५४)

क्रुद्धानेतांश्च यः पश्येत् सोऽयशोऽनर्थमाप्नुयात् ।
तुष्टान् पश्यन् यशोविद्यां विंते वज्रमुनीन्द्र वत् ॥५५॥

जब ये क्रोधातुर हों उस समय जिसको इनका दर्शन हो तो उसे अपयश और अनर्थ होता है परन्तु जब संतुष्ट हों उस समय इनका दर्शन हो तो वज्र मुनि को जो मिला था ऐसी विद्या और यश आदि की प्राप्ति होती है। (५५)

शापानुग्रहशीलत्वमेषां शक्तिश्च तादृशी ।
अयमर्थः पंचमांगे शते प्रोक्तश्चतुर्दशे ॥५६॥

इनमें शाप देने का और अनुग्रह करने का भी स्वभाव रहता है क्योंकि इनमें इन प्रकार की शक्ति है। ऐसा भावार्थ पांचवें अंग श्री भगवती सूत्र में चौदहवें शतक में कहा है। (५६)

शतं पंचोत्तरं भेदप्रभेदैर्व्यन्तरामराः ।
भवन्ति नाना क्रीडाभिः क्रीडन्तः काननादिषु ॥५७॥

बाग- बगीचे में विविध प्रकार की क्रीडा करने में बार-बार ही तत्पर रहने वाले ये व्यन्तर देव सब मिलाकर एक सौ पांच (१०५) प्रकार के होते हैं। (५७)

ज्योतिष्का पंच चन्द्रार्क ग्रह नक्षत्र तारकाः ।
द्विधा स्थिराश्चराश्चेति दशभेदा भवन्ति ते ॥५८॥

देवों का तीसरा भेद ज्योतिषी देव है । इसके पांच प्रकार हैं- सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनमें कई स्थिर रहते हैं और कई गतिमान हैं । अतः इस तरह (५×२ = १०) दस भेद होते हैं। (५८)

वैमानिका द्विधा कल्पातीत कल्पोपपन्नकाः ।

कल्पोत्पन्ना द्वादशधा तैत्वमी देवलोकजाः ॥५९॥

सौधर्मेज्ञान सनत् कुमार माहेन्द्र ब्रह्म लांतकजाः ।

शुक्र सहस्रारानत प्राणतजा आरणाच्युतजाः ॥६०॥

देवों के अन्तिम चौथे वैमानिक देव के विषय में कहते हैं- वैमानिक देव के दो भेद हैं, १- कल्पोपपन्न और २- कल्पातीत। इसमें भी कल्पोपपन्न के बारह भेद होते हैं । ये बारह देवलोक कहलाते हैं । वह इस प्रकार- १- सौधर्म, २- ईशान, ३- सनत् कुमार, ४- माहेन्द्र, ५- ब्रह्म, ६- लांतक, ७- शुक्र, ८- सहस्रार, ९- आनत, १०- प्राणत, ११- आरण और १२- अच्युत। (५९-६०)

आद्यकल्पद्वयाधः स्थास्तृतीयाद्यस्तना अपि ।

लान्तकत्रिदिवाधः स्थास्त्रिधा किल्विषिका अमी ॥६१॥

किल्विष देव तीन प्रकार के होते हैं; १- पहला दो देवलोक के नीचे रहता है, २- दूसरा तीसरे देवलोक के नीचे रहता है और ३- तीसरा छठे लांतक देवलोक के नीचे रहता है। (६१)

कल्पातीता द्विधा ग्रैवेयक्रानुत्तर सम्भवाः ।

स्वामिसेवक भावादि कल्पेन रहिता इमे ॥६२॥

और जो पूर्व कल्पातीत देव कहा है उसके दो भेद हैं, १- ग्रैवेयक में होने वाले और २- अनुत्तर विमान में होने वाले। कल्प अर्थात् स्वामी- सेवक भाव रूपी रिवाज अतीत अर्थात् यह जिसमें न हो वह कल्पातीत कहलाता है । इन देवलोकों में स्वामित्व या सेवकत्व का भाव जैसा कुछ नहीं है। (६२)

अधस्तनाधस्तनं च स्यादधस्तनमध्यमम् ।

अधस्तनोपरितनं मध्यमाद्यस्तनं ततः ॥६३॥

भवेन्मध्यममध्यं च मध्योपरितनं ततः ।

उपरिस्थाधस्तनं चोपरिस्थमध्यमं पुनः ॥६४॥

उपरिस्थोपरितनं तज्जा ग्रैवेयकाः सुराः ।

विजयादि विमानोत्थाः पंचधानुत्तरामराः ॥६५॥

१- अधस्तनाधस्तन, २- अधस्तनमध्यम, ३- अधस्तनोपरितन, ४- मध्यमाधस्तन, ५- मध्यम मध्यम, ६- मध्यमोपरितन, ७- उपरिस्थाधस्तन, ८- उपरिस्थमध्यम और ९- उपरिस्थ उपरितन; इन नौ ग्रैवेयकों में उत्पन्न हुए नौ प्रकार के ग्रैवेयक देव होते हैं और विजय आदि विमानों में उत्पन्न हुए पांच प्रकार के अनुत्तर देव होते हैं। (६३ से ६५)

सारस्वतादित्य वह्नि वरुणा गर्दतोयकाः ।

तृषिताव्याबाधाग्नेयरिष्टा लोकांतिका अमी ॥६६॥

तथा नौ प्रकार के लोकांतिक देव होते हैं- १- सारस्वत, २- आदित्य, ३- वह्नि, ४- वरुण, ५- गर्दतोयक, ६- तृषित, ७- अव्याबाध, ८- आग्नेय और ९- रिष्ट। (६६)

पर्याप्तापर भेदेन सर्वेऽपि द्विविधा अमी ।

जाताः षट्पंचाशमेवं सुरभेदाः शतत्रयम् ॥६७॥

और इन सर्व देव के १- पर्याप्त और २- अपर्याप्त, इस तरह दो भेद होते हैं। अतः कुल मिलाकर देवों के भेद $२५+१०५+१०+३८ = १७८ \times २ = ३५६$ होते हैं। (६७)

पंचमंगे तु..... द्रव्यदेवा नरदेवा धर्मदेवास्तथापरे ।

देवाधिदेवा ये भावदेवास्ते पंचमा मताः ॥६८॥

पांचवें अंग भगवती सूत्र में पांच प्रकार के देव कहे हैं- १- द्रव्यदेव, २- नरदेव, ३- धर्मदेव, ४- देवाधिदेव और ५- भावदेव। (६८)

तत्र च- पंचेन्द्रियो नरस्तिर्यक् सम्पादित शुभायतिः।

उत्पत्स्यते यो देवत्वे द्रव्यदेवः स उच्यते ॥६९॥

नरदेवाः सार्वभौमा धर्मदेवास्तु साधवः ।

देवाधिदेवा अर्हन्तो भावदेवाः सुरा इमे ॥७०॥

इह भाव देवैः अधिकारः ॥

इति भेदाः ॥१॥

जिसने शुभ कर्म उपार्जन किया हो और देव गति प्राप्त करनी हो वह पंचेन्द्रिय मनुष्य अथवा तिर्यच 'द्रव्यदेव' कहलाता है। सार्वभौम चक्रवर्ती राजा नरदेव कहलाता है, साधु धर्मदेव कहलाता है, अरिहंत देवाधिदेव कहलाते हैं और जिनका अभी वर्णन किया है वे सब देव 'भावदेव' कहलाते हैं।

(६८ से ७०) अपने यहां भावदेव का अधिकार है। इस तरह देव के भेद का वर्णन हुआ। यह प्रथम द्वार है। (१)

त्रिलौक्येऽपि स्थानमेषां क्षेत्रलोके प्रवक्ष्यते ।

स्थानोत्पाद समुद्घातैर्लोकैका संख्यांशगा अमी ॥७१॥

इति स्थानम् ॥२॥

अब इनके स्थान के विषय में वर्णन करते हैं- इन देवों का स्थान तीनों लोकों में है। इस सम्बन्धी क्षेत्र लोक में वर्णन करेंगे। इनका स्थान- उत्पाद और समुद्घात द्वारा लोक के असंख्यात भाग में रहते हैं। (७१)

यह स्थान द्वार है। (२)

पर्याप्तयः षडप्येषां पञ्चाप्यैकविवक्षया ।

वाक्चेत सोदेश प्राण एतेषां परिकीर्तिताः ॥७२॥

इति पर्याप्तः ॥३॥

अब इनकी पर्याप्ति के विषय में कहते हैं- देवों को छः पर्याप्ति होती हैं परन्तु मन और वाणी को एकत्रित गिने तो पांच कहलाती हैं, प्राण इनके दस होते हैं। (७२)

यह पर्याप्ति द्वार है। (३)

चतस्रो योनि लक्षाः स्युः लक्षाश्च कुलकोटिजाः ।

द्वादशैषाम चित्ता स्याद्योनिः शीतोष्ण संवृत्ता ॥७३॥

इति द्वारत्रयम् ॥४ से ६॥

और इनकी योनि संख्या चार लाख है, कुल संख्या बारह लाख है। इनकी योनि तीन प्रकार की है- सचित, शीतोष्ण और संवृत्। (७३)

ये तीन द्वार हैं। (४ से ६)

पयो धयस्त्रयस्त्रिंशदुत्कर्षेण भवस्थितिः ।

सहस्राणि दशाब्दानां स्यादेषां सा जघन्यतः ॥७४॥

इति भवस्थितिः ॥७४॥

कायस्थितिस्त्वेषां भवस्थितिरेव ॥८॥

इनकी भवस्थिति उत्कृष्ट तैंतीस सागरोपम की है और जघन्यतः दस हजार वर्ष की है। (७४)

यह भवस्थिति द्वार है । (७)

इनकी भवस्थिति और कायस्थिति एक ही समान है । (८)

देहास्त्रयस्त्रैजसं कार्मणं वैक्रियं तथा ।

संस्थान चतुरस्रं स्याद्रम्यं पुण्यानुसारतः ॥७५॥

इति द्वार द्वयम् ॥६-१०॥

इनका देह तीन प्रकार का होता है - १- तैजस, २- कार्मण और ३- वैक्रिय । तथा इनके पुण्य के योग से इनको सुन्दर रम्य सम चौरस संस्थान होता है। (७५)

ये देह तथा संस्थान द्वार हैं। (६-१०)

उत्कर्षतः सप्तहस्ताः वपुर्जघन्यतः पुनः ।

अंगुलासंख्यभागः स्यादादौ स्वाभाविकं हृदः ॥७६॥

तत्कृत्रिमं वैक्रियं साधिकैकलक्षयोजनम् ।

ज्येष्ठमंगुल संख्यांश मानमादौ च तल्लघु ॥७७॥

इति अंगमानम् ॥११॥

अब इनके देहमान के विषय में कहते हैं- देव का स्वाभाविक शरीर उत्कृष्ट सात हांथ का होता है और जघन्य एक अंगुल के असंख्यातवें भाग के समान होता है जो उनका आरम्भ का शरीर है तथा उनका कृत्रिम वैक्रिय शरीर उत्कृष्ट एक लाख योजन से सहज अधिक होता है और जघन्यतः एक अंगुल के संख्यातवें भाग सदृश होता है जोकि प्रारम्भ का ही है। (७६-७७)

यह अंगमान द्वार है। (११)

आद्याः पंच समुद्रघाताः पंचस्त्वे तेषु यान्यमी ।

पर्याप्तं गर्भजनरतिर्यक्षु संख्य जीविषु ॥७८॥

पर्याप्तं बादरक्षमाम्बु प्रत्येक क्षितिजेषु च ।

गर्भजा मनुजाः पंचेन्द्रियास्तिर्यच एव च ॥७९॥

संमूर्च्छिमा गर्भजाश्चागच्छन्त्यमृतभोजिषु ।

विशेषस्त्वन्नोदितः प्राक् क्षेत्र लोकेऽपि वक्ष्यते ॥८०॥

इनके समुद्रघात पहले पांच होते हैं। देव पांच गति में जाते हैं; १- संख्य जीवी पर्याप्त-गर्भज मनुष्यत्व, २- इसी प्रकार का तिर्यचत्व, ३- पर्याप्त बादर पृथ्वीकायत्व, ४- पर्याप्त बादर अल्पकायत्व और ५- पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पति कायत्व । गर्भज मनुष्य तथा संमूर्च्छिम और गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच इतने प्रकार के देवों में आ सकते हैं। इसके सम्बन्ध विशेष पूर्व में कहा है और अब बाद में क्षेत्र लोक के अधिकार में कहा जायेगा। (७८ से ८०)

मूहूर्त्तानि द्वादशैषामुत्पत्ति च्यवनान्तरम् ।

सामान्यतः स्यादुत्कृष्ट जघन्यं समयावधि ॥८१॥

इनकी उत्पत्ति और च्यवन के बीच उत्कृष्ट अन्तर सामान्यतः बारह अन्तर्मुहूर्त्त का है और जघन्य अन्तर एक समय का है। (८१)

उत्पद्यन्ते च्यवन्तेऽमी एकस्मिन् समये पुनः ।

एकोद्वित्राश्च संख्येया असंख्येयाश्च कर्हिचित् ॥८२॥

इति द्वार त्रयम् ॥१२ से १४॥

तथा ये एक समय में एक, दो, तीन- इस तरह संख्यतः और किसी समय असंख्य भी जन्म लेते हैं और इसी प्रकार च्यवन होता है। (८२)

ये तीन द्वार हैं । (१२ से १४)

सम्यकत्वं देशविरतिं चारित्रं मुक्तिमप्यमी ।

लभन्ते लघु कर्माणो विपद्यान्तरे भवे ॥८३॥

इति अनन्तराप्तिः ॥१५॥

अब अनन्तराप्ति के विषय में कहते हैं- इन देवों में जो लघुकर्मी होते हैं वे च्यवन कर अनन्तर जन्म में समकित, देशविरति, सर्व चारित्र और मोक्ष भी प्राप्त करते हैं। (८३)

यह अनंतरासि द्वार है। (१५)

सिद्धयन्त्यनन्तर भवे एकस्मिन् समये त्वमी ।

उत्कर्षतः साष्टशतं विशेषस्त्वेष तत्र च ॥८४॥

अब समयसिद्धि के विषय में कहते हैं- ये अनन्तर भव में एक समय में उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते हैं। (८४)

भवनेशा व्यन्तराश्च सर्वे दशदशैव हि ।

तदेव्यः पंच पंचैव दश ज्योतिष्क निर्जराः ॥८५॥

ज्योतिष्क देव्यश्चैकस्मिन् क्षणे सिद्धयन्ति विशन्तिः।

वैमानिकाः साष्टशतं तदेव्यो विशन्तिः पुनः ॥८६॥

इति समयसिद्धिः ॥१६॥

यह बात विशेषतः इस तरह से है- भवनपति और व्यन्तर में से दस-दस ही सिद्ध होते हैं, इनकी देवियां पांच-पांच ही सिद्ध होती हैं, ज्योतिष्क देवों में से दस सिद्ध होते हैं और उनकी देवियां बीस सिद्ध होती हैं। वैमानिक देव एक सौ आठ सिद्ध होते हैं और इनकी देवियां बीस सिद्ध होती हैं। (८५-८६)

यह समयसिद्धि द्वार है। (१६)

लेश्याहार दिशा षट्कं न संहनन संभवः ।

कषाय संज्ञेन्द्रियाणि सर्वाण्येषां भवन्ति च ॥८७॥

इति द्वारषट्कम् ॥१७ से २२॥

इनकी छः लेश्या होती हैं। इनका छः दिशा में आहार होता है। संहनन संभव नहीं होता तथा कषाय संज्ञा और इन्द्रिय- सब पूर्ण रूप में होती हैं। (८७)

ये छः द्वार हैं। (१७ से २२)

सर्वेऽप्येते संज्ञिनः स्युः पुंस्त्री वेदयुजः परम ।

देव्यः सुरेभ्यो द्वात्रिंशद् गुणा द्वात्रिंशताधिकाः ॥८८॥

इति द्वारद्वयम् ॥२३-२४॥

ये सभी संज्ञी होते हैं। इनको पुरुष और स्त्री- ये दोनों वेद होते हैं। देवों से देवियों में बत्तीस गुण अधिक होते हैं। (८८)

ये दो द्वार हैं। (२३-२४)

एषां स्युर्दृष्टयः तिस्र आद्यंज्ञानत्रयं भवेत् ।
सम्यग्दृशां परेषां तु स्याद ज्ञानत्रयं ध्रुवम् ॥८६॥

इति द्वार द्वयम् ॥२५-२६॥

दर्शनत्रयमाद्यं स्यादेषां सम्यक्त्व शालिनाम् ।
दर्शनद्वयमन्येषामुपयोगो द्विधा ततः ॥८७॥

उपयोगा षडेतेषां ज्ञान दर्शन योस्त्रयम् ।
सम्यग्दृशां परेषां तु त्र्यज्ञानी द्वे च दर्शने ॥८९॥

इति द्वार द्वयम् ॥२७-२८॥

इनकी दृष्टि तीन होती हैं। जो समकित दृष्टि वाला है उसको प्रथम तीन ज्ञान होते हैं। (८६)

ये दो द्वार हैं। (२५-२६) और तीन दर्शन होते हैं जबकि इसके अलावा अन्य को तीन अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। इस तरह ज्ञान और दर्शन दोनों होने से इनका उपयोग भी साकार और निराकार दोनों प्रकार का है तथा समकित दृष्टि वाले को तीन ज्ञान और तीन दर्शन मिलाकर छः उपयोग होते हैं जबकि इसके अलावा अन्य को तीन अज्ञान तथा दो दर्शन मिलकर पांच उपयोग होते हैं। (८७ से ८९)

ये दो द्वार हैं। (२७-२८)

एतेषाभोज आहारो लोमाहारोऽपि संभवेत् ।

नस्यात्कावलिकः स्यात् मनोभक्षण लक्षण ॥८२॥

अब इनके आहार के विषय में कहते हैं। देवों को ओज और लोभ- ये दो आहार होते हैं, कावलिक आहार नहीं होता है। मन से प्राशन करने रूप कावलिक आहार होता है। (८२)

अन्तरं पुनरेतस्य चतुर्थं भक्त संमितम् ।

जघन्यमन्यत्त्वद्दानां त्रयस्त्रिंशत्सहस्रका ॥८३॥

इति आहारः ॥२६॥

इस आहार का जघन्य अन्तर चौथ भक्त प्रमाण है और उत्कृष्ट तो तैंतीस हजार वर्ष का होता है। (८२)

यह आहार द्वार है। (२६)

गुण स्थानानि चत्वारि योगश्रैका दशोदिताः ।

औदारिकाहारकाख्य तन्मिश्रांश्च विनाखिला ॥६४॥

इति द्वार द्वयम् ॥३०॥३१॥

देवों को गुण स्थान चार होते हैं और आहारक, औदारिक, औदारिक मिश्र, आहारक मिश्र- इन चार के अलावा शेष ११ सर्व योग होते हैं। (६४)

ये दो द्वार हैं। (३० से ३१)

प्रतरासंख्य भागस्थासंख्येय श्रेणि वर्त्तिभिः ।

नभः प्रदेशैः प्रमिताः प्रोक्ताः समान्यतः सुरा ॥६५॥

अब इनके मान-माप के विषय में कहते हैं। देवों की संख्या सामान्यतः प्रतर के असंख्यवें भाग में रही असंख्य श्रेणियों में रहे आकाश के प्रदेश समान है। (६५)

क्षेत्र पल्योपमासंख्य भागस्थाभ्रंश संमिताः ।

देवा अनुत्तरोत्पन्नाः संख्येयास्तत्र पंचमे ॥६६॥

अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए देव क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में रहे आकाश प्रदेश जितने हैं, उसमें भी पांचवें में संख्यात है। (६६)

वृहत्तर क्षेत्रपल्यासंख्यांशाभ्रांश संमिताः ।

भवन्त्यथोपरितन ग्रैवेयक त्रिकामराः ॥६७॥

तथा ऊपर के तीन ग्रैवेयक के देव क्षेत्र पल्योपम के बृहत् असंख्यातवें भाग में रहे आकाश प्रदेश के समान हैं। (६७)

मध्यमेऽधस्तनेऽप्येवं त्रिके कल्पेऽच्युतेऽपि च ।

आरणो प्राणते चैवानतेऽपीयन्त एव ते ॥६८॥

किन्तु पल्यासंख्य भागो वृहत्तरो यथोत्तरम् ।

एक मानमित्तेष्वेवं स्यात् परेष्वपि भावना ॥६९॥

तथा ग्रैवेयक के मध्यम त्रिक और नीचे के त्रिक में एवं अच्युत, आरण, प्राणत तथा आनंत देवलोक में भी उतने ही देव हैं, परन्तु वहां पल्योपम के असंख्यवें भाग जो उत्तरोत्तर विशेष से विशेष बड़ा गिनना है। समान प्रमाण वाले अन्य देवलोक में इसी प्रकार ही भावना समझ लेनी चाहिए। (६८-६९)

सहस्रार महाशुक लांतक ब्रह्मवासिनः ।

माहेन्द्र सनत्कुमार देवाः प्रत्येकमीरिताः ॥१००॥

घनीकृतस्य लोकस्य श्रेयस्य संख्यांशं वर्तिभिः ।

नभः प्रदेशैः प्रमिता विशेषोऽत्रापि पूर्ववत् ॥१०१॥ युग्मं ।

तथा सहस्रार, महाशुक, लांतक, ब्रह्म, माहेन्द्र और सनत्कुमार- इन प्रत्येक देवलोक में रहे देवों की संख्या घनकृत लोक की श्रेणि के असंख्यातवें भाग में रहते आकाश प्रदेश जितनी है। यहां पर भी जो विशेष पूर्व में कहा है उसके अनुसार समझ लेना। (१००-१०१)

अंगुल प्रमित क्षेत्र प्रदेश राशि संगते ।

तृतीय वर्ग मूलघ्ने द्वितीय वर्ग मूलके ॥१०२॥

यावान् प्रदेश राशिः स्यादेक प्रादेशिकीष्वथ ।

श्रेणीषु तावन्मानासु लोकस्यास्य घनात्मतः ॥१०३॥

नभः प्रदेशा यावन्तस्तावानीशान नाकगः ।

देव देवी समुदायो निर्दिष्टः श्रुत पारगैः ॥१०४॥ त्रिविशेषकम् ।

एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र प्रदेश की राशि के और तीसरे वर्गमूल से गुणा करते, दूसरे वर्गमूल में जितनी प्रदेश राशि होती है उतने प्रमाण वाली एक प्रदेश श्रेणियों में घन रूप करने से लोकाकाश के जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने ईशान देवलोक में रहे देव देवियों की संख्या है। ऐसा श्रुत के पारगमियों ने कहा है। (१०२ से १०४)

त्रयस्त्रिंशत्तमोऽंशोऽस्य किंचिदूनश्रयो भवेत् ।

ईशान देवास्तावन्तः केवलाः कथिताः श्रुते ॥१०५॥

इसमें केवल तैत्तीसवें भाग में ही ईशान देवलोक के देव होते हैं, इस प्रकार शास्त्र में कहा है। (१०५)

एवं च सौधर्म भवनाधीश व्यन्तर ज्योतिषामपि।

भाव्या स्वस्वसमुदाय त्रयस्त्रिंशांशमानता ॥१०६॥

इसी ही तरह सौधर्म देवलोक भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों की संख्या इनके समुदाय से तैत्तीसवें भाग में समझना (१०६)

केवलं देव देवी समुदाय एव वक्ष्यते-

ईशानतश्च सौधर्मे स्यात् संख्येयगुणाधिकः ।

देव देवी समुदायो भवनेशानथ ब्रुवे ॥१०७॥

इसलिए अब देव- देवियों की एकत्रित संख्या ही कही जायेगी । ईशान देवलोक से लेकर सौधर्म देवलोक तक में देव- देवियों की कुल संख्या एक दूसरे से संख्यात-संख्यात गुणा अधिक है। (१०७)

अंगुल प्रमित क्षेत्र प्रदेश राशि वर्तिनि ।

द्वितीय वर्ग मूलघ्ने वर्गमूले किलादिमे ॥१०८॥

यावान् प्रदेश राशिः स्यात्तावन्मानासु पंक्तिषु ।

घनीकृतस्य लोकस्याथैक प्रादेशिकीषु वै ॥१०९॥

नभः प्रदेशा यावन्तस्तावान् पुरुषपुंगवैः ।

देव देवी समुदायः ख्यातो भवनवासिनाम् ॥११०॥ त्रिविशेषकम् ।

तथा भवनपति देव- देवियों की कुल संख्या एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र प्रदेश की राशि में रहे हैं और दूसरे वर्ग से गुणा किया है, ऐसे प्रथम वर्ग मूल में जितनी प्रदेश राशि होती है उतने मान वाली एक प्रदेशी श्रेणियों में घनरूप किए हुए लोकाकाश के जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने होते हैं। (१०८-११०)

यावन्ति संख्य योजन कोटि माननि दैर्घ्यतः ।

सूचि रूपाणि खंडानि स्युरेक प्रतरे किल ॥१११॥

व्यन्तराणां देव- देवी समुदायो भवेदियान् ।

ज्योतिष्कदेव देवीनां प्रमाणमथ कीर्त्यते ॥११२॥

तथा व्यन्तर देव देवियों की कुल संख्या एक प्रतर के अन्दर संख्यात कोटी योजन की लम्बाई के जितने सूचिरूप खण्ड होते हैं उतनी उनकी संख्या होती है । अब ज्योतिष्क देव- देवी प्रमाण कहते हैं। (१११-११२)

षट्पंचाशांगुलशतद्वयमाना हि दैर्घ्यतः ।

यावन्त एक प्रतरे सूचिरूपाः स्युरंशकाः ॥११३॥

ज्योतिष्क देव देवीनां तावान् समुदायो भवेत् ।

उक्तं प्रमाणमित्येवमथाल्प बहुतां ब्रुवे ॥११४॥

इति मानम् ॥३२॥

ज्योतिषी देव- देवियों की कुल संख्या, एक प्रतर के अन्दर दो सौ छप्पन अंगुल लम्बाई वाले जितने सूचि रूप खण्ड होते हैं उतनी उनकी संख्या होती है। इस तरह प्रमाण अर्थात् संख्या का विषय समझना। अब इनका लघु अल्प बहुत्व कहते हैं। (११३-११४)

यह मान द्वार है। (३२)

स्तोकाः सर्वार्थ सिद्धस्था असंख्येय गुणास्ततः ।

शेषा अनुत्तरा देवास्ततः संख्य गुणाः क्रमात् ॥११५॥

ऊर्ध्वमध्याधः स्थिते स्युर्गैवेयकत्रिक त्रये ।

अच्युते चारणे चैव प्राणते चानतेऽपि च ॥११६॥ युग्मं।

सर्वार्थ सिद्धस्थ देव सब से कम हैं। इससे शेष अनुत्तर विमान के देव असंख्य गुणा होते हैं और इससे संख्यात संख्यात गुणा अनुक्रम से प्रैवेयक के ऊर्ध्वत्रिक मध्यत्रिक और अंधोत्रिक होते हैं। फिर अच्युत देवलोक, चारण देवलोक, प्राणत देवलोक और आनंत देवलोक में रहे होते हैं। (११५-११६)

अथोऽथो गैवेयकादावनुत्तराद्यपेक्षया ।

भाव्या विमान बाहुल्याद्देवाः संख्य गुणाः क्रमात् ॥११७॥

एक के बाद एक नीचे प्रैवेयक आदि में अनुत्तर आदि की अपेक्षा से विमान बहुत होने से अनुक्रम से संख्यात संख्यात गुणा देव होते हैं। (११७)

समश्रेणि स्थयोर्यद्यप्यारणाच्युत कल्पयोः ।

विमानसंख्या तुल्यैव तथापि कृष्ण पाक्षिकाः ॥११८॥

उत्पद्यन्ते स्वभावेन दक्षिणस्यां हि भूरयः ।

शुक्लपाक्षिक जीवेभ्यो बहवश्च भवन्ति ते ॥११९॥

ततोऽच्युतापेक्षया स्युर्निर्जरा आरणोऽधिकाः ।

समश्रेणि स्थितादेव मन्येष्वपि विभाव्यताम् ॥१२०॥

समान श्रेणि में रहे आरण और अच्युत देवलोक में विमान संख्या यद्यपि समान ही है फिर भी कृष्ण पाक्षिक जीव स्वभाविक रूप में दक्षिण दिशा में बहुत उत्पन्न होते हैं और शुक्ल पाक्षिक जीव से इनकी संख्या अधिक है- इस कारण से अच्युत देवलोक की अपेक्षा से आरण देवलोक में बहुत देव होते हैं। समश्रेणि में रहे अन्य देवलोक में भी इसी तरह समझ लेना चाहिए। (११८ से १२०)

कृष्ण पाक्षिक लक्षणं च एवम्-

बहुपापोदयाः क्रूर कर्माणाः कृष्ण पाक्षिकाः ।

स्युर्दीर्घतर संसारा भूयांसोऽन्यव्यपेक्षया ॥१२१॥

तथा स्वभावत्ते भव्या अपि प्रायः सुरादिषु ।

उत्पद्यन्ते दक्षिणस्यां प्राचुर्येणान्यदिक्षु न ॥१२२॥

शुक्ल पाक्षिक और कृष्ण पाक्षिक जीव का लक्षण इस प्रकार है:- कृष्ण पाक्षिक जीव शुक्ल पाक्षिक की अपेक्षा से बहुत पापी होते हैं, क्रूर होते हैं और दीर्घ संसारी होते हैं। इनका ऐसा स्वभाव होने के कारण ही ये भव्य होने पर भी दक्षिण दिशा में अधिक रूप देवगति में उत्पन्न होते हैं। अन्य दिशाओं में नहीं होते हैं। (१२१-१२२)

तथाहुः- पायमिह क्रूरकम्पा भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु ।

नेरइ यति रियमणु आसुराइठाणेसु गच्छंति ॥१२३॥

जेसिम वट्टो पुग्गल पस्सिट्टो सेसओ उ संसारो ।

ते सुक्क पखिखया खलु अहिए पुण कणह पख्खीओ ॥१२४॥

इति प्रज्ञापना वृत्तौ ॥

तथा इस सम्बन्धी प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में कहा है कि- कृष्ण पाक्षिक जीव भव्य होता है फिर भी प्रायः दुष्टकर्मी होने से देवादिक की गति में दक्षिण दिशा में ही उत्पन्न होता है। शुक्ल पाक्षिक जीव का यद्यपि अर्धपुद्गल परावर्तन जितना संसार शेष रहता है फिर भी इससे तो कृष्ण पाक्षिक का अधिक होता है। (१२३-१२४)

आनतेभ्योऽसंख्यगुणाः सहस्रार सुराः स्मृताः ।

महाशुक्रे लान्तके च ब्रह्ममाहेन्द्रयोः क्रमात् ॥१२५॥

सनत्कुमार ईशानैऽप्य संख्यघ्ना यथोत्तरम् ।

एशानेभ्यश्च सौधर्मदेवाः संख्य गुणाधिका ॥१२६॥

आनंत देवलोक के देव से सहस्रार देवलोक के देव असंख्य गुणा होते हैं। महा शुक्र, लांतक, ब्रह्म, माहेन्द्र, सनत्कुमार और ईशान- इतने देवलोक के देव अनुक्रम के द्वारा आनत से असंख्य गुणा हैं। सौधर्म देवलोक के देव ईशान के देवों से संख्यात गुणा होते हैं। (१२५-१२६)

ननु..... कृष्णपाक्षिक बाहुल्याद्यथा माहेन्द्रनाकिनः।

असंख्येय गुणाः प्रोक्ताः सनत्कुमार नाकिनः ॥१२७॥

विमानानां कृष्णपाक्षिकाणां चाधिक्यतस्तथा ।

ते सौधर्मेऽप्य संख्यघ्नाः कथं नेशाननाकिनः ॥१२८॥

यहां शंका करते हैं कि- कृष्ण पाक्षिक जीव बहुत हैं इसलिए माहेन्द्र के देवों से सनत्कुमार के देव असंख्यात गुणा हैं, इस तरह कहते हो तो सौधर्म देवलोक में भी विमान और कृष्ण पाक्षिक देव अधिक हैं इसलिए उनको भी ईशान के देवों से असंख्य गुणा कहना चाहिए, वह क्यों नहीं कहते ? (१२७-१२८)

अत्रोच्यते हि वचन प्रामाण्यादुच्यते तथा ।

विचार गोचरो नास्मादृशाम्नाप्तोदितं वचः ॥१२९॥

इस शंका का समाधान करते हैं- हमें तो शास्त्र का वचन प्रमाण है। आस जनों ने जो कहा है वह हमारे लिए विचार का अगोचर है। (१२९)

तथोक्तं प्रज्ञापना वृत्तौ- "ननु इयं युक्तिः माहेन्द्र सनत्कुमारयोः अपि उक्ता। परतत्र माहेन्द्र कल्पापेक्षया सनत्कुमार कल्पे देवा असंख्येय गुणा उक्ताः। इह तु सौधर्मे कल्पे संख्येय गुणा उक्ताः ॥ तद् एतत् कथम् ॥ उच्यते। वचन प्रामाण्यात्। न च अत्र पाठभ्रमः।" यतः अन्यत्रापि उक्तम्-

इसाणे सत्वत्थ धि बत्तीस गुणाउ होन्ति देवीओ ।

संखेज्जा सोहम्मे तओ असंखा भवणवासी ॥इति॥

प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में भी कहा है कि- 'कोई ऐसा प्रश्न करता है कि- माहेन्द्र और सनत्कुमार के सम्बन्ध में भी यही युक्ति कही, परन्तु वहां तो माहेन्द्र की अपेक्षा से सनत्कुमार में देव असंख्य गुणा कहा है और यहां सौधर्म में संख्य गुणा कहा है, इस तरह क्यों है ? इस प्रश्न का निराकरण इस तरह करते हैं कि- हम जो कह रहे हैं वह प्रमाणभूत वचन-शास्त्र वचन के अनुसार कहते हैं। तथा यहां पाठ की फेर-फार की भी शंका नहीं है, क्योंकि अन्यत्र भी कहा है कि- ईशान देवलोक में तथा सर्वत्र बत्तीस गुणा देवियां हैं, सौधर्म देवलोक में संख्यात गुणी हैं और भुवनपति में इससे असंख्य गुणा हैं।'

असंख्यघ्नाश्च सौधर्म देवेभ्यो भवनाधिपाः ।

भवन्ति भवनेशेभ्योऽसंख्यघ्ना व्यन्तराः सुराः ॥१३०॥

ज्योतिष्काणां देव देवी वृन्दः संख्य गुणास्ततः ।

स्व स्व देवेभ्यश्च देव्यः सर्वाः संख्य गुणाः स्मृताः ॥१३१॥

इति लघ्वी अल्प बहुत्व ॥३३॥

और सौधर्म देवलोक के देवों से भवनपति देव असंख्य गुणा हैं, इससे व्यन्तर देव असंख्य गुणा हैं और इससे ज्योतिष्क देव- देवियां संख्यात गुणा हैं तथा सर्व देवियां अपने-अपने देवों से संख्य गुणा होती हैं। (१३०-१३१)

यह लघ्वी अल्प बहुत्व द्वार है। (३३)

पूर्वस्यां च प्रतीच्यां च स्तोका भवन वासिनः ।

उत्तरस्यां दक्षिणस्यामसंख्येय गुणाः क्रमात् ॥१३२॥

प्राक्प्रतीच्योर्हि भवनाल्पत्वात्स्तोका अमी किल ।

दक्षिणोत्तरयोस्तेषां क्रमाधिक्यादिमेऽधिकाः ॥१३३॥

अब इनका दिशा से अल्प बहुत्व कहते हैं- भवनपति देव पूर्व और पश्चिम में सर्व से थोड़े हैं, उत्तर दिशा में और दक्षिण दिशा में अनुक्रम में इससे असंख्य असंख्य गुणा हैं। इसका कारण यह है कि पूर्व पश्चिम दिशा में भवन थोड़े हैं और उत्तर दक्षिण दिशा में भवन अधिक-अधिक हैं। (१३२-१३३)

पूर्वस्यां व्यन्तराः स्तोका विशेषेणाधिकाधिकाः ।

अपरस्यामुत्तरस्यां दक्षिणस्यां यथा क्रमम् ॥१३४॥

व्यन्तराः शुधिरे भूम्ना प्रचरन्ति ततोऽधिकाः ।

साधोग्रामायां प्रतीच्याममी स्युः प्राच्यपेक्षया ॥१३५॥

उदीच्यां दक्षिणस्यां च युक्तमेवाधिकाधिकाः ।

स्वस्थान नगरावास बाहुल्यतो यथा क्रमम् ॥१३६॥

व्यन्तर देव पूर्व दिशा में सब से थोड़े होते हैं और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में अनुक्रम से इससे अधिक-अधिक होते हैं क्योंकि ये पोलान-खाली जगह में बहुत विचरते हैं, इसलिए अधोगांव वाली पश्चिम दिशा में ये अधिक होते हैं और उत्तर और दक्षिण दिशा में इनके रहने वाले नगर बहुत होते हैं, इसलिए वहां वे अधिक होते हैं। (१३४ से १३६)

पूर्वस्यां पश्चिमायां च स्तोका ज्योतिष्क नाकिनः।

दक्षिणस्यामुदीच्यां च स्युः क्रमेणाधिकाधिकाः ॥१३७॥

प्राक्प्रतीच्योश्चन्द्र सूर्य द्वीपेषूद्यान देशवत् ।

क्रीडास्पदेषु ज्योतिष्काः स्वल्पाः प्रायेण सत्तया ॥१३८॥

तेभ्योऽधिका दक्षिणस्यां विमानानां बहुत्वतः ।

तथा कृष्ण पाक्षिकाणां बाहुल्येनोपपातः ॥१३९॥

उदीच्यां मानससरस्येते क्रीडा पराधणाः ।

आसते नित्यमेवं स्युर्दक्षिणापेक्षयाधिकाः ॥१४०॥

ज्योतिष्क देव पूर्व और पश्चिम दिशा में सब से कम होते हैं और दक्षिण तथा उत्तर दिशा में अनुक्रम से ज्यादा से ज्यादा होते हैं क्योंकि पूर्व पश्चिम दिशा में इनका क्रीडा स्थान रूप चन्द्र सूर्य द्वीप है वह उद्यान के एक छोटे भाग के समान है, वहां यह स्वाभाविक रूप में थोड़े ही होते हैं। दक्षिण दिशा में इससे अधिक होने का कारण यह है कि वहां बहुत विमान हैं और कृष्ण पाक्षिक देवों की वहां पर उत्पत्ति विशेष है। उत्तर दिशा में इससे और अधिक है। इसका कारण यह कि है वहां जो मानस सरोवर है उसमें वे हमेशा क्रीडा करते रहते हैं। (१३७ से १४०)

किं च....., मानसांख्ये सरस्यस्मिन् मत्स्याद्या येषु चारिणः।

ते समीप स्थित ज्योतिर्विमानादि निरीक्षणात् ॥१४१॥

उत्पन्न जाति स्मरणाः किंचिदाचर्यं च व्रतम् ।

विहितानशनाः कृत्वा निदानं सुखलिप्सया ॥१४२॥

मृत्वा ज्योतिर्विमानेषुत्पद्यन्तोऽन्तिक वर्तिषु ।

ततः स्युर्दक्षिणात्येभ्य उत्तराहा इमेऽधिकाः ॥१४३॥ विशेषकं।

उस मान सरोवर में जो मछली आदि जलचर जीव हैं उसके समीपस्थ ज्योतिष्क विमान को देखकर जाति स्मरण होता है। अतः कुछ व्रत अथवा अनशन करके सुखी होने की अपेक्षा से निदान करता है और मृत्यु के बाद उसके समीप में रहे विमान में उत्पन्न होता है। इस कारण से उत्तर दिशा में इनकी संख्या दक्षिण दिशा से अधिक होती है। (१४१-१४३)

स्युः सौधर्मप्रभृतिषु ताविषेषु चतुर्ष्वपि ।

पूर्वस्यां पश्चिमायां च स्तोका एव सुधा भुजः ॥१४४॥

ततश्चासंख्येय गुणा उत्तरस्यां ततोऽधिकाः ।

दक्षिणस्यममी प्रोक्ताः श्रूयता तत्र भावना ॥१४५॥

तुल्या दिक्षु चतुसृषु विमानाः पंक्तिवर्तिनः ।
 असंख्य योजन तताः पुष्पावकीर्णकाः पुनः ॥१४६॥
 याम्योदीच्योरेव भूम्या स्युः पूर्वापरयो स्तु न ।
 उदक् ततोऽसंख्य गुणाः प्राची प्रत्वीच्यपेक्षया ॥१४७॥
 भूम्या कृष्ण पाक्षिकाणां दक्षिणस्यां समुद्भवात् ।
 दक्षिणस्यां समधिका उत्तरापेक्षया ततः ॥१४८॥

सौधर्म आदि चार देवलोक में पूर्व और पश्चिम दिशा में थोड़े देव हैं, उत्तर में इससे असंख्य गुना हैं और दक्षिण में इससे भी अधिक होते हैं। इसमें कहने का भावार्थ यह है कि असंख्य योजन के विस्तार वाले पंक्तिबद्ध विमान तो चारों दिशाओं में समान हैं परन्तु पुष्पावकीर्ण विमान दक्षिण और उत्तर में ही बहुत हैं, पूर्व पश्चिम में नहीं है। इसलिए पूर्व पश्चिम की अपेक्षा से उत्तर दक्षिण में असंख्यात गुणा कहा है तथा उत्तर से दक्षिण में कहा है, इसका कारण यह है कि दक्षिण दिशा में कृष्ण पाक्षिक देवों के विमानों इससे बहुत अधिक हैं। (१४४ से १४८)

तथाहुः प्रजापनायाम्- "दिसाणु वाएणं सव्वत्थोवादेवा सोहम्मे कप्पे पुरच्छिम पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखोजा गुणा, दाहिणेणं विसेसा हि या। अत्र यद्यपि 'विविहा पुप्फ किन्ना तयन्तरे मुत्तु पुव्वदिमिं।' इति वचनात् प्राच्यां पुष्पावकीर्णका भावात् प्रतीच्यां च तन्निषेधाभावात् प्राच्यपेक्षया प्रतीच्यां देवाः अधिकः वक्तव्याः स्यु तथापि अत्र सूत्रे पूर्व पश्चिमावल्योः उभयतः सर्वापि दक्षिणोत्तर तथैव दिग्विवक्षितेति संभाव्यते इति वृद्धाः। यथा दक्षिणोत्तरार्थं लोकाधिपती सौधर्मेशानेन्द्रौ इत्यत्र पूर्व पश्चिमे- अपि दक्षिणोत्तरतथैव विवक्षिते। इति॥"

इस सम्बन्ध में प्रजापना सूत्र में भी भावार्थ कहा है- दिशा के आश्रित कहे तो सौधर्म देवलोक में पूर्व पश्चिम दिशा में सर्व से कम देव हैं, उत्तर दिशा में इससे असंख्य गुणा हैं और दक्षिण दिशा में उत्तर से अधिक हैं। यहां पूर्व में पुष्पावकीर्ण के अभाव के कारण और पश्चिम में इसका निषेध किया नहीं है, इसलिए पूर्व की अपेक्षा से पश्चिम में अधिक देव कहना चाहिए था, परन्तु इस सूत्र में पूर्व श्रेणि और पश्चिम श्रेणी- ये दो श्रेणि कही हैं अतः सर्व दिशा दक्षिण उत्तर रूप में ही कही है, ऐसा समझ में आता है। जैसे कि सौधर्म और ईशान इन्द्र को दक्षिणार्थ तथा उत्तरार्थ का अधिपति कहा है। यहां दक्षिणार्थ और उत्तरार्द्ध में पूर्व पश्चिम दिशाओं की ही विवक्षा है।'

पूर्वोत्तर पश्चिमासु ब्रह्म लोकेऽल्पकाः सुराः ।
 ततश्चासंख्येय गुणा दक्षिणास्यां दिशि स्मृताः ॥१४६॥
 याम्यां हि बह्वः प्रायस्तिर्यचः कृष्ण पाक्षिकाः ।
 उत्पद्यन्तेऽन्यासु शुक्ल पाक्षिकास्ते किलाल्पकाः ॥१५०॥

ब्रह्म देवलोक में पूर्व उत्तर और पश्चिम दिशा में देव कम हैं, परन्तु दक्षिण में इससे असंख्य गुणा हैं क्योंकि दक्षिण में प्रायः कृष्ण पाक्षिक की उत्पत्ति है और वे बहुत हैं और अन्य दिशाओं में शुक्ल पाक्षिक की उत्पत्ति है और वे अल्प होते हैं। (१४६-१५०)

एवं च लांतके शुक्रे सहस्रारेऽपि नाकिनः ।
 भूयांसो दक्षिणास्यां स्युस्ति सृष्वन्यासु चाल्पकाः ॥१५१॥
 आनतादिषु कल्पेषु ततश्चानुत्तरावधि ।
 प्रायश्चतुर्दिशामपि समाना एव नाकिनः ॥१५२॥

लांतक, शुक्र और सहस्रार देवलोक में भी इसी तरह है, दक्षिण दिशा में बहुत देव हैं, शेष तीन दिशा-में कम हैं। आनत से लेकर अन्तिम अनुत्तर विमान तक के देवलोक में प्रायः चारों दिशाओं में देवों की संख्या समान है। (१५१-१५२)

तथाहुः प्रज्ञापनायाम्-तेणपरं बहुसमोववण्णगा समणा उसो । इति ॥
 इति दिगपेक्षया अल्प बहुता ॥३४॥

प्रज्ञापना सूत्र में इस विषय में कहा है कि इसके बाद के देवलोक में देवों की उत्पत्ति संख्या प्रायः समान है।

यह दिशा अल्प बहुत्व द्वार है। (३४)

जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालोऽनन्तोऽन्तरं गुरु ।
 ज्येष्ठ कार्यं स्थिति रूपः स च कालो वनस्पतेः ॥१५३॥

इति अन्तरम् ॥३५॥

इसके अन्तर के विषय में कहते हैं- देव का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त्त का है व उत्कृष्ट अनन्त काल का है, यह अनन्त काल उस वनस्पति की उत्कृष्ट कायस्थिति जितना समझना। (१५३)

यह अन्तर द्वार है। (३५)

इति यदिह मयोक्तं निर्जराणां स्वरूपम् ।
 तदुरूसमयवाचां वर्णिका मात्रमेव ॥
 तदुपहित विशेषान् कोह्यशेषान् विवेक्तुम् ।
 प्रभुरिव नृषु कोष्ठागार जाग्रत्कणौधान् ॥१५४॥

इस तरह मैंने यहां देवों के स्वरूप का वर्णन किया है परन्तु वह तो सिद्धान्त वचनों की रेखा मात्र है। क्योंकि इसमें जो विशिष्टता रही है उस सब को कहने में कोई समर्थ नहीं है। राजा के कोठार में रहे अनाज के ढेर में से जितना विशिष्ट हो उतना ही उठा सकता है, सर्व उठाने में समर्थ कौन हो सकता है?
 (१५४)

विश्वाश्चर्यद कीर्तिं विजय श्री वाचकेन्द्रातिष-
 द्राजश्री तनयोऽतनिष्ठ विनय श्री तेजपालात्मजः ।
 काव्यं यत्किलतत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,
 सर्गो निर्गलितार्थ सार्थ सुभगः सौख्येन पूर्वोऽष्टम् ॥१५५॥

इति देवाधिकार रूप अष्टम सर्गः।

सारे विश्व में जिसकी कीर्ति ने आश्चर्य उत्पन्न किया है ऐसे श्रीमान् कीर्ति विजय जी उपाध्याय के शिष्य और माता राजश्री तथा पिता श्रीयुत तेजपाल के सुपुत्र विनय विजय उपाध्याय ने जो इस जगत् के सारे निश्चित तत्त्वों को दीपक के समान प्रकाश में लाने वाले ग्रन्थ की रचना की है उसके अन्दर से निकलते अर्थ के कारण मनोहर यह आठवां सर्ग विघ्न रहित समाप्त हुआ। (१५५)

॥ देवाधिकार स्वरूप आठवां सर्ग समाप्त ॥

नौवां सर्ग

अथा नारकाः

रत्नशर्करा वालुकापंक धूमतमः प्रभाः ।

महातमः प्रभैतज्जाः सप्तधा नारका मताः ॥१॥

नौवें सर्ग में नरक का स्वरूप का वर्णन करते हैं। नरक सात हैं; १- रत्न प्रभा, २- शर्करा प्रभा, ३- वालुका प्रभा, ४- पंक प्रभा, ५- धूम प्रभा, ६- तमः प्रभा और ७- महातमः प्रभा। इन सात नरकों में उत्पन्न होने से सात प्रकार के नारकी कहे हैं। (१)

पर्याप्तापर भेदेन चतुर्दश भवन्ति ते ।

स्थानोत्पात समुद्धातैर्लौका संख्यांश वर्तिनः ॥२॥

स्व स्थानतस्त्वधोलोकस्यैक देशे भवन्त्यमी ।

विशेष स्थान योगस्तु क्षेत्रलोके प्रवक्ष्यते ॥३॥

इति भेदाः स्थानानि च ॥१-२॥

इन प्रत्येक के वापिस पर्याप्त और अपर्याप्त- ये दो होने से कुल चौदह भेद नारकी के होते हैं। ये स्व स्थान, उत्पात और समुद्धात से लोक के असंख्यातवें भाग में रहते हैं। इनका अपना वास्तविक स्थान तो अधोलोक का एक भाग है। दूसरे स्थान का योग इनको किस तरह होता है वह इसके बादक्षेत्र लोक में कहा जायेगा। (२-३)

इस तरह इनके भेद और स्थान ये दो द्वार पूर्ण हुए। (१-२)

पर्याप्तयः षडप्येषां चतस्रो योनि लक्षकाः ।

लक्षाणि कुलकोटीनामुक्तानि पंच विशन्तिः ॥४॥

इति द्वार त्रयम् ॥३ से ५॥

और इनकी पर्याप्तियां छः होती हैं। इनकी योनि संख्या चार लाख है और कुल संख्या पच्चीस लाख है। (४)

इस तरह तीन द्वार पूर्ण हुए। (३ से ५)

स्युः शीत योनयः केचित्थोष्णयोनयः ।

जिनैरुक्ता नैरयिकाः संवृता चित्त योनयः ॥५॥

इति योनि संवृतत्वादि ॥६॥

इनमें कई शीत योनि हैं और कई उष्ण योनि हैं और संवृत तथा विवृत इन दोनों में से इनकी संवृत योनि है और सचित, अचित व सचिताचित तीन योनि में से एक अचित योनि है । ऐसा जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है। (५)

यह योनि संवृत द्वार है। (६)

दस वर्ष सहस्राणि जघन्येषां भवस्थितिः ।

उत्कृष्टा तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपम संमिता ॥६॥

इति भव स्थितिः ॥७॥

कायस्थितिस्तेषां भवस्थितरेव ॥ ८॥

इनकी भवस्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष की है और उत्कर्षतः तैंतीस सागरोपम की है । (६)

यह भवस्थिति द्वार है। (७)

जितनी भव स्थिति है वैसी ही उनकी कायस्थिति होती है। यह आठवां द्वार है। (८)

कायस्थितिस्त्रसत्वे स्याज्जघन्यान्तर्मुहूर्तिकी ।

द्वौ सागर सहस्रौ च कियद्वर्षाधिकौ गुरुः ॥७॥

त्रस रूप में इनकी कायस्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कर्षतः दो हजार सागरोपम से कुछ अधिक है। (७)

देहास्त्रयस्तैजसं च कार्मणं वैक्रियं तथा ।

स्वाभाविक कृत्रिमयोर्हुंडं संस्थानमंगयोः ॥८॥

इति देहाः संस्थानं च ॥९-१०॥

इनकी तैजस, कार्मण और वैक्रिय- ये तीन देह होती हैं और इनका स्वभाविक और कृत्रिम दोनों शरीर का हुंडक संस्थान होता है। (८)

ये देह तथा संस्थान द्वार हैं । (१०)

शतानि पंच धनुषां ज्येष्ठा स्वाभाविकी तनुः ।

लघ्व्यंगुलासंख्य भागमानारम्भक्षणे मता ॥९॥

अब देहमान के विषय में कहते हैं - इनका स्वभाविक शरीर उत्कृष्टतः पांच

सौ धनुष्य का होता है और जघन्य आरम्भ के समय में अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना होता है। (६)

स्व स्व स्वभाविकतनोद्विगुणोत्तर वैक्रियाः ।

गुर्वी लघ्व्यंगुल संख्य भागमाना भवेदसौ ॥१०॥

इति अंगमानम् ॥११॥

इनका वैक्रिय शरीर इनके स्वभाविक शरीर से बढ़ते हुए डबल हो सकता है और कम से कम अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना हो सकता है। (१०)

यह देहमान द्वार है। (११)

स्युश्चत्वारः समुद्घाता आद्या एषां गतिः पुनः ।

पर्याप्त गर्भजनरतिरश्चोः संख्य जीविनोः ॥११॥

इति द्वार द्वयम् ॥१२-१३॥

इनको समुद्घात पहले चार होते हैं और इनकी मृत्यु के बाद संख्य आयु वाले पर्याप्त गर्भज मनुष्य और तिर्यच में जाता है। (११)

ये दो द्वार हैं। (१२-१३)

नरपंचाक्ष तिर्यचः पर्याप्ताः संख्य जीविनः ।

नारकेषु यान्ति संख्या सामधिक्येषु देववत् ॥१२॥

एषूत्पत्ति च्यवनयोर्मुहूर्त्ता द्वादशान्तरम् ।

उत्कर्षतो जघन्यताच्च प्रज्ञप्तं समयात्मकम् ॥१३॥

इति आगतिः ॥१४॥

इनकी आगति के विषय में कहते हैं- पर्याप्त और संख्यजीवी मनुष्य तथा पंचेन्द्रिय तिर्यच मृत्यु के बाद यहां आता है, इनमें एक समय की आगति संख्या देव समान हैं। उत्पत्ति और च्यवन के बीच में उत्कष्ट अन्तर बारह मुहूर्त्त का है और जघन्य अन्तर एक समय का है। (१२-१३)

यह आगति द्वार है। (१४)

सामान्यतो नैरयिका लभन्तेऽनन्तरे भवे ।

सम्यक्त्वं देशविरतिं चारित्रं मुक्तिमप्यमी ॥१४॥

विशेषतस्तु क्षेत्रलोके वक्ष्यते ।
इति अनन्तरासि ॥१५॥

इनकी अनन्तरासि के विषय में कहते हैं- सामान्यतः नारकी अनन्तर जन्म में सम्यकत्व, देवविरति, सर्वविरति और मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में विशेष बातें क्षेत्रलोक में कही जायेंगी। (१४)

यह अनन्तरासि द्वार है। (१५)

उद्धृत्यौघान्नारकेभ्यो लब्ध्वा नर भवादिकम् ।
यद्येक समये यान्ति शिवं तर्हि दश ध्रुवम् ॥१॥
प्रत्येकमाद्यनरकत्रयोद्धता अमी मुनः ।
सिद्धिं यान्ति दश दश तुर्योद्धतास्तु पंच ते ॥१६॥
इति समये सिद्धिः ॥१६॥

अब इनकी समय सिद्धि के विषय में कहते हैं- ओघ से सात नरक में से निकले हुए मनुष्य जन्म आदि प्राप्त करें तो इनमें से एक समय में केवल दस सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक नरक की अलग गिनती करें तो प्रथम तीन नरक में से प्रत्येक से निकलकर दस-दस मोक्ष में जाते हैं और चौथे में से निकलकर पांच सिद्धि प्राप्त करते हैं। उसके बाद निकले मोक्ष नहीं जाते। (१५-१६)

यह समय सिद्धि द्वार है। (१६)

लेश्यास्तिस्त्रो भवन्त्याद्या षडाहार दिशोऽपि च ।
न संहनन सद्भावः कषाया निखिला अपि ॥१७॥

इति द्वार चतुष्टयम् ॥१७ से २०॥

इनकी लेश्या प्रथम तीन होती हैं तथा छः दिशा में आहार होता है और संहनन-संघयण नहीं होता तथा कषाय सारे होते हैं। (१७)

ये चार द्वार हैं। (१७ से २०)

संज्ञा सर्वाश्चेन्द्रियाणि सर्वाण्येषां च संज्ञिता ।
दीर्घकालिक्यादिमत्वाद्द्वयक्त संज्ञतयाऽपि च ॥१८॥

इति द्वार त्रयम् ॥२१ से २३॥

इनकी संज्ञा सब होती हैं, और इन्द्रिय भी सर्व होती हैं। तथा इनको दीर्घकालिक आदि संज्ञा होती हैं और ये संज्ञा व्यक्त होती है इसलिए ये संज्ञी हैं ।
(१८)

ये तीन द्वार हैं। (२१ से २३)

एषां वेदः क्लीब एवं दृष्टिज्ञानं च दर्शनम् ।

उपयोगा इति द्वार चतुष्कं सुखन्मतम् ॥१६॥

इति द्वार पंचकम् ॥२४ से २८॥

इनका वेद नपुंसक वेद ही होता है तथा इनकी दृष्टि, ज्ञान, दर्शन और उपयोग ये चारों द्वार देवता के अनुसार होते हैं। (१६)

ये पांच द्वार हैं। (२४ से २८)

अजोलोमाभिधावेषामाहारावशुभौ भृशम् ।

गुण स्थानानि योगाश्च भवन्त्यमृत भोजिवत् ॥२०॥

लोमाहारो द्विधा भोगादना भोगाच्च तत्र च ।

स्यादादिमोऽन्तर्मुहूर्त्तात् द्वितीयश्च प्रतिक्षणम् ॥२१॥

इति द्वार त्रयम् ॥२६ से ३१॥

आहार में उनके दो बहुत अशुभ आहार होते हैं; १- ओज आहार और २- लोभ आहार। यह लोभ आहार भी दो प्रकार का होता है; १- भोग से और २- अनाभोग से। इसमें प्रथम अन्तर्मुहूर्त्त में और दूसरा समय-समय पर होता है तथा इनको गुण स्थान और योग दोनों देवता के समान होते हैं। (२०-२१)

ये तीन द्वार हैं। (२६ से ३१)

अंगुल प्रमित क्षेत्र प्रदेश राशि वर्तिनि ।

तृतीये वर्ग मूलधने प्रथमे वर्ग मूलके ॥२२॥

यावान् प्रदेश राशिः स्यात्तावतीषु च पंक्तिषु ।

एक प्रादेशिकीषु स्युर्यावन्तः ख प्रदेशकाः ॥२३॥

तावन्तो नारकाः प्रोक्ताः सामान्येन जिनेश्वरैः ।

विशेषतो मानमेषामथ किं चिद्विद्वन्व्यते ॥२४॥ विशेषकम् ।

अब मान के विषय में कहते हैं- अंगुल प्रमाण क्षेत्र प्रदेश की राशि में रहा और तीसरे वर्ग मूल से गुणा किया हो- इतने प्रथम वर्ग मूल में जितनी प्रदेश राशि

हो उतनी एक प्रदेश श्रेणि में जितने आकाश प्रदेश हों उतने सामान्यतः नरक होते हैं, ऐसा श्री जिनेश्वर भगवन्त ने कहा है। अब इस विषय में विशेष कहते हैं।
(२२ से २४)

अंगुल प्रमित क्षेत्र प्रदेश राशि संगते ।
तृतीय वर्ग मूलघ्ने प्रथमे वर्ग मूलके ॥२५॥
यावान् प्रदेश निकरस्तत्प्रमाणासु पंक्तिषु ।
एक प्रादेशिकीषु स्युर्यावन्तः ख प्रदेशका ॥२६॥
तावन्तो मानतः प्रोक्ता नारकाः प्रथमक्षितौ ।
शेषासु षट्सु च क्षमासु ख्याता नैरयिकांगिनः ॥२७॥
घनीकृतस्य लोकस्य श्रेण्य संख्यांश वर्तिभिः ।
नभः प्रदेशैः प्रमिता विशेष एष तत्र च ॥२८॥कलापकम् ।
आरभ्य सप्तमक्षमाया द्वितीय वसुधावधि ।
असंख्येय गुणत्वेन यथोत्तराधिकाधिकाः ॥२९॥

इति मानम् ॥३२॥

अंगुल प्रमाण क्षेत्र प्रदेश की राशि में रहे और तीसरे वर्ग मूल से गुणा करने से प्रथम वर्गमूल में जितनी प्रदेश राशि होती है उतने प्रमाण वाली एक प्रदेशी श्रेणी में जितने आकाश प्रदेश हों उतने नारकी जीव प्रथम नरक में कहे हैं। शेष छः नरक, घन किए लोक की श्रेणि के असंख्यातवें भाग में जितना आकाश प्रदेश है उतने होते हैं। विशेष में इतना है कि सातवें नरक से लेकर दूसरे नरक तक उत्तरोत्तर असंख्य गुणा होते हैं। (२५ से २९)

यह मान द्वार है। (३२)

सर्वाङ्ग्राः सप्तमक्षमायामसंख्येय गुणास्ततः ।
भवन्ति नारकाः क्षमासु षष्ट्यादिषु यथा क्रमम् ॥३०॥
संज्ञिपंचेन्द्रिय तिर्यग मनुष्याः सप्तम क्षितौ ।
सर्वोत्कृष्ट पापकृत उत्पद्यन्तेऽल्पकाश्च ते ॥३१॥
किंचिद्धीन हीनतरपाप्मानः प्रोद् भवन्ति च ।
षष्ट्यादिषु ते च भूरि भूरयः स्युर्यथोत्तरम् ॥३२॥

इति लघ्वी अल्प बहुता ॥३३॥

अब इनका लघु अल्प बहुत्व कहते हैं- कम से कम नारकी जीव सातवें नरक में होते हैं और छठे से पहले तक के नरक में उत्तरोत्तर असंख्य गुणा हैं। जिसने सबसे उत्कृष्ट पाप किया हो वह संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य सातवें नरक में जाता है। यद्यपि इनकी संख्या बहुत अल्प है। इससे भी कम पाप किया हो वह छठे नरक में जाता है। पाप इससे कम होने पर पांचवे, चौथे आदि नरक में जाते हैं। इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। (३० से ३२)

यह लघु अल्प बहुत्व द्वार है। (३३)

सर्वासु नारकाः स्तोकाः पूर्वोत्तरा परोद्भवाः ।

असंख्येय गुणास्तेभ्यो दक्षिणा शासमुद्भवाः ॥३३॥

पुष्पावकीर्ण नरकावासा ह्यल्पा दिशां त्रये ।

ये सन्ति तेऽपि प्रायेण संख्य योजन विस्तृताः ॥३४॥

दक्षिणास्यां च पुष्पावकीर्णका बहवः स्मृताः ।

प्रायस्ते सन्त्यसंख्येय योजनायत विस्तृताः ॥३५॥

किंच-भूम्ना कृष्ण पाक्षिकाणां दक्षिणस्यां यदुद्भवः ।

दिक् त्रयापेक्षयै तस्यां भूयांसौ नारकास्ततः ॥३६॥

इति दिगपेक्षयाल्पबहुता ॥३४॥

अब इनके दिशा से अल्प बहुत्व के विषय में कहते हैं - सर्व दिशाओं से पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में कम नारकी जीव हैं। दक्षिण दिशा में इससे असंख्य गुणा हैं क्योंकि तीन दिशाओं में पुष्पावकीर्ण नरकवास कम हैं और जितने हैं वे भी विस्तार में संख्यात योजन हैं जबकि दक्षिण दिशा में ये नरकवास बहुत हैं और उनका विस्तार असंख्य योजन का है तथा दक्षिण दिशा में कृष्ण पाक्षिक नारकी की उत्पत्ति बहुत है। इस कारण से तीन दिशाओं की अपेक्षा चौथी-दक्षिण दिशा में बहुत नारकी जीव हैं। (३२ से ३६)

यह चौतीसवां द्वार है। (३४)

वनस्पति ज्येष्ठ कायस्थिति मानं किलान्तरम् ।

एषां गरीयो विज्ञेयं लघु चान्तर्मुहूर्त्तकम् ॥३७॥

इत्यन्तरम् ॥३५॥

अब इनके अन्तर के सम्बन्ध में कहते हैं - नारकी में अन्तर उत्कर्षतः

वनस्पति की उत्कृष्टकाय स्थिति के समान है और जघन्य तो अन्तर्मुहूर्त ही है ।
(३७)

यह अन्तर द्वार है । (३५)

नारक लोक निरूपणमेव क्लृप्तमशेष विशेष विमुक्तम् ।

शेषमधो जगदुक्त्यधिकारे किञ्चिदिहैव विशिष्य च वक्ष्ये ॥३८॥

इस तरह से नरक लोक का संक्षिप्त वर्णन किया है । विशेष वर्णन-
निरूपण इसी ग्रन्थ के अन्दर अधो लोक के अधिकार में कहा जायेगा । (३८)

विश्वाश्चर्यद कीर्ति कीर्ति विजय श्री वाचकेन्द्रातिष -

द्राजश्री तनयोऽतनिष्ट विनयः श्री तेजपालात्मजः ।

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,

संपूर्णो नवम सुखेन नवमः सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥३९॥

॥ इति नवमः सर्गः ॥

सारे जगत् को आश्चर्यचकित करने वाली कीर्ति के स्वामी श्री कीर्ति
विजय जी उपाध्याय के अन्तेवासी तथा माता राजश्री तथा पिता तेजपाल के सुपुत्र
विनय विजय उपाध्याय ने जगत् के निश्चयभूत तत्त्वों को दीपक के समान प्रकाश
में लाने वाले इस ग्रंथ की जो रचना की है उसका कुदरती सौन्दर्य वाला नौवां
सर्ग विघ्नरहित संपूर्ण हुआ । (३९)

॥ नौवां सर्ग समाप्त ॥

दसवां सर्ग

इदानीं भव संवेधः प्रागुद्दिष्टो निरूप्यते ।

तत्र ज्येष्ठकनिष्ठायुश्चतुभंगी प्रपंच्यते ॥१॥

अब पूर्व में जो कहा था उस भव संवेध के विषय में निरूपण करता हूँ । इसमें पूर्व जन्म और पर जन्म के तथा उत्कृष्ट और जघन्य आयुष्य के भेद को लेकर चार विभेद- विभाग होते हैं । वह किस तरह होते हैं, उसे विस्तारपूर्वक समझाता हूँ । (१)

संसारी जीवों के स्वरूप का वर्णन अमुक सैंतीस द्वारों से करने में आया है, उसमें यह भवसंवेद्य छत्तीसवां द्वार है । इसके अर्थ और व्याख्या के लिए इस ग्रन्थ के तीसरे सर्ग में श्लोक १४१२ से १४१५ तक कहा है । उस भवसंवेद्य का स्वरूप इस दसवें सर्ग में ६५ श्लोक में, उसके बाद ३७वां द्वार महा अल्प बहुत्व का स्वरूप ६६ से १२४ तक के श्लोक में वर्णन किया है ।

आद्यः प्राच्याग्र्यभवयोज्येष्ठमायुर्यदा भवेत् ।

भंगोऽन्यः प्राग्भवे ज्येष्ठमल्पिष्टं स्यात्परे भवे ॥२॥

जब पूर्वजन्म का तथा परजन्म का- इस तरह दोनों जन्म का उत्कृष्ट आयुष्य हो तब पहला विभेद- विभाग, कहलाता है । जब पूर्वजन्म का उत्कृष्ट और परजन्म का जघन्य आयुष्य हो तब दूसरा विभाग कहलाता है । (२)

तृतीयः प्राग्भवेऽल्पीयो ज्येष्ठमायुर्भवपरे ।

आयुर्लघुं द्वयो स्तुर्योभंगेष्वेषु चतुर्ष्वथ ॥३॥

संज्ञी नरोऽथवा तिर्यक् षष्ट्याद्यनरकेषु वै ।

पृथक्- पृथक् भवानष्टावुत्कर्षेण प्रपूरयेत् ॥४॥ युग्मं ।

जब पूर्वजन्म में जघन्य और आगे के जन्म में उत्कृष्ट आयुष्य हो तब तीसरा विभाग कहलाता है और जब पूर्व और पर-दोनों जन्म में जघन्य आयु हो तब चौथा विभाग कहलाता है । इन चारों विभागों में संज्ञी मनुष्य या तिर्यच छोटी आदि नरक में अलग- अलग उत्कृष्ट आठ जन्म करता है । (३-४)

यथा संज्ञी नरस्तिर्यगुत्पन्नो नरके क्वचित् ।

ततो मृतो मनुष्ये वा तिरश्चि वा ततः पुनः ॥५॥

तत्रैव नरके भूयो मर्त्ये तिरश्चि वेति सः ।

भवानष्टौ समापूर्य नवमे च भवे ततः ॥६॥

अवश्यमन्य पर्यायं नरस्तिर्यगवाप्नुयात् ।

वक्ष्यमाणेष्वपि बुधैः कार्यैवं भावना स्वयम् ॥७॥ विशेषकं ।

जिस तरह कोई संज्ञी मनुष्य अथवा तिर्यच किसी नरक में उत्पन्न होकर वहां से मृत्यु प्राप्त कर मनुष्य या तिर्यच गति में जाता है और वहां से फिर उसी नरक में आकर वापिस मनुष्य अथवा तिर्यच की गति प्राप्त करता है इसी तरह से आठ जन्म पूर्ण करके नौवें जन्म में वह मनुष्य या तिर्यच अन्य पर्याय को प्राप्त करता है अर्थात् मनुष्य हो तो तिर्यच होता है और तिर्यच हो तो मनुष्य होता है । वक्ष्यमान भवसंवेध में भी विद्वानों को इसी तरह अपने आप ही भावना जान लेनी चाहिए । (५ से ७)

तथैव भवनेशेषु ज्योतिष्क व्यंतरेष्वपि ।

तिर्यग्ररौ क्लिष्टासु सौधर्म प्रभृति द्युषु ॥८॥

भवानष्टौ पूरयतो भवौ द्वौ च जघन्यतः ।

इमौ पूरयतः प्रोक्त नारकेषु सुरेषु च ॥९॥ युग्मः ।

इसी तरह भवनपति में, ज्योतिष्क में और व्यंतर में तथा सौधर्म आदि आठ देवलोक में तिर्यच और मनुष्य आठ जन्म पूर्ण करता है और पूर्वोक्त नरकगति और देवगति में जघन्य दो जन्म पूर्ण करता है । (८-९)

जघन्यायुष्टया माघवत्यामुत्पाद्य मानकः ।

तिर्यग् ज्येष्ठयुरन्यो वा भवान् सप्तैव पूरयेत् ॥१०॥

और जघन्य आयुष्यत्व से माघवती नरक में उत्पन्न हुआ उत्कृष्ट आयुष्य में अथवा दूसरे आयुष्य में सात ही जन्म पूर्ण करता है । (१०)

तथाहि- संज्ञी पंचेन्द्रियस्तिर्यक् पूर्व कोदयापुरन्वितः ।

जघन्यायुष्टयोत्पन्नः सप्तम्यां नरका घनौ ॥११॥

ततश्चोद्धृत्य तिर्यक्षु सप्तम्यां च ततः पुनः ।

तिर्यक्षु च ततः क्षमायां सप्तम्यां च ततः पुनः ॥१२॥

तिर्यक्ष्वेव ततश्चासौ नोद्भवेत्सप्तमक्षितौ ।

एवं सप्त भवान् कृत्वाऽष्टमेऽन्यं भवमाप्नुयात् ॥१३॥ विशेषकं ॥

वह इस प्रकार से - करोड़ पूर्व के आयुष्य वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यच सातवें नरक में जघन्य आयुष्य रूप में उत्पन्न होता है, वहां से निकल कर तिर्यच में आता है और वहां से वापिस सातवें नरक में जाता है और वहां से पुनः तिर्यच

में और वहां से वापिस सातवें नरक में जाता है और वहां से वापिस तिर्यच में ही जाता है । फिर सातवें नरक में नहीं जाता । इस तरह सात बार जन्म लेकर आठवें जन्म में अन्य जन्म धारण करता है । (११ से १३)

तिर्यग ज्येष्ठायुर्जघन्यायुष्कोऽथोत्कृष्ट जीविताम् ।

अवाप्नुवनमाघवत्यां भवान् पंचैव पूरयेत् ॥१४॥

उत्पद्यते द्विर्नरके तत्र तिर्यक्षु च त्रिंशः ।

ततश्चासौ षष्टभवे नोद्भवेत्सप्तम क्षितौ ॥१५॥

उत्कृष्ट आयुष्य वाला अथवा जघन्य आयुष्य वाला तिर्यच माघवती नरक में उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त कर पांच ही जन्म धारण करता है । वह दो बार नरक में और तीन बार तिर्यच में उत्पन्न होता है । फिर छठे जन्म में वह सातवें नरक में उत्पन्न नहीं होता । (१४-१५)

उत्कृष्टायुष्टयात्यायुष्टया वा सप्तम क्षितौ ।

तिर्यक् ज्येष्ठायुरन्यो वा त्रिंशः स्याज्जघन्यतः ॥१६॥

तत्र तिर्यग्भवौ तु द्वावेकः स्यात्सप्तम क्षितौ ।

माघवत्या नारकाणां तिर्यक्ष्वेव गतिर्यतः ॥१७॥

उत्कृष्ट आयुष्य वाला अथवा जघन्य आयुष्य वाला तिर्यच, उत्कृष्ट आयुष्य अथवा जघन्य आयुष्य को लेकर जो सातवें नरक में उत्पन्न हो तो वह जघन्य से तीन जन्म करता है । इसमें दो जन्म तिर्यच के होते हैं और एक जन्म सातवें नरक में जाता है क्योंकि माघवती नरक के जीवों की गति तिर्यच में ही होती है । (१६-१७)

चतुर्भग्या नरः संज्ञी सप्तमं नरकं व्रजन् ।

जघन्यादुत्कर्षतोऽपि सर्वंपूरयेद्भवद्वयम् ॥१८॥

संज्ञी मनुष्य चतुर्भगी द्वारा सातवें नरक में जाता है तो जघन्य तथा उत्कृष्ट से दो जन्म पूर्ण करता है । (१८)

आनतादि चतुःकल्प्यां सर्वग्रीवेयकेषु च ।

चतुर्भग्योद्भवन् मर्त्यः सप्तोत्कर्षात् भवान् सृजेत् ॥१९॥

त्रिर्देवेषु चतुस्तत्र समुत्पद्य नरेष्वसौ ।

अवश्यमन्य पर्यायमवाप्नोत्यष्टमे भवे ॥२०॥

आनत आदि चार देवलोक में और सर्व ग्रैवेयक में चतुर्भंगी द्वारा उत्पन्न हुआ मनुष्य उत्कृष्ट सात भव करता है । उनमें तीन भव देवगति के करता है और चार भव-जन्म मनुष्य के करता है । आठवें जन्म में अवश्य अन्य पर्याय को प्राप्त करता है । (१६-२०)

विजयादि चतुष्के च भवान् पंचैव पूरयेत् ।

त्रीन् भवान् नृषु मध्यौ च द्वौ भवौ विजयादिषु ॥२१॥

यदि विजय आदि चार में उत्पन्न होता है तो पांच ही जन्म करता है । इनमें तीन मनुष्य गति में और मध्य के दो विजय आदि में जन्म लेता है । (२१)

जघन्यस्त्वानतादिष्वे तेषु निखिलेष्वपि ।

भवांस्त्रीन्मुजः संज्ञी समर्थयेत् समुद्भवन् ॥२२॥

यदानतादि देवानां नृभ्य एवाप्त जन्मनां ।

नरेष्वेवोत्पत्तिरिति जघन्येन भवास्त्रयः ॥२३॥

तथा आनत आदि सर्व देवलोक में उत्पन्न होता है तो तीन जन्म करता है क्योंकि आनत आदि देव मनुष्य में से ही उत्पन्न होता है फिर वापिस जन्म भी मनुष्य में ही लेता है और इससे इसके जघन्य से तीन जन्म होते हैं । (२२-२३)

जघन्याच्चोत्कर्षतोऽपि पंचमेऽनुत्तरे नरः ।

त्रीन्भवान् पूरयेत् मोक्षमवश्यं यात्यसौ ततः ॥२४॥

पांचवें अनुत्तर विमान में रहा मनुष्य जघन्य तथा उत्कृष्ट भी तीन जन्म लेता है, फिर वह अवश्य मोक्ष में जाता है । (२४)

भवन व्यन्तर ज्योतिष्काद्य कल्पद्वयावधि ।

युगिमनो नर तिर्यचः पूरयन्ति भव द्वयम् ॥२५॥

जघन्यादुत्कर्षतोऽपि युगिमनां यत्सुधाशिषु ।

उत्पन्नानां पुनरपि स्यादुत्पत्तिर्न युगिषु ॥२६॥

युगलिक मनुष्य और तिर्यच भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और पहले दो देवलोक तक दो भव-जन्म पूरे करता है क्योंकि जघन्य तथा उत्कृष्टतः युगलियों की देवगति में से फिर युगलियों में उत्पत्ति नहीं होती है । (२५-२६)

रत्नप्रभायां भवनाधिपति व्यन्तरेष्वपि ।

असंज्ञी पर्याप्त तिर्यग् भवयुगं समर्थयेत् ॥२७॥

यदस्य नरके स्वर्गे चौत्पन्नस्य ततः पुनः ।

असंज्ञि तिर्यक्षुत्पत्तिर्भवे नानन्तरे भवेत् ॥२८॥

असंज्ञी पर्याप्त तिर्यच, रत्नप्रभा में तथा भवनपति और व्यन्तर में भी दो जन्म लेता है क्योंकि नरक और स्वर्ग में उत्पन्न होने से उनकी वहां से अनन्तर भव में पुनः असंज्ञी तिर्यच में उत्पत्ति नहीं होती है । (२७-२८)

भवन व्यन्तर ज्योतिः सहस्रारान्त नाकिनः ।

आद्यषड्भ्रकोत्पन्न नारकाश्च समेऽप्यमी ॥२९॥

उत्पद्यमानाः पर्याप्त संज्ञि तिर्यग्रेषु वै ।

पूरयन्ति भवानष्ट प्रत्येकं तत्र भावना ॥३०॥ युग्मं ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सहस्रार देवलोक तक के देव और पहले छः नरक में उत्पन्न हुए नरकी, ये सब पर्याप्त संज्ञी तिर्यच और मनुष्य में उत्पन्न हो तो प्रत्येक आठ जन्म लेकर पूर्ण करते हैं । (२९-३०)

कश्चिद् भवनपत्यादि श्च्युत्वैकान्तरमुद्भवन ।

चतुर्वारं हि पर्याप्त संज्ञि तिर्यग्रो भवेत् ॥३१॥

ततः स तिर्यग् प्रत्यो वा नाप्युयान्वमे भवे ।

पूर्वोक्त भवनेशादि भावं तादृक्स्वभावतः ॥३२॥

संज्ञि पर्याप्त तिर्यक्षु सप्तमक्षिति नारकाः ।

पूरयन्ति भवान् षड्येऽनुत्कृष्ट स्थिति शालिनः ॥३३॥

उत्कृष्ट स्थिति भुक्तास्तु सप्तम क्षिति नारकाः ।

तेषूत्कर्षाज्जायमानाः स्युश्चतुर्भव पूरकाः ॥३४॥

इसमें भावार्थ यह है कि कोई भवनपति आदि देव च्यवन कर यदि एकान्तर रूप में उत्पन्न होता हो तो चार बार पर्याप्त संज्ञी तिर्यच अथवा मनुष्य होता है, फिर वह तिर्यच अथवा मनुष्य जन्म में पूर्वोक्त भवनपति आदि का जन्म नहीं प्राप्त कर सकता है क्योंकि इसका ऐसा स्वभाव है अनुत्कृष्ट अर्थात् जघन्य स्थिति वाला सातवें नरक का जीव संज्ञी पर्याप्त तिर्यच में छः जन्म करता है । परन्तु जो उत्कृष्ट स्थिति वाला है वह तो चार जन्म ही करता है । (३१ से ३४)

आनतादि स्वश्चतुष्क सर्वगैवेयकामराः ।

उत्पद्यमाना उत्कर्षान्नु षड्भव पूरकाः ॥३५॥

आनत आदि चार देवलोक के और सर्व प्रैवेयक के देव मनुष्य गति में आकर उत्कृष्टतः छः जन्म करते हैं । (३५)

मनुष्येषु तृप्त्यद्यमानाः विजयादि विमानगाः ।

भवांश्चतुर उत्कर्षात् पूरयन्ति निरन्तरम् ॥३६॥

विजय आदि विमान में रहे देव मनुष्य गति प्राप्त कर निरन्तर उत्कृष्टतः चार जन्म पूरे करते हैं । (३६)

जघन्य तस्त्वानतादि देवा द्विभव पूरकाः ।

यतश्च्युतानामेतेषां नोत्पत्तिर्मनुजान्विना ॥३७॥

आनत आदि देव जघन्यतः दो जन्म पूरे करते हैं क्योंकि वहां से च्यवन करें तब इनको मनुष्य गति के अलावा अन्य कोई गति नहीं है । (३७)

उत्कर्षतो जघन्याच्च सुराः सर्वार्थ सिद्धिजाः ।

मनुष्येषु समुत्पद्य पूरयन्ति भव द्वयम् ॥३८॥

सर्वार्थ सिद्ध में उत्पन्न हुआ देव मनुष्य में उत्पन्न होकर उत्कर्षतः तथा जघन्यतः दो जन्म धारण करता है । (३८)

भवन व्यन्तर ज्योतिः सौधर्मेशान नाकिनः ।

पृथिव्यप्तरूषु तृप्त्यद्यमाना द्वि भवपूरकाः ॥३९॥

जघन्यादुत्कर्षतोऽपि भूयोऽप्युत्पत्यसम्भवात् ।

तेषां निर्गत्य पृथ्व्यादेर्भवनेशादि नाकिषु ॥४०॥ युग्मम् ॥

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म और ईशान देवलोक के देव पृथ्वी, अप् और वनस्पति में उत्पन्न हों तो दो भव करते हैं, क्योंकि पृथ्वीकाय आदि में से निकल कर फिर इनकी जघन्य से तथा उत्कर्ष से भी भवनपति आदि देवों में उत्पत्ति होना संभव नहीं होता । (३९-४०)

वायुतेजः काययोस्तु देवानं गत्य सम्भवात् ।

तदीयो भवसंवेद्यो नात्र प्रोक्तो जिनेश्वरैः ॥४१॥

तथा वायुकाय अथवा अग्निकाय में देवों की गति नहीं है, इसलिए श्री जिनेश्वर भगवन्त ने इनका भवसंवेद्य नहीं कहा । (४१)

असंज्ञिसंज्ञि तिर्यचो नराः संज्ञिन एव च ।

असंख्यायुर्नृतिर्यक्षु पूरयन्ति भव द्वयम् ॥४२॥

युग्मिनां नृतिरश्चां यद्विपद्यानन्तरे भवे ।
गतिर्देवगतावेव भगवद्भिर्निरूपिता ॥४३॥

असंज्ञी और संज्ञी- ये दो प्रकार तिर्यच और केवल संज्ञी मनुष्य ही असंख्य आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यच में दो जन्म धारण करता है, क्योंकि युग्मी मनुष्य और तिर्यच की मृत्यु के बाद अनंतर जन्म में देवगति ही होती है । इस तरह भगवान् का वचन है । (४२-४३)

भूकायिकोऽप्योऽग्नि वायुष्वेकान्तरे परिभ्रमन् ।
भवानसंख्यान् प्रत्येकमनुत्कृष्ट स्थितिः सृजेत् ॥४४॥

पृथ्वीकाय का जीव जघन्य स्थिति में एकांतर में जल, अग्नि और वायुकाय में परिभ्रमण करता हुआ प्रत्येक के अन्दर असंख्य जन्म धारण करता है । (४४)

एवमम्बुकायिकोऽपि प्रत्येकं क्षमाग्नि वायुषु ।
उत्पद्यमानोऽसंख्येयान् भवानुत्कर्षतः सृजेत् ॥४५॥

इसी ही तरह से अपकाय का जीव भी पृथ्वीकाय, अग्निकाय और वायुकाय- इस तरह प्रत्येक के अन्दर उत्पन्न होता हुआ उत्कृष्ट असंख्य भव धारण करता है । (४५)

वह्नि कायोऽपि पृथ्व्यम्बुकायिष्वेकान्तरं भवान् ।
कुर्यादसंख्याननिलोऽप्येवं पृथ्व्यम्बुवह्निषु ॥४६॥

तथा अग्निकाय एकान्तर में (बीच- बीच में एक जन्म लेकर) पृथ्वीकाय और अपकाय में भ्रमण करता हुआ, और वायुकाय पृथ्वीकाय, अपकाय और अग्निकाय में भ्रमण करता हुआ असंख्य जन्म धारण करता है । (४६)

तथा क्षमाम्भोऽग्नि मरुतः प्रत्येकं च वनस्पतौ ।
भवानसंख्यान् कुर्वन्ति जायमाना निरन्तरम् ॥४७॥

और पृथ्वीकाय, अपकाय, अग्निकाय और वायुकाय- ये प्रत्येक हमेशा वनस्पतिकाय में उत्पन्न होते रहने से असंख्यात जन्म धारण करते हैं । (४७)

एवं वनस्पतिरपि पृथिव्यादि चतुष्टये ।
प्रत्येकमुत्पद्यमानः कुर्यादसंख्यकान् भवान् ॥४८॥

इसी तरह से वनस्पतिकाय का जीव भी पृथ्वीकाय आदि चारों में से प्रत्येक में उत्पन्न होकर असंख्य जन्म धारण करता है । (४८)

वनस्पतिकायिकेषुत्पद्यमानो वनस्पतिः ।

भवाननन्तान् कुर्वीत निरन्तरं परिभ्रमन् ॥४६॥

वनस्पतिकाय जीव वनस्पतिकाय में ही उत्पन्न होकर हमेशा परिभ्रमण करता हुआ अनन्त जन्म धारण करता है । (४६)

प्रत्येकमुत्पद्यमानाः पृथिव्यादिषु पंचसु ।

भवान् संख्यान् विदधति प्रत्येकं विकलेन्द्रियाः ॥५०॥

पृथ्वीकाय आदि पांच में से प्रत्येक में उत्पन्न होता हुआ प्रत्येक विकलेन्द्रिय जीव संख्यात जन्म धारण करता है । (५०)

प्रत्येकं विकलेष्वेवं पंचभूकायिकादयः ।

प्रत्येकमुत्पद्यमानाः संख्येय भवपूरकाः ॥५१॥

पृथ्वीकाय आदि पांचों का प्रत्येक जीव भी विकलेन्द्रिय के अन्दर उत्पन्न होकर संख्यात जन्म धारण करता है । (५१)

विकलाक्षेषु संख्येयान् सर्वेऽपि विकलेन्द्रिया ।

भवान् विदध्युः प्रत्येकं जायमानाः परस्परम् ॥५२॥

सर्व विकलेन्द्रिय जीव भी विकलेन्द्रिय भी प्रत्येक जाति में परस्पर उत्पन्न होकर संख्यात जन्म धारण करता है । (५२)

पूर्वोक्तायुश्चतुर्भंग्या ज्येष्ठायुस्मलक्षिते ।

भंग त्रये भवानष्टौ कुर्युः सर्वे क्षमादयः ॥५३॥

पूर्वोक्त आयु की चतुर्भंगी के अन्दर उत्कृष्ट आयुष्य वाला तीन विभाग में पृथ्वीकाय आदि जीव आठ जन्म धारण करता है । (५३)

तथाहि-पृथ्वी कायिक उत्कृष्टायुष्क उत्कृष्ट जीविषु ।

अष्कायिकेषूत्कर्षेणोद्भवेद्वार चतुष्टयम् ॥५४॥

वह इस तरह-उत्कृष्ट आयुष्य वाला पृथ्वीकाय उत्कृष्ट आयुष्य वाले अप-काय के अन्दर उत्कृष्टतः चार बार उत्पन्न होता है । (५४)

एवमेकान्तरं वारानुत्पद्य चतुरस्ततः ।

अवश्यमन्य पर्यायं लभते नवमे भवे ॥५५॥

इसी तरह एकान्तर में चार बार उत्पन्न होकर वहां से नौवें जन्म में अवश्य अन्य पर्याय प्राप्त करता है । (५५)

उत्कृष्टायुर्भूमिकायोऽनुत्कृष्टायुष्क वारिषु ।
उत्पद्यमानोऽप्युत्कर्षाद्भवानष्टैव पूरयेत् ॥५६॥

उत्कृष्ट आयुष्य वाला पृथ्वीकाय जघन्य आयुष्य वाले अपकाय के अन्दर उत्पन्न होकर भी उत्कृष्टतः आठ जन्म धारण करता है । (५६)

एवं भूकायिकोऽनुत्कृष्टायुरुत्कृष्ट जीविषु ।
उद्भवन्मुखुषुत्कर्षात् स्यादष्ट भव पूरकः ॥५७॥

इसी तरह से जघन्य आयुष्य वाला पृथ्वीकाय उत्कृष्ट आयुष्य वाले अपकाय के अन्दर उत्पन्न होकर उत्कृष्टतः आठ जन्म धारण करता है । (५७)

अप्यकायादि नामपीत्थं विकलानां च भाव्यताम् ।
भवाष्टकात्मा संवेधो ज्येष्ठायुर्भंगकत्रये ॥५८॥

इसी प्रकार उत्कृष्ट आयुष्य वाले तीन विभाग के अन्दर अपकाय आदि का और विकलेन्द्रियों का आठ जन्म सम्बन्धी भवसंवेध जान लेना । (५८)

अनुत्कृष्टायुषां त्वेषां स्यादनुत्कृष्ट जीविषु ।
संवेद्यः प्रागुक्त एवासंख्य संख्य भवात्मक ॥५९॥

और जघन्य आयुष्य वालों का जघन्य आयुष्य वाले के अन्दर पूर्व में जैसा कहा है उसी के अनुसार असंख्यात जन्मरूप तथा संख्यात जन्मरूप भवसंवेद्य होता है । (५९)

‘पृथ्व्यादीनाम् असंख्य भवात्मकः विकलानामसंख्य भवात्मकः’ इति ।

कहने का भावार्थ यह है कि ‘पृथ्वीकाय आदि का असंख्यात जन्म और विकलेन्द्रियों का संख्यात जन्मरूप भवसंवेद्य होता है ।’

क्ष्मादयो विकलाक्षाश्च जघन्यतो भव द्वयम् ।
कुर्यः ज्येष्ठकनिष्ठायुरूपे भंग चतुष्टये ॥६०॥

उत्कृष्ट और जघन्य आयु रूप चार विभागों में पृथ्वीकाय आदि व विकलेन्द्रिय जघन्य दो जन्म लेते हैं । (६०)

युग्मिवर्जाश्च मनुजास्तिर्यचः संज्ञ्यसंज्ञिनः ।
प्रत्येकं जायमानाः स्युर्मिथोऽष्ट भवपूरकाः ॥६१॥

युग्मी के अलावा मनुष्य तथा संज्ञी और असंज्ञी तिर्यच परस्पर में उत्पन्न होकर उत्कृष्ट आठ जन्म धारण करते हैं । (६१)

जघन्योत्कृष्टायुरुत्थ चतुर्भंग्यामपि स्फुटम् ।

भवान् कृत्वाष्ट नवमे तेऽन्यं पर्यायमाप्नुयुः ॥६२॥

जघन्य और उत्कृष्ट आयु से होने वाली चौभंगी में भी वह आठ जन्म लेकर के नौवें जन्म में निश्चय अन्य पर्याय प्राप्त करता है । (६२)

तथैव एव पृथ्व्यादि पंचके विकलत्रये ।

जायमानाश्चतुर्भंग्यां कुर्युः प्रत्येकमष्ट तान् ॥६३॥

तथा इनमें प्रत्येकपृथ्वी काय आदि पांच में तथा विकलेन्द्रिय में उत्पन्न होने पर चौभंगी के अन्दर आठ जन्म धारण करता है । (६३)

तथा क्ष्माद्याः सविकलास्तिर्यक्षु संज्ञ्य संज्ञिषु ।

नृध्व युग्मिषु चोत्पद्यमाना भंगचतुष्टये ॥६४॥

पूरयन्ति भवानष्टौ स च पृथ्व्यादिकोऽसुमान् ।

नर तिर्यग् भवात्तस्मान् पृथ्व्यादित्वमाप्नुयात् ॥६५॥ युग्मं ।

और विकलेन्द्रिय सहित पृथ्वीकाय आदि, संज्ञी और असंज्ञी तिर्यच में तथा युगलिक रहित मनुष्य में उत्पन्न होकर चार विभाग में आठ जन्म पूर्ण करता है और वह पृथ्वीकाय आदि जीव मनुष्य और तिर्यच के जन्म से पृथ्वीत्व आदि प्राप्त नहीं करता है । (६४-६५)

जघन्यादुत्कर्षतोऽपि मनुष्याः पवनाग्निषु ।

उत्पद्यमाना द्वावेव पूरयन्ति भवौ खलु ॥६६॥

यतो हि पवनाग्निभ्य उद्धृतानां शरीरिणाम् ।

अनन्तर भवे नैव नरेषूत्पत्ति सम्भवः ॥६७॥

मनुष्य वायुकाय और अग्निकाय में उत्पन्न होकर उत्कृष्टतः तथा जघन्यतः दो ही जन्म करता है क्योंकि वायुकाय और अग्निकाय से निकले हुए प्राणी को अनन्तर जन्म में मनुष्य गति प्राप्त करना असंभव है । (६६-६७)

यथोक्ता नामथ भवसंवेधानां यथागमम् ।

कालमानं विनिश्चेतुमाप्नायोऽयं वितन्यते ॥६८॥

अब उक्त संवेध का आगमोक्त कालमान निश्चित करने के लिए इस तरह आम्नाए कही हैं । (६८)

जघन्यादान्तर्मुहु-तामुत्कर्षात्पूर्वं कोटि काम् ।

स्थिति श्चिभ्रद्याति तिर्यग् नरकेष्वखिलेष्वपि ॥६६॥

जघन्य अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट करोड़पूर्व की स्थिति को धारण करने वाला तिर्यच सर्व नरकों में जाता है । (६६)

तावदायुर्युतेष्वेति तेभ्यो मृत्यापि नारकाः ।

सहस्रारान्त देवेष्वप्यसौ ताद्रक् स्थितिर्व्रजेत् ॥७०॥

ऐसी स्थिति वाला नरक में से मृत्यु प्राप्त कर उतनी आयुष्य वाले तिर्यच में उत्पन्न होता है । (उतनी स्थिति वाला तिर्यच आठवें देवलोक तक उत्पन्न होता है ।) (७०)

देवास्तेऽपीदृशायुष्केष्वेष्वायान्ति ततश्च्युताः ।

असंख्य जीवी तिर्यक्त्वायातीशानान्त नाकिषु ॥७१॥

वहाँ से च्यवन कर वह देव भी उतनी ही आयुष्य वाली तिर्यग्र गति प्राप्त करता है और असंख्य आयुष्य वाला तिर्यच तो ईशान तक के देवलोक में जाता है । (७१)

नरो मास पृथक्त्वायुर्धर्मा याति जघन्यतः ।

वंशादिषु क्षमासु षट्सु वर्ष पृथक्त्व जीवितः ॥७२॥

पृथक्त्व मास के आयुष्य वाला मनुष्य जघन्यतः धम्मा नामक नरक में जाता है, पृथक्त्व वर्ष के आयुष्य वाला वंशादि छः नरकों में जाता है । (७२)

उत्कर्षात्पूर्वं कोट्यायुर्यात्यसौ क्षमासु सप्तसु ।

आयान्त्युक्त स्थितिष्वेव नृषूक्त नारका अपि ॥७३॥

करोड़ पूर्व के आयुष्य वाला मनुष्य उत्कृष्टतः सात नरकों में जाता है और वह नारकी उक्त स्थिति वाली मनुष्य गति प्राप्त नहीं करता है । (७३)

ना जघन्यात् मास पृथक्त्वायुरास्वर्द्धयं व्रजेत् ।

ऊर्ध्वत्वब्द पृथक्त्वायुर्याति यावदनुत्तरान् ॥७४॥

पृथक्त्व मास के आयुष्य वाला मनुष्य उत्कृष्ट दो देवलोक तक जाता है और पृथक्त्व वर्ष के आयुष्य वाला अन्तिम अनुत्तर विमान तक जाता है । (७४)

उत्कर्षात् त्रिपल्यायुः स्वर्द्धयं यावदेति सः ।

ऊर्ध्व ततः पूर्व कोट्यायुष्क एव स गच्छति ॥७५॥

तीन पत्योपम के आयुष्य वाला मनुष्य उत्कृष्ट दो देवलोक तक जाता है । इससे ऊपर तो अधिक से अधिक चाहे करोड़ पूर्व का आयुष्य भी हो, वह भी वहीं तक जाता है। (७५)

तिर्यक् युग्मनृतिर्यक्षुत्वन्तर्मुहूर्त्त जीवितः ।

गच्छेज्जघन्यतो मास पृथकत्वायुर्नरः पुनः ॥७६॥

अन्तर्मुहूर्त्त के आयुष्य वाला तिर्यच और जघन्यतः पृथकत्व मास के आयुष्य वाला मनुष्य युगलिक मनुष्य की या तिर्यच की गति प्राप्त करता है । (७६)

उत्कर्षतः पूर्वं कोटिमानायुष्कावुभावपि ।

असंख्यायुर्नृतिर्यक्षुत्पद्येते नाधिकायुषौ ॥७७॥

तथा उत्कृष्टतः पूर्वं करोड़ के आयुष्य वाले इन दोनों को असंख्यात आयुष्य वाले मनुष्य की अथवा तिर्यच की गति प्राप्त होती है । इससे अधिक आयुष्य वाले की यह गति नहीं होती है । (७७)

उक्तशेषाणां तु पूर्वापरयोर्भवयोः स्थितिः ।

गुरुर्लघुश्च ज्ञेया तज्ज्येष्ठा न्यायुरपेक्षया ॥७८॥

पूर्व कहे से शेष रहने वालों की पूर्वापर दोनों जन्म की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति इनकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुष्य की अपेक्षा से जानना । (७८)

एवं च- विवक्षित भव प्राप्य भवयोः परयां स्थितिम् ।

लघ्वी वा भव संख्या च जघन्यां वा गरीयसीम् ॥७९॥

स्वयं विभाव्य निष्टं क्वं विवक्षित शरीरिणाम् ।

भवसंवेद्य कालस्य मानं ज्येष्ठमथावरम् ॥८०॥ युग्मं ।

और इसी ही तरह से विवक्षित जन्म की और प्राप्त होने वाले जन्म की उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट तथा जघन्य जन्म संख्या स्वयं जान करके, विवक्षित प्राणियों के भवसंवेद्य काल का बड़ा तथा छोटा मान जान लेना चाहिए । (७९-८०)

यथा गरिष्ठायुष्कस्य मनुष्यस्यादिमक्षितौ ।

उत्कृष्टायुर्नारकत्वं लभमानस्य चा सकृत् ॥८१॥

उत्कृष्टो भवसंवेद्य कालः संकलितो भवेत् ।

चतुः पूर्वं कोटि युक्त चतुः सागर संमिति ॥८२॥ युग्मं ।

जैसे कि पहले नरक में उत्कृष्ट आयुष्य वाला- नरकत्व की उत्कृष्ट आयुष्य प्राप्त करने वाले मनुष्य का उत्कृष्ट भवसंवेद्य काल चार करोड़ पूर्व और चार सागरोपम का होता है । (८१-८२)

द्वयोरुत्कृष्टायुषोस्तु संवेद्यः स्याज्जघन्यतः ।

पूर्व कोटि समधिक सागरोपम संमितः ॥८३॥

दोनों गति के उत्कृष्ट आयुष्य वालों का संवेद्यकाल जघन्यतः एक करोड़ पूर्व और सागरोपम का है । (८३)

उत्कृष्टायुर्नरलघु स्थिति नारकयोः गुरुः ।

सोऽब्दायुत चतुष्काढ्यं पूर्व कोटि चतुष्टयम् ॥८४॥

उत्कृष्ट आयुष्य वाले मनुष्य और जघन्य स्थिति वाले नारकी का उत्कृष्ट भवसंवेद्य काल चार करोड़ पूर्व और चालीस हजार वर्ष का है । (८४)

उत्कृष्टायुर्नर लघुस्थिति नारकयोः लघुः ।

संवेद्योऽब्दा युत युत पूर्व कोटिमितो मतः ॥८५॥

उत्कृष्ट आयुष्य वाले मनुष्य और जघन्य स्थिति वाले नारकी का जघन्य भवसंवेद्य काल करोड़ पूर्व और दस हजार वर्ष का है । (८५)

जघन्यायुर्नरोत्कृष्ट स्थिति नारकयोः गुरुः ।

चतुर्मास पृथक्त्वाढ्यं स स्याद्द्विचतुष्टयम् ॥८६॥

जघन्य आयुष्य वाले मनुष्य और उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकी का उत्कृष्ट भवसंवेद्य काल चार सागरोपम और अलग चतुर्मास है । (८६)

जघन्यायुर्नरोत्कृष्ट जीवि नारकयोः लघुः ।

एक मास पृथक्त्वाढ्यवाद्भिमानो भवत्यसौ ॥८७॥

जघन्य आयुष्य वाले मनुष्य और उत्कृष्ट आयुष्य वाले नारकी का जघन्य भवसंवेद्यकाल एक सागरोपम और अलग मास (महीने) का है । (८७)

उत्कृष्टो भवसंवेद्यो जघन्य जीविनोः द्वयोः ।

चतुर्मास पृथक्त्वाढ्यं वर्षायुत चतुष्टयम् ॥८८॥

यदि दोनों जघन्य आयुष्य वाले हो तो उनका उत्कृष्ट भवसंवेद्य काल चालीस हजार वर्ष और अलग चतुर्मास है । (८८)

जघन्यो भवसंवेधो जघन्य जीविनोः द्वयोः ।

एक मास पृथक्त्वाढ्याः दस वर्ष सहस्रकाः ॥८६॥

दोनों जघन्य आयुष्य वाले हों तो उनका जघन्य भवसंवेध काल दस हजार वर्ष और अलग एक महीना है। (८६)

यथा वा— ज्येष्ठायुषस्तिरश्चः प्रोद्भवतः सप्तमक्षितौ ।

जघन्यायुष्टयोत्कृष्टा भवसंवेध संस्थितिः ॥८७॥

चतुः पूर्वं कोटि युक्ताः स्युः षट् षष्टिः पयोधयः ।

अल्पायुषोऽन्तर्मुहूर्त्तं चतुष्टयजोऽस्य ते ॥८९॥युग्मं।

जघन्य आयुष्य वाले को सातवें नरक में उत्पन्न होते, उत्कृष्ट आयुष्य वाले तिर्यच का उत्कृष्ट भवसंवेध काल चार करोड़ पूर्व और छियासठ सांगरोपम का है, और जघन्य आयुष्य वाले का भवसंवेध काल इस संख्या से अधिक चार अन्तर्मुहूर्त्त ज्यादा का होता है। (८७-८९)

यथा वा.....ज्येष्ठायुषां नृणां ज्येष्ठायुष्टया सप्तम क्षितौ ।

ज्येष्ठः कालः पूर्वं कोटयाढ्या स्वयस्त्रिंशदब्धयः ॥८२॥

उत्कृष्ट आयुष्य रूप में करके सातवें नरक में उत्पन्न होने वाले उत्कृष्ट आयुष्य वाले मनुष्य का उत्कृष्ट भवसंवेध काल एक करोड़ पूर्व और तैतीस सागरोपम है। (८२)

जघन्यायुर्नृणामल्पायुष्टया सप्तम क्षितौ ।

जघन्योऽवद पृथक्त्वाढ्या द्वाविंशति पयोधयः ॥८३॥

अल्प आयुष्य रूप से सातवें नरक में उत्पन्न होने वाले जघन्य आयुष्य वाले मनुष्य का जघन्य भवसंवेध काल बाईस सागरोपम व अलग एक वर्ष का है। (८३)

एवं सर्वेषु भंगेषु सर्वेषामपि देहिनाम् ।

विभाव्यो भवसंवेध कालो गुरुर्लघुः स्वयम् ॥८४॥

इस तरह से सारे विभागों में, सर्व प्राणियों का उत्कृष्ट अथवा जघन्य भवसंवेध काल स्वयमेव समझ लेना चाहिए। (८४)

स्याद् भूयान् विस्तर इति नेह व्यक्त्या विविच्यते ।

पंचमांगे चतुर्विंशशतं भाव्यं तदर्थिभिः ॥८५॥

बहुत विस्तार हो जायेगा इसलिए यहां व्यक्ति पूर्वक विवेचन नहीं करते ।
अतः जिसे विस्तार से जानने की इच्छा हो उसे इसको पांचवें अंग भगवती सूत्र के
२४वें शतक से जान लेना चाहिए । (६५)

इस तरह भवसंवेध प्रकरण सम्पूर्ण हुआ ।

अथाष्टनवते जीवं भेदानामुच्यते क्रमात् ।

क्रम प्राप्ताल्प बहुता महाल्प बहुताभिधा ॥६६॥

अब संसारी जीव के महा अल्प बहुत्व के विषय में (द्वार ३७वां) कहते
हैं । यहां जीव के अट्ठानवें भेद में कौन से अल्प हैं और से बहुत हैं, उन सम्बन्धी
विवेचन करते हैं । (६६)

गर्भजां मनुजां स्तोका नार्यः संख्य गुणास्ततः ।

ताभ्यश्च स्थूल पर्याप्तग्नयोऽनुत्तर नाकिनः ॥६७॥

सबसे अल्प गर्भज मनुष्य हैं, इससे असंख्य गुणा स्त्रियां हैं और इससे संख्य
गुण अनुक्रम से स्थूल पर्याप्त अग्निकाय के जीव और अनुत्तर विमान के देव हैं ।
(६७)

क्रमाद् संख्यघ्नास्तेभ्यश्चोर्ध्वं ग्रैवेयक त्रये ।

मध्यत्रयेऽधस्त्रये चाच्युते चैवारणोऽपि च ॥६८॥

प्राणतेऽथानतो स्वर्गे समुत्पन्नाः सुधाशिनः ।

क्रमेण संख्येय गुणाः सप्तप्येते निरूपिताः ॥६९॥ युरम् ।

उससे संख्य गुणा अनुक्रम से तीन ऊर्ध्वं ग्रैवेयक का, फिर तीन मध्य
ग्रैवेयक का, तीन अधो ग्रैवेयक का, फिर अच्युत देवलोक का, आरण देवलोक
का, प्राणत देवलोक का, और आनंत देवलोक का देव- ये सात हैं । (६८-६९)

ततो माधवती जाता मघा जाताश्च नारकाः ।

सहस्रार सुरास्तेभ्यो महाशुक्र सुरास्ततः ॥७०॥

तेभ्योऽरिष्ठा नैरयिकास्तेभ्यो लांतक नाकिनः ।

तेभ्यो जना नारकाश्च ब्रह्मलोक सुरास्ततः ॥७१॥

तेभ्यः शैला नैरयिका माहेन्द्र त्रिदशास्ततः ।

तेभ्यः सनत्कुमारस्था वंशा नैरयिकास्ततः ॥७२॥

तेभ्यः समूर्छिम नरास्तेभ्यश्चेशान नाकिनः ।

क्रमादसंख्येय गुणाश्चतुर्दशाप्यमी स्मृताः ॥७३॥ कलापकम् ॥

इससे असंख्य से असंख्य गुणा अनुक्रम से इस प्रकार के चौदह हैं-
माघवती नरक का जीव, मघा का नारक, सहस्रार के देवता, महाशुक्र के देव,
अरिष्य के नारक, लांतक के देव, अंजना नरक के जीव, ब्रह्मलोक के देवता,
शैला नरक के जीव, माहेन्द्र देवलोक के देव, सन्त कुमार के देव, वंशा के
नारक जीव, संमूर्छिम मनुष्य और ईशान देवलोक के देव । (१०० से १०३)

ईशानस्थ सुरेभ्यस्तद्देव्यः संख्य गुणास्ततः ।

सौधर्म देवास्तद्देव्यस्तेभ्यः संख्या गुणाः स्मृताः ॥१०४॥

असंख्येय गुणास्तेभ्यो भवनाधिप नाकिनः ।

भवनाधिप देव्यश्च तेभ्यः संख्य गुणाधिकाः ॥१०५॥

और ईशान देवलोक के देव से इनकी देवियां संख्यात गुणा हैं, इससे
संख्यात गुणा सौधर्म देवलोक के देव हैं, इससे संख्यात गुणा इनकी देवियां हैं ।
इससे असंख्य गुणा भवनपति देव और इससे संख्यात गुणा इनकी देवियां हैं ।
(१०४-१०५)

ताभ्योऽसंख्यगुणाः प्रोक्ताः प्रथम क्षिति नारकाः ।

तेभ्योऽप्यसंख्येय गुणाः पुमांसः पक्षिणः स्मृताः ॥१०६॥

इससे असंख्य गुणा पहले नरक के नारकी जीव हैं और इससे भी असंख्य
गुणा नरपक्षी होते हैं । (१०६)

पक्षिण्योऽथ स्थल चरास्तत्त्रयोऽम्बुचरा अपि ।

अम्बुचर्योऽव्यन्तराश्च व्यन्तर्यो ज्योतिष्मतराः ॥१०७॥

ज्योतिष्क देव्यः खचर क्लीवा स्थल पयश्चराः ।

नपुंसका एव ततः पर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियाः ॥१०८॥

क्रमेण संख्येय गुणा पक्षिण्याद्यास्त्रयोदश ।

ततः पर्याप्त पंचाक्षा अधिकाः संज्ञ्य संज्ञिनः ॥१०९॥ विशेषकं ।

तथा पक्षी, स्थलचर और स्थलचरी, जलचर और जलचरी, व्यन्तर और
व्यन्तरियां, ज्योतिषी देव और देवियां, नपुंसक वेदी खेचर, स्थलचर, जलचर और
पर्याप्त चतुरिन्द्रिय- ये तेरह अनुक्रम से संख्यात से संख्यात गुणा होते हैं और इससे
अधिक संज्ञी व असंज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय होते हैं । (१०७ से १०९)

तेभ्यः पर्याप्तकाद्वयक्षाः पर्याप्तस्त्रीन्द्रियास्ततः ।

ऋमाद्विशेषाभ्यधिकाः प्रज्ञप्ताः परमेश्वरैः ॥११०॥

इससे अधिक पर्याप्त द्वीन्द्रिय वाले जीव हैं और इससे अधिक पर्याप्त त्रीन्द्रिय जीव हैं । ऐसा परमेश्वर ने कहा है । (११०)

तेभ्योऽपर्याप्त पंचाक्षा असंख्येय गुणास्ततः ।

अपर्याप्ताश्चतुस्त्रि द्वीन्द्रियाः स्युरधिकाधिकाः ॥१११॥

इससे अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्य गुणा हैं और इससे अधिक से अधिक अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय हैं । (१११)

तेभ्यः प्रत्येक पर्याप्ता द्रुमाः पर्याप्तकास्ततः ।

निगोदा बादराः स्थूल पृथ्व्यम्बु मरुतोऽपि च ॥११२॥

स्थूलापर्याप्तका अग्नि प्रत्येक द्रुनिगोदकाः ।

पृथ्वी जल वायवश्च सूक्ष्मा पर्याप्त वह्नयः ॥११३॥

पर्याप्त प्रत्येक द्रुमादयो द्वादशाप्यसंख्य गुणाः ।

क्रमतस्ततश्च सूक्ष्मापर्याप्ताः क्षाम्बु वायवोऽभ्यधिकाः ॥११४॥ विशेषकं

इससे असंख्य से असंख्य गुणा अनुक्रम से इस तरह बारह हैं- पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति, पर्याप्त बादर निगोद, बादर पृथ्वीकाय, अपकाय और वायुकाय, स्थूल अपर्याप्त अग्निकाय, प्रत्येक वनस्पतिकाय, निगोद, पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और सूक्ष्म अपर्याप्त अग्निकाय और इससे अधिक सूक्ष्म अपर्याप्त पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय क्रम हैं । (११२ से ११४)

ततश्च संख्येय गुणाः पर्याप्त सूक्ष्म वह्नयः ।

ततः पर्याप्त सूक्ष्मक्षाम्बोऽनिला अधिकाधिकाः ॥११५॥

और इससे संख्यात गुणा पर्याप्त सूक्ष्म अग्निकाय हैं । इससे अधिक से अधिक पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अपकाय और वायुकाय हैं । (११५)

असंख्यघ्नास्ततोऽपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदकाः ।

ततः संख्यगुणाः पर्याप्तका सूक्ष्म निगोदकाः ॥११६॥

इससे असंख्य गुणा अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद हैं और इससे संख्यात गुणा पर्याप्त सूक्ष्म निगोद हैं । (११६)

क्रमात्ततोऽनन्त गुणाश्चत्वारोऽमी अभव्यकाः ।

ध्रष्ट सम्यक्तवाश्च सिद्धाः स्थूल पर्याप्त भूरुहः ॥११७॥

इससे अनन्त गुणा अनुक्रम से अभव्य, समकित से गिरे हुए, सिद्धात्मा और फिर बादर पर्याप्त वनस्पति हैं । (११७)

तेभ्यश्च बादराः पर्याप्तकाः स्युरोधतोऽधिकाः ।

स्थूलापर्याप्त तरवस्ततोऽसंख्य गुणाः स्मृताः ॥११८॥

और इससे अधिक ओघतः बादर पर्याप्त हैं और इससे भी असंख्य गुणा बादर अपर्याप्त वनस्पतिकाय हैं । (११८)

अपर्याप्ता बादराः स्युस्तेभ्यो विशेषतोऽधिकाः ।

सामान्यतो बादरश्च विशेषाम्यधिकास्ततः ॥११९॥

इससे विशेष अधिक बादर अपर्याप्त और इससे भी विशेष अधिक सामान्यतः बादर होते हैं । (११९)

असंख्येय गुणास्तेभ्यो सूक्ष्मा पर्याप्त भूरुहः ।

ततः सामान्यतः सूक्ष्मापर्याप्तका किलाधिकाः ॥१२०॥

इससे असंख्य गुणा सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पतिकाय हैं और इससे भी अधिक सामान्यतः सूक्ष्म अपर्याप्त होते हैं । (१२०)

स्यु संख्येय गुणास्तेभ्यः सूक्ष्म पर्याप्तभूरुहः ।

इतोऽधिकाधिका ज्ञेया वक्ष्यमाणश्चतुर्दशः ॥१२१॥

सूक्ष्मा पर्याप्तका ओघात् सूक्ष्माः सामान्यतोऽपि च ।

भव्या निगोदिनश्चौघादोघाच्च वनकायिकाः ॥१२२॥

औघादेकेन्द्रिया ओघात्तिर्य्यचश्च ततः पुनः ।

मिथ्यादृशश्चाविरताः सकाषायास्ततोऽपि च ॥१२३॥

छद्मस्थाश्च सयोगाश्च संसारिणस्तथौघतः ।

सर्वजीवश्चेति सार्वैर्महाल्पबहुतोदिता ॥१२४॥ कलापकं ।

इससे संख्य गुणा सूक्ष्म पर्याप्त वनस्पतिकाय हैं । इससे अधिक इस तरह चौदह जानना-ओघतः सूक्ष्म पर्याप्त , सामान्यतः सूक्ष्म, ओघतः भव्य, ओघतः निगोद, ओघतः वनस्पति, ओघतः एकेन्द्रिय, ओघतः तिर्य्यच, मिथ्यादृष्टि, अविरति, कषायी, छद्मस्थ, सयोगी, संसारी, ओघ से सर्व जीव हैं । इस तरह सर्व प्रकार से बड़ा अल्प बहुत्व समझना चाहिए । (१२१ से १२४)

एवं जीवास्ति कायो यो द्वारैः प्रोक्तः पुरोदितैः ।

द्रव्य क्षेत्र काल भाव गुणैः स पञ्चधा भवेत् ॥१२५॥

अब पूर्व चौथे सर्ग में सैंतीस द्वार द्वारा जीवास्तिकाय का जो निरूपण किया है वह द्रव्य क्षेत्र, काल भाव और गुण- इन पांच दृष्टिबिन्दु से पांच प्रकार का होता है । (१२५)

अनन्त जीव द्रव्यात्मा द्रव्यतोऽसावुदीरितः ।

क्षेत्रतो लोकमात्रोऽसौ सत्त्वात्तेषां जगत्रये ॥१२६॥

कालतः शाश्वतो वर्णादिभिः शून्यश्च भावतः ।

उपयोग गुणश्चासौ गुणतः परिकीर्तितः ॥१२७॥

द्रव्य के दृष्टि बिन्दु से अर्थात् द्रव्य से ये अनन्त जीव द्रव्यात्मक हैं, क्षेत्र से लोक केवल प्रमाण है क्योंकि तीन जगत् में इसका अस्तित्व है, काल से वह शाश्वत है, भाव से वर्णादि रहित है और गुण से उपयोग गुण वाला है । (१२६-१२७)

निरन्तरं बध्यमानैः स च कर्म कदम्बकैः ।

विंशत्युलो भवाभ्यो धौ बहुधा चेष्टतेऽङ्ग भाक् ॥१२८॥

यह जीव निरन्तर बन्धन होते विशाल कर्म बन्धन के कारण अधिकतः अस्थिर रूप में भव समुद्र में परिभ्रमण किया करता है । (१२८)

पुद्गलैर्निचिंते लोकेऽञ्जन पूर्ण समुदगवत् ।

मिथ्यात्व प्रमुखैर्भूरि हेतुभिः कर्म पुद्गलान् ॥१२९॥

करोति जीवः संबद्धान् स्वेन क्षीरण नीरवत् ।

त्वोहेन वह्निवद्धा यत् तत्कर्मैत्युच्यते जिनैः ॥१३०॥ युग्मं ।

अंजन से भरी डब्बी के समान यह लोक पुद्गलों से भरा हुआ है, उस में जीव मिथ्यात्व आदि अनेक हेतुओं द्वारा कर्म के पुद्गलों को क्षीर- नीर के समान अथवा लोहाग्नि के समान अपने साथ में सम्बद्ध करता है । उस पुद्गल को जिनेश्वर भगवन्त ने कर्म कहा है । (१२९-१३०)

तच्च कर्म पौद्गलिकं शुभाशुभ रसांचितम् ।

न त्वन्य तीर्थिकाभीष्टादृष्टादि वदमूर्त्तकम् ॥१३१॥

जो कर्म शुभ- अशुभ रस युक्त हो वह पुद्गलिक है, अन्य मत वालों ने जो अदृष्ट आदि माना है, इसके समान यह अरूपी नहीं है । (१३१)

व्योमादिवदमूर्तत्वे त्वस्य विश्वांगि साक्षिकौ ।

नैतत्कृतानुग्रहोपघातौ संभवतः खलु ॥१३२॥

यदि इस कर्म को आकाश आदि के समान अरूपी मानें तो इससे होने वाले अनुग्रह और उपघात आदि सर्व प्राणियों को प्रत्यक्ष हैं- वह संभव नहीं हो सकता है। (१३२)

हेतवः कर्मबन्धे च चत्वारो मूल भेदतः ।

सप्तपंचाशदेते च स्युस्तदुत्तर भेदतः ॥१३३॥

कर्म बंधन का मूल चार हेतु हैं अर्थात् चार प्रकार से कर्म बन्धन होता है, जब कि उत्तरोत्तर तो कर्म बंधन में सत्तावन हेतु हैं। (१३३)

मिथ्यात्वाविरति कषाय योग संज्ञाश्च मूलभेदाः स्युः ।

तत्र च पंच विधं स्यान्मिथ्यात्वं तच्च कथितं प्राक् ॥१३४॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग- ये चार मूल हेतु हैं। इसमें जो मिथ्यात्व है उसके पांच भेद हैं। इसका वर्णन पहले कह गये हैं। (१३४)

असंयतात्मनां स्यात् द्वादशधाविरतिः खलु ।

षट् कार्यारंभ पंचाक्ष चित्ता संवर लक्षणा ॥१३५॥

संयम रहित प्राणी को छः काय का आरंभ रूप है और पांचों इन्द्रिय तथा छठा मन- इन छह का संवर नहीं रखना, इस तरह बारह प्रकार की अविरति होती है। (१३५)

कषाया नो कषायाश्च प्राक् षोडश नवोदिताः ।

योगास्तथा पंचदश सप्त पंचाशदित्यमी ॥१३६॥

सोलह कषाय हैं और नौ नोकषाय हैं, इनका वर्णन पहले कर चुके हैं तथा योग पन्द्रह प्रकार का है- इस तरह सत्तावन उत्तरहेतु होते हैं। (१३६)

कर्मबन्धः प्रकृत्यात्मा स्थितिरूपो रसात्मकः ।

प्रदेश बन्ध इत्येवं चतुर्भेदः प्रकीर्तितः ॥१३७॥

कर्म बन्धन चार प्रकार से होता है- १. प्रकृत्यात्मक (प्रकृतिबंध), २. स्थिति रूप (स्थिति बंध), ३. रसात्मक (रसबंध) और ४. प्रदेशबन्ध। (१३७)

प्रकृतिस्तु स्वभावः स्यात् ज्ञानावृत्यादि कर्मणाम् ।

यथा ज्ञानाच्छादनादिः स्थितिः काल विनिश्चयः ॥१३८॥

ब्रह्मं विवक्षितं कर्म कर्मत्वेन हि तिष्ठति ।

यावत्कालं स्थितिः सा स्यात् त्यजेत्तत्ता ततः परम् ॥१३६॥

ज्ञान आदि का आच्छादन करने वाले कर्मों के ज्ञानवरणीय कर्म का जो स्वभाव है उसका नाम कृति है । स्थिति अर्थात् काल का निश्चय कर्म बन्धन किया हो वह अमुक काल तक कर्मस्वरूप सत्ता में रहकर फिर उस स्थिति को छोड़ देता है, वह अमुक काल वह स्थिति समझना । (१३८-१३९)

रसो मधुर कट्वादिः सदसत्कर्मणां मतः ।

भवेत् प्रदेश बन्धस्तु दलिकोपचयात्मकः ॥१४०॥

रस सत् अर्थात् शुभ कर्मों का मधुर रस कहलाता है और असत् कर्मों का कड़वा रस कहलाता है । जीव के ऊपर कर्म के दल-समुदाय अर्थात् स्तर का स्तर बंधन करने में आए वह प्रदेशबन्ध कहलाता है । (१४०)

यथा हि मोदकः कश्चित् प्रकृत्या वातहत् भवेत् ।

शुंठयादि जन्मा कश्चित्तु पित्तनुज्जीरकादिजः ॥१४१॥

इन प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश (दल) को लेकर कर्म की एक मोदक (लड्डू) के साथ में समानता करने में आती है- जिस तरह सोंठ आदि डालकर बना हुआ लड्डू हो उसकी वायु दूर करने की प्रकृति हो जाती है, और जीरा आदि डालकर बने लड्डू पित्तहरण करने की प्रकृति हो जाती है उसी तरह कर्म भी अमुकप्रकृति-स्वभाव का होता है । (१४१)

कश्चित्पक्ष स्थितिः कश्चिन्मासप्रभृतिक स्थितिः ।

स्यात्कश्चिन्मधुरः कश्चित्तुः कश्चित्कटुस्तथा ॥१४२॥

जिस तरह कोई लड्डू एक पखवारा की स्थिति वाला होता है अर्थात् इतनी मुद्दत तक रह सकता है, और कोई एक महीने की स्थिति वाला होता है । इसी तरह कर्म की अमुक स्थिति होती है । जिस तरह कोई लड्डू मधुर होता है और कोई कड़वा भी होता है । इसी तरह कर्म का भी अमुक रस होता है । (१४२)

कश्चित्सेरदलः कश्चित् द्वादिसेरदलात्मकः ।

कार्यैवं भावना विज्ञेः प्रकृत्यादिषु कर्मणाम् ॥१४३॥

जिस तरह कोई लड्डू एक सेर-किलो दल (वजन) का होता है और कोई दो किलो का भी होता है । इसी तरह कर्म भी भारी हल्के होते हैं । (१४३)

मूल प्रकृति भेदेन तच्च कर्माष्टधा मतम् ।

स्यात् ज्ञानावरणीयाख्यं दर्शनावरणीयकम् ॥१४४॥

वेदनीयं मोहनीयमायुर्गोत्रं च नाम च ।

अन्तरायं चेत्यथैषामुत्तर प्रकृतीर्बुवे ॥१४५॥

इस कर्म मूल प्रकृति के दृष्टिबिन्दु से आठ भेद होते हैं - १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. गोत्र, ७. नाम और ८. अन्तराय कर्म । और इसकी उत्तर प्रकृति इस तरह है । (१४४-१४५)

ज्ञानानि पंचोक्तानि प्राक् यच्च तेषां स्वभावतः ।

अच्छादकं पट इव दृशां तत् पचंधा मतम् ॥१४६॥

पूर्व में जो पांच प्रकार के ज्ञान का वर्णन किया है उस ज्ञान को, जैसे षष्ठ को वस्त्र आच्छादित करता है, वैसे आच्छादन करने वाला जो कर्म है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं । (१४६)

मति श्रुतावधि ज्ञानावरणानि पृथक् पृथक् ।

मनःपर्यायावरणं केवलावरणं तथा ॥१४७॥

वह भी पांच प्रकार का होता है- १. मतिज्ञानावरणीय, २. श्रुतज्ञानावरणीय, ३. अवधिज्ञानावरणीय, ४. मनः पर्यवज्ञानावरणीय और ५. केवल ज्ञानावरणीय । (१४७)

आवृत्तिश्चक्षुरादीनां दर्शनानां चतुर्विधा ।

निद्राः पंचेति नवधा दर्शनावरणं मतम् ॥१४८॥

और चक्षु दर्शन आदि जो दर्शन भी पहले वर्णन कर गये हैं उस दर्शन के चार भेद हैं और पांच प्रकार की निद्रा है । इस तरह नौ प्रकार के दर्शन आवरण होते हैं । (१४८)

सुख प्रबोधा निद्रा स्यात् सा च दुःख प्रबोधका ।

निद्रानिद्रा प्रचला च स्थिति स्योद्धं स्थितस्य वा ॥१४९॥

गच्छतोऽपि जनस्य स्यात्प्रचलाप्रचलाभिधा ।

स्त्यानर्द्धिर्वासुदेवार्धबलाहश्चिन्तितार्थं कृत् ॥१५०॥

निद्रा पांच प्रकार की कही है । वह इस प्रकार है- १. निद्रा अर्थात् जिससे सुख- पूर्वक जाग्रत हो जाय, २. निद्रानिद्रा - जिससे दुःखपूर्वक बड़ी मुश्किल से

जाग्रति हो, ३. प्रचला अर्थात् बैठे- बैठे सोते रहें अथवा खड़े- खड़े निद्रा लें ।
 ४. प्रचलाप्रचला, अर्थात् चलते- चलते नींद आ जाय और ५. स्त्यानद्धि-
 वासुदेव से आधे बल वाली और दिन में चिन्तन किए कार्य को नींद में रात्रि को
 करने वाली होती है । (१४६-१५०)

**स्त्याना संघातीभूता गृद्धिः दिन चिन्तितार्थं विषयातिकांक्षा यस्यां सा
 स्त्यान गृद्धिः इति तु कर्मग्रन्थावचूर्णौ ॥**

कर्मग्रन्थ की अवचूर्णी में कहा है- स्त्यानद्धि (स्त्यान+ऋद्धि) के स्थान
 पर 'स्त्यानगृद्धि' शब्द का उपयोग किया है। स्त्यन अर्थात् एकत्रित किया हुआ
 और गृद्धि अर्थात् दिन में चिन्तन की बात की अत्यन्त आकांक्षा, जो नींद में दिन
 में चिन्तन किए अर्थ का अत्यन्त आकांक्षा से आचरण करे उस निद्रा को स्त्यान
 गृद्धि निद्रा कहते हैं ।

आद्य संहननापेक्षामिदमस्यां बलं मतम् ।

अन्यथा तु वर्तमान युवभ्योऽष्ट गुणं भवेत् ॥१५१॥

इस नींद में इतना बल जो कहा है वह पहले संघयण वाले मनुष्य की
 अपेक्षा से कहा है, अन्यथा तो वह वर्तमान काल के युवक के बल से आठ गुणा
 समझना।

“अयंकर्मग्रन्थवृत्ताद्यभिप्रायः ॥ जीतकल्पवृत्तौ तु । यदुदये अतिसंक्लिष्ट
 परिणामात् दिनदृष्टमर्थं उत्थाय प्रसाधयति केशवार्धं बलश्च जायते ।
 तदनुदयेऽपि च स शेषपुरुषेभ्यः त्रिचतुर्गुणो भवति । इयं च प्रथम संहनिन एव
 भवति । इति उक्तमस्ति । इति ज्ञेयम् ॥”

“यह बात कर्मग्रन्थ की वृत्ति के अभिप्राय से कही है । जीवकल्प की
 वृत्ति में तो यह कहा है कि- जिसका उदय होता है वह मनुष्य अतिसंक्लिष्ट
 परिणाम से उठकर दिन में देखा हुआ कार्य छोड़ देता है वह स्त्यानद्धि निद्रा है । उस
 निद्रा में मनुष्य के अन्दर वासुदेव से आधा बल होता है । इस निद्रा का उदय न हो
 तो ऐसी निद्रा वाले मनुष्य में सामान्य मनुष्य से तीन चार गुणा बल आता है । यह
 निद्रा प्रथम संघयण वाले को ही होती है ।”

दर्शनानां हन्ति लब्धि मूलादाद्यं चतुष्टयम् ।

लब्धां दर्शन लब्धि द्राक् निद्रा निघ्नन्ति पंच च ॥१५२॥

प्रथम चार दर्शनावरण हैं वे दर्शन की लब्धि का मूल से विनाश करते हैं
 और पांच निद्रा हैं, वह प्राप्त हुई लब्धि का सत्त्वर नाश करती हैं । (१५२)

वेदनीयं द्विधा साताऽसात रूपं प्रकीर्तितम् ।

स्यादिदं मधुदिग्धासिधारा लेहन सन्निभम् ॥१५३॥

तीसरा वेदनीय कर्म है । यह कर्म सातावेदनीय और असातावेदनीय- इस तरह दो प्रकार है । यह मधु लगी तलवार के धार को चाटने के समान है । (१५३)

यद्देद्यते प्रिय तथा स्वगादि योगात् भवेत्तदिह सातम् ।

यत्कंटकादितोऽप्रिय रूपतया वेद्यते त्वसातं तत् ॥१५४॥

पुष्प की माला आदि के योग के समान जिसे जो प्रिय रूप अनुभव होता है वह शाता वेदनीय कर्म है और जो कंटक आदि के योग के समान अप्रिय रूप में अनुभव होता है वह अशाता वेदनीय कर्म कहलाता है । (१५४)

यन्मद्यवन्मोहयति जीवं तन्मोहनीयकम् ।

द्विधा दर्शन चारित्र मोह भेदात्तदीरितम् ॥१५५॥

चौथा मोहनीय कर्म है । जो मद्य के समान जीव में मोह जगाता है वह मोहनीय कर्म है । इसके दो भेद हैं - १. दर्शन मोहनीय और २. चारित्र मोहनीय । (१५५)

मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्व भेदात्तत्रादिमं त्रिधा ।

चारित्र मोहनीयं तु पंचविंशतिधा भवेत् ॥१५६॥

कषायाः षोडश नव नौकषायाः पुरोदिताः ।

इत्यष्टाविंशति विधं मोहनीयमुदीरितम् ॥१५७॥

दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद हैं - १. मिथ्यात्व, २. मिश्र और ३. सम्यक्त्व। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं - सोलह कषाय और बारह नौकषाय- इस तरह मोहनीय कर्म के अट्ठाईस प्रकार होते हैं । (१५६-१५७)

एति गत्यन्तरं जीवो येनायुस्तच्छत्रुर्विधम् ।

देवायुश्च नरायुश्च तिर्यङ्नैरयिकायुषी ॥१५८॥

पांचवा आयु कर्म है । जिस कर्म से जीव अन्य गति में जाता है वह आयु कर्म है । इसके चाद भेद हैं - १. देव आयुष्य, २. मनुष्य आयुष्य, ३. तिर्यच आयुष्य और ४. नरक आयुष्य । (१५८)

इदं निगड तुल्यं स्याद समाप्येदमंगभाक् ।

जीवः परभवं गन्तुं न शक्नोति कदापि यत् ॥१५९॥

यह आयुकर्म प्राणी के लिए बेड़ी के समान है क्योंकि इसे पूर्ण किए बिना प्राणी कभी भी अन्य गति में नहीं जा सकता है । (१५६)

गूयते शब्दते शब्दैर्यस्मादुच्चावचैर्जनः ।

तत् गोत्रकर्मस्यादेतत् द्विधोच्चनीच भेदतः ॥१६०॥

छठा गोत्र कर्म है । जिसके कारण लोक में मनुष्य को बड़े नाम से या हलके नाम से बोला जाता है वह गोत्र कर्म कहलाता है । उसके उच्च गोत्र और नीच गोत्र दो प्रकार के होते हैं । (१६०)

इदं कुलाल तुल्यं स्यात् कुलालो हि तथा सृजेत् ।

किञ्चित् कुम्भादि भाण्डं तत् यथा लोकैः प्रशस्यते ॥१६१॥

किञ्चिच्च कुत्सिताकारं तथा कुर्यादसौ यथा ।

अक्षिप्त मद्याद्यपि तत् भाण्डं लोकेन निन्द्यते ॥१६२॥

और यह कुम्हार के बर्तन के समान है । कुम्हार कोई ऐसा बर्तन बनाता है कि जिससे इसकी लोगों में प्रशंसा होती है और कोई ऐसा बनाया हो कि वह मद्यवाला न हो फिर भी लोक में उसकी निन्दा होती है । वैसे ही लोक में उच्च गोत्र की प्रशंसा करते हैं और जो नीच गोत्र वाला हो उसकी निन्दा करते हैं । (१६१-१६२)

कर्मणापि तथानेन धनरूपोज्झितोऽपि हि ।

उच्चैर्गोत्रतया कश्चित् प्रशस्यः क्रियतेऽसुमान् ॥१६३॥

कश्चिच्च नीचैर्गोत्रत्वात् धनरूपादि मानपि ।

क्रियते कर्मणानेन निन्द्यो नन्दनृपादिवत् ॥१६४॥

कोई मनुष्य धन रूप हीन होने पर भी लोगों में प्रशंसा प्राप्त करता है वह उसके उच्च गोत्र कर्म के कारण ही होता है । और किसी की धनवान रूपवान होने पर भी नन्द नृपति के समान लोक में निन्दा होती है यह इसके नीच गोत्र कर्म का ही फल है । (१६३-१६४)

गति जात्यादि पर्यायानुभवं प्रतिदेहिनः ।

नामयति प्रह्वयति यत्तन्नामेति कीर्तितम् ॥१६५॥

सातवां नाम कर्म है । प्रत्येक प्राणी की गति, जाति आदि पर्याय के अनुभव को कहने वाला जो कर्म है वह नाम कर्म कहलाता है । (१६५)

स्थावर सूक्ष्मापर्याप्तकानि साधारणास्थिरे अशुभम् ।

दुःस्वरदुर्भगनाम्नी भवत्यनादेयमयशश्च ॥१७३॥

स्थावर आदि दस इस तरह हैं- स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अपयश । (१७३)

द्वितीयं दशकं चैतत् पराघाताष्टकं त्विदम् ।

पराघातं तथोच्छ्वासा तपोद्योताभिधानि च ॥१७४॥

भवत्यगुरुलध्वाख्यं तीर्थं कृन्नाम कर्म च ।

निर्माणमुपघातं च द्विचत्वारिंशदित्यमी ॥१७५॥

पराघात आदि आठ इस तरह हैं- पराघात, उच्छ्वास, आतप उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थकरकर्म, निर्माण और उपघात । इस प्रकार दो दशक और ये आठ = १० + १० + ८ = २८ और चौदह प्रकृति अतः बयालिस भेद होते हैं । (१७४-१७५)

चतुर्दशोक्ता गत्याद्याः पिण्ड प्रकृतयोऽत्र याः ।

पंचषष्टि स्युरेवं ताः प्रतिभेद विवक्षया ॥१७६॥

पूर्व में गति आदि जो चौदह पिंड प्रकृतियां कही हैं उनमें भी वापिस प्रतिभेद है अतः इस विवक्षा से पैंसठ भेद होते हैं । वह इस तरह से । (१७६)

गतिश्चतुर्धा नरक तिर्यङ् नर सुरा इति ।

एक द्वि त्रि चतुः पंचेन्द्रियाः पंचेति जातयः ॥१७७॥

गति के चार भेद हैं- नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव । जाति के पांच भेद हैं- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । (१७७)

देहान्यौदारिकादीनि पंच प्रागुदितानि वै ।

त्रिधंगोपांगानि तेषां विना तैजस कामणे ॥१७८॥

शरीर के पांच भेद कहे हैं, वह औदारिक आदि पांच पूर्व में कह गये हैं । अंगो- पांग के तीन प्रकार हैं- औदारिक, वैक्रिय, आहारक । (१७८)

तत्रांगानि बाहुपृष्ठोरुरोमूर्धादिकानि वै ।

अंगुल्यादीन्युपांगानि भेदोऽङ्गोपाङ्गयोरयम् ॥१७९॥

नखांगुली पर्वरिखा प्रमुखान्यपराणि च ।

अंगोपांगानि निर्दिष्टान्युत्कृष्ट ज्ञान शालिभिः ॥१८०॥

बाहु, पृष्ठ, अरु (छाती), हृदय, मस्तक आदि अंग कहलाते हैं और

चित्रकृत्सदृशं चैतत् विचित्राणि सृजेद्यथा ।

चित्राण्येष मिथोऽतुल्यान्वेवं नामापि देहिनः ॥१६६॥

वह एक चित्रकार के समान है । जैसे कोई चित्रकार परस्पर अतुल्य अर्थात् एक दूसरे से मिलते न हों ऐसे विचित्र चित्र बनाये, ऐसे जाति का यह नाम कर्म है । (१६६)

द्विचत्वारिंशद्विधं तत् स्थूलभेदविवक्षया ।

स्याद्वा त्रिनवति विधं त्रियुक् शत विधं तु वा ॥१६७॥

सप्तषष्टि विधं वा स्याद्यथा क्रममथोच्यते ।

विकल्पानां चतुर्णामप्येषां विस्तृति रागमात् ॥१६८॥

इस नाम कर्म के स्थूल भेदों की गिनती करें तो बयालीस प्रकार का है अथवा तिरानवे प्रकार का या एक सौ तीन अथवा सड़सठ भेद होते हैं । ये चार विकल्प हैं । वह अब आगम में कहे अनुसार अनुक्रम से ही विस्तारपूर्वक कहते हैं । (१६७-१६८)

गतिर्जातिर्वपुश्चैवोपांगं बन्धनमेव च ।

संघातनं संहननं संस्थानं वर्ण एव च ॥१६९॥

गन्धो रसश्च स्पर्शश्चानुपूर्वी च नभो गतिः ।

चतुर्दशैता निर्दिष्टाः पिण्ड प्रकृतयो जिनैः ॥१७०॥

जिनेश्वर देव ने चौदह पिंड प्रकृति कही हैं । वह इस प्रकार-गति, जाति, शरीर, उपांग, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस आनुपूर्वी और विहायोगति । (१६९-१७०)

स्युः प्रत्येक प्रकृत्योऽष्टाविंशतिरिमाः पुनः ।

त्रस स्थावर दशके पराघातादि चाष्टकम् ॥१७१॥

तथा अट्टाईस प्रत्येक प्रकृतियां कही हैं । त्रस आदि दस, स्थावर आदि दस और पराघात आदि आठ हैं । (१७१)

त्रस बादर पर्याप्त प्रत्येक स्थिर शुभानि सुभगं च ।

सुस्वरमादेय यशोनाम्नी चेत्याद्यदशकं स्यात् ॥१७२॥

त्रस आदि दस इस तरह हैं- त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश । (१७२)

अंगुलियां आदि उपांग कहलाते हैं । ज्ञानी पुरुषों ने नाखून, अंगुलियों के पर्व आदि को भी उपांग गिना है । (१७६-१८०)

औदारिकाद्यंग सक्त पुद्गलानां परस्परम् ।

निबद्ध बन्धमानानां सम्बन्ध घटकं हि यत् ॥१८१॥

तद् बन्धनं स्व स्व देह तुल्याख्यं पंचधोदितम् ।

दावादि सन्धिघटक जत्वादि सहशं ह्यदः ॥१८२॥ (कुर्मं।)

बन्धन के पांच भेद हैं- औदारिक आदि अंगों के साथ में आसक्ति, बन्धन हुए और बन्धन होते पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध घटाने वाला, वह बन्धन कहलाता है । इसके पांच प्रकार हैं और काष्ठ आदि की सन्धि मिला देने वाली लाख आदि के समान है । (१८१-१८२)

औदारिकाद्यंगयोग्यान् संघातयति पुद्गलान् ।

यत्तत् संघातनं पंचविधं बन्धनवत् भवेत् ॥१८३॥

संघातन पांच प्रकार के होते हैं । जो औदारिक आदि अंगों के योग्य होता है उस पुद्गल का जो संघातन करने वाला है वह संघातन कहलाता है। वह बंधन के समान होता है । (१८३)

यद्वा पंचदश विधमेवं भवति बन्धनम् ।

औदारिकौदारिकाख्यं बन्धनं प्रथमं भवेत् ॥१८४॥

औदारिकतैजसाख्यं तथौदारिककर्मणम् ।

स्याद्वैक्रिय वैक्रियाख्यं तथा वैक्रिय तैजसम् ॥१८५॥

वैक्रियकर्मणाख्यं चाहारकाहारकं तथा ।

आहारकतैजसं च तथाहारक कर्मणम् ॥१८६॥

औदारिकतैजसकर्मणं बन्धनमीरितम् ।

वैक्रियतैजसकर्मणं बन्धनमथावरम् ॥१८७॥

आहारकतैजसकर्मणं बन्धनमेव च ।

तैजसतैजसं बन्धनं च तैजसकर्मणम् ॥१८८॥

अथवा बन्धन के इस तरह पंद्रह भेद भी होते हैं- १. औदारिक औदारिक, २. औदारिक तैजस, ३. औदारिक कर्मण, ४. वैक्रिय वैक्रिय, ५. वैक्रिय तैजस, ६. वैक्रिय कर्मण, ७. आहारक आहारक, ८. आहारक तैजस, ९. आहारक कर्मण,

१०. औदारिक तैजस कार्मण, ११. वैक्रिय तैजस कार्मण, १२. आहारक तैजस कार्मण, १३. तैजस तैजस, १४. तैजस कार्मण और १५. कार्मण कार्मण । (१८४ से १८८)

कार्मणकार्मणं चेति स्युः पंचदश तानि हि ।

तत्र पूर्वं संगृहीतैर्यदौदारिक पुद्गलैः ॥१८६॥

गृह्यमाणौदारिकांगपुद्गलानां परस्परम् ।

सम्बन्धकृतदौदारिकौदारिकाख्यबन्धनम् ॥१८७॥

ये जो पंद्रह भेद हैं वे सब पूर्व में संग्रह कर रखे औदारिक पुद्गलों के साथ में, अन्य नये गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का सम्बन्ध परस्पर घटा देते हैं । इस बन्धन का नाम औदारिक औदारिक बन्धन है । (१८६-१८७)

एवं च—औदारिक पुद्गलानां सह तैजस पुद्गलैः ।

सम्बन्ध घटकं त्वौदारिकतैजस सबन्धनम् ॥१८९॥

इसी तरह से औदारिक पुद्गलों के साथ में तैजस पुद्गलों का सम्बन्ध करवा देता है । इसका नाम औदारिक तैजस बंधन है । (१८९)

औदारिक पुद्गलानां सह कार्मण पुद्गलैः ।

सम्बन्धकृत भवत्यौदारिककार्मण बन्धनम् ॥१९२॥

औदारिक पुद्गलों के साथ में कार्मण पुद्गलों का सम्बन्ध करवा देने वाला बन्धन औदारिक कार्मण बन्धन कहलाता है । (१९२)

भावनैवं वैक्रिय वैक्रियादि बन्धनेष्वपि ।

स्वयं विचक्षणैः कार्यादिङ्मात्रं तु प्रदर्शितम् ॥१९३॥

इसी तरह से वैक्रिय वैक्रिय आदि अन्य बन्धनों के विषय में भी विचक्षण पुरुषों को स्वयंमेव भावना-विचार कर लेना चाहिए । यहाँ हमने तो केवल दिग्दर्शन करवाया है । (१९३)

षटकं संहननानां संस्थानानां षट्कमेव च ।

वर्णाः पंच रसाः पंचाष्टौ स्पर्शा गन्धयोर्द्वयम् ॥१९४॥

संघयण के छः भेद हैं । संस्था के भी छः भेद हैं, वर्ण पांच प्रकार का है, रस पांच हैं, स्पर्श आठ हैं और गंध दो प्रकार की है । (१९४)

तत्र वर्णो नील कृष्णौ कटुतिक्ताभिधौ रसौ ।

गुरुः खरो रूक्ष शीताविति स्पर्श चतुष्टयम् ॥१६५॥

दुर्गन्धश्चेति नवकमशुभं परिकीर्तितम् ।

वर्ण गन्ध रस स्पर्शाः शेषास्त्वेकादशोत्तमाः ॥१६६॥

इसमें नील और कृष्ण- ये दो वर्ण कड़वे और तीखे हैं । ये दो रस; गुरु, खर, रूक्ष और शीत- ये चार स्पर्श तथा दुर्गन्ध; ये कुल नौ अशुभ हैं और शेष ग्यारह अर्थात् तीन वर्ण, तीन रस, चार स्पर्श और एक गंध- ये ग्यारह शुभ होते हैं। (१६५-१६६)

आनुपूर्व्यश्चतस्रः स्युश्चतुर्गति समाभिधाः ।

द्विधा विहायोगतिः स्यात् प्रशस्तेतर भेदतः ॥१६७॥

आनुपूर्वी चार हैं- १. नरक, २. तिर्यंच, ३. मनुष्य और ४. देव । विहायोगति दो प्रकार की है- प्रशस्त और अप्रशस्त । (१६७)

एवं भेदाः पंचषष्टिः पिण्ड प्रकृतिजाः स्मृताः ।

पंचानामौदारिकादि बन्धनानां विवक्षया ॥१६८॥

इसी तरह औदारिक बंधन के पांच गुना करने पर नाम कर्म के पिण्ड प्रकृति से होने वाले सब मिलाकर पैंसठ भेद होते हैं । (१६८)

सा पंच षट्शिविंशत्या प्रकृतिभिः पुरोक्ताभिः ।

प्रत्येकाभिर्युक्ताः स्युः नाम्नः त्रिनवतिः भेदाः ॥१६९॥

इन पैंसठ में पूर्व कथित अट्ठाईस प्रकृतियां मिलाने पर नाम कर्म के तिरानवें भेद होते हैं । (१६९)

बन्धनानां पंचदशभेदत्वे च विवक्षिते ।

स्युः नामकर्मणो भेदाः त्रिभिः समधिकं शतम् ॥२००॥

और यदि औदारिक आदि बन्धनों के पांच के स्थान पर पंद्रह भेद गिने जायें तो वे सब मिलाकर नामकर्म के एक सौ तीन भेद होते हैं । (२००)

बन्धसंघातननाम्नाभिह पंचदसपंचसंख्यानाम् ।

सहबन्धसजातीयत्वाभ्यां न स्वांगतः पृथग्गणनम् ॥२०१॥

कृष्णादि भेदभिन्नाया वर्णादिविंशतेः पदे ।

सामान्येनैव वर्णादि चतुष्कमिह गृह्यते ॥२०२॥

पूर्वोक्तव्युत्तरशतादेशां षट्त्रिंशत्स्ततः ।

कृतेऽपसारणे सप्तषष्ठिर्भेदा भवन्ति ते ॥२०३॥

परन्तु पंद्रह प्रकार का बन्धन और पांच प्रकार का संघातन-इन बीस नाम कर्मों के बन्धत्व और सजातीयत्व के कारण स्वांग से अलग गणना नहीं करनी चाहिए । और कृष्णादि भिन्न भेद से वर्ण, रस, स्पर्श और गन्ध- इन चार के बीस भेद गिने हैं । इसके स्थान पर भेद बिना केवल सामान्यतः चार भेद हैं । इस कारण से तो बीस और सोलह मिलाकर छत्तीस भेद कम होते हैं । अतः एक सौ तीन में से ये छत्तीस घटा देने से सड़सठ भेद रहते हैं । (२०१ से २०३)

बन्धे तथोदये नाम्नः सप्तषष्ठिरियं मता ।

षट् विंशतिश्च मोहस्य बन्धे प्रकृतयः स्मृताः ॥२०४॥

नाम कर्म के बन्धन तथा उदय में ये सड़सठ प्रकृति कही हैं और मोहनीय कर्म बन्धन में छब्बीस प्रकृतियां कही हैं । (२०४)

सम्यक्त्वमिश्रमोहौ यज्जातु नो बन्धमर्हतः ।

एतौ हि शुद्धार्थशुद्धमिथ्यात्व पुद्गलात्मकौः ॥२०५॥

त्रिपंचाशत् प्रकृतयस्तदेवं शेष कर्मणाम् ।

नाम्नश्च सप्तषष्ठिः स्युः शतं विंशं च मीलिताः ॥२०६॥

क्योंकि समकित मोहनीय और मिश्र मोहनीय- ये दो कभी भी बन्धन करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि ये दोनों शुद्ध और अर्धशुद्ध मिथ्यात्व पुद्गल रूप हैं । इससे २८ में से २ निकाल देने पर छब्बीस भेद होते हैं । इस तरह उसके बिना शेष कर्मों की तरेपन प्रकृतियां होती हैं और इसके साथ नामकर्म की सड़सठ प्रकृति मिला देने से कुल एक सौ बीस प्रकृति होती हैं । (२०५-२०६)

अधिक्रियन्ते बन्धे ता उदयोदीरणे पुनः ।

सम्यक्त्व मिश्र सहितास्ता द्वाविंशशतं खलु ॥२०७॥

इन एक सौ बीस प्रकृतियों का बंधन के अन्दर अधिकार है, परन्तु उदय और उदीरण में तो सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय सहित ये एक सौ बाईस होती हैं । (२०७)

नाम्नास्थ्याढ्यं शतं पंच पंचाशत् शेष कर्मणाम् ।

सत्तायामष्ट पंचाढ्यमेवं प्रकृतयः शतम् ॥२०८॥

इस तरह नामकर्म की एक सौ तीन प्रकृतियां होती हैं, और अन्य कर्मों की पचपन प्रकृतियां मिलाकर कुल १५८ प्रकृतियां सत्ता में गिनी जाती हैं ।
(२०८)

चेत् बन्धनानि पंचैव विवक्ष्यन्ते तदा पुनः ।

अष्ट चत्वारिंश शतं, सत्तायां कर्मणामिदः ॥२०९॥

इसमें भी यदि बन्धन पांच ही गिने जायं तो एक सौ अड़तालीस प्रकृतियां सत्ता में रहती हैं । (२०९)

नामकर्म प्रकृतीनामथै तासां निरूप्यते ।

प्रयोजनं गुरु प्रान्ते समीक्ष्य समयोदधिम् ॥२१०॥

इस तरह गुरु महाराज के पास सिद्धान्त की समीक्षा कर के इस नाम कर्म प्रकृतियों का प्रयोजन इसी तरह समझाने में आया है । (२१०)

चतुर्भ्यो गतिनामभ्यः प्राप्तिः स्व स्वगतेर्भवेत् ।

पंचभ्यो जातिनामभ्योऽप्येकद्वयाद्यक्षता भवेत् ॥२११॥

चार गति नामकर्म हैं, इनसे अपनी अपनी गति की प्राप्ति होती है । पांच जाति नामकर्म हैं, इनसे एकेन्द्रियत्व, द्वीन्द्रियत्व आदि की प्राप्ति होती है । (२११)

पंचानां वपुषां हेतुः स्याद्द्वपुर्नाम पंचधा ।

औदारिक वैक्रियाहारकांगोपांग साधनम् ॥२१२॥

पांच शरीर नामकर्म हैं । ये पांच शरीर का हेतुभूत हैं और औदारिक वैक्रिय और आहारक अंगोपांगों के साधन बनाने वाला है । (२१२)

त्रिधांगोपांगनाम् स्यात् बन्धनानि च पंचधा ।

स्युः पंचदशवांगानां मिथः सम्बन्ध हेतवः ॥२१३॥

तीन प्रकार का अंगोपांग नामकर्म है और पांच प्रकार के अथवा पंद्रह प्रकार के बन्धन, ये सभी अंगों परस्पर के सम्बन्ध के हेतुभूत हैं । (२१३)

असस्तु बन्धनेष्वेषु संघात नामकर्मणा ।

संहतानां पुद्गलानां बन्धो न घटते मिथः ॥२१४॥

सक्तूनां संगृहीतानां यथा पत्रकरादिना ।

घृतादिश्लेषणद्रव्यं बिना बन्धो मिथो न हि ॥२१५॥

ये बन्धन न हों तो संघात नामकर्म द्वारा संहरायल पुद्गलों का परस्पर बंधन घटता नहीं है । जिस तरह पत्रकरादि से संगृहीत साधवा (सक्तु) का घी आदि चिकने पदार्थ बिना बंधन नहीं होता है । (२१४-२१५)

औदारिकादि योग्यानां स्यात् संघातन नाम तु ।

संग्राहकं पुद्गलानां दन्तालीव तृणावलेः ॥२१६॥

जो संघातन नामकर्म है वह औदारिक आदि योग्य पुद्गलों को नजदीक लाने वाला है, जिस तरह दंताली (दरांती) तृण समूह को ग्रहण करती है वैसे ही। (२१६)

षणां संहननानां च संस्थानानां च तावताम् ।

तत्तद्विशेषकारीणि स्युर्नामानि तदाख्यया ॥२१७॥

तत्तद्वर्णं गन्ध रस स्पर्श निष्पत्ति हेतव ।

वर्णादि नाम कर्माणि विंशतिः स्युः शरीरिणाम् ॥२१८॥

छः संहनन है और छः संस्थान हैं । उनके नाम ही उनकी विशिष्टता कह देते हैं । प्राणी के वर्णादि बीस नामकर्म हैं । वह वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की निष्पत्ति के हेतुभूत हैं । (२१७-२१८)

द्वि त्रि चतुः समयेन प्रसर्पतां विग्रहेण परलोकम् ।

कूर्पर लांगल गोमूत्रिकादिवद् गमन रूपायां ॥२१९॥

स्यादुदय आनुपूर्व्याः वक्रगतो वृषभरज्जु कल्पायाः ।

स्व स्वगति समाभिख्याः चतुर्विधास्ताश्च गति भेदात् ॥२२०॥

कूपर, लांगल और गोमूत्रिका के समान वक्र रूप टेढ़ा-मेढ़ा चलने से जिन प्राणियों को परलोक में पहुँचाने में दो, तीन या चार समय लगता है; उनको उस रीति से चलाना वह वृषभ रज्जु समान आनुपूर्वी का काम है । जो प्राणी जिस गति में जाता है उस गति का जो नाम है वही उस प्राणी की आनुपूर्वी का नाम है अर्थात् आनुपूर्वी भी चार प्रकार की होती है - नरक आनुपूर्वी, तिर्यंच आनुपूर्वी, मनुष्य आनुपूर्वी और देव आनुपूर्वी । (२१९-२२०)

गतिर्वृषभवत् श्रेष्ठा सद् विहायोगतेर्भवेत् ।

खरादि वत् सा दुष्टा स्यादसत्खगति नामतः ॥२२१॥

वृषभ जैसी श्रेष्ठ गति हो तो उसे 'सद्विहायोगति नामकर्म' से, तथा गर्दभ (गधे) जैसी दुष्ट गति हो, उसे 'असद्विहायोगति नामकर्म' से कहा गया है । नाम कर्म की सौध पिण्ड प्रकृति प्रयोजन से है (२२१)

त्रसा द्वि त्रि चतुः पंचेन्द्रिया स्युस्त्रसनामतः ।

स्युः बादरा बादराख्यात् पृथ्व्यादयोऽङ्गिनः ॥२२२॥

इस तरह नामकर्म की चौदह पिंड प्रकृति के प्रयोजन के विषय में कहा । अब इसकी अट्ठाईस प्रत्येक प्रकृति के प्रयोजन के विषय में कहते हैं । १- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस नामकर्म के कारण त्रस होता है । २- स्थूल पृथ्वीकाय आदि जीव बादर नामकर्म के कारण बादर होता है । (२२२)

लब्धिकरण पर्याप्ताः पर्याप्त नामकर्मतः ।

प्रत्येक तनवो जीवाः स्युः प्रत्येकाख्य कर्मणा ॥२२३॥

३- जीव लब्धि पर्याप्त और करण पर्याप्त होता है वह पर्याप्त नामकर्म के कारण है । और ४- जीव का प्रत्येक शरीर होता है वह प्रत्येक नामकर्म के कारण से है । (२२३)

स्थिर नामोदयाहन्तास्थ्यादि स्यात् स्थिरमङ्गिनाम् ।

नामेरूर्ध्वं च मूर्धादि शुभनामोदयान् शुभम् ॥२२४॥

५- प्राणी के अस्थि, दांत आदि स्थिर होते हैं वह स्थिर नामकर्म के उदय से समझना । ६- प्राणी की नाभि के ऊपर का शीर्षादि भाग शुभ होता है यह शुभ नामकर्म के उदय के कारण है । (२२४)

स्पृष्टो मूर्धादिना ह्यन्यः शुभत्वादेव मोदते ।

अशुभत्वादेव परः स्पृष्टः कृष्येत् पदादिनां ॥२२५॥

क्योंकि एक प्राणी शुभ नामकर्म के कारण ही मुख भस्तक आदि से आनन्दित होता है और अन्य प्राणी अशुभ नामकर्म के कारण चरणादिक स्पर्श से क्रोध करता है । (२२५)

स्यात्प्रियोऽनुपकर्त्तापि लोकानां सुभगोदयात् ।

मनोरम स्वरः प्राणी भवेत्सुस्वर नामतः ॥२२६॥

७- लोगों पर उपकार न करता हो फिर भी एक मनुष्य लोकप्रिय हो जाता है, यह उसका सुभग नामकर्म समझना । ८- प्राणी का स्वर मनोहर हो वह उसका सुस्वर नामकर्म समझना । (२२६)

अशुक्तवाद्यप्यादेयवाक् स्यादादेय नामतः ।

यशो नाम्नो यशः कीर्तिः व्याप्नोति भुवि देहि नाम् ॥२२७॥

६- अयुक्त वचन बोलने वाला भी स्वीकार करने में आये वह उसका आदेय नामकर्म है । १०- पृथ्वी में किसी प्राणी की यश- कीर्ति फैले वह उसका यश नामकर्म समझना । (२२७)

तत्र च-पराक्रम तपस्त्यागाद्युद्भूत यशसा हि यत् !

कीर्त्तनं श्लाघनं ज्ञेया सा यशः कीर्तिरुत्तमैः ॥२२८॥

यद्वा दानादिजा कीर्तिः पराक्रमकृतं यशः ।

एक दिग्गामिनी कीर्तिः सर्वद्विग्गामुक यशः ॥२२९॥

और यहां पराक्रम, तप, दान आदि से लोक में जो प्रशंसा होती है उसका नाम यश- कीर्ति है अथवा इनमें दान आदि से जो होता है वह कीर्ति है और पराक्रम से जो होता है वह यश है अथवा थोड़े विभाग में गाया जाता हो वह कीर्ति कही जाती है और जो सर्वत्र गाया जाय वह यश जानना । (२२८-२२९)

स्थावरः स्यात् स्थावराख्यात् सूक्ष्मः स्यात्सूक्ष्म नामतः ।

अपर्याप्तोऽङ्गी प्रियेतापर्याप्त नामकर्मतः ॥२३०॥

११- प्राणी स्थावर जन्म लेता है वह स्थावर नामकर्म के कारण लेता है ।
१२- सूक्ष्म में जन्म लेता है वह सूक्ष्म नामकर्म से लेता है । १३- प्राणी सर्व पर्याप्त पूर्ण किए बिना मृत्यु प्राप्त करता है वह इसके अपर्याप्त नामकर्म के कारण है । (२३०)

साधारणांगः स्यात् साधारणाख्य नामकर्मतः ।

अस्थिरास्थिदन्त जिह्वा कर्णादिः अस्थिरोदयात् ॥२३१॥

१४- प्राणी साधारण शरीर वाला होता है वह इसके साधारण नामकर्म के उदय से होता है । १५- किसी के अस्थि, दांत, जीभ, कान आदि अस्थिर हों वह उसका अस्थिर नामकर्म समझना । (२३१)

नाभेरधोऽशुभं पादारिकं चाशुभनामतः ।

उपकर्त्ताप्यनिष्टः स्यात्लोकानां दुर्भगोदयात् ॥२३२॥

१६- नाभ के नीचे का विभाग चरण आदि अशुभ होता है उस प्राणी का अशुभ नामकर्म समझना । १७- उपकार करने पर भी कोई अपने को नहीं चाहता तो वह अपना दुर्भग नामकर्म समझना । (२३२)

उक्तं च प्रज्ञापना वृत्तौ-

अणुवकए वि वहूणं जो हु पिओ तस्स सुभग नामुदओ ।

उवगार कारगो वि हु न रुच्चए दुभगस्सुदए ॥२३३॥

सुभगुदये वि हु कोइ किंची आसज्ज दुभगो जइ वि ।

जायइ तहो साओ जहा अभव्वाण तित्थयरो ॥२३४॥

इस सम्बन्ध में प्रज्ञापना वृत्ति में भी कथन मिलता है- एक मनुष्य किसी पर उपकार नहीं करता फिर भी सुभग नामकर्म के उदय से बहुतों का प्रिय होता है और दूसरा उपकार करता है फिर भी दुर्भाग्य नामकर्म के उदय से किसी का प्रिय नहीं होता । यदि एक मनुष्य को सुभग नामकर्म का उदय होने पर भी वह अमुक मनुष्यों को अरुचिकर लगता है तो उसमें दोष सामने वाले का समझना । जैसे कि तीर्थंकर भगवान् के वचन अभव्य को रुचिकर नहीं होता है । उसमें दोष किस का है? यह अभव्य जीव का ही है । (२३३-२३४)

दुष्टानिष्टस्वरो जन्तुर्भवेत् दुःस्वर नामतः ।

युक्तवाद्यप्यनादेय वाक्योऽनादेय नामतः ॥२३५॥

१८- प्राणी दुष्ट-अनिष्ट स्वर वाला होता है वह दुःस्वर नामकर्म के उदय से होता है । १९- युक्त बोलने वालों का वचन भी स्वीकार नहीं होता उसमें उसका अनादेय नामकर्म ही कारणभूत समझना । (२३५)

अयशोऽकीर्तिं भाग्जीवोऽयशो नामोदयात् भवेत् ।

त्रसस्थावर दशके एवमुक्ते स्वरूपतः ॥२३६॥

२०- जिसे अपयश और अपकीर्ति ही होती है उस प्राणी का अयश नामकर्म समझना । इस तरह त्रस आदि दस और स्थावर आदि दस नामकर्म का प्रयोजन कहा है । (२३६)

पराघातोदयात् प्राणी परेषां बलिनामपि ।

स्यात् दुन्दर्षः सदुच्छ्वासलब्धिश्चोच्छ्वासनामतः ॥२३७॥

अब पराघात आदि आठ नामकर्मों के प्रयोजन के विषय में कहते हैं- २१- एक प्राणी के सामने अन्य बलवान प्राणी भी खड़ा नहीं रह सकता है, यह इसका पराघात नामकर्म समझना । २२- एक मनुष्य का उत्तम उच्छ्वास हो वह उसके उच्छ्वास नामकर्म के कारण होता है । (२३७)

यतः स्वयमनुष्णोऽपि भवत्युष्णप्रकाशकृत् ।

तदा तप नामकर्म रविबिम्बमिवाङ्गिनाम् ॥२३८॥

२३- प्राणी स्वयं अनुष्ण होने पर भी सामने वाले को सूर्य बिम्ब के समान सूर्य के समान उष्ण प्रकाश वाला लगता है, वह आताप नाम कर्म समझना । (२३८)

उष्ण स्पर्शोदयादुष्णास्याग्रेर्या तु प्रकाशिता ।

न ह्यातपात्सा किन्तु स्यात्तादृग्लोहित वर्णतः ॥२३९॥

अग्नि में जो उष्ण प्रकाश है वह वैसा प्रकाश के रक्त वर्ण-वर्ण के कारण है वह आताप नाम कर्म के कारण है । इस तरह मत समझना । (२३९)

तदुद्योत नामकर्म यतोऽनुष्ण प्रकाशकृत् ।

भवति प्राणिनामंगं खद्योत ज्योतिरादिवत् ॥२४०॥

२४- प्राणी स्वयं अनुष्ण होने पर भी उसका अंग जुगुनू की ज्योति के समान प्रकाश करता हो तो वह उद्योत नामकर्म के उदय के कारण समझना । (२४०)

रत्नौषध्यादयोऽप्येवमुद्योत नाम कर्मणा ।

द्योतन्ते मुनिदेवाश्च विहितोत्तर वैक्रियाः ॥२४१॥

रत्न, औषधि और उत्तर वैक्रिय करने वाले मुनि तथा देवता उद्योतवंत होते हैं । यह इसी ही नामकर्म का परिणाम है । (२४१)

यतोवपुर्नाति गुरु नाति लघ्वङ्गिनां भवेत् ।

नामकर्मा गुरु लघु तदुक्तं युक्ति कोविदैः ॥२४२॥

२५- प्राणी का शरीर अति भारी न हो तथा अति हल्का भी न हो वह इसका अगुरुलघु नामकर्म समझना । (२४२)

तद्भवेत्तीर्थं कृन्नाम यतस्त्रिजगतोऽपि हि ।

अर्चनीयो भवत्यङ्गी प्रातिहार्यद्यलंकृतः ॥२४३॥

२६- कोई प्राणी प्रातिहार्य आदि से शोभायमान और तीन जगत् में पूजनीय होता है उसमें तीर्थकर नामकर्म हेतुभूत समझना । (२४३)

तद्विशतेः स्थानका नामाराधनान्निकाच्यते ।

भवे तृतीये नृगतावेव सम्यक्त्व शालिना ॥२४४॥

उदयश्च भवत्यस्य केवलोत्पत्यनन्तरम् ।

वेद्यते चैतदग्लान्या धर्मोपदेशनादिभिः ॥२४५॥

सम्यक्त्ववान् जीव तीसरे जन्म के अन्दर मनुष्य के जन्म में रहकर बीस स्थानक तप की आराधना द्वारा तीर्थकर नामकर्म बन्धन करते हैं । उसका उदय केवल ज्ञान की उत्पत्ति होने के बाद होता है और वह पूर्ण उल्लासपूर्वक धर्मोपदेश आदि देने से भोगा जाता है । (२४४-२४५)

यथा स्थाने नियमनं कुर्यान्निर्माणं नाम तु ।

अंगोपांगानां गृहादि काष्ठानामिव वार्धकिः ॥२४६॥

२७- सुतार-बढ़ई घर आदि में लकड़ी को यथा योग्य स्थान पर रचना कर देता है वैसे ही जो कर्म प्राणी के अंगोपांग का यथा योग्य स्थान पर निर्माण कर देता है वह निर्माण नामकर्म है । (२४६)

प्रति जिह्वादिना स्वीयावयवेषु नोपहन्यते ।

यतः शरीरी तदुपघातं नाम प्रकीर्तितम् ॥२४७॥

२८- प्राणी प्रतिजिह्वा आदि अपने ही अवयवों द्वारा स्वयं उपघात प्राप्त करता है वह उपघात नामकर्म है । (२४७)

इस तरह नामकर्म की अट्टाईस प्रकृति को अलग-अलग समझाया गया है । इस तरह सातवें नामकर्म का विवेचन संपूर्ण हुआ । अब अन्तिम आठवें अन्तराय कर्म के विषय में कहा जाता है :

भवेद्दानं लाभभोगोपभोगं वीर्यं विघ्नकृत् ।

अन्तरायं पंचविधं कोषाध्यक्षं समं ह्यदः ॥२४८॥

१- दानान्तराय, २- लाभान्तराय ३- भोगान्तराय, ४- उपभोगान्तराय और ५- वीर्यान्तराय; ये पांच प्रकार के अन्तराय कर्म हैं । ये एक राजा के कोषाध्यक्ष-खजांची के समान होते हैं । (२४८)

यथा दित्सावपि नृपे न प्राप्नोति धनं जनः ।

प्रातिकूल्यं गते कोषाध्यक्षे केनापि हेतुना ॥२४९॥

अपि जान् दानं फलं वित्ते पात्रे च सत्यपि ।

तथा दातुं न शक्नोति दानान्तराय विघ्नितः ॥२५०॥ (युगम्)

जिस तरह से एक राजा की तो इच्छा धन देने की होती है परन्तु उसका कोषाध्यक्ष किसी कारण प्रतिकूल हो जाये तो उस मनुष्य को धन नहीं मिलता वैसे ही दान का फल जानने वाले मनुष्य को द्रव्य और पात्र का योग हो फिर भी दानान्तराय कर्म की रुकावट से दान नहीं दे सकता है । (२४६-२५०)

तथैवोपाय विज्ञोऽपि कृतयत्नोऽपि नासुमान् ।

हेतोः कृतोऽपि प्राप्नोति लाभं लाभान्तरायतः ॥२५१॥

और इसी तरह उपाय विज्ञ-जानकार मनुष्य के प्रयत्न करने पर भी किसी कारण से लाभ न मिलने पर उसके लाभान्तराय कर्म का उदय समझना चाहिए। (२५१)

भोगोपभोगौ प्राप्तावप्यङ्गी भोक्तुं न शक्नुयात् ।

भोगोपभोगान्तराय विधितो भग्मणादि वत् ॥२५२॥

भोग और उपभोग के साधन पास में पड़े हों फिर भी मम्मण सेठ के समान प्राणी उन्हें भोग नहीं सकता, वह इसके भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्मों का उदय है । इस तरह समझना । (२५२)

इष्टानिष्ट वस्तु त्वब्धि परिहारादिषूद्यमम् ।

शक्तोऽपि कर्तुं तं कर्तुं नेष्टे वीर्यान्तरायतः ॥२५३॥

तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो और अनिष्ट वस्तु के परिहार के लिए यत्न करने की सामर्थ्य होने पर भी प्राणी वह नहीं कर सकता हो तो वहाँ उसका वीर्य अन्तराय कर्म का उदय समझना । (२५३)

इस तरह अन्तराय कर्म वर्णन हुआ ।

ज्ञानाभां च ज्ञानिनां च गुवादीनां तथैव च ।

ज्ञानोपकरणानां चाशातानाद्वेषमत्सरैः ॥२५४॥

निन्दोपघातान्तरायैः प्रत्यनीकत्वनिह्वयैः ।

वघ्नात्यावरण कर्म ज्ञानदर्शनयोर्भवी ॥२५५॥ (युग्मं १)

ज्ञान की, ज्ञानियों की, गुरुदेव आदि की तथा ज्ञान के उपकरणों की आशातना, द्वेष तथा मत्सर-जलन आदि करने से, निंदा करने से, उपघात करने से, अन्तराय करने से तथा निह्वय रूप करने से जीवात्मा ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म बन्धन करता है । (२५४-२५५)

गुर्वादिभक्ति करुणा कषाय विजयादिभिः ।

बध्नाति कर्म साताख्यं दाता सद्धर्मदाढर्य युक् ॥२५६॥

गुरु के प्रति भक्तिभाव के कारण, दया के कारण, तथा कषायों की पराजय करने के कारण, दूढघर्मी दाता पुरुष जो कर्म बंधन करता है वह साता वेदनीय कर्म है । (२५६)

गुर्वादि भक्तिविकलः कषाय कलुषशयः ।

असाता वेदनीयं च बध्नाति कृपणोऽसुमान् ॥२५७॥

जो गुरुभक्ति नहीं करता और कषाय भरे विचारों में लीन रहता है वह प्राणी जो कर्म बन्धन करता है वह असाता वेदनीय कर्म है । (२५७)

उन्मार्ग देशको मार्गापलापी साधुनिन्दकः ।

बध्नाति दर्शनमोहं देवादि द्रव्य भक्षकः ॥२५८॥

उन्मार्ग का उपदेशक, सन्मार्ग का लोप-नाश करने वाला, साधु की निन्दा करने वाला और देव द्रव्य का भक्षण करने वाला जो कर्म बंधन करता है वह दर्शन मोहनीय कर्म है । (२५८)

कषाय हास्य विषयादिभिर्बध्नाति देहभृत् ।

कषायनोकषायाख्यं कर्म चारित्रमोहकम् ॥२५९॥

कषाय, हास्य और विषय आदि के द्वारा प्राणी जो कर्म बन्धन करता है वह कषाय नोकषाय नाम का चारित्र मोहनीय कर्म समझना । (२५९)

निबध्नाति नारकायुर्महारम्भ परिग्रहः ।

तिर्यगायुः शल्ययुक्तो धूर्तश्च जनवंचकः ॥२६०॥

बड़े से बड़े आरंभ करने वाला और परिग्रह से युक्त पुरुष नरक का आयु बन्धन करता; शल्य युक्त, जनवंचक धूर्त मनुष्य तिर्यच का आयुष्य बंधन करता है । (२६०)

नरायुर्मध्यमगुणः प्रकृत्याल्प कषायकः ।

दानादौ रुचिमान् जीवो बध्नाति सरलाशयः ॥२६१॥

जिसमें साधारण गुण होते हैं, प्रकृति से ही कम कषाय होते हैं और जिसे दानादि में प्रेम उत्पन्न होता हो व सरल स्वभावी प्राणी मनुष्य की आयुष्य बन्धन करता है । (२६१)

चतुर्थादि गुण स्थान वर्तिनोऽकाम निर्जराः ।

जीवा बध्नन्ति देवायुस्तथा बाल तपस्विनः ॥२६२॥

चौथे याँ इससे ऊपर गुणस्थान में रहने वाला निष्काम निर्जरा वाला जीव तथा जो बालतपस्वी हो वह देव का आयु बन्धन करता है । (२६२)

गुणाप्रेक्षी त्यक्तमदोऽध्ययनाध्यापनोद्यतः ।

उच्चं गोत्रमर्हदादि भक्तो नीचमतोऽन्यथा ॥२६३॥

गुणों का पक्ष करने वाला, अहंकार से रहित, सतत् अभ्यासी और अध्यापक अर्हद् भक्त उच्च गोत्र का बन्धन करता है और इससे विपरीत आचरण करने वाला नीच गोत्र का बन्धन करता है । (२६३)

अगौरवश्च सरलः शुभं नामान्यथाशुभम् ।

बध्नाति हिंसको विघ्नमर्हत्पूजादि विघ्नकृत् ॥२६४॥

अहंकार रहित सरल आत्मा शुभ नामकर्म उपार्जन करता है, जो इससे विपरीत हो वह अशुभ नामकर्म बन्धन करता है और प्रभु की पूजा आदि में विघ्न करने वाला अन्तराय कर्म बन्धन करता है । (२६४)

स्थितिरुत्कर्षतो ज्ञानदर्शनावरणीययोः ।

वेदनीयस्य च त्रिंशद्भोधि कोटि कोटयः ॥२६५॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटी कोटी सागरोपम की होती है । (२६५)

मोहनीयस्य चाब्धीनां सप्ततिः कोटि कोटयः ।

आयुषः स्थितिरुत्कर्षात्रयस्त्रिंशत् पयोधयः ॥२६६॥

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटा कोटी सागरोपम की है और आयुर्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की होती है । (२६६)

अबाधा काल रहिता प्रोक्तैषायुर्गुरु स्थितिः ।

तद्युक्तेयं पूर्वं कोटि ताल्तीयीकलवाधिका ॥२६७॥

आयुष्य कर्म की जो उत्कृष्ट स्थिति कही है वह अबाधा काल रहित समझना । अबाधा काल इकट्ठा गिनते हैं तो वह उससे एक तृतीयांश पूर्वकोटि अधिक होती है । (२६७)

गोत्र नाम्नोः साम्बुधानां विंशतिः कोटि कोटयः ।

स्थितिर्येष्ठान्तरायस्य स्यात् ज्ञानावरणीयवत् ॥२६८॥

गोत्रकर्म और नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि कोटी सागरोपम की है और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणीय कर्म के समान है ।
(२६८)

स्थितिर्जघन्यतो ज्ञान दर्शनावरणीययोः ।

अन्तर्मुहूर्त्तं प्रमिता तत्त्वविद्भिर्निरूपिता ॥२६९॥

तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है । इस तरह तत्व के जानकारों ने कहा है । (२६९)

कषाय प्रत्यय बन्धमाश्रित्याल्पीयसी स्थितिः ।

स्यात् द्वादश मुहूर्त्तात्मा वेदनीयस्य कर्मणाः ॥२७०॥

कषाय प्रत्यय बंधन के आश्रय से वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की होती है । (२७०)

उपशान्त क्षीण मोहादिकानां त्व कषायिणाम् ।

योगैक हेतु बद्धस्य वेद्यस्य द्वौ क्षणौ स्थितिः ॥२७१॥

उपशान्तमोह और क्षीणमोह आदि अकषाय गुणस्थानों में केवल योग हेतु से बंधन होते वेदनीय कर्म की स्थिति दो समय की है । (२७१)

स्थितिर्लब्धयन्तर्मुहूर्त्तं मोहनीयस्य कर्मणाः ।

आयुषः क्षुल्लक भव प्रमिता सा प्रकीर्तिता ॥२७२॥

मोहनीय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है और आयुकर्म की जघन्य स्थिति एक क्षुल्लक-छोटा जन्म जितनी है । (२७२)

अष्टाष्टौ च मुहूर्त्तानि गोत्र नाम्नी लघुः स्थितिः ।

अन्तर्मुहूर्त्तं प्रमिता सान्तरायस्य कर्मणाः ॥२७३॥

गोत्रकर्म और नामकर्म की जघन्य स्थिति आठ- आठ मुहूर्त्त की है । अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त्त की है । (२७३)

यावत्कालमनुदयो बद्धस्य यस्य कर्मणाः ।

तावान्बाधा कालोऽस्य स जघन्येतरो द्विधा ॥२७४॥

जिस कर्म का बन्धन किया हो उसका जितने काल तक अनुदय हो उतने काल तक इन कर्मों का अबाधा काल कहलाता है और इसके उत्कृष्ट और जघन्य दो भेद होते हैं । (२७४)

अबाधाकाल उत्कृष्टस्वयोऽब्दानां सहस्रकाः ।

आद्यकर्म त्रये सुष्टु निर्दिष्टो दृष्टविष्टपैः ॥२७५॥

सप्त वर्ष सहस्राणि मोहनीयस्य कर्मणः ।

पूर्वं कोटयास्तृतीयोऽंशः स भवत्यायुषो गुरुः ॥२७६॥

गोत्र नाम्नोः कर्मणोस्तु द्वे द्वे सोऽब्द सहस्रके ।

त्रीण्येवाब्द सहस्राणि सोऽन्तरायस्य कर्मणः ॥२७७॥ विशेषार्क ।

पहले तीन कर्मों का अबाधाकाल उत्कर्षतः तीन हजार वर्ष का कहा है, मोहनीय कर्म का सात हजार वर्ष का है, आयुष्य कर्म का एक तृतीयांश पूर्व कोटि वर्ष का है, गोत्र और नामकर्म का दो- दो हजार वर्ष का है और अन्तराय कर्म का तीन हजार वर्ष का कहा है । (२७५ से २७७)

जघन्यतस्त्वबाधाद्धा सर्वेषामपि कर्मणाम् ।

अन्तर्मुहूर्त्तं प्रमिता कथिता तत्त्व वेदिभिः ॥२७८॥

सारे आठ कर्मों का जघन्य अबाधाकाल एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है । इस तरह तत्त्ववेत्ता महापुरुषों ने कहा है । (२७८)

अबाधाकालहीनायां यथास्वं कर्मणां स्थितौ ।

भवेत्कर्मनिषेकस्तत् परिभोगाय देहिनाम् ॥२७९॥

प्रत्येक कर्म की अबाधाकाल रहित स्थिति में उस कर्म की निषेक (निर्जरा-भोगने रूप) होती है, वह प्राणियों को कर्म के परिभोग अर्थ में है । (२७९)

कर्मणां दलिकं यत्र प्रथमे समये बहु ।

द्वितीय समये हीनं ततो हीनतरं क्रमात् ॥२८०॥

एवं या कर्म दलिक रचना क्रियतेऽङ्गिभिः ।

वेदनार्थमसौ कर्म निषेक इति कीर्त्त्यते ॥२८१॥ (युग्मं)

निषेक का क्या मतलब है ? कर्म का दल यदि पहले समय में अधिक हो, वह दूसरे समय में इससे कम होता है और इस तरह अनुक्रम से कम होता जाता है । इस तरह कर्म के दल की रचना प्राणी वेदना के लिए करते हैं, वह निषेक कहलाता है । (२८०-२८१)

कर्माप्यमूनि प्रत्येकं प्राणिनामखिलान्यपि ।

भवेऽनादौ तिष्ठतां स्युरनादीनि प्रवाहतः ॥२८२॥

इस अनादि संसार में रहते प्रत्येक प्राणी को ये सब कर्म अनादि काल से ही चलते आ रहे हैं । (२८२)

स्वभावतोऽकर्मकाणां जीवानां प्रथमं यदि ।

संयोगः कर्मणामंगी क्रियते समये क्वचित् ॥२८३॥

तदा कर्म क्षयं कृत्वा सिद्धानामपि देहिनाम् ।

पुनः कदाचित्समये कर्मयोगः प्रसज्यते ॥२८४॥

यदि इस तरह स्वीकार करें कि यह 'स्वाभावतः अकर्मक' जीवों को अमुक समय में कर्मों का पहले संयोग हुआ है तो फिर कर्म का क्षय करके सिद्ध हुए प्राणी को भी फिर क्वचित् कर्म का योग होगा- ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा । (२८३-२८४)

विश्लेषस्तु भवेज्जीवादानादित्वेऽपि कर्मणाम् ।

ज्ञानादिभिः पावकाद्यैरूपलस्येव कांचनात् ॥२८५॥

और कर्म अनादि होने पर भी ज्ञानादि के द्वारा जीव से अलग होते हैं, जैसे अग्नि आदि से सुवर्ण से पत्थर अलग होता है उसी तरह कर्म अलग होता है । (२८५)

नन्वेवमन्तरायाणां पंचानां मूलतः क्षये ।

संजाते किं ददाव्यर्हन् सततं लभते च किम् ॥२८६॥

भुङ्क्ते किमुपभुङ्क्ते वा वीर्यं किं वा प्रवर्तयेत् ।

न चेत्किंचित्तदा तेषां विघ्नानां किं क्षये फलम् ॥ २८७॥ (युगं ।)

यहां शंका करता है कि जब इस तरह पांच अन्तराय कर्म का मूल से क्षय होता है तब अर्हत भगवन्त क्या दान देते हैं ? क्या लाभ प्राप्त करते हैं ? क्या भोग उपभोग भोगते हैं ? और क्या वीर्य फैलाते हैं ? यदि इसमें कुछ भी होता हो तो फिर अन्तराय कर्म के क्षय से क्या फल होता है ? (२८६-२८७)

अत्रोच्यतेऽर्हतः क्षीण निःशेषघाति कर्मणः ।

गुणः प्रादुर्भवत्येषोऽन्तरायाणां क्षये यतः ॥२८८॥

ददतो लभमानस्य भुंजतो वोप भुंजतः ।

वीर्यं प्रयुंजतो वास्य नान्तरायो भवेत्क्वचित् ॥२८९॥

दानलाभादिकं त्वस्य न सम्भवति सर्वदा ।

तत्तत्कारण सामग्र्यां सत्यां भवति नान्यथा ॥२९०॥

इस शंका का समाधान करते हैं- अर्हत् भगवन्त का सर्वघाति कर्म तो क्षय होने से होता है, अतः जब यह अन्तराय कर्म भी क्षीण हुआ हो तब तुरन्त उनमें ऐसा गुण उत्पन्न होता है कि दान देते, लाभ प्राप्त करते, भोगोपभोग करते और वीर्य-उत्साह बढ़ाते उनको कहीं पर भी अन्तराय नहीं होता और इनको दान लाभ आदि हमेशा नहीं होता क्योंकि वह तो उस प्रकार की सामग्री का सद्भाव हो तभी होता है । उसके बिना नहीं होता । (२८८-२९०)

नृदेवगत्यानुपूर्व्यो जातिः पंचेन्द्रियस्य च ।

उच्चैर्गोत्रं सातवेद्यं देहाः पंच पुरोदिताः ॥२९१॥

अंगोपांग त्रयं संहननं संस्थानमादिमम् ।

वर्णगन्धरस स्पर्शाः श्रेष्ठा अगुरुलघ्वपि ॥२९२॥

पराघातमथोच्छ्वासमातपोद्योत नामनी ।

नृदेवतिर्यगायुषि निर्माणं सन्न भोगति ॥२९३॥

तथैव त्रस दशकं तीर्थकृन्नाम कर्म च ।

द्वि चत्वारिंश दित्येवं पुण्य प्रकृतयो मताः ॥२९४॥ कलापकम् ।

जीव की बयालीस पुण्य प्रकृतियां हैं । वह इस तरह -मनुष्य गति, देवगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रियत्व, उच्च गोत्र, साता वेदनीय, पूर्वोक्त पांच देह, तीन अंगोपांग, प्रथम संघयण, प्रथम संस्थान, श्रेष्ठ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरु लघु शरीर, परावातत्व, श्रेष्ठ उच्छ्वास, आतप नामकर्म, उद्योत नामकर्म, मनुष्य, देव और तिर्यच का आयुष्य, निर्माण, सद्बिहायो गति, त्रस, बादर, पर्याप्त प्रत्येक स्थिर, शुभ, सुभग सुस्वर, आदेय और यश नामकर्म तथा तीर्थकर नामकर्म। (२९१-२९४)

भेदाः पंच नव ज्ञानदर्शनावरणीययोः ।

नीचैर्गोत्रं च मिथ्यात्वमसातवेदनीयकम् ॥२९५॥

नरकस्यानुपूर्वी च गतिरायुरिति त्रयम् ।

तिर्यगत्यानुपूर्व्यो च कषायाः पंचविंशति ॥२९६॥

एक द्वि त्रि चतुरक्षजातयोऽसत्र भोगतिः ।

अप्रशस्तताश्च वर्णाद्यास्तथोपघात नाम च ॥२९७॥

अनाद्यापि पंच संस्थानानि संहननानि च ।

तथा स्थावरदशकमन्तरायाणि पंच च ॥२९८॥

उक्ता द्वयशीतिरित्येताः पाप प्रकृतयो जिनैः ।

न भूयान् विस्तरश्चात्र क्रियते विस्तृतेर्भिया ॥२६६॥ कुलकं ।

जीव की बयासी पाप प्रकृति कहते हैं - पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म, नीच गोत्र, मिथ्यात्व, असाता वेदनीयत्व, नरक गति, नरक की आनुपूर्वी, नरक आयुष्य, तिर्यच गति, तिर्यच की आनुपूर्वी, पच्चीस कषाय, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की जाति, असद्विहायो गति, अवकृष्ट, वर्णादिक, उपघात नामकर्म, प्रथम के अलावा शेष पांच संस्थान और पांच संघयण, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, दुर्भंग, अनादेय और अपयश इतने मिलाकर दस नामकर्म तथा पांच अन्तराय कर्म हैं । बहुत विस्तार हो जाता है, इसलिए विशेष न कहकर इतना ही कहा जाता है । (२६५ से २६६)

एतेषु कर्मस्वष्टासु भवत्याद्य चतुष्टयम् ।

घातिसंज्ञं जीव सक्तज्ञानादि गुणाघातकृत् ॥३००॥

अन्यं चतुष्टयं च स्यात् भवोपग्राहि संज्ञकम् ।

छद्मस्थानां तथा सर्वविरामप्येतदा भवम् ॥३०१॥

आठ कर्म कहे हैं । उनमें प्रथम चार घाति कर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले हैं जो दूसरे चार हैं वे भवोपग्राही कहलाते हैं क्योंकि ये छद्मस्थ को और सर्वज्ञों को भी भव-जन्म पर्यन्त होते हैं । (३०१)

पारावारानुकारादिति जिन समयात् भूरिसाराद पारात् ।

उच्चित्योच्चित्य मुक्ता इव नव सुषमा युक्तिपंक्तीरनेकाः ।

क्लृप्ता जीवस्वरूप प्रकरण रचना योरुमुक्तावलीन ।

सोत्कंठ कंठपीठे कुरुत कृतधियस्तां चिदुद्वोद्य सिद्धयै ॥३०२॥

इस तरह से श्री जिनेश्वर के अपार-सार युक्त समुद्र समान सिद्धान्त में से अनेक नयी सुषम युक्तियों के मुक्ताफल के समान वाणी से इस जीव स्वरूप के प्रकरण की रचना रूप माला तैयार की है । इसे बुद्धिमान पुरुष ज्ञान के प्रकाशन की सिद्धि के लिए उत्कंठा सहित कंठ में धारण करो । (३०२)

विश्वाश्चर्यद कीर्ति कीर्ति विजय श्री वाचकेन्द्रातिष -

द्राज श्री तनयोऽतनिष्ट विनयः श्री तेजपालात्मजः ।

काव्यं यत्किल तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे,

सर्गोयं दशमः सुधारस समः पूर्ण सुखेनासमः ॥३०३॥

इति दशमः सर्गः

जिसकी कीर्ति सुनकर अखिल विश्व आश्चर्य चकित हो गया है उन श्री- मद् कीर्ति विजय उपाध्याय के शिष्य और माता राजश्री तथा पिता तेजपाल के सुपुत्र श्री विनय विजय जी ने तीन जगत् के तत्व को दीपक के समान प्रकाशित करने वाले जिस काव्य ग्रन्थ की रचना की है उसका यह सुधारस से पूर्ण दसवां सर्ग विघ्नरहित पूर्ण हुआ है । (३०३)

॥ दसवां सर्ग समाप्त ॥

ग्यारहवां सर्ग

पुद्गलानामस्तिकायमथ किञ्चित्तनोम्यहम् ।

गुरु श्री कीर्ति विजय प्रसाद प्राप्त धीधनः ॥१॥

श्री मान्यवर्य कीर्ति विजय गुरु महाराज की कृपा से बुद्धिमान बना हुआ मैं अब पुद्गलास्तिकाय का कुछ स्वरूप कहता हूँ । (१)

द्रव्य क्षेत्र काल भाव गुणैरेषोऽपि पञ्चधा ।

अनन्त द्रव्यरूपोऽसौ द्रव्यतस्तत्र वर्णितः ॥२॥

इस पुद्गलास्तिकाय के भी जीवास्तिकाय के समान पांच भेद हैं । १. द्रव्य से, २. क्षेत्र से, ३. काल से, ४. भाव से और ५. गुण के कारण होते हैं । (२)

लोक एवास्य सद्भावात् क्षेत्रतो लोकसंमितः ।

कालतः शाश्वतो वर्णादिभिर्युक्तश्च भावतः ॥३॥

गुणतो ग्रहण गुणो यतो द्रव्येषु षट्स्वपि ।

भवेत् ग्रहणमस्यैव न परेषां कदाचन ॥४॥

प्रथम भेद वह अनन्त द्रव्यरूप है । दूसरे भेद से वह लोक प्रमाणरूप है क्योंकि इसका सद्भाव-क्षेत्र से लोक में ही स्थित है । तीसरे भेद से वह काल से शाश्वत है । चौथे भेद से वह वर्ण आदि भाव से युक्त है । पांचवें भेद से इसमें ग्रहण गुण है - यह ग्रहण गुण वाला है, क्योंकि छः द्रव्यों में इससे ही ग्रहण किया जाता है, अन्य किसी का कभी भी ग्रहण नहीं होता है । (३-४)

भेदाश्चत्वार एतेषां प्रज्ञप्ताः परमेश्वरैः ।

स्कन्धा देशाः प्रदेशाश्च परमाणव एव च ॥५॥

इसके जिनेश्वर भगवन्त ने चार भेद कहे हैं । वह इस तरह- १. स्कंध, २. देश, ३. प्रदेश और ४. परमाणु ।

अनंत भेदाः स्कन्धाः स्युः केचन द्विप्रदेशकाः ।

त्रिप्रदेशादयः संख्यासंख्यानन्त प्रदेशकाः ॥६॥

और स्कंध के अनेक भेद हैं । किसी को दो प्रदेश होते हैं, किसी को तीन प्रदेश होते हैं, कहीं को बढ़ते हुए संख्यात तक प्रदेश होते हैं और किसी को अनन्त प्रदेश होते हैं । (६)

सूक्ष्म स्थूल परिणामाः स्युः प्रत्येकमनन्तकाः ।

एक क्षणाद्यसंख्येय कालान्तस्थिति शालिनः ॥७॥

और इसमें प्रत्येक जाति के अनन्त, छोटे, सूक्ष्म और स्थूल परिणाम वाले हैं और स्थिति किसी-किसी की एक क्षण की होती है और किसी-किसी की इससे बढ़ते हुए वह अन्तिम में असंख्य काल तक भी होती है । (७)

द्विप्रदेशादिकोऽनन्तप्रदेशान्तो विवक्षितः ।

स्कन्धसम्बद्धो विभागः स भवेत् देश संज्ञकः ॥८॥

दो प्रदेश से लेकर अन्तिम अनन्त प्रदेश तक का स्कन्धबद्ध जो विभाग है उसका नाम 'देश' कहलाता है । (८)

निर्विभाज्यो विभागो यः स्कन्धसंबद्ध एव हि ।

परमाणु प्रमाणोऽसौ प्रदेश इति कीर्तितः ॥९॥

अविभाज्य और केवल स्कन्धबद्ध जो परमाणु प्रमाण विभाग है इसका नाम प्रदेश कहलाता है । (९)

कार्य कारण रूपाः स्युर्द्विप्रदेशादयो यथा ।

द्विप्रदेशो द्वयोरण्वोः कार्य त्र्यणुक कारणम् ॥१०॥

ऊपर द्वि प्रदेशी आदि जो स्कन्ध कहा है वह कार्य रूप भी है और किसी को कारण रूप भी है । जैसे द्वि प्रदेशी (स्कन्ध) दो परमाणुओं का कार्य है वैसे ही तीन परमाणुओं का कारण भी है । (१०)

परमाणुस्त्व प्रदेशः प्रयत्क्षो ज्ञान चक्षुषाम् ।

कार्यानुमेयोऽकार्यश्च भवेत्कारणमेव स ॥११॥

परमाणु अप्रदेशी है और केवल ज्ञानचक्षु का ही गोचर है और यह कार्य अनुमेय है, स्वयं किसी का कार्य नहीं है यद्यपि वह किसी का कारणभूत तो है ।

(११)

यदाहुः- कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।

एक रसवर्ण गन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥१२॥

अन्यत्र कहा है कि- अन्त्य कारण रूप ही परमाणु है यह परमाणु नित्य है, सूक्ष्म है तथा एक रस वाला है, एक वर्ण वाला है, एक गन्ध वाला है, यद्यपि इसके स्पर्श दो है और इस कार्य के लिंग रूप अर्थात् कार्यानुमेय हैं । (१२)

तत्रापि- शीतोष्णस्निग्धरूक्षेषु द्वौ चतुर्ष्व विरोधनौ ।

स्पर्शो स्यातां परमाणुष्वपरे न कश्चन ॥१३॥

इसके जो दो स्पर्श कहे हैं वे शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष - इन चार में से परस्पर अविरोधी कोई दो समझना, अन्य नहीं होते हैं । (१३)

“तथाहुः । परमाणवादीनाम संख्यात् प्रदेशक स्कन्ध पर्यन्तानां केषां चिदनन्त प्रादेशिका नामपि स्कन्धानां तथा एक प्रदेशावगाढानां यावत्संख्यात् प्रदेशाव-गाढानां शीतोष्णस्निग्ध रुक्षरूपाश्चत्वार एव स्पर्शा इति प्रज्ञापनावृत्तौ ॥”

“श्री पन्नवणा सूत्र की वृत्ति में कहा है कि - असंख्य प्रदेश, स्कन्ध तक के परमाणु आदि को तथा कई अनन्त प्रदेशी, स्कन्धों को तथा एक प्रदेश के अवगाह वाले से लेकर अन्तिम संख्यात् प्रदेश के अवगाह वाले को शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष - इस तरह चार ही स्पर्श होते हैं ।”

द्रव्य क्षेत्र काल भावैः परमाणुश्चतुर्विधः ।

द्रव्यतोऽणु पुद्गलाणुश्चतुर्लक्षण एव सः ॥१४॥

अवाह्योऽग्राह्य एवासावभेद्योऽच्छेद्य एव च ।

क्षेत्राणुस्त्वभ्रमदेशश्चतुर्लक्षण एव साः ॥१५॥

अप्रदेशोऽविभागश्चामध्योऽनर्घ इति स्मृतः ।

कालाणुः समयाख्यः स्याच्चतुर्लक्षण एव सा ॥१६॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इस तरह चार को लेकर परमाणु के चार भेद होते हैं । १. द्रव्य को लेकर जो पहला भेद है अर्थात् द्रव्याणु, इसके चार लक्षण हैं- अवाह्य, अभेद्य और अच्छेद्य । २- अभ्रप्रदेश रूप क्षेत्राणु के भी चार लक्षण हैं- अप्रदेशी, अविभागी, अमध्य और अनर्घ । ३- समयाख्य कालाणु के भी चार लक्षण हैं । (१४ से १६)

वर्णं गन्धं स्पर्शरहितश्चाथ भावतः ।

द्रव्याणुरेव वर्णादि भाव प्राधान्यतो मतः ॥१७॥

भावाणुरथवा सर्वजघन्य श्यामतादिकम् ।

इह प्रयोजनं द्रव्यपरमाणुभिरेव हि ॥१८॥

इति भगवती शतक २० उद्देश ५॥

भाव को लेकर परमाणु का चौथा भेद भावाणु है । इसके लक्षण वर्ण रहित, गंध रहित, रस रहित और स्पर्श रहित रूप हैं । वर्णादि भाव की प्रधानता को लेकर द्रव्य-अणुज अभिमत है अथवा भाव अणु अर्थात् सर्व मेंजघन्य श्यामत्व आदि है । हमारे लिए तो यहां द्रव्य-अणु (द्रव्य परमाणु) की ही बात है । (१७-१८)

इस तरह की बात भगवती सूत्र में २०वें शतक के पांचवें उद्देश में कही है ।

स नित्यानित्य रूपः स्यात् द्रव्यपर्याय भेदतः ।

तत्र च द्रव्यतो नित्यः परमाणोरनाशतः ॥१९॥

पर्यायतस्त्वनित्योऽसौ यतो वर्णादि पर्यवाः ।

नश्यन्त्येके भवन्त्यन्ये विस्त्रसादि प्रभावतः ॥२०॥

परमाणु के और दो भेद होते हैं - १. द्रव्य से नित्य है, क्योंकि परमाणु अविनाशी है । २. पर्यायतः अनित्य है, क्योंकि विस्त्रसा अर्थात् सड़न, गलन, पतन, विध्वंस आदि के प्रभाव से कई वर्णादि का नाश होता है और उनके स्थान पर दूसरे उत्पन्न होते हैं । (१९-२०)

अस्य शाश्वत भावेन केचित् पर्यव नित्यताम् ।

मन्यन्ते तद् सद्यस्मात् पंचमांगे स्फुटं श्रुतम् ॥२१॥

परमाणु शाश्वत है इसलिए इसके पर्याय नित्य होने चाहिए - ऐसा कईयों का कहना है । परन्तु यह वास्तविकता नहीं है क्योंकि पांचवे अंग भगवती सूत्र में इस तरह का स्पष्ट पाठ है । (२१)

परमाणु पुग्गलेणं भतो सासए असासए । गोयम सिअ सासए सिअ असासए ॥ से केणट्टेणं भंते एवं वुच्चति । गोअम दब्बट्टयाए सासए पञ्जवट्टयाए असासए ॥ इति ॥

अर्थात् हे भगवन्त! परमाणु पुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत है ? इसका उत्तर भगवन्त देते हैं - गौतम! यह शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत है ।

पुद्गलानां दशविधः परिणामोऽथ कथ्यते ।

बन्धनाख्यो गति नामा संस्थानाख्यस्तथापरः ॥२२॥

भेदाख्याः परिणामः स्यात् वर्णगन्धरसाभिधाः ।

स्पर्शाऽगुरुलघुः शब्दः परिणामा दशेत्यमी ॥२३॥

अब पुद्गल के दस प्रकार के परिणाम हैं । उनके नाम कहते हैं -
१. बंधन, २. गति, ३. संस्थान, ४. भेद, ५. वर्ण, ६. गंध, ७. रस, ८. स्पर्श, ९. अगुरुलघु और १०. शब्द । (२२-२३)

स्याद्विस्रसा प्रयोगाभ्यां बन्धः पौद्गलिको द्विधा।

तत्र यो विस्रसाबन्धः सोऽपि त्रिविधं इष्यते ॥२४॥

बन्धन प्रत्ययः पात्र प्रत्ययः परिणामजः ।

बन्धन प्रत्ययस्तत्र स्कन्धेषु द्वयणुकादिषु ॥२५॥

भवेद्धि द्वयणुकादीनां विमात्र सनैर्घ्य रौक्ष्यतः ।

मिथो बन्धोऽसंख्यकालमुत्कर्षात्समयोऽन्यथा ॥२६॥

और इसमें बन्धन के दो भेद हैं - १. विस्रसाबंध और २. प्रयोगबंध । विस्रसाबंधन के तीन उपभेद हैं - बंधन प्रत्यय, पात्र प्रत्यय और परिणामज । बंधन प्रत्यय (विस्रसा बंध) द्वयणुकादिक स्कंधों में होता है और विषम मात्रा में स्निग्धता और रुक्षता हो तो द्वयणुकादिक का परस्पर सम्बन्ध होता है, और वह उत्कृष्टतः असंख्यकाल का और जघन्य एक समय का होता है । (२४ से २६)

यदाहुः - समनिद्धयाए बन्धो न होइ सगलुखड्याए वि न होई ।

वे माय निद्ध लुखल्लपोण बन्धा उ खंधाण ॥२७॥

कहा है कि- स्निग्ध रूप या रुक्षरूप की सम मात्रा हो तो बंधन नहीं होता, बंध होने के लिए तो स्निग्धता व रुक्षता की विषम मात्रा होनी चाहिए ।

विषयमात्रा निरूपणार्थं चोच्यते ।

निन्दस्स निन्देण दुयाहिएण । लुख्खस्स लुख्खेण दुयाहिएण ।

निन्दस्स लुख्खेण उवेति बंधो । जहनवज्जो विसमो समो वा ॥२८॥

विषय मात्र के निरूपण के लिए इस तरह कहा है कि - स्निग्ध स्निग्ध की अथवा रूखा रूखा की सम या विषम मात्रा (एक दूसरे से) दो अधिक हो तभी बंध होता है । जब स्निग्ध और रूखे की जघन्य को छोड़कर सम या विषम केवल हो तो बन्ध होता है । (२८)

जीर्णमद्यगुडादीनां भाजने स्त्यानता तु या ।

स पात्र प्रत्ययः संख्य कालो बान्तर्मुहूर्त्तिकः ॥२९॥

यह बन्ध प्रत्यय कहा । अब पात्र प्रत्यय कहते हैं कि जिस बर्तन के अन्दर जीर्ण मद्य अथवा गुड़ आदि का स्थापन रूप रहता है वह पात्र प्रत्यय विस्त्रसाबंध कहलाता है । इसकी स्थिति संख्यकाल या अन्तर्मुहूर्त्त की है । (२९)

परिणाम प्रत्ययस्तु सौऽभ्रादीनामनेकं धा ।

जघन्यश्चैक समयं षण्मासान् परमः पुनः ॥३०॥

इति विस्त्रसाबन्धः॥

अब तीसरा परिणाम प्रत्यय है । मेघ आदि का बंध परिणाम प्रत्यय (विस्त्रसा बंध) है, वह अनेक प्रकार का है । इसका स्थिति काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः मास का है । (३०)

इस तरह पुद्गल के विस्त्रसाबंध का स्वरूप कहा ।

अथ प्रयोगबन्धो यः स चैषां स्याच्चतुर्विधः ।

आलापनश्चालीनश्च शारीर तत्प्रयोगकौ ॥३१॥

अब इसका दूसरे भेद प्रयोगबंध के विषय में कहते हैं । पुद्गल का प्रयोगबन्ध चार प्रकार का है - १- आलापन, २- आलीन, ३- शरीर और ४- प्रयोगक। (३१)

तृण काष्ठादि भाराणां रज्जु वेत्रलतादिभिः ।

संख्य कालान्तर्मुहूर्त्तौ बन्ध आलापनाभिधः ॥३२॥

रज्जु या वेत्रलता आदि से तृण अथवा काष्ठ के भार को बांधना, इसके पहले आलापबंध की उत्कृष्ट स्थिति संख्यात काल की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है । (३२)

चतुर्धा लीन बन्धस्तु प्रथमः श्लेषणभिधः ।

समुच्चयोच्चयौ बन्धौ तुर्यः संहननाभिधः ॥३३॥

दूसरे आलीन बंध के और चार भेद होते हैं - १. श्लेषण, २. समुच्चय, ३. उच्चय और ४. संहनन । (३३)

यः कुडय कुट्टिमस्तम्भघटकाष्ठादि वस्तुषु ।

सुधामृत्यं कलाक्षाद्यैर्बन्धः स श्लेषणाभिधः ॥३४॥

दिवार के घुमाने सम्बन्धी, स्तंभ, घट, काष्ठ आदि में चूना, मिट्टी, पंक, लाख आदि एक-एक का बंध है अर्थात् ये वस्तु लगाना श्लेषण बंध कहलाता है । (३४)

तटाक दीर्घिकावप्रस्तुपदेवकुलादिषु ।

बन्धः सुधादिभिर्भ्यः स्यात् बहूनां स समुच्चयः ॥३५॥

तथा तलाब, बावड़ी, कुआं, कोट स्तूप, देवमंदिर आदि में चूना आदि अधिक वस्तु का बंध-लगाना वह समुच्चय बंध है । (३५)

तृणावकर काष्ठानां तुषगोमय भस्मनाम् ।

उच्चत्वेन च यो बन्धः स स्यादुच्चय संज्ञकः ॥३६॥

खंड- टुकड़े, कूड़ा, कचरा, तृण, लकड़ी, गोमय, और राख आदि का ऊँचा ढेर किया हो, वह उच्चयबंध कहलाता है । (३६)

द्विधा संहननाख्यस्तु देश सर्वं विभेदतः ।

तत्राद्यः शकटांगादौ परः क्षीरोदकादिषु ॥३७॥

अब आलीप के चौथा भेद संहनन बंध के दो भेद हैं । गाड़ी के अंगों का एकत्र बंधन - यह प्रथम का दृष्टान्त है तथा क्षीर में पानी का बंध-मिलाना - यह दूसरे भेद का दृष्टान्त समझना । (३७)

आरभ्यालापनादेशा जघन्योत्कर्षतः स्थितिः ।

अन्तर्मुहूर्त्तं संख्यात् कालौ ज्ञेया विचक्षणैः ॥३८॥

आलापन बन्ध के समान चार प्रकार के आलीन बन्ध क्री स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट संख्यात काल की जाननी चाहिए । (३८)

द्विधा शरीर बन्धः स्यादेकः पूर्वं प्रयोगजः ।

प्रत्युत्पन्न प्रयोगोत्थः परः सोऽभूतपूर्वकः ॥३९॥

अब पुद्गल के प्रयोगबन्ध का तीसरा भेद जो शरीर बन्ध है, उस विषय में कहते हैं। इसके दो भेद हैं, १- पूर्व प्रयोग से उत्पन्न हुआ और २- उत्पन्न हुए प्रयोग में से उत्पन्न हुआ - अभूतपूर्व । (३६)

तत्राद्योऽन्य समुद्घाते क्षिप्तानां देहतो बहिः ।

तैजस कार्मणाणूनां पुनः संकोचने भवेत् ॥४०॥

शरीर द्वारा बाहर की अपेक्षा से तैजस और कार्मण के परमाणु अन्य समुद्घात में पुनः संकोच होता है, तब जो शरीरबन्ध होता है वह प्रथम प्रकार का शरीरबन्ध है। (४०)

समुद्घातान्निवृत्तस्य परः केवलिनोष्टसु ।

स्यात् पंचमे क्षणे तेजः कार्मणाणु समाहृतौ ॥४१॥

और केवली समुद्घात से निवृत्त हुए श्री जिनेश्वर भगवन्त को आठवें से पांचवें क्षण में तैजस और कार्मण के परमाणुओं का हरण करते जो शरीरबन्ध होता है। वह दूसरे प्रकार का शरीर बन्ध है। (४१)

आत्मप्रदेश विस्तारे तेजः कार्मणयोरपि ।

विस्तारः संहतौ तेषां संघातः स्यात्तयोरपि ॥४२॥

आत्म प्रदेशों का विस्तार होने पर तैजस और कार्मण शरीर का भी विस्तार होता है और आत्म प्रदेशों का संहार-नाश होते इन दोनों शरीर का भी संघात होता है। (४२)

देह प्रयोगबन्धस्तु बहुधौदारिकादिकः ।

स पंचमांगो शतकेऽष्टमे ज्ञेयः सविस्तरः ॥४३॥

इति बन्ध परिणामः ॥१॥

और शरीर प्रयोगबन्ध तो अधिकतः औदारिक आदि का ही होता है। यह बात विस्तार पूर्वक पांचवें अंग भगवती सूत्र के आठवें शतक में वर्णन की गई है, वहां से जान लेनी चाहिए। (४३)

इस तरह बंध परिणाम का स्वरूप जानना। (१)

गतेः परिणतिर्द्वैधा संस्पृशन्त्यस्पृशन्त्यपि ।

द्वयोरयं विशेषस्तु वर्णितस्तत्त्व पारगैः ॥४४॥

पुद्गलस्यान्तरावस्त्वन्तरं संस्पृशतो गतिः ।

यासौ भवेत् संस्पृशन्ती द्वितीया स्यात्ततोऽन्यथा ॥४५॥

पूर्व में पुद्गलों के दस प्रकार के परिणाम गिनाये हैं । उसमें यह गति परिणाम दूसरा भेद कहा है । अतः गति के परिणाम के विषय में कहते हैं । पुद्गल की गति दो प्रकार की है - १- स्पर्श करती और २- स्पर्श न करती । पुद्गल का अपनी गति के समय बीच-बीच में अन्य वस्तुओं से स्पर्श होता है तो वह गति स्पर्श गति है और बीच में किसी वस्तु का स्पर्श न हो तो वह गति अस्पर्श गति है । (४४-४५)

अथवा—द्विधा गति परीमाणो दीर्घान्यगति भेदतः ।

दीर्घ देशान्तर प्राप्ति हेतुराद्योऽन्यथापरः ॥४६॥

अथवा दीर्घगति और ह्रस्वगति - इस तरह भी गति परिणाम के दो भेद होते हैं । दूर देशान्तर पहुँचने का हेतु रूप यह प्रथम भेद है और इससे उलटा यह दूसरा भेद है । (४६)

एकेन समयेनैव पुद्गलः किल गच्छति ।

लोकान्तादन्य लोकान्तं गतेः परिणतेर्बलात् ॥४७॥

गति परिणाम के बल से पुद्गल लोक के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक एक ही समय में जा सकता है । (४७)

तथाहु “परमाणु पुग्गलेणं भन्ते लोगस्स पुंरिच्छिमिल्ला तो चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एक समयेणं गच्छति दहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ दाहिणिल्लं चरिमंतं उवरिल्लाओ चरिमंताओ हेठिल्लचरिमंतं हेठिल्लाओ चरिमंताओ उवरिल्लं चरिमंतं एणेणं समएणं गच्छति हंता गोयमा जाव गच्छति ॥”

इति भगवती सूत्रे शतक १६ उद्देश ८ ॥

इति गति परिणाम ॥ २॥

श्री भगवती सूत्र के सोहलवें शतक आठवें उद्देश में श्री गौतम ने पूछा कि - “हे भगवन्त लोकपूर्वान्त से पश्चिमान्त तक, दक्षिणान्त से उत्तरान्त तक, उत्तरान्त से दक्षिणान्त तक, उर्ध्वान्त से अधःअन्त तक और अधःअन्त से ऊर्ध्वान्त तक परमाणु पुद्गल क्या एक ही समय में जाता है?” तब भगवन्त ने कहा - “हे गौतम ! हां एक समय में सर्व स्थान पर पहुँच जाता है ।”

यह गति परिणाम का स्वरूप है । (२)

परिमंडलं च वृत्तत्र्यस्रं च चतुरस्रकम् ।

आयतं च रूप्य जीव संस्थानं पंचधा मतम् ॥४८॥

अब संस्थान परिणाम श्लोक ४८ से १०६ तक में कहते हैं । रूपी जीव का पांच प्रकार संस्थान कहा है - १- परिमंडल, २- वृत्त, ३- त्रिकोण, ४- चतुष्कोण और ५- आयत । (४८)

मंडलावस्थिताणबोधं बहिः शुषिरमन्तरे ।

वल्यस्येव तद् ज्ञेयं संस्थानं परिमंडलम् ॥४९॥

परमाणुओं का समूह बाहर के विभाग में मंडल के समान हो और वलय के समान बीच में खाली हो, उस संस्थान को परिमंडल संस्थान कहते हैं । (४९)

अंतःपूर्णं तदेव स्यात् वृत्तं कुलाल चक्रवत् ।

त्र्यस्रं शृंगाटवत् कुम्भिकादिवच्चतुरस्रकम् ॥५०॥

आयतं दण्डवत् दीर्घं घनप्रतर भेदतः ।

चत्वारि स्युर्द्विधा संस्थानानि प्रत्येकमादितः ॥५१॥

इसमें यदि बीच में कुलाल के चक्र के समान परमाणुओं से भरा हुआ हो तो वृत्त संस्थान कहलाता है तथा जो सिंघाड़े के समान हो वह त्रिकोण संस्थान है, कुम्भिका समान हो तो चतुष्कोण संस्थान है और दण्ड समान आयत- दीर्घ हो तो आयत संस्थान कहलाता है । पहले चार प्रकार के संस्थान के १. बन्धन और २. प्रतर - इस तरह दो-दो भेद हैं । (५०-५१)

आयतं तु त्रिधा श्रेणि घनप्रतर भेदतः ।

ओज युग्ध प्रदेशानि द्वेधामूनिविनादिमम् ॥५२॥

ओज प्रदेशं प्रतरवृत्तं पंचाणु सम्भवम् ।

पंचाकाश प्रदेशवगाढं च परिकीर्तितम् ॥५३॥

और पांचवां प्रकार जो आयात है उसके तीन भेद हैं - १. श्रेणि, २. घन और ३. प्रतर । परिमंडल के बिना अन्य चार प्रकार के संस्थान के ओज प्रदेशी और युग्म प्रदेशी दो भेद होते हैं । ओज प्रदेशी प्रतरवृत्त पांच परमाणु का बना और पांच आकाश प्रदेश अवगाही रहा हुआ है । (५३)

यत्र प्रदेशाश्चत्वारश्चतुर्दिशं प्रतिष्ठिताः ।

एक प्रदेशोऽन्तर् वृत्तप्रत्तरं तद्यथो दितम् ॥५४॥

जिसमें चार प्रदेश चार दिशा में रहते हों और एक प्रदेश बीच में हो वह ओज प्रदेशी प्रतर वृत्त कहलाता है । (५४)

युग्मं प्रदेशं प्रतरवृत्तं च द्वादशाणुकम् ।
तावदभ्रांशावगाढं तच्चैवमिह जायते ॥५५॥

युग्म प्रदेशी प्रतरवृत्त बारह परमाणु वाला होता है और वह बारह आकाश प्रदेश के अवगाही के कारण होता है । (५५)

चतुर्ध्वंश्च प्रदेशेषु चत्वारोऽंशा निरन्तरम् ।
स्थाप्यन्तेरूचकाकारास्तपरिक्षेपतस्ततः ॥५६॥

द्वौ द्वौ चतुर्दिशं स्थाप्यौ प्रदेशौ जायते ततः ।

युग्म प्रदेशं प्रतर वृत्तमुक्तं पुरातनैः ॥५७॥ (युग्मं।)

वह इस तरह से - दोनों चार आकाश प्रदेश के अन्दर अन्तर बिना चार रूचकाकार अंश स्थापन करना और इसके बाद इनका परिक्षेप पूर्वक चारों दिशाओं में दो दो प्रदेश स्थापना करना, इसे पूर्वोक्त युग्म प्रतरवृत्त कहते हैं ।

(५६-५७)

सप्ताणुकं सप्तखांशावगाढं च भवेदिह ।
ओज प्रदेश निष्पन्नं घनवृत्तं हि तद्यथा ॥५८॥
पांच प्रदेशे प्रतर वृत्ते किल पुरोदिते ।
अथ ऊर्ध्वं च मध्याणोरेकैकौऽणुनिवेश्यते ॥५९॥

सात परमाणु वाला और सात आकाश प्रदेश अवगाही कर रहता है वह ओज प्रदेशी घनवृत्त कहलाता है । वह पूर्वोक्त पांच प्रदेशी प्रतरवृत्त में नीचे, ऊंचे और मध्य परमाणु में एक एक परमाणु की स्थापना करने से होता है । (५८-५९)

द्वात्रिंशदणु संपन्नं तावत्खांशावगाढकम् ।
युग्म प्रदेशं हि घनवृत्तं भवति तद्यथा ॥६०॥

युग्म प्रदेशी घनवृत्तसीस परमाणु का बना और बत्तीस आकाश प्रदेश का अवगाहन करके रहता है । (६०)

उक्त प्रतर वृत्तस्य द्वादशांशात्मकस्य वै ।
उपरिष्ठात् द्वादशान्ते स्थाप्यन्ते परमाणवः ॥६१॥
ततः पुनर्मध्वमाणु चतुष्कस्याप्युपर्यधः ।
स्थाप्यन्ते किल चत्वारश्चत्वारः परमाणवः ॥६२॥ (युग्मं।)

वह पूर्वोक्त बारह अंश प्रतर वृत्त के ऊपर दूसरे बारह परमाणु का स्थापन करने से और फिर मध्य में चार परमाणु के ऊपर और नीचे चार-चार परमाणु की स्थापना करने से होती है । (६१-६२)

ओजःप्रदेशं प्रतरत्र्यस्त्रं तु त्रि प्रदेशकम् ।

त्रि प्रदेशावगाढं च तदेवं जायते यथा ॥६३॥

स्थाप्येते द्वावणुपंक्या एकस्याद्यस्ततः परम् ।

एकोऽणुः स्थाप्यते इति निर्दिष्टं शिष्टं दृष्टिभिः ॥६४॥

जिसके तीन प्रदेश हों और तीन प्रदेश का अवगाह हो वह ओज प्रदेशी प्रतर त्रिकोण कहलाता है । वह दो परमाणु का श्रेणिबन्ध स्थापन करके एक के नीचे दूसरे एक परमाणु को स्थापन करने से होता है । (६३-६४)

युग्म प्रदेशं प्रतरत्र्यस्त्रं तु षट् प्रदेशकम् ।

षट् प्रदेशावगाढं च तदेवं किल जायते ॥६५॥

त्रयः प्रदेशाः स्थाप्यन्ते पंक्याणु द्वितयं ततः ।

आद्यस्याधो द्वितीयस्यत्वध एको निवेश्यते ॥६६॥

जिसके छः प्रदेश हों और छः प्रदेशों का अवगाह हो वह युग्म प्रदेशी प्रतर त्रिकोण कहलाता है, वह श्रेणिबंध तीन प्रदेशों की स्थापना करके उसमें पहले के नीचे दो परमाणु की स्थापना करने और दूसरे के नीचे एक परमाणु की स्थापना करने से होता है । (६५-६६)

ओजाणुकं घनत्र्यस्त्रं पंच त्रिंशत्प्रदेशकम् ।

पंच त्रिंशत्प्रदेशावगाढं च भवेद्यथा ॥६७॥

जिसके पैंतीस प्रदेश होते हैं और पैंतीस आकाश प्रदेश का अवगाह होता है वह ओज प्रदेशी त्रिकोण घन कहलाता है । (६७)

तिर्यक् निरन्तराः पंच स्थाप्यन्ते परमाणवः ।

तानधोऽधः क्रमेणौवं स्थाप्यन्ते परमाणवः ॥६८॥

तिर्यगेव हि चत्वारस्त्रयोद्वावेक एव च ।

जातोऽयं प्रतरः पंचदशांशः पंच पंकितकः ॥६९॥

ततश्चास्योपरि सर्वपंकितष्वन्त्यान्त्यमं शकम् ।

विमुच्यांशा दश स्थाप्यास्तस्याप्युपरि षट् तथा ॥७०॥

इत्थमेव तदुपरि त्रय एकस्ततः पुनः ।

उपर्यस्यापीतिपंच त्रिंशत्स्युः परमाणवः ॥७१॥ (चतुर्भिः कलापम् ।)

वह इस तरह होता है - पांच परमाणु की अन्तर बिना तिरछी स्थापना करना, फिर इनके नीचे की ओर अनुक्रम से परमाणु की स्थापना करना । वह इस तरह से- तिरछे चार, फिर तीन, फिर दो और फिर एक । इस तरह करने से पंद्रह अंश वाली पांच पंक्तियों का प्रतर होगा । और फिर उसके ऊपर सर्व पंक्ति में अन्तिम अंशों को रखना, दस अंशों की स्थापना करना और इसके ऊपर और छः अंशों की स्थापना करना और इसी तरह इसके ऊपर तीन की और इसके ऊपर एक की स्थापना करना । इस तरह यह पैंतीस परमाणु से होता है । (६८-७१)

युग्म प्रदेशं तु घनत्र्यस्रं चतुः प्रदेशकम् ।

चतुर्व्योमांशावगाढं तदप्येवं भवेदिह ॥७२॥

पूर्वोक्ते प्रतरत्र्यस्रे त्रिप्रदेशात्मके किल ।

अणोरैकस्योर्ध्वमेकः स्थाप्यते, परमाणुकः ॥७३॥

जिसके चार प्रदेश हों और जो चार आकाश प्रदेशों की अवगाही में रहा हो वह युग्म प्रदेशी त्रिकोण घन कहलाता है । वह पूर्वोक्त तीन प्रदेशी, तीन कोण प्रतर में एक परमाणु के ऊपर एक परमाणु का स्थापन करने से होता है । (७२-७३)

ओज प्रदेशं प्रतर चतुरस्रं नवांशकम् ।

नवाकाशंशावगाढमित्थं तदपि जायते ॥७४॥

तिर्यग् निरन्तरं तिस्र पंक्तयस्त्रि प्रदेशिकाः ।

स्थाप्यन्ते तर्हि जायेत चतुरस्रम युग्मजम् ॥७५॥

जिसके नौ अंश होते हैं तथा नौ आकाश प्रदेश का अवगाह हो वह ओज प्रदेशी चार कोण प्रतर कहलाता है । यह सर्वथा अन्तर बिना तिरछे तीन प्रदेशी तीन श्रेणि की स्थापना करने से होता है । (७४-७५)

युग्मं प्रदेशं प्रतर चतुरस्रं तु तद् भवेत् ।

चतुरभांशावगाढं चतुः प्रदेश सम्भवम् ॥७६॥

द्वि द्वि प्रदेशे द्वे पंक्ती स्थाप्येते तत्र जायते ।

युग्म प्रदेशं प्रतरचतुरस्रं यथोदितम् ॥७७॥

जिसको चार आकाश प्रदेशों का अवगाह हो और यदि चार प्रदेशों से हुआ हो तो वह युग्म प्रदेशी चार कोण प्रतर कहलाता है । यह दो दो प्रदेश वाली दो की श्रेणि स्थापना करने से होता है । (७६-७७)

सप्तचिंशत्यणुजातं तावदध्नांशं संस्थितम् ।

ओजप्रदेशं हि घनचतुरस्रं भवेदिह ॥७८॥

नवप्रदेशप्रतरचतुरस्रस्य तस्य वै ।

उपर्यधो नव नवस्थाप्यन्ते परमाणवः ॥७९॥

जिसके सत्ताईस आकाश प्रदेश होते हैं और जो सत्ताईस परमाणु से हुआ हो वह ओज प्रदेशी चौरस घन कहलाता है । यह नौ प्रदेशी चौरस प्रतर के ऊपर और नीचे नौ नौ परमाणु की स्थापना करने से होता है । (७८-७९)

अष्टव्योमांशावगाढं स्पष्टमष्टप्रदेशकम् ।

युग्मप्रदेशं तु घनचतुरस्रं भवेद्यथा ॥८०॥

चतुःप्रदेशप्रतरचतुरस्रस्य चोपरि ।

चतुः प्रादेशिकोऽन्योऽपि प्रतरः स्थाप्यते किल ॥८१॥

जिसके आठ प्रदेश हों और आठ आकाश प्रदेश के अवगाह हों वह युग्म प्रदेशी चौरस घन कहलाता है । यह चार प्रदेशी चौरस प्रतर के ऊपर एक दूसरे चार प्रदेशी प्रतर की स्थापना करने से होता है । (८०-८१)

ओजप्रदेशजं श्रेण्यायतं स्यात्त्रिप्रदेशजम् ।

त्र्यंशावगाढमणुषु त्रिषु न्यस्तेषु संततम् ॥८२॥

जिसके तीन प्रदेश हों और तीन आकाश प्रदेशों का अवगाह हो वह ओज प्रदेशी श्रेण्यायत कहलाता है । यह तीन परमाणु की स्थापना करने से होता है । (८२)

निरन्तरं स्थापिताभ्यामणुभ्यां द्विप्रदेशजम् ।

युग्मप्रदेशजं श्रेण्यायतं द्व्यध्नां संस्थितम् ॥८३॥

जिनके दो प्रदेश हों और वह दो आकाश प्रदेशों को अवगाह करके रहा हो वह युग्म प्रदेशी श्रेण्यायत कहलाता है । यह सर्वथा अन्तर बिना दो परमाणु की स्थापना करने से होता है । (८३)

ओजप्रदेशं प्रतरायतं पंचदशांककम् ।

तावद्व्योमांशावगाढमित्थं तदपि जायते ॥८४॥

पंक्तित्रयेऽपि स्थाप्यन्ते पंचपञ्चाणवस्तदा ।

ओजप्रदेशजनितं भवति प्रतरायतम् ॥८५॥

जिसके पंद्रह प्रदेश हों और पंद्रह आकाश प्रदेशों का अवगाह करता हो वह ओज प्रदेशी प्रतरायत कहलाता है । यह तीनों श्रेणियों में पांच पांच परमाणु की स्थापना करने से होता है । (८४-८५)

षट् खांशस्थं षट् प्रदेशं स्याद्युग्म प्रतरायतम् ।

त्रिषु त्रिषु द्वयोः पंक्त्योर्न्यस्तेषु परमाणुषु ॥८६॥

जिसके छः प्रदेश हों और छः आकाश प्रदेशों का अवगाह हो वह युग्म प्रदेशी प्रतरायत कहलाता है । यह दोनों श्रेणियों में तीन-तीन परमाणु की स्थापना करने से होता है । (८६)

पंच चत्वारिंश दंशमोजाणुकं घनायतम् ।

पंचचत्वारिंशदध्रप्रदेशेषु प्रतिष्ठितम् ॥८७॥

तत्र च.... पूर्व मुक्ते पंचदश प्रदेश प्रतरायते ।

पंचदश पंचदशाणवः स्थाप्या उपर्यथः ॥८८॥

जिनके पैंतीलिस प्रदेश हों और उतने ही आकाश प्रदेशों का अवगाह रहा हो वह ओज प्रदेशी घनायत कहलाता है । यह पूर्व-कथित पंद्रह प्रदेशी प्रतरायत में ऊपर तथा नीचे पंद्रह पंद्रह परमाणु का स्थापन करने से होता है । (८७-८८)

द्वादशांश द्वादशाभ्रांशावगाढं घनायतम् ।

युग्म प्रदेशजं ज्ञेयमिथ्यं तदपि जायते ॥८९॥

षडंकस्य च प्रतराय तस्योपरि विन्यसेत् ।

षट्प्रदेशांस्ततो युग्म प्रदेशं स्यात् घनायतम् ॥९०॥

जिसके बारह प्रदेश होते हैं और बारह आकाश प्रदेशों का अवगाह होता है वह युग्म प्रदेशी घनायत कहलाता है । वह छः प्रदेशी प्रतरायन के ऊपर छः प्रदेशों की स्थापना करने से होता है । (८९-९०)

विंशत्यभ्रांशावगाढं विंशत्यंशात्मकं भवेत् ।

युग्म प्रदेशं प्रतर परिमण्डल नामकम् ॥९१॥

चतुर्दिशं तु चत्वारश्चत्वारः परमाणवः ।

विदिक्षु स्थाप्य एकैको भवेदेवं कृते सति ॥९२॥

जिसके बीस प्रदेश होते हैं और बीस आकाश प्रदेशों का अवगाह हो वह युग्म प्रदेशी प्रतर परिमंडल कहलाता है । ये चार दिशाओं में चार-चार परमाणु

और चार कोनों में एक-एक परमाणु का स्थापन करने से होता है । (६१-६२)

अणूनां विंशतेरेषामुपर्यणुषु विंशतौ ।

स्थापितेषु युगम जातं स्यात् घनं परिमण्डलम् ॥६३॥

एतच्चत्वारिंशदंशं तावत्त्रांशं प्रतिष्ठितम् ।

ओज प्रदेशं जनितौ त्वत्र भेदौ न संमतौ ॥६५॥

पूर्व कहे अनुसार बीस परमाणु की स्थापना करके, इन बीस के ऊपर दूसरे बीस परमाणुओं की स्थापना करने से 'युगम प्रदेशी घन परिमंडल' होता है । इसके चालीस प्रदेश होते हैं और चालीस आकाश प्रदेश का अवगाह होता है । प्रतर परिमंडल और घन परिमंडल ओज प्रदेशी नहीं होते । (६३-६४)

उक्त प्रदेशं न्यूनत्वे सम्भवन्ति न निश्चितम् ।

संस्थानानि यथोक्तानि तत इत्थं प्ररूपणा ॥६५॥

यथा पूर्वोक्ततः पंचाणुक प्रतर वृत्ततः ।

एकत्रांशे कर्षिते स्यात् समांशं चतुरस्रकम् ॥६६॥

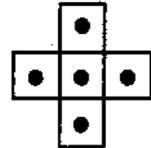
जैसा पूर्व कहा है इससे कम प्रदेश होते हैं तो इस कहे अनुसार संस्थान सर्वथा संभव ही नहीं होता, इसलिए यह कथन कहा है । क्योंकि पूर्वोक्त पांच अणु वाले प्रतर वृत्त में से एक अंश कम करते हैं तो सम अंश वाला चौरस होता है । (६५-६६)

एतान्यतीन्द्रियत्वेन नैवातिशय वर्जितैः ।

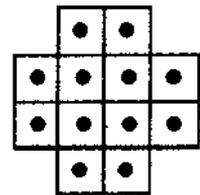
त्रैयान्यतः स्थापनाभिः प्रदर्श्यन्ते इमास्तु ता ॥६७॥

पूर्वोक्त संस्थान अतीन्द्रिय है । इसलिए जिसमें अतिशय अर्थात् अमुक असाधारण विशिष्टतायें न हों, वह यह नहीं जान सकते हैं । इस कारण से इसे स्थापन पूर्वक समझाने में आता है । (६७)

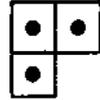
ओज प्रदेशी प्रतर वृत्त पांच परमाणु का इस तरह होता है-



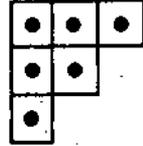
युगम प्रदेशी प्रतर वृत्त बारह परमाणु का इस प्रकार होता है-



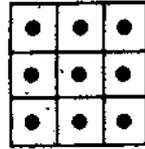
ओज प्रदेशी प्रतर त्रिकोण तीन परमाणु का इस तरह से होता है-



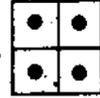
युग्म प्रदेशी प्रतर त्रिकोण छः परमाणु का इस तरह से होता है-



ओज प्रदेशी प्रतर चतुष्कोण नौ परमाणु का इस तरह होता है -



युग्म प्रदेशी प्रतर चतुष्कोण चार परमाणु का इस तरह होता है -



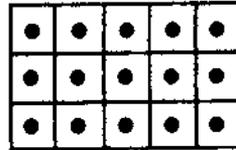
ओज प्रदेशी श्रेणि आयत तीन परमाणु का इस तरह होता है-



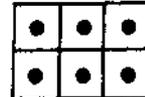
युग्म प्रदेशी श्रेणि आयत दो परमाणु का इस तरह होता है-



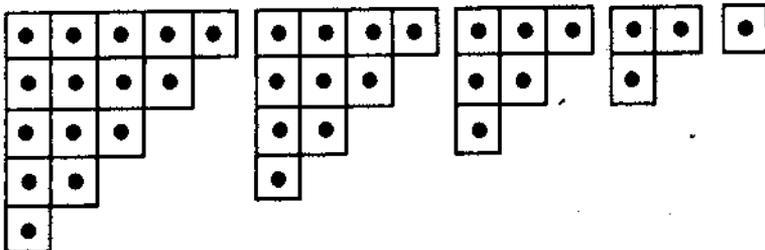
ओज प्रदेशी प्रतर आयत पंद्रह परमाणु का इस तरह होता है-



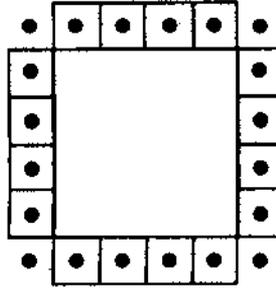
युग्म प्रदेशी प्रतर आयत छह परमाणु का इस तरह होता है-



ओज प्रदेशी घन त्रिकोण पैंतीस परमाणु का इस तरह पांच आकृतियां अनुक्रम से एक दूसरे के ऊपर रखने से होता है-



युग्म प्रदेशी प्रतर परिमंडल बीस परमाणु का इस तरह होता है-



जघन्यानि किलैतानि सर्वाण्युत्कर्षतः पुनः ।

अनन्ताणु स्वरूपाणि मध्यमान्य पराणि तु ॥६८॥

उन स्थानों के जो परमाणु कहे हैं वह जघन्य से समझना । उत्कृष्टतः तो इनके अनन्त परमाणु हैं और मध्यम परमाणु वाले संस्थान भी होते हैं । (६८)

तथोक्तमुत्तराध्ययन निर्युक्तौ -

परिमंडले य वट्टे तंसे चउरंस आयए चेव ।

घणपयर पढमं वज्जं ओजपाएसे य जुम्मे य ॥६९॥

पंचग बार सगं खलु सत्तग बत्ती सगं च वट्टं मि ।

ति य छक्कगपण तीसा चत्तारि य होति तंसं मि ॥१००॥

नव चेव तहा चउरो सत्ता वीसा य अट्ट चउरंसे ।

तिग दुग पन्नरसेव य छच्चेव य आयए होति ॥१०१॥

पण यालाबार सगं तह चेव य आययं मि संठाणे ।

वीसा चत्तालीसा परिमंडल एय संठाणे ॥१०२॥

उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति में कहा है कि - परिमंडल, वृत्त त्रिकोण, चतुष्कोण और आयत- इस तरह पांच प्रकार के संस्थान हैं । इसमें प्रथम चार के घन और प्रतर - ये दो भेद हैं जबकि पांचवें के घन, प्रतर और श्रेणि - इस तरह तीन भेद हैं और इन संस्थानों में पहले के अलावा चार ओज प्रदेशी और युग्म प्रदेशी दोनों हैं, जबकि पहला केवल युग्म प्रदेशी है । इसके होने से

(अ) वृत्त संस्थान के चार भेद होते हैं । वह इस प्रकार हैं- १. पांच प्रदेशी, २. बारह प्रदेशी, ३. सात प्रदेशी और ४. बत्तीस प्रदेशी ।

(आ) त्रिकोन संस्थान के भी चार भेद होते हैं। वह इस प्रकार हैं - १. तीन प्रदेशी, २. छः प्रदेशी, ३. पैंतीस प्रदेशी और ४. चार प्रदेशी।

(इ) चतुष्कोण के भी चार भेद हैं। १. नौ प्रदेशी, २. चार प्रदेशी, ३. सत्ताईस प्रदेशी और ४. आठ प्रदेशी।

(ई) 'आयत' संस्थान के छः भेद होते हैं। वह इस प्रकार हैं - १. तीन प्रदेशी, २. दो प्रदेशी, ३. पंद्रह प्रदेशी, ४. छः प्रदेशी, ५. पैंतालीस प्रदेशी और ६. बारह प्रदेशी।

(ए) परिमंडल संस्थान के दो भेद होते हैं और उसमें एक में बीस और दूसरे में चालीस प्रदेश होते हैं। (६६ से १०२)

पंचमांगे त्वनित्थंस्थं षष्ठं संस्थानमीरितम् ।

पंचभ्योऽपि व्यतिरिक्तं द्वयादि संयोगसंभवम् ॥१०३॥

पांचवें अंग श्री भगवती सूत्र में तो इस तरह कहा है कि पांच से अतिरिक्त एक छठा सिद्धों का संस्थान है और वह दो अथवा विशेष संस्थानों के संयोग से हुआ है। (१०३)

संस्थानयोर्द्वयोर्यध्यैक द्रव्ये न संभवः ।

तथापि भिन्नभिन्नांशे ते स्यातां दर्विकादि चत् ॥१०४॥

यद्यपि एक द्रव्य के अन्दर दो संस्थान संभव नहीं हैं फिर भी कड़ध्वी आदि के समान दो भिन्न भिन्न अंशों को लेकर यह होता है। (१०४)

एषु चाल्पाल्प प्रदेशावगाहीनि स्वभावतः ।

भूयांस्थल्यानि भूयिष्टखांशः स्थायीनि तानि च ॥१०५॥

इसमें अल्पाल्प आकाश प्रदेशों के अवगाही में रहने वालों की संख्या बहुत है और बहुत आकाश प्रदेशों के अवगाही के रहने वालों की संख्या थोड़ी है। (१०५)

संस्थानामायतं षोढा द्विविधं परिमंडलम् ।

चतुर्विधानि शेषाणि संस्थानानीति विंशतिः ॥१०६॥

इति संस्थान परीणामः ॥३॥

इस प्रकार आयात संस्थान छः प्रकार के हैं, परिमंडल संस्थान दो प्रकार के हैं और शेष तीन संस्थान चार-चार प्रकार के हैं अर्थात् सब मिलाकर गिनने से बीस प्रकार के संस्थान होते हैं। (१०६)

इस तरह संस्थान परिणाम का स्वरूप समझना । (३)

भेदाख्यः पुद्गल परीणामो भवति पंचधा ।

खंड प्रतर भेदौ द्वौ चूर्णिकाभेद इत्यपि ॥१०७॥

भेदोऽनुतटिकाभिख्यो भेद उत्करिकाभिधः ।

स्वरूपमप्यथैतेषां यथाश्रुतमथोच्यते ॥१०८॥

अब चौथे पुद्गल के भेद में परिणाम भेद कहते हैं । वह पांच प्रकार के हैं-
१. खंडभेद, २. प्रतरभेद, ३. चूर्णिका भेद, ४. अनुतटिका भेद और ५. उत्करिका
भेद । उसका स्वरूप सिद्धान्त शास्त्र में इस प्रकार कहा है! (१०७-१०८)

लोहखंडादिवत्खंडभेदो भवति निश्चितम् ।

भूर्जपत्राभ्रपटलादिवत् प्रतर संज्ञितः ॥१०९॥

स भवेच्चूर्णिका भेदः क्षिप्त मृत्पिण्डवत्किल ।

इक्षुत्वगादि वदनुतटिका भेद इष्यते ॥११०॥

उत्कीर्यमाणे प्रस्थादौ स स्यादुत्करिकाभिधः ।

तटाकावट वाप्यादिष्वप्येवं भाव्यतामयम् ॥१११॥

खंडभेद लोहे के टुकड़े के समान होता है । प्रतर भेद भोजपत्र और
अबरख के पत्र समान होता है । चूर्णिका भेद मृत्तिका का पिंड फैका हो, इस तरह
होता है । अनुतटिका भेद इक्षु त्वचा-छाल आदि के समान होता है और उत्कटिका
भेद पपड़ी उखाड़ने के समान होता है । (१०९ से १११)

द्रव्याणि भिद्यमानानि स्तोकान्युत्करिकाभिदा ।

पश्चानुपूर्व्यां शेषाणि स्युरनन्त गुणानि च ॥११२॥

इति भेद परीणामः ॥४॥

उत्कटिका भेद वाले बहुत थोड़े द्रव्य होते हैं । इसके बाद के शेष भेद
वाले द्रव्य इससे अनुक्रम से अनन्त अनन्त गुणा होते हैं । (११२)

यह भेद परिणाम का स्वरूप है । (४)

वर्णैः परिणतानां तु भेदाः पंच प्ररूपिताः ।

कृष्ण नीलारुणापीतशुक्ला इति विभेदतः ॥११३॥

स्यु कज्जलादिवत्कृष्णा नीला नील्यादिवन्मताः ।

स्युर्हिङ्गुलादिवद्रक्ताः पीताश्च कांचनादिवत् ॥११४॥

इति वर्ण परीणाम् ॥५॥

अब पुद्गल के परिणाम के विषय में कहते हैं । वर्ण परिणाम के पांच भेद हैं- कृष्ण, नील, अरुण, पीला और सफेद । पुद्गल परिणामी को काजल आदि के समान कृष्ण-काला होता है, नील के समान नीला होता है, ईशुर के समान रक्त लाल होता है, सुवर्ण के समान पीला होता है और शंख के समान सफेद-श्वेत होता है । (११३-११४)

ये वर्ण परिणाम हैं । (५)

शुक्लाः शंखादिवत् गंध परिणत्या तु ते द्विधा ।

पुष्यादितवत्सुरभयो दुर्गन्धा लशुनादिवत् ॥११५॥युग्मम्॥

इति गंध परीणामः ॥६॥

अब गंध परिणाम कहते हैं । गंध परिणाम दो प्रकार का होता है - १. पुद्गल परिणामी पुष्प आदि के समान सुगन्धित होते हैं और २. लहसुन के समान दुर्गन्ध वाले भी होते हैं । (११५)

यह गंध परिणाम हैं । (६)

रसैः परिणतास्ते तु प्रकारैः पंचभिर्मताः ।

तिक्तं कटु कषायाम्लमधुरा इति भेदतः ॥११६॥

कोशातक्यादि वृत्तिकाः कटवो नागरादि वत् ।

प्रोक्ता आमकपित्थादिवत् कषाय रसाचिताः ॥११७॥

इति रस परीणामः ॥७॥

अब रस परिणाम कहते हैं, रस परिणाम पांच प्रकार का है - तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा और मीठा । तीखा- चरपरा-तीखापन समान, कड़वा-कड़वा नागरादि समान, तुर कच्चे कोठा समान, खट्टा इमली समान और मधुर चीनी आदि के समान होता है । (११६-११७)

आम्लाकादि वदम्लाः स्युर्मधुराः शर्करा दिवत् ।

स्पर्शः परिणता येऽपि तेषामष्टौ विधा पुनः ॥११८॥

उष्ण शीतौ मृदुस्वरौ स्निग्धरूक्षौ गुरुर्लघुः ।

उष्ण स्पर्शास्तत्र वह्न्यादि वत् शीता हिमादिवत् ॥११९॥

बर्हादि वच्च मृदवः खराश्च प्रस्तरादिवत् ।

स्निग्धा घृतादिवत् ज्ञेया रुक्षा भस्मादिवन्मताः ॥१२०॥

गुरु स्पर्श परिणता वज्रादिवत्प्रकीर्तिताः ।

लघु स्पर्श परिणता अर्कन्तुलादिवन्मताः ॥१२१॥

इति स्पर्श परीणाम ॥८॥

अब स्पर्श परिणाम का स्वरूप कहते हैं । स्पर्श परिणाम आठ प्रकार का होता है - उष्ण, शीत, मृदु, कर्कश, स्निग्ध, रुक्ष, भारी और हल्का । पुद्गल परिणामी का अग्नि के समान उष्ण स्पर्श होता है, हिम के समान शीत स्पर्श होता है, पिच्छ के समान मृदु स्पर्श होता है, पाषाण-पत्थर के समान कर्कश कठोर स्पर्श होता है, घृत आदि के समान स्निग्ध स्पर्श है, राख आदि के समान रुक्ष रूखा स्पर्श है, वज्र आदि के समान भारीपन और आक की रुई समान हलका स्पर्श भी होता है। (११८-१२१)

यह स्पर्श परीणाम है । (८)

अगुरु लघु परिणाम व्यवस्था चैवम् -

धूमो लघुरूपलो गुरुः ऊर्ध्वाधोगमनशीलतो ज्ञेयौः।

गुरुलघुरनिलस्तिर्यग्गमनादाकाशमगुरुलघु ॥१२२॥

अब पुद्गल के अगुरु लघु परिणाम का स्वरूप कहते हैं । धुंआ ऊंचा जाता है, इसलिए वह लघु है और पत्थर नीचे गिरता है अतः वह गुरु समझना । वायु की तिरछी गति है इसलिए वह गुरु लघु है और आकाश अगुरु लघु है । (१२२)

व्यवहारतश्चतुर्धा भवति वस्तुनि बादरायण्येव ।

निश्चयतश्चागुरु लघु गुरु लघु चेति द्विभेद्येव ॥१२३॥

बादर द्रव्य ही व्यवहार से चार प्रकार का है । परन्तु निश्चय नय से दो ही प्रकार के द्रव्य कहे हैं, १- गुरुलघु और २- अगुरु लघु । (१२३)

तत्रापि-बादरमष्ट स्पर्श द्रव्यं रूप्येव भवति गुरुलघुकम् ।

अगुरु लघु चतुः स्पर्शं सूक्ष्मं वियदाद्यमूर्त्तमपि ॥१२४॥

वैक्रियमौदारिकमपि तैजसमाहारकं च गुरुलघुकम् ।

कार्मणमनो वचांसि सोच्छ्वासान्य गुरु लघुकानि ॥१२५॥

इसमें भी बादर अष्टस्पर्श रूपी द्रव्य ही गुरु लघु होते हैं, सूक्ष्म चतुः स्पर्शी और अरूपी आकाश आदि तो अगुरु लघु है । वैक्रिय औदारिक, तैजस और आहारक - ये सब गुरु लघु हैं, जबकि उच्छ्वास युक्त कार्मण मन वचन - ये अगुरु लघु हैं । (१२४-१२५)

तथोक्तम् - निच्छयओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वम् ।

ववहारओ उ जुज्जइ वायर खंडोसु नणणेसु ॥१२६॥

अगुरु लहु चउफासा अरुविदव्वा य होंति नायव्वा ।

सेसा उ अट्टफासा गुरु लहुआ निच्छय नयस्स ॥१२७॥

ओरालिय वेउव्विय आहारग तेय गुरु लहु दव्वा ।

कम्मगमण भासाई एयाई अगुरु लहु आइं ॥१२८॥

इति भगवती वृत्तौ ॥ इति अगुरु लघु परीणामः ॥६॥

श्री भगवती सूत्र की वृत्ति में कहा है कि - निश्चय नय की अपेक्षा से तो कोई द्रव्य सर्वथा गुरु अथवा सर्वथा लघु नहीं होता परन्तु व्यवहार नय से बादर स्कंध के विषय में वह घट सकता है, अन्य में नहीं घट सकता है । चतुः स्पर्शी अरूपी द्रव्य अगुरु लघु जानना । शेष अष्ट स्पर्शी द्रव्य निश्चय से गुरुलघु हैं । औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस द्रव्य गुरु लघु समझना और कार्मण द्रव्य तथा मन वचन आदि अगुरु लघु समझना । (१२६ से १२८)

इस तरह अगुरु लघु परिणाम है । (६)

वर्णं गन्ध रस स्पर्श संस्थानैर्मुख्य भावतः ।

प्रत्येकं चिन्तितैर्भेदाः स्युर्भूयां सोऽत्र ते त्वमी ॥१२९॥

और इसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान को प्रधान रूप में लेकर विचार करे तो बहु-बहुभेद होते हैं । (१२९)

एकस्योज्ज्वल वर्णस्य द्वौ भेदो गंध भेदतः ।

संस्थानैश्च रसैश्चापि पंच पंच भिदौ मताः ॥१३०॥

स्पर्शस्तथाष्ट भेदाः स्युरेवमेकस्य विंशतिः ।

इतीह पंचभिर्वर्णैर्भेदानां शतमाप्यते ॥१३१॥

संस्थानानां रसानां च प्राधान्ये नैवमिष्यते ।

शतं शतं विभेदानां ततो जातं शत त्रयम् ॥१३२॥

वह इस तरह-एक उज्ज्वल वर्ण के पुद्गल के गंध को लेकर दो भेद होते हैं । संस्थान तथा रस को लेकर पांच-पांच भेद होते हैं तथा स्पर्श को लेकर आठ भेद होते हैं अर्थात् कुल बीस भेद होते हैं । अतः पांच वर्ण को लेकर $2 \times 5 = 10$ सौ भेद होते हैं । इसी ही तरह संस्थान के और सर्व रसों की प्रधानता को लेकर भी सौ-सौ भेद होते हैं अर्थात् सब मिलाकर तीन सौ भेद होते हैं । (१३० से १३२)

सुगन्धीनां पंच पंच भेदा वर्णै रसैस्तथा ।

संस्थानैश्चाष्ट नु स्पर्शैः स्यु स्त्रयोविंशतिस्ततः ॥१३३॥

दुर्गन्धानामपीत्थं स्युस्त्रयो विंशतिरेव हि ।

षट् चत्वारिंशदुभय योगे स्युर्गन्धजा इति ॥१३४॥

तथा सुगन्ध पुद्गल के वर्ण, रस और संस्थान को लेकर पांच पांच भेद होते हैं और स्पर्श लेकर आठभेद होते हैं ये तेईस भेद होते हैं इसी तरह ही दुर्गन्ध के भी तेईस भेद होते हैं । अतः दोनों प्रकार के भेदों का कुल मिलाकर $23 + 23 = 46$ छियालीस भेद होते हैं । (१३३-१३४)

शीतस्पर्शस्यापि भेदौ द्वौ मत्तौ गन्ध भेदतः ।

संस्थान रस वर्णैश्च पंच पंच भिदस्तथा ॥१३५॥

शीतस्याधिकृतत्वेन तत्रोष्णस्य त्वसंभवात् ।

भिदोऽस्य शेषैः स्पर्शैः षट्स्युस्त्रयो विंशतिस्ततः ॥१३६॥

स्पर्शान्नामेवमष्टानां प्रत्येकं गन्धयोरपि ।

त्रयोविंशति भेदत्वात् द्विशती त्रिंशदुत्तरा ॥१३७॥

तथा शीत स्पर्श वाले को गन्ध के अनुसार दो भेद हैं तथा संस्थान, रस और वर्ण के अनुसार पांच-पांच भेद होते हैं । यहां शीत स्पर्श की बात की है । इसमें उष्णता असंभव होने से शेष छः स्पर्श रहते हैं । इसके छः भेद होते हैं । अतः कुल भेद $2 + 5 + 5 + 5 + 5 + 6 = 23$ तेईस भेद शीत स्पर्श वाले के होते हैं और आठ स्पर्श गिनते $23 \times 8 = 184$ भेद होते हैं । इसमें दो प्रकार की गंध वाले के छियालीस मिलाने से कुल २३० होते हैं । (१३५ से १३७)

एवमेते पुद्गलानां भेदाः सर्वे प्रकीर्तिताः ।

शतानि पंच सत्रिंशान्येवम जीव रूपिणाम् ॥१३८॥

इस प्रकार पूर्व में तीन सौ भेद और गिने हैं । इस तरह उन्हें मिलाने से कुल ५३० भेद अजीव रूपी पुद्गल के होते हैं । (१३८)

अथ दशमः शब्दपरीणामः ।

यो ऽ सौ शब्द परीणामो द्विधा सोऽपि शुभोऽशुभः ।

पुद्गलानां परीणामा दशाप्येवं निरूपिताः ॥१३६॥

अब दसवें शब्द परिणाम के विषय में कहते हैं । यह शब्द परिणाम भी १. शुभ और २. अशुभ इस तरह दो प्रकार का है । इस प्रकार से पुद्गल के दस परिणाम का निरूपण करते हैं । (१३६)

गन्ध द्रव्यादिवद्वातानुकूल्येन प्रसर्पणात् ।

तादृशद्रव्य वच्छ्रोगौपघातकतयाऽपि च ॥१४०॥

ध्वनेः पौद्गलिकत्वं स्याद्यौक्तिकं यत्तु केचन ।

मन्यन्ते व्योम गुणतां तस्य तन्नोपयुज्यते ॥१४१॥ (युग्मं ।)

गंध पदार्थ के समान वायु की अनुकूलता से फैलती है । इसलिए तथा तादृश पदार्थ के समान कर्ण के ऊपर उपघात करता है । इसलिए शब्द को पुद्गलिक कहना योग्य ही है । कई अन्य दर्शनकारों ने इसे आकाश गुण कहा है । वह युक्त नहीं है । (१४०-१४१)

अस्य व्योम गुणत्वे तु दूरासन्नस्थ शब्दयोः ॥

श्रवणे न विशेषः स्यात् सर्वगं खलु यन्नभः ॥१४२॥

यदि शब्द को आकाश गुणी कहें तो नजदीक अथवा दूर के शब्दों को सुनने में अन्तर नहीं आना चाहिए क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है । परन्तु अन्तर तो पड़ता ही है इसलिए यह शब्द आकाश गुणी नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है । (१४२)

यथा शब्दस्तथा छाया तपोद्योततमांस्यपि ।

सन्ति पौद्गलिकान्येवेत्याहुः श्री जगदीश्वराः ॥१४३॥

शब्द के समान छाया, धूप, प्रकाश और अन्धकार भी पौद्गलिक हैं । इस तरह श्री जिनेश्वर भगवान ने कहा है । (१४३)

यदादर्शादौ मुखादेः प्रतिबिम्बं निरीक्ष्यते ।

सोऽपि छाया पुद्गलानां परिणामो न तु भ्रमः ॥१४४॥

भ्रमो ज्ञानान्तर बाह्यः स्थानैतत्तु तथेक्ष्यते ।

न च भ्रमः स्यात्सर्वेषां युगपत्पटु चक्षुषाम् ॥१४५॥

सर्वस्थूल पदार्थानां ते छाया पुद्गलाः पुनः ।

साक्षादेव प्रतीयन्ते छायादर्शनतः स्फुटाः ॥१४६॥

दर्पण आदि के अन्दर मुख आदि का जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है वह भी छाया रूपी पुद्गल का परिणाम ही है, भ्रम नहीं है क्योंकि भ्रम तो ज्ञानान्तर बाह्य होता है और यह इस तरह दिखता नहीं है और सभी अच्छी आखों वालों को एक साथ में भ्रम नहीं होता है और विशेष सर्व स्थूल पदार्थों की छाया हम लोग देख सकते हैं, वह इसलिए वह छाया पुद्गल ही है - इस तरह प्रतीति होती है ।
(१४४ से १४६)

सर्व ह्यैन्द्रियकं वस्तु चयापचय धर्मकम् ।

रश्मिवच्च रश्मयस्तु छायापुद्गलं संहतिः ॥१४७॥

तथा सर्व इन्द्रिय गोचर पदार्थों का किरणों के समान बढ़ने-घटने का स्वभाव ही है, और किरण छाया पुद्गलों की श्रेणि है । (१४७)

तथोक्तं प्रज्ञापनां वृत्तौ - "सर्वमैन्द्रियकं वस्तु स्थूलं चयापचय धर्मकं रश्मिवच्चेति ॥"

श्री पन्नावणा की वृत्ति में भी कहा है कि - सर्व इन्द्रिय गोचर बादर पदार्थ में किरण (रश्मि) के समान वृद्धि-हानि का अनुभव ही होता है ।

अवाप्य तादृक् सामग्रीं ते छाया पुद्गलाः पुनः ।

विचित्र परिणामाः स्युः स्वभावेन तथोच्यते ॥१४८॥

यह छाया पुद्गल और इस प्रकार की सामग्री प्राप्त करके स्वाभाविक रूप में ही विचित्र परिणाम प्राप्त करता है । (१४८)

यदातपादि युक्ते ते गता वस्तुन्यभास्वरे ।

तदा स्व सम्बन्धिवस्त्वाकाराः स्युः श्याम रूपकाः ॥१४९॥

दृश्यते ह्यातप ज्योत्स्नादीपालोकादि योगतः ।

स्थूल द्रव्याकृतिश्छाया भूम्यादौ श्याम रूपिका ॥१५०॥

यदा तु खड्गादशादिभास्वर द्रव्य संगताः ।

तदा स्युस्ते स्वसंबन्धिद्रव्य वर्णाकृति स्मृशः ॥१५१॥

आदर्शादौ प्रतिच्छाया यत्प्रत्यक्षेण दृश्यते ।

मूल वस्तु सहग् वर्णाकारादिभिः समन्विता ॥१५२॥

वह इस तरह से है- जब ये किरण आतप धूप युक्त भी अभास्वर वस्तुओं में प्रवेश करती हैं तब ये अपने सम्बन्ध वाली वस्तुओं के आकार वाली होते श्याम स्वरूपी होती हैं । क्योंकि आतप, ज्योत्स्ना दीपक का प्रकाश आदि के योग से स्थूल पदार्थ की आकृति रूप छाया पृथ्वी पर श्याम पड़ती है - दिखती है । परन्तु जब तलवार तथा दर्पण आदि भास्वर- प्रकाशमय पदार्थ का सम्बन्ध होता है तब वह किरण अपने सम्बन्ध वाले द्रव्य के वर्ण तथा आकृति को धारण करती है, क्योंकि दर्पण आदि में मूल वस्तु के अनुसार वर्ण और आकृति वाली प्रतिच्छाया प्रत्यक्ष दिखाई देती है । (१४६ से १५२)

एषां स्वरूप वैचित्र्यं न चैतन्नोपपद्यते ।

सामग्री सहकारेण नानावस्था हि पुद्गलाः ॥१५३॥

यथा दीपादि सामग्रयातामसा अपि पुद्गलाः ।

प्रकाशरूपाः स्युर्दीपापगमे तादृशाः पुनः ॥१५४॥

उनके स्वरूप की यह विचित्रता अल्प भी अयुक्त नहीं है क्योंकि सामग्री के सहकार से पुद्गल विविध अवस्था प्राप्त करते हैं । जैसे दीपक की हाजरी में अंधकार के पुद्गल भी प्रकाशमय हो जाते हैं और दीपक जाने के बाद वापिस जैसे होते हैं वैसे ही हो जाते हैं । (१५३ से १५४)

“आतपो तयोः पौद्गलिकत्वं तु निर्विवादम् ।”

‘आतप और उद्योत ये दो तो निःशंक रूप में पुद्गल ही हैं ।’

पुद्गलत्वं तु तमसां शीत स्पर्शतया स्फुटम् ।

नीलं चलत्यन्धकारमित्यादि प्रत्ययादपि ॥१५५॥

तथा अंधकार एक पौद्गलिक वस्तु है - यह तो इसके शीत स्पर्श से ही जानकारी होती है अथवा श्याम अंधकार चलता है इत्यादि प्रत्यय को लेकर भी यह बात निश्चय होती है । (१५५)

याश्चा प्रतीघातिताद्याः परोक्ताः प्रति युक्तयः ।

तास्तु दीप प्रकाशादि प्रतिबन्धि परा हताः ॥१५६॥

यहां अन्य दर्शनकारों ने अप्रतिघातत्व आदि जो प्रतियुक्तियां कही हैं इनका तो दीपक के प्रकाश आदि के सामने, दलील-बहस से खंडन ही हो जाता है । (१५६)

“इति उपरम्यतो । विस्तरात्तदर्थिना रत्नाकरावतारिकादयो विलोक्याः ।”

“इतना ही कहना युक्त है । इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक जानना हो तो रत्ना-करावतारिका आदि ग्रन्थों से जान लेना चाहिए ।”

इति पुद्गल तत्वमागमे, गदितं यत्किल तत्त्व दर्शिभिः।

तदनुदितमत्र मद् गिरा गुहयेव प्रतिशब्दितस्फुशा ॥१५७॥

तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने आगम में पुद्गल तत्व के ऊपर जो विवेचन किया है, उस विवेचन के अनुसार ही मैंने, शब्द से शब्द की प्रतिध्वनि करने वाली गुफा के समान वाणी में सब कहा है । (१५७)

विश्वाश्चर्यदकीर्ति कीर्ति विजय श्रीवाच केन्द्रान्तिष-

ब्राज श्री तनयोऽतनिष्ट विनयः श्री तेजपालात्मजः ।

काव्यं यत्किलं तत्र निश्चित जगत्तत्त्व प्रदीपोपमे ।

सर्गो निर्गलितार्थ सार्थ सुभगः पूर्णोपमेकादशः ॥१५८॥

। इति एकादशः सर्गः ।

इति श्री लोक प्रकाशस्यायं प्रथमो द्रव्यलोक प्रकाशः समाप्तः ।

तीस लोक को आश्चर्य चकित करने वाली कीर्ति के स्वामी श्रीमद् कीर्ति विजय जी उपाध्याय के अन्तेवासी तथा पिता तेजपाल सेठ और माता राजश्री के कुलदीपक श्री विनय विजय ने जो यह जगत् के निश्चित तत्व को दीपक के समान प्रकाश में लाने वाले इस काव्य ग्रन्थ की रचना की है । इसके अन्दर से निकलता अनेक उत्तम अर्थ वाला ग्यारहवां सर्ग सम्पूर्ण हुआ । (१५८)

॥ग्यारहवां सर्ग समाप्त॥

इस प्रकार श्री लोक प्रकाश का प्रथम विभाग “द्रव्य लोक प्रकाश” सम्पूर्ण हुआ ।

